अभिमन्यु अनत

प्रतिनिधि रचनाएँ



सम्पादक

कमल किशोर गोयनका

मॉरिशस के विख्यात हिन्दी साहित्यकार अभिमन्यु अनत हिन्दी के वैश्विक समाज में इतने जाने–पहचाने हैं कि उन्हें किसी परिचय की आवश्यकता नहीं है। वे भारत से बाहर हिन्दी के सर्वप्रमुख सर्जनात्मक साहित्यकार हैं। भारत में तो वे अपने द्वीप मॉरिशस के साहित्य, कला, संस्कृति एवं भाषा के प्रतीक साहित्यकार हैं। मॉरिशस में हिन्दी भाषा एवं साहित्य को प्रतिष्ठित एवं विकसित करने, मॉरिशस के हिन्दी साहित्य को मॉरिशसीय पहचान देने, मॉरिशस–भारत के साहित्यिक–सांस्कृतिक सम्बन्धों को दृढ़ करने तथा हिन्दी भाषा एवं साहित्य को अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर स्थापित करने में उनका योगदान इतना महत्त्वपूर्ण है कि उनके रचना–काल को इतिहास में 'अभिमन्यु अनत युग' के रूप में स्मरण किया जायेगा।

अभिमन्यु अनत बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार हैं। मॉरिशस के वे एकमात्र ऐसे हिन्दी साहित्यकार हैं जिन्होंने गद्य–पद्य की प्रायः सभी विधाओं में लिखा है। प्रमुख रूप से वे उपन्यासकार, कहानीकार, कवि, नाटककार तथा गद्य की अन्य विधाओं में लिखने वाले साहित्यकार हैं, परन्तु उनके नाट्य–निर्देशक, अभिनेता, चित्रकार, छायाकार, आदि रूपों के सम्मिलिन से वे एक 'सम्पूर्ण कलाकार' के रूप में जीवन के विविध रंगों, रूपों, दृश्यों, चुनौतियों एवं सम्भावनाओं का बड़ी कुशलता से चित्रण करते हैं।

मॉरिशस के ऐसे 'सम्पूर्ण साहित्यकार' अभिमन्यु अनत के साहित्य की एक प्रतिनिधि झाँकी इस संकलन में दी गयी है इस आशा में कि हिन्दी पाठक मॉरिशस के इस कालजयी साहित्यकार की सम्वेदनाओं, चिन्ताओं, स्वप्नों एवं चुनौतियों को न केवल समझ सकेंगे, बल्कि मॉरिशस देश की आत्मा को भी प्रामाणिक रूप से जान सकेंगे।

अभिमन्यु अनत

प्रतिनिधि रचनाएँ

मॉरिशस के सर्वप्रमुख हिन्दी साहित्यकार
अभिमन्यु अनत की रचनाओं का प्रतिनिधि संकलन



सरस्वती नः
सुभगामयस्करत्

के.के. बिड़ला फाउंडेशन के आर्थिक सहयोग से
नटराज प्रकाशन, दिल्ली
द्वारा प्रकाशित

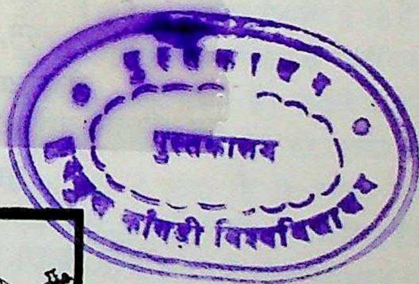
अभिमन्यु अनत

प्रतिनिधि रचनाएँ

सम्पादक

कमल किशोर गोयनका







नटराज प्रकाशन
दिल्ली–110052

ISBN 81-85979-20-0

पुस्तक का नाम
अभिमन्यु अनत : प्रतिनिधि रचनाएँ

सम्पादक
कमल किशोर गोयनका

प्रकाशक
नटराज प्रकाशन
ए-98, अशोक विहार, फेज़ प्रथम, दिल्ली-110052
फोन : 7219251, 7132906
फेक्स : 91-11-7148006

मूल्य
तीन सौ पचास रुपये

संस्करण
प्रथम, 1999

लेज़र टाइप-सेटर
यस ग्राफिक्स, अशोक विहार, दिल्ली-110052

मुद्रक
विशाल प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण रंगीन पारदर्शी
अभिमन्यु अनत

Title of the book : *Abhimanyu Unnuth : Pratinidhi Rachanayen* (*Anthology of Representative Writings of Abhimanyu Unnuth—the Mauritian Hindi Writer*); **Edited by :** *Dr. Kamal Kishore Goyanka*; **Published by :** *NATRAJ PRAKASHAN*, *A-98*, *Ashok Vihar*, *Phase-I*, *Delhi-110052* (*India*); **Phone :** *7219251*, *7132906*; **Fax :** *91-11-7148006*; **Copyright :** *Abhimanyu Unnuth*, *Samvadita*, *Triolet*, *Mauritius* (*Indian Ocean*); **Edition :** *First*, *1999*; **Price :** *Rs. 350=00*

प्रस्तावना

के.के. बिड़ला फाउंडेशन कई प्रकार से भारतीय साहित्य, कला तथा संस्कृति के विकास के लिए कार्य कर रहा है। जब फाउंडेशन ने विदेशी विद्वानों तथा लेख्कों को आमन्त्रित करके उनके व्याख्यान कराने की योजना आरम्भ की तो इसका शुभारम्भ मॉरिशस के प्रख्यात हिन्दी साहित्यकार श्री अभिमन्यु अनत के व्याख्यान से हुआ। श्री अनत हमारे निमन्त्रण पर दिल्ली आये और उन्होंने 5-6 दिसम्बर, 1994 को त्रिवेणी सभागार, नई दिल्ली में दो व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों के विषय थे—'मॉरिशस में भारतीय संस्कृति और उसे घेरे चुनौतियाँ' तथा 'हिन्दी की अन्तर्राष्ट्रीयता में मॉरिशस की भूमिका'। श्री अनत ने इन व्याख्यानों में मॉरिशस में भारतीय संस्कृति, हिन्दी तथा हिन्दी साहित्य पर प्रकाश डालते हुए भारत से सहयोग करने का आग्रह किया। फाउंडेशन के अध्यक्ष श्री कृष्ण कुमार बिड़ला ने अपने वक्तव्य में इस आग्रह को सहर्ष स्वीकार करते हुए कहा कि मॉरिशस के हिन्दी साहित्य के विकास तथा प्रकाशन आदि कार्यों में फाउंडेशन का पूर्ण सहयोग रहेगा। बिड़ला जी के इस आश्वासन के अन्तर्गत फाउंडेशन ने मॉरिशस के हिन्दी साहित्य-कारों की कृतियों को प्रकाशित कराने का निर्णय किया तथा श्री अभिमन्यु अनत से आग्रह किया कि वे स्तरीय पाण्डुलिपियों का चयन करके फाउंडेशन को प्रकाशनार्थ भेंजे। श्री अनत ने हमें पूर्ण सहयोग दिया तथा वर्ष 1995 में फाउंडेशन के आर्थिक सहयोग से सर्वश्री पूजानन्द नेमा का प्रथम कविता-संग्रह—'चुप्पी की आवाज़' एवं रामदेव धुरन्धर का प्रथम कहानी-संग्रह—'विष-मंथन' तथा वर्ष 1998 में श्रीमती सुमति बुधन का कविता-संग्रह 'दस्तक' एवं श्री लोचन बिदेशी का कहानी-संग्रह 'तीसरा प्राणी' प्रकाशित किये गये।

अपनी नीति के अनुरूप इस बार हम श्री अभिमन्यु अनत के साहित्य से कुछ चुनी हुई रचनाओं के संकलन 'अभिमन्यु अनत : प्रतिनिधि रचनाएँ' को प्रकाशित करने में अपना आर्थिक सहयोग दे रहे हैं। श्री अभिमन्यु अनत मॉरिशस के सर्वाधिक प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। उन्होंने अपने साहित्य-कर्म से अपने देश की आत्मा को वाणी दी है तथा हिन्दी-भाषा की सर्जनात्मकता को वैशिविक रूप दिया है। वे मॉरिशस के गौरव हैं और उसे भारत से जोड़ने वाले सबसे बड़े सेतु हैं। इसका सम्पादन प्रेमचंद तथा मॉरिशस के हिन्दी साहित्य के अध्येता डॉ. कमल किशोर गोयनका ने किया है। डॉ. गोयनका दो दशकों से मॉरिशस के हिन्दी साहित्य के विकास तथा अध्ययन से जुड़े हुए हैं। विश्वास है कि इस प्रकार मॉरिशस के नये-पुराने हिन्दी साहित्यकारों के सम्मुख

प्रकाशन की जो समस्याएँ हैं, उनका कुछ हद तक समाधान हो सकेगा तथा नये रचनाकार भी प्रकाश में आ सकेंगे।। इससे मॉरिशस की हिन्दी तथा वहाँ का हिन्दी साहित्य न केवल विकसित होगा, बल्कि भारत के हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा से भी उसका निकट का सम्बन्ध और भी दृढ़ तथा अटूट हो सकेगा।

इस योजना को क्रियान्वित करने में श्री अभिमन्यु अनत तथा डॉ. कमल किशोर गोयनका के सहयोग के लिए मुझे उन्हें धन्यवाद देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि वे जिस अपनत्व से इस कार्य को कर रहे हैं, उसके लिए उन्हें किसी औपचारिकता की आवश्यकता नहीं है। हमें विश्वास है कि भविष्य में भी इस योजना के अन्तर्गत स्तरीय पाण्डुलिपियाँ मिलती रहेंगी और मॉरिशस का हिन्दी साहित्य नयी ऊर्जा, नयी सर्जनात्मकता तथा नयी कलात्मकता के साथ हिन्दी पाठकों का प्रिय साहित्य बना रहेगा।

बिशन टंडन
निदेशक
के. के. बिड़ला फाउंडेशन
नई दिल्ली-110001

अनुक्रम

20 सितम्बर—भिंसार, 25 सितम्बर—दोपहर, 28 सितम्बर—दोपहर, 2 अक्टूबर—सुबह, 4 अक्टूबर—भिंसार, 9 अक्टूबर—शाम, 12 अक्टूबर—दोपहर, 15 अक्टूबर—शाम, 18 अक्टूबर—आधी रात, 19 अक्टूबर—भिंसार, 2 नवम्बर—सुबह, 3 नवम्बर—आधी रात, 7 नवम्बर—भिंसार, 9 नवम्बर—शाम, 13 नवम्बर—दोपहर, 20 नवम्बर—शाम, 23 नवम्बर—दोपहर, 26 नवम्बर—भिंसार, 30 नवम्बर—सुबह, 9 दिसम्बर—शाम, 13 दिसम्बर—भिंसार, 20 दिसम्बर—शाम, 26 दिसम्बर—सुबह, 31 दिसम्बर—आधी रात, 5 जनवरी—दोपहर, 8 जनवरी—शाम, 17 जनवरी—सायंकाल, 20 जनवरी—भिंसार, 27 जनवरी—शाम, 15 फरवरी—भिंसार, 20 फरवरी—सुबह, 28 फरवरी—आधी रात, 9 मार्च—सुबह, 12 मार्च—सुबह, दूसरे मंथन की उपलब्धि, चाह।

(ई) 'गुलमौहर खौल उठा' से कविताएँ

वह अनजान आप्रवासी, ख़ूनी इतिहास, इतिहास की अस्मिता, भगवान बुद्ध ने कहा था, फ़रिश्ता, आशाएँ, समानता, सितारा, क्या मालूम था मुझे, दीवार, प्रतिमान, सूरज फिर सोने लगा, तभी तो, पसीने की बूँद, शब्द, लेकिन, दाने की तलाश में, अपना सूरज, इन्द्रधनुष का देश, उन्हें गोली न लगे, मैं भी चमार हूँ, जब भी, अपनी परछाईं की प्रतीक्षा में, गुलमौहर खौल उठा।

(ठ) 'लरजते लम्हे' से कविताएँ

अंधेरा, पसीना, फूल दर्द के, मकबरा, आदमीयत, नयी सभ्यता, लोरी, नया आदमी, अजनबीपन, प्रेम की सज़ा, अनहोनी, अनुभवहीनता, चिराग, मैं, चापलूसी, नये भगवान, परदेसी, जागरण, नये व्यापारी, विवशता, खबर, मेरी कविताएँ, टेलीविजन, अर्घ्य, भ्रम, सत्य का चेहरा, चेहरे दो, रजनीगन्धा, चुम्बन, त्रिशंकु, दान, सहयात्री, तलाश नये मसीहा की, आकर्षण, आईना, नयी पौध, छोटे-बड़े आदमी, दृष्टि, प्रमाण, ये लोग, प्रतिकूल प्रेम का परिणाम, धोखा, मिलन, परिभाषा, शत्रु प्रेम के, रेत पर लिखी कविताएँ, तलाश प्रेमियों की, प्रेम, चाँद पूर्णमासी का, एक पत्रकार की डायरी से, अपने माहौल के प्रति, तू आज़ाद है, पसीना जो बहा था, लहरें प्रलयंकर, कविता, आज़ाद मॉरिशस, वन्दना जननी की, चौरंगा हमारा, झण्डा-आरोहण, इतिहास की नीलामी, ये भेड़िये, बाँझ स्थिति, इन्कार, एक प्रेम-गीत, गूँगापन।

भूमिका

मॉरिशस के विख्यात हिन्दी साहित्यकार अभिमन्यु अनत को के.के. बिड़ला फाउंडेशन, नयी दिल्ली ने 5-6 दिसम्बर, 1994 को दो व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया था। अभिमन्यु अनत ने 'जीवन्त भारतीयता का देश मॉरिशस' तथा 'हिन्दी की अन्तर्राष्ट्रीयता में मॉरिशस की भूमिका' विषय पर अपने व्याख्यान दिये तथा ये कार्यक्रम प्रो. श्यामाचरण दुबे एवं श्रीमती कपिला वात्स्यायन के सभापतित्व में हुए। इन व्याख्यानों को सुनने के लिए दिल्ली के अनेक प्रतिष्ठित साहित्यकारों के साथ फाउंडेशन के अध्यक्ष श्री कृष्ण कुमार बिड़ला तथा श्री अटल बिहारी बाजपेयी भी उपस्थित थे। इस कार्यक्रम से श्री कृष्ण कुमार बिड़ला बहुत प्रभावित हुए और जब उनके सम्मुख यह प्रस्ताव रखा गया कि मॉरिशस के हिन्दी लेखकों की कृतियों को प्रकाशित करने में के.के. बिड़ला फाउंडेशन को भी सहयोग देना चाहिए तो उन्होंने तत्काल इसे स्वीकार करके एक ऐतिहासिक महत्त्व का निर्णय लिया। स्वाभाविक था कि इस योजना का आरम्भ अभिमन्यु अनत की ही किसी पुस्तक से होता, परन्तु स्वयं अभिमन्यु अनत का आग्रह था कि मॉरिशस के अन्य प्रतिष्ठित हिन्दी लेखकों से इसका शुभारम्भ हो। के. के. फाउंडेशन के निदेशक श्री बिशन टंडन के निर्णयानुसार भी यही उचित था कि इसका आरम्भ अन्य प्रतिष्ठित हिन्दी लेखकों की रचनाओं से किया जाये। एक प्रकार से यह उचित भी था, क्योंकि इस योजना के मूल में के.के. फाउंडेशन की मूल भावना यह रही कि जिन श्रेष्ठ कृतियों के प्रकाशन में कठिनाई आती है, उन्हें धीरे-धीरे प्रकाश में लाने के लिए सहयोग दिया जाये। अत: इस योजना की पहली कड़ी में रामदेव धुरन्धर का कहानी-संग्रह 'विष-मंथन' तथा पूजानन्द नेमा का कविता-संग्रह 'चुप्पी की आवाज़' और दूसरी कड़ी में लोचन बिदेशी का कहानी-संग्रह 'तीसरा प्राणी' एवं सुमति बुधन का कविता-संग्रह 'दस्तक' प्रकाशित किया गया। अब इसकी तीसरी कड़ी में अभिमन्यु अनत के साहित्य का एक प्रतिनिधि रूप—'अभिमन्यु अनत : प्रतिनिधि रचनाएँ' प्रकाशित किया जा रहा है। मुझे विश्वास है कि के.के. बिड़ला फाउंडेशन के अध्यक्ष श्री कृष्ण कुमार बिड़ला तथा उसके निदेशक श्री बिशन टंडन का स्नेह एवं सहयोग इस योजना को भविष्य में भी मिलता रहेगा और मॉरिशस के हिन्दी लेखकों की श्रेष्ठ कृतियाँ हिन्दी पाठकों तक पहुँचती रहेंगी।

इस योजना के अन्तर्गत मॉरिशस के किसी प्रतिष्ठित हिन्दी साहित्यकार की प्रतिनिधि रचनाओं के संकलन का विचार जब मेरे मन में आया था तब अभिमन्यु अनत ही सबसे पहले ऐसे साहित्यकार के रूप में सामने आये जो अपने देश के बाहर अपने देश का सबसे अधिक प्रतिनिधित्व कर सकते थे। भारत के हिन्दी पाठकों के बीच मॉरिशस के प्रो. वासुदेव विष्णुदयाल, जय नारायण राम, ब्रजेन्द्र कुमार भगत 'मधुकर', मोहन लाल मोहित, सोमदत्त बखोरी आदि कुछ अग्रज पीढ़ी के देश-सेवक, धर्म-सेवक तथा साहित्य-सेवक जाने-पहचाने नाम रहे हैं,

परन्तु राजनीति के क्षेत्र में डॉ. शिवसागर रामगुलाम तथा हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अभिमन्यु अनत दो ऐसे नाम हैं जिनके कारण भारतीय-मानस और जन-जीवन में मॉरिशस की विशिष्ट पहचान बनी है। इस प्रकार से डॉ. शिवसागर रामगुलाम अपने देश के प्रधानमंत्री और गवर्नर जनरल के रूप में राष्ट्र-नायक और राष्ट्र-पिता के गौरवपूर्ण पद पर सर्वस्वीकृत हुए और अभिमन्यु अनत अपने देश की सीमाओं को पार करके भारत तथा विश्व के अन्य देशों में, मॉरिशस के सबसे अधिक सशक्त हिन्दी साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित और मान्य ही नहीं हुए, बल्कि डॉ. शिवसागर रामगुलाम के समान साहित्य-संसार में तथा भारत के लोक-मानस में मॉरिशस के प्रतीक के रूप में स्वीकृत हुए। इसका यह अर्थ नहीं है कि अभिमन्यु अनत की पूर्व पीढ़ी के और उनके समकालीन तथा बाद की पीढ़ी के हिन्दी साहित्यकारों ने साहित्य-साधना कम की थी, लेकिन अभिमन्यु अनत जैसी बहुमुखी प्रतिभा, साहित्य और जीवन में एकरूपता, अस्मिता और संस्कृति की रक्षा का युद्ध, सत्ता से जुझारू संघर्ष, आम आदमी के सुख-दु:ख के प्रति इतनी कठोर प्रतिबद्धता, देश के समकालीन एवं युवा लेखकों की पीढ़ी को सहयोग, विश्व-मंच पर प्रतिष्ठा तथा भारत में लोकप्रियता किसी अन्य हिन्दी साहित्यकार ने इतने ठोस रूप में अभी तक नहीं प्राप्त की थी। अभिमन्यु अनत की लगभग चार दशकों तक निरन्तर साहित्य-साधना तथा इक्कीसवीं शताब्दी के आगमन तक साहित्य-रचना में प्रवृत्त रहना भी उनके वैशिष्ट्य का प्रमाण है। वे मॉरिशस के एकमात्र ऐसे हिन्दी साहित्यकार भी हैं, जिनकी अभी तक सबसे अधिक हिन्दी पुस्तकें (25 उपन्यास, 4 कहानी-संग्रह, 5 नाटक, 4 कविता-संग्रह, 3 जीवनी, 1 अनुवाद, 4 सम्पादकीय ग्रन्थ, 3 प्रतिनिधि संकलन तथा लगभग 10 कृतियाँ प्रकाशन की प्रतीक्षा में) प्रकाशित हुई हैं। मॉरिशस के कवि ब्रजेन्द्र कुमार भगत 'मधुकर' ही केवल ऐसे दूसरे साहित्यकार हैं जिनकी अभी तक लगभग 40 पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, परन्तु वे मूलत: और मुख्यत: कवि हैं और उनके प्राय: कविता-संग्रह ही प्रकाशित हुए हैं। इस प्रकार ब्रजेन्द्र कुमार भगत 'मधुकर' का यद्यपि रचना-काल अभिमन्यु अनत से बड़ा है, परन्तु उनमें अभिमन्यु अनत जैसी विधाओं की व्यापकता और विस्तार नहीं है। ब्रजेन्द्र कुमार भगत 'मधुकर' मॉरिशस के राष्ट्र-कवि के रूप में चर्चित होते रहे हैं, लेकिन मॉरिशस के राष्ट्र-साहित्यकार के पद पर अभिमन्यु अनत के अतिरिक्त किसी दूसरे साहित्यकार को प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। यहाँ यह स्थिति उल्लेखनीय प्रतीत होती है कि हिन्दी में प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद तथा जैनेन्द्र-अज्ञेय-यशपाल एवं मोहन राकेश-कमलेश्वर-राजेन्द्र यादव आदि के महत्त्व, योगदान एवं प्रतिष्ठा को लेकर हिन्दी समीक्षकों तथा इतिहासकारों में जैसा मतभेद रहा है और जैसी गिरोहबन्दी रही है, वैसी स्थिति मॉरिशस के हिन्दी साहित्यकारों के बीच नहीं रही। इसका यह कारण नहीं है कि मॉरिशस में अभिमन्यु अनत के आलोचक नहीं हैं, वहाँ उनके कई प्रकार के आलोचक हैं। कुछ उनके व्यक्तित्व से दु:खी हैं, कुछ उनके सम्मुख अपनी लघुता से, कुछ उनकी सम्पादकीय सत्ता से तथा कुछ उनके विश्व-व्यापी साहित्यकार के रूप से; लेकिन स्थिति यह है कि मॉरिशस में कुछ आलोचकों के होने पर भी उनके स्तर का कोई प्रतिद्वन्द्वी साहित्यकार नहीं है। वे अपने देश के प्रतीक-साहित्यकार बनने में पूर्णरूप से सक्षम हैं और इस स्थिति को चुनौती देने वाला कोई साहित्यकार बीसवीं शताब्दी के अन्त तक सामने नहीं आ सकेगा। यदि कोई इक्कीसवीं शताब्दी में चुनौती दे सका तो यह मॉरिशस के हिन्दी साहित्य के लिए गौरव की बात होगी।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि प्रत्येक कालजयी साहित्यकार अपने समय के आलोचकों के छिद्रान्वेषण एवं कटु आलोचना का शिकार बनता ही है। प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, अज्ञेय, यशपाल आदि सभी के साथ ऐसा हुआ है। प्रेमचंद को जहाँ उनके जीवन-काल में 'कथा-सम्राट' तथा 'उपन्यास-सम्राट' माना गया, वहाँ उन्हें 'हिन्दू-द्रोही', 'ब्राह्मण-द्रोही', 'मुस्लिम-भक्त' आदि न जाने कितनी पदवियाँ दी गयीं। महात्मा गांधी को तो इससे भी अधिक कटु उपाधियाँ दी गयीं, लेकिन इससे उनकी महानता खंडित नहीं हुई और वे बीसवीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों में स्वीकृत हुए। मॉरिशस के राष्ट्र-नायक तथा साहित्यकार भी इसके अपवाद नहीं हैं। अभिमन्यु अनत के उपन्यास 'गांधी जी बोले थे' तथा 'लहरों की बेटी' को लेकर मॉरिशस के एक आलोचक ने तरह-तरह की आलोचनाएँ की हैं, परन्तु मेरे विचार में वे आलोचनाएँ कृतियों की शक्ति और सामर्थ्य का प्रतीक हैं कि एक आलोचक अपने जीवन का इतना बड़ा समय इन कृतियों के अध्ययन और विश्लेषण को देता है। अभिमन्यु अनत अपने देश में विगत तीन दशकों से हिन्दी साहित्य की रचनात्मकता तथा विभिन्न गतिविधियों के केन्द्र में रहे हैं। उनके देश में चाहे कुछ आलोचक उनकी आलोचना करें, उनके देय पर उदासीन और चुप रहें, उनकी कृतियों का छिद्रान्वेषण करें, लेकिन इस सत्य को मॉरिशस का लोक-मानस और वहाँ का साहित्य-संसार अपनी स्मृतियों से नहीं मिटा सकेगा कि वह मॉरिशस देश का सबसे अधिक प्रतिभावान और सशक्त हिन्दी साहित्यकार है।

अभिमन्यु अनत मॉरिशस के हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक सम्पूर्ण युग है। वह एक नये युग का शुभारम्भ भी करता है और इस नये युग को विभिन्न दिशाओं में विकासमान बनाते हुए मॉरिशस से बाहर अपने देश के हिन्दी साहित्य को प्रतिष्ठित, प्रचारित और सम्मानित कराता है। यह मॉरिशस के हिन्दी साहित्य का 'अभिमन्यु अनत युग' है। मॉरिशस के हिन्दी साहित्य के इतिहास में अभिमन्यु अनत को उचित स्थान देने की माँग सबसे पहले मॉरिशस के राजेन्द्र अरुण (भारतीय नागरिक, परन्तु अब मॉरिशस के नागरिक) ने अपने एक लेख में की थी जो डॉ. श्यामधर तिवारी के शोध-प्रबन्ध—'अभिमन्यु अनत : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' की समीक्षा के रूप में लिखा गया था। यह लेख 'वसन्त' पत्रिका के वर्ष : 7, अंक : 43 में प्रकाशित हुआ था, अर्थात् यह सन् 1985 का प्रसंग है। राजेन्द्र अरुण ने लिखा है कि अभिमन्यु अनत बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं, आधुनिक भाव-बोध तथा उन्मुक्त मानसिकता के लेखक हैं तथा प्रवासी हिन्दी साहित्य को प्रतिष्ठित करने वाले हैं। राजेन्द्र अरुण ने आगे लिखा है कि 'मॉरिशस में प्रवासी भारतीयों की 150वीं वर्षगाँठ के अवसर पर हमें इतिहास के माथे पर अमिट अक्षरों से लिखे इस सत्य को स्वीकार करना होगा कि अभिमन्यु अनत ने हिन्दी साहित्य को अन्तर्राष्ट्रीय बनाया है। ×××अपने ही यशस्वी बन्धु (अभिमन्यु अनत) की पगध्वनि मॉरिशस कब सुनेगा, कालदेवता को इसी की प्रतीक्षा है। 150वीं वर्षगाँठ पर हम इतिहास रचने वाले अपने पूर्वजों की पवित्र राख को माथे पर लगा रहे हैं। कितना अच्छा होता यदि हम इतिहास रच रहे अपने बन्धुओं को भी गले लगाने के बारे में सोचते। मॉरिशस की तमाम सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संस्थाओं से यही मेरा एक सवाल है, राजेन्द्र अरुण की इस व्यथा में निश्चय ही अभिमन्यु अनत की इस पीड़ा का भी समावेश है जो उन्होंने इसी वर्ष प्रकाशित होने वाली मेरी पुस्तक 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत' में व्यक्त की थी। अनत ने मेरे एक प्रश्न के उत्तर में कहा था कि मॉरिशस में तो मैं आज भी

अनजान हूँ। अपनी ही भूमि पर पाठकों का अभाव! मेरे लिए इससे बड़ी पीड़ा क्या हो सकती है?[1] यह पीड़ा 15 वर्ष के बाद भी कम नहीं हुई है।

राजेन्द्र अरुण के इस आह्वान में भारत के साहित्यिक समाज की आवाज़ तो है ही, साथ ही मॉरिशस के हिन्दी साहित्य की वेदना और लोक-मानस की पुकार की प्रतिध्वनि भी समाहित है। प्रेमचंद की स्थिति इससे थोड़ी भिन्न थी। वे अपने जीवन-काल में उपेक्षा के नहीं अनुचित आलोचना के शिकार बने। उनके आलोचकों में ठाकुर श्रीनाथ सिंह, शिलीमुखी, ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' आदि अनेक साहित्यकार थे, परन्तु उनके समर्थन और प्रशंसा में जयशंकर प्रसाद, पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, पं. राम दास गौड़, महावीर प्रसाद पोद्दार, दयानारायण निगम, रायकृष्ण दास, आचार्य नरेन्द्र देव, गणेशशंकर विद्यार्थी, डॉ. रघुवीर सिंह, शिवपूजन सहाय, फिराक़ गोरखपुरी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, जैनेन्द्र कुमार, रामचन्द्र शुक्ल आदि अनेक महारथी साहित्यकार उनके साथ खड़े थे। इसके साथ भारत के असंख्य हिन्दी पाठक भी प्रेमचंद के भक्त बन गये थे, तथा मेरे माता-पिता जैसे लोग भी उनके नियमित पाठक थे और वे उनकी कृतियों के प्रभाव में परिवार के अंधविश्वासों को त्यागते हुए गांधी के स्वतन्त्रता-संग्राम के साथ चलने का प्रयत्न कर रहे थे। अभिमन्यु की स्थिति प्रेमचंद जैसी नहीं थी। अनत का जब पहला उपन्यास 'और नदी बहती रही' प्रकाशित हुआ तो मॉरिशस में उसके खरीददार हिन्दी के अध्यापक नहीं, दूसरी भाषाओं के अध्यापक थे। इससे भी बुरा परिणाम 'आजकल' पत्रिका के उस अंक का हुआ जिसमें अनत की कहानी छपी थी। उसे एक हिन्दी अध्यापक ने छात्र के सम्मुख ही फाड़कर फेंक दिया था। यह उस समय की घटनाएँ हैं, जब अभिमन्यु अनत एक लेखक के रूप में जन्म ले रहा था। ऐसा नहीं है कि अभिमन्यु के प्रशंसकों, मित्रों तथा सहयोगियों का अभाव था। अभिमन्यु ने स्वयं नये-नये प्रतिभावान हिन्दी लेखकों को खोजा, सम्पर्क किया और जब 'वसन्त' के सम्पादन का दायित्व मिला तो कुछ साहित्यिक मित्रों, लेखकों तथा नये रचनाकारों को साथ में लेकर पत्रिका से जोड़ा। इस 'अभिमन्यु मण्डल' में मुकेश जीबोध, पूजानन्द नेमा, रामदेव धुरन्धर, सुमति सिन्धू, हेमराज सुन्दर, जागासिंह, लोचन बिदेशी, साहेबा फ़र्ज़ली आदि ('वसन्त' के आरम्भिक अंकों के अनुपलब्ध होने के कारण यह सूची अपूर्ण है) अनेक हिन्दी लेखकों का संगम हुआ। इसमें अभिमन्यु अनत द्वारा स्थापित 'अजन्ता आर्ट्स' एवं 'आयाम' संस्थाएँ भी अपना योगदान करती रहीं। सोमदत्त बखोरी, ब्रजेन्द्र कुमार भगत 'मधुकर', डॉ. मुनीश्वरलाल चिंतामणि तथा भारत से गये प्रो. रामप्रकाश एवं डॉ. गंगादत्त शर्मा आदि अग्रज पीढी के अनेक साहित्यकारों तथा हिन्दी विद्वानों का अभिमन्यु अनत तथा उसके अन्य साथी-लेखकों को भरपूर सहयोग मिला। इन सभी ने मुझसे हुई निजी बातचीत में, इन्होंने अनत और उसके समकालीन हिन्दी साहित्यकारों की पीढ़ी की सराहना ही नहीं की, बल्कि इनके साहित्य को भी मॉरिशस का सबसे सशक्त साहित्य भी स्वीकार किया। मॉरिशस के प्रह्लाद रामशरण अभिमन्यु अनत के कटु आलोचक हैं, परन्तु वे भी 'पंकज' के अगस्त, 1995 के अंक में लिखे अपने लेख में स्वीकार करते हैं कि अनत 'बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार' है तथा इन्होंने अपनी 'विपुल साहित्यिक कृतियों से मॉरिशस का गद्य साहित्यिक भण्डार' भरा है तथा 'वसन्त' के सम्पादन में अनेक नवोदित लेखक उभरे हैं। प्रह्लाद रामशरण मानते हैं कि अभिमन्यु अनत

---

1. 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत' पृ0 65

'मॉरिशस के प्रेमचंद' हैं। मैं भी सन् 1980 से यही बात कहता आया हूँ तथा कुछ अन्य भारतीय विद्वानों ने भी इसका समर्थन किया है। यहाँ यह फिर भी विचारणीय है कि राजेन्द्र अरुण क्यों सन् 1985 में अभिमन्यु अनत को राष्ट्रीय मान्यता का प्रश्न उठाते हैं तथा क्यों वहाँ के हिन्दी लेखक अभिमन्यु अनत के युग-प्रवर्तन तथा युग-स्थापन की सत्यता पर सक्रियता के साथ नहीं लिखते और क्यों उनकी इस उदासीनता के बावजूद भारत के लगभग 20-25 विश्वविद्यालयों में अभिमन्यु अनत के साहित्य का शोधपरक विश्लेषण हो रहा है? इस तरह के अनेक प्रश्न उठते हैं, जिन पर मॉरिशस के हिन्दी लेखकों तथा आलोचकों को गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि उनके देश में अभिमन्यु अनत के जीवन, विचार तथा साहित्य के गम्भीर अध्ययन की शुरूआत कैसे हो तथा किस प्रकार उससे जुड़ी घटनाओं तथा दस्तावेज़ों को एकत्र करके तटस्थ मूल्यांकन की परम्परा आरम्भ की जाये? यदि अभिमन्यु अनत मॉरिशस के प्रेमचंद हैं, बल्कि कहूँ कि वे 'मॉरिशस के अभिमन्यु अनत' हैं तो निश्चय ही, आज नहीं तो कल, अनत के अध्ययन, अध्यापन तथा मूल्यांकन की परम्परा मॉरिशस देश की ज़मीन पर भी अवश्य ही आरम्भ करनी पड़ेगी। अभिमन्यु अनत ने मॉरिशस के हिन्दी साहित्य के इतिहास में जो रेखाएँ खींची हैं, वे अमिट होने के साथ प्रेमचंद के समान देश की आने वाली पीढ़ियों को भी प्रेरित करती रहेंगी। प्रेमचंद ने इतिहास रचा था। अभिमन्यु अनत ने भी इतिहास रचा है। इतिहास रचने वाले ऐसे सर्जकों को काल-देवता भी नष्ट नहीं कर सकता। काल-देवता इन्हें अपने साथ कालजयी बनाकर अमरता का वरदान ही देता है।

अभिमन्यु अनत से मेरा सम्पर्क सन् 1980 से है, जब मैं 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' द्वारा आयोजित 'प्रेमचंद शताब्दी समारोह' में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में, जैनेन्द्र जी के साथ मॉरिशस गया था। दिल्ली में मैंने 'प्रेमचंद जन्म-शताब्दी राष्ट्रीय समिति' बनायी थी और मैं उसका संस्थापक-महासचिव था तथा जैनेन्द्र जी इसके अध्यक्ष बने। महासचिव के रूप में मैंने देश-विदेश में 'प्रेमचंद शताब्दी समारोह' मनाने के लिए अनेक संस्थाओं को पत्र लिखे थे। मॉरिशस की 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' ने हमारे प्रस्ताव का स्वागत किया और भव्य कार्यक्रम हुआ। मॉरिशस के प्रधानमंत्री डॉ. शिवसागर रामगुलाम ने 'प्रेमचंद शताब्दी समारोह' तथा मेरे द्वारा आयोजित 'प्रेमचंद प्रदर्शनी' का उद्घाटन किया। इस अवसर पर मैं अभिमन्यु अनत से मिला तथा उनकी माता जी के भी दर्शन किये। इस यात्रा ने मुझे स्थायी रूप से मॉरिशस से जोड़ दिया। इसके बाद मैं सन् 1989, 1994 तथा 1996 में मॉरिशस गया और अनत के घर पर ही ठहरा। इन तीन यात्राओं में मैंने अभिमन्यु अनत के जीवन को देखा, तथा उन व्यक्तियों तथा स्थानों को भी देखा जिनके बीच रहकर अभिमन्यु ने अपना जीवन जीया है। उसके जीवन की अनेक रोमांचक, कारुणिक तथा साहसी घटनाओं से अवगत हुआ। अनत का जीवन समतल नहीं रहा, उसमें आँधियाँ हैं, तूफ़ान हैं, ज्वार-भाटे हैं, शान्त किनारे हैं, परन्तु बहुत कम। उसके जीवन में प्रश्न हैं, विरोध है, अस्वीकृति है, सत्ता से टकराने की क्षमता है, लेकिन चापलूसी और जी-हजूरी से जीने की इच्छा नहीं। शरीर से वह रोगी है, और प्रेम-रोग भी उसे लगा, परन्तु इसकी कथा अकथनीय बनी हुई है। वह गृहस्थी है, सरिता जैसी पत्नी है, तरुण तथा रत्नेश जैसे बेटे हैं और भाइयों-बहनों तथा रिश्तेदारों के अनेक परिवार हैं। इस पारिवारिक जीवन की एक लम्बी-कहानी है—प्रेम, कटुता, असहमति, सहमति, सहयोग, विरोध आदि से भरी हुई, अधिकार तथा त्याग से परिपूर्ण। इस पारिवारिक जीवन में ग़रीबी

और अमीरी के असंख्य दृश्य हैं—माता-पिता के, अपने तथा अपने परिवार के। आजीविका के लिए अनेक रूप ग्रहण करने पड़े, लेकिन सेवा-मुक्ति उच्चपद से हुई। उसने अनेक मित्र बनाये, काफ़ी को रास्ते में छोड़ दिया, उसके स्वाभिमान ने उसे प्रायः समझौते से दूर रखा। कुछ अच्छे दोस्त भी पीछे छूट गये, परन्तु मैंने उनके लिए पछतावा नहीं देखा। ऐसा नहीं है कि अनत ने गलतियाँ न की हों, परन्तु ऐसी आत्म-स्वीकृतियाँ उसके लिए कठिन हैं। उसने 'वसन्त' के सम्पादक के रूप में अनेकों की रचनाएँ प्रकाशित कीं, उन्हें लेखक की प्रतिष्ठा दी, लेकिन मैं नहीं जानता कि उसने कभी किसी से अपने पर लेख लिखने के लिए प्रेरित किया हो। भारत में तो बड़े-से-बड़ा लेखक भी इससे मुक्त नहीं है, बल्कि अपनी प्रशंसा और प्रतिष्ठा में लेख, पुस्तक एवं अभिनन्दन-ग्रन्थ तक निकलवाने की परम्परा यहाँ देखी जा सकती है। अनत पर मेरी यह तीसरी पुस्तक है, परन्तु ये सब मेरे दिमाग की उपज हैं। अभिमन्यु ने कभी मुझे ऐसे कार्य करने के लिए प्रेरित नहीं किया।

अभिमन्यु देश-प्रेमी हिन्दू हैं, हिन्दू-धर्म के कर्म-काण्ड भी सपरिवार करता है, परन्तु वह हिन्दू-धर्म का प्रचारक नहीं है। वह एक प्रकार से धर्म की अमानवीयता का विरोधी है। वह मानव के मूलभूत अधिकारों का समर्थक एवं प्रचारक है। उसे सत्ता से घृणा है, परन्तु आम आदमी से प्रेम है। आम आदमी के सुख-दुःख के लिए सत्ता से प्रश्न करने का साहस रखता है। इस अर्थ में वह निर्भय है। उसे भय है तो देश के गूँगे इतिहास के लुप्त हो जाने का। वह अपने साहित्य से गूँगे इतिहास के अज्ञात दरवाज़ों को खोलकर उसमें दबी-ढकी-बँधी बाँसों और कोड़ों की अनुगूँजों और प्रतिध्वनियों को रूप देता है और काल के कपाल पर उन्हें अमर और अमिट बना देता है। वह पूर्वजों की पीड़ा का गायक है, स्वतन्त्र मॉरिशस की पीड़ा का भी गायक है। अतीत, वर्तमान और भविष्य उसके जीवन और साहित्य का अंग है। वह अपने वर्तमान में अतीत और वर्तमान दोनों को जीता है तथा अपने देश को उसकी सच्चाइयाँ बताता है। वह लेखक का धर्म निभाता है—राष्ट्र के जागरण का, मानवीय चेतना के विकास का, स्वतन्त्रता के समान एवं भेदभाव रहित सदुपयोग का, संस्कृति के मूल्यवान उपादानों की रक्षा के साथ विधर्मी संस्कृति के निषेध का तथा आम आदमी के कल्याण का। यह बीसवीं शताब्दी के विश्व-साहित्य के विवेक की वाणी है, उसकी शक्ति और उपलब्धि है। यह इस सदी की पहचान है। अभिमन्यु इस विश्व-वाणी का अपने द्वीप में शंखनाद करता है और उसे विश्वात्मा से जोड़ देता है। वह अपने देश के प्रजातन्त्र के स्वरूप का आलोचक है, धर्म-जाति-भाषा आदि के कारण भेदभाव का विरोधी है तथा पश्चिमी संस्कृति के प्रदूषण से घनघोर रूप से चिंतित है। वह एंक चिंतित लेखक है, प्रश्नवाची लेखक है और यह सब देश की जनता के लिए है और एक प्रकार से पूरी मानवीयता के लिए है।

मेरा सवाल है, क्या ऐसे लेखक का जीवन साहित्य का विषय नहीं बनना चाहिए? मॉरिशस के मेरे कुछ मित्र आज इसे अतिश्योक्ति समझ सकते हैं, लेकिन वे गाँठ बाँध लें कि एक दिन उनके देश में कोई एक लेखक अभिमन्यु अनत की जीवनी लिख कर उसे राष्ट्र की श्रद्धाजंलि अर्पित करेगा। भारत में भी हिन्दी समाज ने अपने साहित्यकारों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। प्रेमचंद की जीवनी उनकी मृत्यु के लगभग 25-26 वर्ष बाद उनके पुत्र अमृतराय द्वारा लिखी गयी और मैंने उनकी कालक्रमानुसार शोधपरक जीवनी उनके देहान्त के लगभग 45 वर्ष के बाद 'प्रेमचंद विश्वकोश' (खण्ड-एक) शीर्षक से प्रकाशित करायी।

प्रेमचंद जैसे हिन्दी साहित्यकार के जीवन में भी, उनके जीवन को किसी ने जानने का प्रयत्न नहीं किया। यह दुर्भाग्यपूर्ण था, क्योंकि जीवन के बाद जीवन के सूक्ष्म तथ्यों को खोज पाना सरल नहीं है। इसी कारण मुझे लगभग 15 वर्ष उनकी जीवनी लिखने के लिए देने पड़े। इस पर भी यह दावा करना कि प्रेमचंद के जीवन का व्रास्तवित चित्र प्रस्तुत किया गया है, नासमझी भरा होगा। अत: प्रेमचंद हों या रवीन्द्रनाथ ठाकुर या मॉरिशस द्वीप के अभिमन्यु अनत, उनका जीवन भी साहित्य का विषय है। उनकी जीवनी भी साहित्य में लिखी जानी चाहिए और यदि हम ऐसे साहित्यकार का वास्तविक चित्र खींचना चाहते हैं तो हमें साहित्यकार के जीवन-काल में ही जीवनी के सूत्रों, रहस्यों तथा दस्तावेज़ों को सुरक्षित रखने के प्रति सावधान होना पड़ेगा। मुझे सन्देह है कि भारत तथा मॉरिशस जैसे देशों में उनके राष्ट्रीय संग्रहालयों या आर्काइव में कभी साहित्यिकार को स्थान मिल सकेगा।

मुझे यहाँ अभिमन्यु अनत के विचार-पक्ष तथा उसके साहित्य को एक साथ रखकर अपनी उपरोक्त कसौटियों पर कसना उचित प्रतीत होता है। साहित्यकार ईश्वर के समान अपनी सृष्टि के कण-कण में समाया रहता है। ईश्वर के दर्शन प्रत्यक्षत: असम्भव हैं। वह अनुभूति का विषय है—आत्मानुभूति का, परन्तु साहित्यकार अपने साहित्य में अदृश्य होकर भी प्रत्यक्ष रहता है। प्रेमचंद और अभिमन्यु अनत जैसे साहित्यकार अपने हस्तक्षेप तथा सरोकारों में एकदम प्रत्यक्ष रहते हैं। वे मनुष्य और मनुष्यता के शत्रुओं के विरुद्ध कलम की लड़ाई लड़ते हैं। वे छिपकर लड़ाई नहीं लड़ते, खुले मैदान में हस्तक्षेप करते हैं और अपने सरोकारों का नक्शा पेश करते हैं। उन्हें मालूम है कि वे इस युद्ध में अकेले हैं और अभिमन्यु की तरह महारथियों के चक्रव्यूह में घिरे हैं, लेकिन वे अपनी नहीं सबकी लड़ाई लड़ते हैं। ये सब लोग निहत्थे हैं, अस्त्र-शस्त्रविहीन, मूक, निस्सहाय, अपाहिज, जिन्हें ख़ुद अपनी ख़बर नहीं। ये साहित्यकार ऐसी ही मूक जनता की वकालत के लिए लिखते हैं और उनकी 'मूक चीख' को पूरे समाज को सुनाते हैं। सत्ता अपनी हो या परायी, दोनों ही अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाती है। प्रेमचंद पर अंग्रेजों ने अनेक अंकुश लगाये, जुरमाना तक किया, पर वे अपनी राह चलते रहे। स्वतन्त्र भारत में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपनी निरंकुश सत्ता को बनाये रखने के लिए आपात्काल लगाया और मुझ जैसे हजारों प्राध्यापकों, लेखकों तथा बुद्धिजीवियों को जेल में ठूँस दिया। अभिमन्यु अनत को भी कटघरे में खड़ा किया गया, प्रधानमंत्री से शिकायत की गयी, सम्पादकीय के कारण पत्रिका जलायी गयी, परन्तु ऐसे लेखक अँधेरी सुरंगों में रहकर भी प्रकाश की किरणें ढूँढकर ले ही आते हैं। संसार के अधिकांश बड़े लेखकों ने ज़िन्दगी की अँधेरी गुफ़ाओं एवं घाटियों तथा मन की गहराइयों में छिपे अँधेरों को निरावृत्त करके उजाले की एक नन्हीं किरण की तलाश की है। तॉलस्तॉय, प्रेमचंद ऐसे ही लेखक थे। ऐसे लेखक अपराजेय हैं, क्योंकि वे मनुष्य और उसकी मनुष्यता की रक्षा के लिए कलम से लड़ने वाले योद्धा हैं और उनके संवाहक हैं।

अभिमन्यु अनत मॉरिशस के एकमात्र ऐसे लेखक हैं जिन्होंने सर्वाधिक विधाओं में सर्वाधिक पुस्तकें लिखी हैं। यह उनका अपना वैशिष्ट्य है, जो उन्हें सम्पूर्ण मॉरिशस के हिन्दी साहित्य में ही नहीं, देश की विभिन्न भाषाओं के सम्पूर्ण साहित्य में विशिष्ट बनाता है। यह विशिष्टता केवल उनके पास है। इसके पीछे चार दशकों की साहित्य-साधना है, जो चालीस वर्षों से निरन्तर चल रही है। सर्जनात्मकता की यह निरन्तरता ब्रजेन्द्र कुमार भगत

'मधुकर', मुनीश्वरलाल चिन्तामणि आदि लेखकों में भी है, परन्तु परिमाण तथा वैविध्य में वे अभिमन्यु अनत के प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं। ब्रजेन्द्र कुमार भगत 'मधुकर' के यद्यपि 40 कविता-संग्रह हैं, और अभिमन्यु के 5, परन्तु 'मधुकर' प्राय: कविता तक सीमित हैं, जबकि अभिमन्यु ने कविता के साथ उपन्यास, कहानी, नाटक, जीवनी, संस्मरण, आत्मकथा, रिर्पोताज़, डायरी, लेख, भेंटवार्ता, लघुकथा, सम्पादकीय, आदि गद्य-पद्य की अधिकांश विधाओं में लिखा है। अनत की यह बहुमुखी प्रतिभा उन्हें विशिष्ट ही नहीं सर्वोपरि भी बनाती है तथा इस मत को भी स्थापित करती है कि गद्य और पद्य में एक साथ रचना करने वाले रचनाकारों की सर्जनात्मकता में कुछ अतिरिक्त क्षमता और चमक आ जाती है। उनकी इस प्रतिभा में यदि हम उनके चित्रकार, छायाकार तथा नाट्य कला-कौशल को भी जोड़ कर देंखे तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन जैसा 'सम्पूर्ण कलाकार' एवं 'सम्पूर्ण साहित्यकार' मॉरिशस में उत्पन्न नहीं हुआ। इस सदी के अन्तिम क्षणों का सत्य तो यही है।

अभिमन्यु अनत प्रमुख रूप से कथाकार हैं। कथा की प्राय: सभी विधाओं—उपन्यास, कहानी, लघुकथा आदि का उन्होंने उपयोग किया है। ये तीनों कथा-कुल की सन्तानें हैं और अनत तीनों विधाओं को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाते हैं। उनके अभी तक 28 वर्ष में 25 उपन्यास, 4 कहानी-संग्रह तथा 1 लघुकथा-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। वे मॉरिशस के प्रेमचंद के समान 'उपन्यास-सम्राट' हैं। मॉरिशस के हिन्दी उपन्यास का इतिहास यद्यपि लालकृष्ण बिहारी के लघु उपन्यास 'पहला कदम' से सन् 1960 से आरम्भ होता है, लेकिन हिन्दी उपन्यास का वास्तविक उद्भव और विकास अभिमन्यु अनत से ही शुरू होता है। अनत के आगमन से पूर्व अंग्रेजी-फ्रेंच के तीन उपन्यासों के अनुवाद भी मिलते हैं, लेकिन आधुनिक उपन्यास का श्रीगणेश अभिमन्यु अनत से ही होता है। मॉरिशस की स्वतन्त्रता के उपरान्त हिन्दी उपन्यास का यह इतिहास मुख्यत: एक प्रकार से अभिमन्यु अनत के उपन्यासों का ही इतिहास है और इसलिए इसे 'अभिमन्यु अनत युग' कहना सर्वथा औचित्यपूर्ण है। यह आश्चर्यजनक है कि उपन्यास में अभिमन्यु के सम्मुख कहानी की तुलना में कोई सशक्त परम्परा नहीं थी, जैसी कि भारत में प्रेमचंद के आविर्भाव के समय थी, फिर भी उसका पहला उपन्यास 'और नदी बहती रही' (1970) मॉरिशस में आधुनिक हिन्दी उपन्यास के जन्म का आधार बना। प्रेमचंद के उपन्यास 'सेवासदन' को हिन्दी का प्रथम आधुनिक उपन्यास होने का गौरव मिला, परन्तु यह उनका प्रथम नहीं छठा उपन्यास था। अत: हिन्दी उपन्यासकार के रूप में अभिमन्यु अनत के आविर्भाव की यह घटना मॉरिशस ही नहीं किसी भी भाषा के उपन्यास-साहित्य के इतिहास में गौरवपूर्ण घटना होनी चाहिए।

अभिमन्यु अनत के सन् 1970 से 1998 तक 25 उपन्यास प्रकाशित हुए हैं तथा अनत के 25 मार्च, 99 को लिखे पत्र से स्पष्ट है कि उनका 26वाँ उपन्यास 'आसमान अपना आँगन' की पाण्डुलिपि प्रकाशन के लिए लगभग तैयार है। इस प्रकार लगभग 30 वर्ष में 26 उपन्यासों की रचना करने वाले वे मॉरिशस के एकमात्र उपन्यासकार हैं। संख्या की दृष्टि से ही नहीं, मॉरिशस के जीवन के अतीत, वर्तमान और भविष्य के चित्र खींचने में भी अनत का कोई सानी नहीं है। अभिमन्यु ने मॉरिशस के अतीत को अपने त्रिखण्डी महाकाव्यात्मक उपन्यास में जीवित कर दिया है। ये एक प्रकार से तीन उपन्यास हैं जो 'लाल पसीना' (1977), 'गांधजी बोले थे' (1984) तथा 'और पसीना बहता रहा' (1993) शीर्षक से छपे हैं, परन्तु ये एक साथ पढ़ने

पर तीन खण्डों के एक महाकाव्यात्मक उपन्यास का रूप ले लेते हैं। 'लाल पसीना' उपन्यास भारत से गये गिरमिटिया मज़दूरों तथा कुलियों पर हुए घोर अमानवीय, क्रूर एवं पाशविक अत्याचारों का जीवन्त इतिहास है। अभिमन्यु ने स्वयं गन्ने के खेतों में मज़दूरी की और तभी उन्हें इतिहास में हुई यातनाओं और अत्याचारों का वास्तविक बोध हुआ। इस इतिहास-बोध ने उनके मन में 'लाल-पसीना' का बीजांकुर कर दिया और सम्पूर्ण द्वीप के लगभग सौ से अधिक वृद्धों तथा वृद्धाओं का साक्षात्कार लेकर इस गूँगे, रक्तिम और चीख से भरे इतिहास को उपन्यास का रूप दे दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतवंशी मज़दूरों ने अपनी श्रम-संस्कृति से मॉरिशस का कायाकल्प किया, लेकिन अपने धर्म, संस्कृति, भाषा तथा अस्तित्व की रक्षा के लिए भरपूर संघर्ष भी किया। 'लाल पसीना' इस प्रकार भारतीय अस्मिता, मानव-अधिकारों तथा स्वतन्त्रता के लिए भारतीय मज़दूरों के संघर्ष का इतिहास है। 'गांधीजी बोले थे' इस इतिहास-कथा को आगे बढ़ाता है। मुझे प्रसन्नता है कि इस उपन्यास की प्रेरणा लेखक को मेरे इस प्रश्न से मिली कि 'लाल पसीना' में गांधीजी की चर्चा क्यों नहीं है।[1] गांधीजी सन् 1901 में दक्षिण अफ्रीका से भारत आते समय कुछ दिनों के लिए मॉरिशस में रुके थे और उन्होंने यहाँ अपने भाषण में कहा था कि भारतीयों को अपने बच्चों को उचित शिक्षा दिलानी चाहिए तथा राजनीतिक गतिविधियों से सम्बद्ध होना चाहिए। गांधीजी के इस आह्वान का मॉरिशस के भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनमें नयी जागरूकता, नयी चेतना तथा संघर्ष की नयी शक्ति उत्पन्न हुई और 'गांधीजी बोले थे' इसी की कथा है। अभिमन्यु अनत ने एक प्रश्न के उत्तर में कहा था कि गांधीजी का यदि यह आह्वान नहीं होता तो गाँव की कोठी में दयनीय जीवन जीवने वाले मज़दूर का बेटा आगे चलकर मॉरिशस का प्रथम प्रधानमंत्री (डॉ. शिवसागर रामगुलाम) नहीं होता। इस महाकाव्यात्मक-सम्वेदना और चेतना का तीसरा खण्ड है—'और पसीना बहता रहा' जो सन् 1993 में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास पं. रामनारायण के जन-आन्दोलन पर आधारित है जिसमें शिवसागर रामगुलाम, विष्णुदयाल जैसे अन्य इतिहास-पुरुष भी विद्यमान हैं। यह एक प्रकार से मॉरिशस के इतिहास की रक्षा का सबसे बड़ा सर्जनात्मक अनुष्ठान है, जो इतिहास को जातीय अस्मिता और संस्कृति का अंग बना देता है। इस प्रकार इस त्रयी में आप्रवासी भारतीयों की अस्तित्व-चेतना तथा धर्म-संस्कृति की रक्षा का संघर्ष है। विदेशी भूमि पर यह एक प्रकार से स्व-संस्कृति, स्व-धर्म, स्व-भाषा और स्वदेशीपन के साथ जीवित रहने का संकल्प और संघर्ष है। यह स्वदेशीपन उनकी भारतीयता ही थी जो उनके अस्तित्व का प्राण-तत्त्व थी और जो अब मॉरिशस की भूमि पर मॉरिशसीय्र रूप ले रही थी। यही भारतीयता उनमें महाकाव्यीय उदात्तता, धैर्य, संघर्ष तथा संस्कृति की रक्षा का महत् भाव उत्पन्न करती थी। मॉरिशस में उनका अस्तित्व और अस्तित्व का संघर्ष एवं उनकी जिजीविषा महाकाव्यात्मक सम्वेदना के आधार थे। मॉरिशस जैसे छोटे टापू पर इस महाकाव्यात्मक चेतना ने अभिमन्यु अनत को अपने देश का महाकाव्यात्मक उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। भारत में प्रेमचंद को अपने 'रंगभूमि' तथा 'गोदान' जैसे उपन्यासों की इसी महाकाव्यात्मक सम्वेदना एवं चेतना के कारण ही 'गद्य में महाकाव्य' लिखने का गौरव मिला था। इससे स्पष्ट है कि उपन्यासकार भी अपनी प्रतिभा से गद्य में भी महाकाव्यात्मक प्रवृत्तियों की सृष्टि कर सकता है।

1. 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत', पृ0 85

अभिमन्यु अनत के अन्य उपन्यासों में मॉरिशस की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों का व्यापक चित्रण हुआ है। पहले उपन्यास 'और नदी बहती रही' (1970) में मजदूरों की दुर्दशा, विवशता, शोषण, दमन आदि के साथ प्रेम-विवाह, धर्म की संकीर्णता, परिवर्तन की कामना आदि विविध परिस्थितियों का चित्रण हुआ है। इसमें लेखक ने प्रेम-कथा के साथ देश-कथा को भी संयुक्त कर दिया है। 'एक बीघा प्यार' (1972) में किसान का भूमि-प्रेम तथा आदमी का आदमी के साथ होने वाले रिश्तों का हृदयस्पर्शी चित्रण है। उपन्यासकार ने इसमें यह प्रश्न भी उठाया है कि कृषक-परिवार के नवयुवकों को मानसिक गुलामी के तौर पर सरकारी नौकरी न करके अपने खेतों में मेहनत करनी चाहिए। 'जम गया सूरज' (1973) में प्रेम-विवाह, स्त्री की स्थिति, परित्यक्ता का स्वरूप तथा मज़दूर की दुनिया है। 'तीसरे किनारे पर' (1976) उपन्यास में प्रेममूलक यथार्थवादी कहानी है तथा 'चौथा प्राणी' (1977) में फिर ग्रामीण जीवन का चित्र है तथा एक निर्धन परिवार की लड़की का संघर्ष है। 'तपती दोपहर' (1977) में मज़दूर से पुन: किसान बने पात्र की कहानी है। इसका कारण यह है कि लेखक नहीं चाहता कि किसान का बेटा शहर में नौकरी करे और गाँव फिर जंगल बन जायें। 'कुहासे का दायरा' (1978) में ग्रामीण जीवन है, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विसंगतियाँ हैं तथा विसंस्कृतिकरण की समस्या है। 'शेफाली' (1979) में वेश्या-जीवन का यथार्थ है। 'हड़ताल कब होगी' (1979) में रंग-भेद तथा मज़दूरों के संघर्ष की कथा है। लेखक के शब्दों में इसमें मॉरिशस का सामयिक सत्य है। 'चुन-चुन चुनाव' (1981) में चुनाव की राजनीति, छल-कपट, जातिवाद, हार-जीत तथा संस्कृति एवं भाषा की समस्याओं को उठाया गया है। 'अपनी ही तलाश' (1981) में सेक्स और धन की साज़िश तथा अस्मिता एवं जड़ की तलाश है। 'पर पगडंडी मरती नहीं' (1983) में भूमि-प्रेम और मज़दूरों का संगठन है और बेहतर जीवन के लिए संघर्ष है। 'अपनी अपनी सीमा' (1983) में पति-पत्नी के सम्बन्ध तथा नारी के प्रतिकार की कहानी है। 'मार्क ट्वेन का स्वर्ग' (1985) में 'फैसला आपका' तथा 'मार्क ट्वेन का स्वर्ग' दो उपन्यास संकलित हैं। 'फैसला आपका' में प्रिया के माध्यम से राजनेताओं द्वारा तस्करी तथा अवैध धनार्जन के षड्यन्त्रों एवं राष्ट्र-विरोधी प्रयासों का पर्दाफ़ाश किया गया है। 'मार्क ट्वेन का स्वर्ग' में धरती का स्वर्ग कहलाने वाले मॉरिशस में विद्यमान नर्क का चित्रण है। यह नर्क है—धनी-निर्धन में अन्तर, पर्यटकों को भौतिक वस्तुएँ उपलब्ध परन्तु, देशवासियों को रोटी-रोजी का संकट, वेश्यावृत्ति, बेरोजगारी, सत्ता का तस्करी के लिए उपयोग, आदि। 'मुड़िया पहाड़ बोल उठा' (1987) में श्रमिक बनी नायिका महिला-आन्दोलन का नेतृत्व करती है और वह सफल होती है। इसमें पूँजीपतियों का शोषण, उनकी श्रमिक विरोधी नीति तथा शासकों से उनके सम्बन्धों का यथार्थ है और कारख़ाने में श्रमिकों के स्वामीत्व की भी शुरूआत है। 'शब्द भंग' (1989) में एक पत्रकार के माध्यम से नशीले पदार्थों के व्यापारियों तथा उनकी राजनीतिक-धार्मिक शक्तियों का भण्डाफोड़ किया गया है। 'अचित्रित' (1990) में वेश्या-जीवन का चित्रण है। इसमें राजनेताओं का कलंकित चरित्र है, लेकिन वेश्या का देशप्रेम भी है। 'लहरों की बेटी' (1995) में एक मछुआरे की बेटी विदुला की अविस्मरणीय कहानी है। 'चलती रहो अनुपमा' (1998) उपन्यास यद्यपि आत्मकथात्मक उपन्यास है, किन्तु अनुपमा इसकी केन्द्र-बिन्दु है। वह गांधारी के समान

यातनाएँ सहनकर भी पति के साथ है।

यह अभिमन्यु अनत के उपन्यास-साहित्य का एक अत्यन्त संक्षिप्त सर्वेक्षण है, लेकिन फिर भी हम कुछ निष्कर्षों तक पहुँच सकते हैं। मॉरिशस के रामदेव धुरन्धर, दीपचन्द बिहारी, आनन्द देवी, अस्तानन्द सदासिंह, बेणीमाधव रामखेलावन आदि हिन्दी उपन्यासकारों के बीच अभिमन्यु अनत सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। वे मॉरिशस के हिन्दी उपन्यास-साहित्य में सर्वोपरि हैं तथा 'उपन्यास-सम्राट' हैं। यह 'सम्राट' की पदवी प्रेमचंद को प्रिय नहीं थी, और अभिमन्यु अनत को भी नहीं है। वास्तव में, यह पदवी उनकी सर्वोपरियता तथा सर्वश्रेष्ठता की ही प्रतीक है। अनत की मॉरिशस के उपन्यास-साहित्य में इस शीर्षस्थ स्थिति का मूल कारण उनकी महाकाव्यात्मक प्रतिभा और ऊर्जा तथा सामयिक यथार्थ को बारीकी से आत्मसात करने की क्षमता है, जिसके कारण उन्होंने अपने समाज की संस्कृति, अस्मिता, अस्तित्व तथा स्वाधीनता के महत् संघर्ष का जीवन्त इतिहास प्रस्तुत किया। मॉरिशस में आप्रवासी हिन्दू समाज ने उपनिवेशवादियों के नृशंस, क्रूर तथा घातक अत्याचारों के बीच अपनी भारतीयता को, अपनी भाषा और संस्कृति को जीवित रखा। निश्चय ही यह इतिहास किसी भी जाति और समाज के लिए गर्व से सिर ऊँचा का विषय हो सकता है और अभिमन्यु अनत ने इसी कारण इस गूँगे और चीखते इतिहास के महाकाव्यात्मक संघर्ष को तीन खण्डों में लिखकर अपने पूर्वजों और अपनी भूमि की अनकही कहानी को जीवित कर दिया है। प्रत्येक जाति संकट और तनाव की स्थिति में अपने इतिहास, अपने अतीत एवं अपनी अस्मिता तथा संस्कृति का अवलोकन करती है, उसका परीक्षण एवं मूल्यांकन करती है, जिससे अपनी जड़ों एवं अतीत की सामूहिक मनीषा के उजाले में भूमि के अंधेरों को पहचान सके। यह आत्म-मंथन अपने वर्तमान में सम्पूर्णता के साथ जीवित रहने का ही प्रयास है जिसमें अतीत एवं परम्परा की महत्त्वपूर्ण हिस्सेदारी है। वास्तव में, अभिमन्यु अनत मॉरिशस के वास्तविक भूमि-पुत्र तथा इसी जातीय परम्परा के राष्ट्र-उपन्यासकार हैं। मॉरिशस की भूमि, वहाँ की भू-संस्कृति, भूमि-पुत्र, भू-श्रमिक, भू-अंचल अनत की आत्मा के अंग हैं। यही कारण है कि उनके अधिकांश उपन्यासों का रंगमंच प्रायः कोई-न-कोई ग्रामांचल है तथा उनमें किसानों और श्रमिकों के जीवन के संकट और चुनौतियाँ हैं। यद्यपि उनके उपन्यासों में शहरी समाज और शहरी चरित्रों की कमी नहीं है, परन्तु अभिमन्यु अनत की दृष्टि और सम्वेदना गाँव के किसानों तथा श्रमिकों के दुःख-दर्द में अधिक रचती-बसती है। गाँवों की, किसानों की, श्रमिकों की, मछुआरों की, निर्धनों की, शोषितों की, विवश प्राणियों की व्यथा-पीड़ा अभिमन्यु को अधिक उद्वेलित तथा द्रवित करती है और वे उनके अधिकारों के लिए उपन्यास लिखते हैं। अभिमन्यु अनत शहरी जीवन, शहर के नेताओं और व्यापारियों तथा शिक्षितों, औपनिवेशिक मनोवृत्ति तथा विसंस्कृतिकरण पर भी गहरी नज़र रखते हैं और उनके मानव-विरोधी, भूमि-विरोधी, संस्कृति-विरोधी और अस्तित्व-विरोधी चेहरों से नकाब भी उठाते चलते हैं। इस कारण उनके उपन्यासों में प्रेमचंद के समान ही गाँव और शहर, परम्परा और आधुनिकता तथा कृषि एवं यान्त्रिक सभ्यता का द्वन्द्व भी दिखायी देता है। इस द्वन्द्व में वे परम्परागत मानव-मूल्यों के साथ हैं, तथा यथार्थवादी उपन्यासकार होने पर भी व्यावहारिक आदर्शवाद के निकट हैं। उनके अनेक स्त्री-पुरुष पात्र आदर्शवादी हैं, परन्तु उन पर अव्यावहारिक आदर्शवाद का दोष नहीं लगाया जा सकता। वे अपने-अपने संघर्ष, द्वन्द्व और चुनौतियों में

एक अच्छे मनुष्य के रूप में उभरते हैं। यही उनकी आदर्शवादी, नीतिपरक तथा मूल्यवादी दृष्टि है जो ऐसे सशक्त पात्रों की सृष्टि करती है।

अभिमन्यु अनत की पात्र-सृष्टि बड़ी व्यापक और विविध-रूपा है। उनके उपन्यासों में लगभग एक हज़ार पात्र हैं। इनमें हिन्दू, मुसलमान और ईसाई तीनों धर्मों के तथा निम्न, मध्य तथा उच्च तीनों वर्गों के पात्र हैं। मॉरिशस में ऐसी विविध-रूपा तथा बहुलता से युक्त पात्र-सृष्टि करने वाला कोई दूसरा उपन्यासकार नहीं है। यद्यपि इन पात्रों में कहीं-कहीं आवृत्ति भी मिलेगी, परन्तु विश्व का बड़े-से-बड़ा लेखक भी इससे मुक्त नहीं हो पाता। प्रेमचंद की पात्र-सृष्टि में भी ऐसी कमज़ोरी देखी जा सकती है। कथा की संरचना, घटनाओं की सृष्टि तथा अन्तर्सूत्रता, कथा का विकास तथा प्रवाह आदि में अभिमन्यु एक कुशल कथाकार हैं। देश-काल की दृष्टि से उनके उपन्यास अतीत और वर्तमान की परिस्थितियों के जीवन्त दस्तावेज़ हैं तथा भविष्य की चेतावनियों तथा सम्भावनाओं का संकेत देने वाले हैं। मॉरिशस के इस काल का इतिहास जब भी लिखा जायेगा, तो उनके उपन्यास लोक-जीवन का सबसे अधिक वास्तविक चित्र प्रस्तुत कर सकेंगे। भाषा की दृष्टि से, अभिमन्यु मॉरिशस में आधुनिक हिन्दी गद्य के निर्माता हैं। इस हिन्दी गद्य में मॉरिशस की आंचलिक भाषा का भी स्पर्श है। उनके अनेक पात्र भोजपुरी, फ्रेंच, क्रिओली भाषा का भी प्रयोग करते हैं। यह आंचलिकता अभिमन्यु की अपनी विशेषता है। अभिमन्यु के उपन्यासकार पर प्रेमचंद, शरत् आदि का प्रभाव है। उन्होंने इसे स्वीकार भी किया है, लेकिन उनका वैशिष्ट्य यह है कि उनके उपन्यास पढ़ते समय उनकी मौलिकता ही प्रमुख रूप से दिखायी देती है। अन्त में, अभिमन्यु अनत मॉरिशस के हिन्दी उपन्यास के प्रवर्तक तथा उसके विकास के प्रतीक हैं। मॉरिशस में वे बीसवीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी उपन्यासकार हैं। इक्कीसवीं शताब्दी में उन्हें कोई चुनौती दे सकेगा, इसमें मुझे सन्देह है।

मॉरिशस की हिन्दी कहानी में अभिमन्यु अनत की स्थिति कुछ भिन्नता और कुछ समानता की है। उसके कहानी-क्षेत्र में आगमन से पहले मॉरिशस में हिन्दी कहानी की नींव रखी जा चुकी थी और विभिन्न पत्रिकाओं में अनेक कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। पं. दौलत राम शर्मा ने जब 'अनुराग' पत्रिका निकाली तो अभिमन्यु से कहानी की माँग की और तब उसने अपनी पहली कहानी लिखी। इसके साथ ही वे पहले मॉरिशसीय कहानीकार थे जिनकी आरम्भिक लगभग दस कहानियाँ सातवें दशक में भारत की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं और सम्भवत: पहली बार भारत के हिन्दी पाठकों को मॉरिशस के हिन्दी साहित्य का ज्ञान हुआ। यह सातवाँ दशक मॉरिशस के राजनीतिक इतिहास तथा कहानी के इतिहास, दोनों ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मॉरिशस 12 मार्च, 1968 को स्वतन्त्र देश बना और एक नये युग का आरम्भ हुआ। मॉरिशस की स्वतन्त्रता के साथ जन-जीवन में नये उत्साह, नये विकास, नयी आशाओं का संचार हुआ और अनेक नयी सम्भावनाओं का जन्म हुआ। इसी प्रकार मॉरिशस की हिन्दी कहानी-यात्रा के विकास में, इसी सातवें दशक में, अभिमन्यु अनत के कहानीकार का जन्म हुआ और हिन्दी कहानी के उत्थान का पहला चरण आरम्भ हुआ। यह हिन्दी-कहानी के नूतन युग का आरम्भ था, क्योंकि इससे नयी दिशाएँ और सम्भावनाएँ उसके द्वार पर आ खड़ी हुई थीं। यह एक प्रकार से अभिमन्यु अनत का युग था। इसका शुभारम्भ इतना शुभ था कि इस दशक में मॉरिशस पराधीनता से ही मुक्त नहीं हुआ, बल्कि मॉरिशस की हिन्दी कहानी

भारत के द्वार तक आकर दस्तक देने लगी। भारत से हजारों किलोमीटर दूर एक छोटे-से टापू में जन्मी हिन्दी कहानी का भारत तक पहुँचना उसकी विकास-यात्रा की बहुत बड़ी घटना थी।

हिन्दी कहानी के उत्थान के दूसरे चरण में अभिमन्यु अनत के सम्पादकत्व में 'महात्मा गांधी संस्थान' से 'वसन्त' पत्रिका का प्रकाशन सर्वाधिक महत्त्व की घटना है। इतिहास ने एक प्रकार से 'सरस्वती' के सम्पादक पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी की भूमिका में अभिमन्यु अनत को डाल दिया था। यद्यपि पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्मुख गद्य और पद्य रचना में खड़ी बोली को स्वीकृत कराने, नूतन काव्य-विवेक की जागृति तथा भाषा-परिष्कार जैसे कुछ प्रमुख लक्ष्य थे, परन्तु नूतन लेखकों को प्रोत्साहित करने, विभिन्न विधाओं में साहित्य की रचना कराने तथा साहित्य-जगत का नेतृत्व करते हुए साहित्य की विकास-गति को तीव्र करने जैसे लक्ष्य दोनों के सामने थे। कठिनाइयाँ दोनों के सम्मुख थीं। अभिमन्यु की पत्रिका 'वसन्त' त्रैमासिक थी तथा उनके साथ प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त जैसे प्रतिभावान लेखक भी नहीं थे तथा भारत जैसा पाठकों का विशाल समुदाय भी नहीं था। इसके बावजूद अभिमन्यु ने 'वसन्त' का सन् 1978 से 1997 तक सम्पादन किया और अपने कार्य-काल में लगभग 150 कहानियाँ प्रकाशित कीं तथा मॉरिशस के 200 लेखकों को प्रकाशित किया। सन् 1993 में अनत ने 'वसन्त' के 76 अंकों से चुनी हुई 31 कहानियों को 'वसन्त चयनिका' में प्रकाशित कराया। वास्तव में, अभिमन्यु अनत के 'वसन्त' के लगभग 20 वर्षों के सम्पादन-कार्य का उचित मूल्यांकन विधिवत अभी होना है। मॉरिशस के कुछ लेखक उसके महत् योगदान को स्वीकार भी करते हैं। अभिमन्यु अनत की सेवा-मुक्ति के बाद डॉ. बीरसेन जागासिंह 'वसन्त' के सम्पादक बने तो उन्होंने अपने पहले सम्पादकीय में अभिमन्यु का उल्लेख 'अनत जैसे महान सम्पादक'[1] के रूप में स्वीकार करके उसके योगदान को स्वीकार किया। इन कार्यों के अतिरिक्त अभिमन्यु अनत ने मॉरिशस के हिन्दी कहानीकारों की कहानियों के संकलन सम्पादित किये तथा अनेक कहानीकारों के निजी कहानी-संग्रहों को भी प्रकाशित करने तथा कराने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

अभिमन्यु अनत की अब तक मॉरिशस तथा भारतीय पत्र-पत्रिकाओं तथा निजी संग्रहों में लगभग 150 कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं। उनके प्रकाशित चार कहानी-संग्रहों—'ख़ामोशी के चीत्कार' (1976), 'इन्सान और मशीन' (1976), 'वह बीच का आदमी' (1981) तथा 'एक थाली समन्दर' (1987) में कुल 55 कहानियाँ तथा 44 लघुकथाएँ संग्रहीत हैं तथा 100 से अधिक कहानियाँ तथा लघुकथाएँ संग्रहों में प्रकाशित होने की प्रतीक्षा में हैं। अनत की ये कहानियाँ लगभग 40 वर्षों के रचना-काल में लिखी गयी हैं। यह सर्जनात्मक निरन्तरता अनत की पीढ़ी के कहानीकारों में प्राय: दुर्लभ है। वह मॉरिशस के एकमात्र ऐसे कहानीकार हैं जिनकी कहानियों की संख्या 200 से अधिक है तथा जिनका कहानी का रचना-काल चार दशकों तक फैला हुआ है। 'ख़ामोशी के चीत्कार' की 13 कहानियों में आप्रवासी भारतीय मज़दूरों के सुख-दु:ख, खेत-खलिहान, धर्म और राजनीति, संस्कृति एवं अस्मिता से सम्बद्ध प्रश्नों, समस्याओं तथा जटिलताओं को गहरी आत्मीय अनुभूतियों के साथ चित्रित किया गया है। कहानीकार अपनी इन आरम्भिक कहानियों से ही 'अस्मिता की लड़ाई' आरम्भ करता है। वह अधिकार, सम्मान, इज़्ज़त तथा मानव-अधिकारों के लिए छटपटाते पात्रों की सृष्टि

1. 'वसन्त', 'अपनों से अपनी बातें' शीर्षक सम्पादकीय, पृ० 2

करता है तथा स्वतन्त्र मॉरिशस में जनता के हितों के साथ मानव के मनोभावों का रहस्य खोलता है। वह कहानी को आधुनिक बनाता है तथा प्रश्न तथा अस्वीकार करने की मनोवृत्ति को प्रस्तुत करता है। 'इन्सान और मशीन' (1976) में 44 लघुकथाएँ हैं जो मॉरिशस के परिवेश तथा हिन्दू पुरा-कथाओं पर आधारित हैं। कहानीकार पुराकथाओं तथा पौराणिक पात्रों को आधुनिक-दृष्टि से देखता है। 'वह बीच का आदमी' (1981) में 18 कहानियाँ हैं। इसमें कुछ प्रेम कहानियाँ हैं, लेकिन लेखक किसान के भूमि-प्रेम तथा भूमि के स्वामित्व पर शहरी संस्कृति के आक्रमण के बड़े प्रश्नों से भी जूझता है। इस संग्रह की कहानी 'वह बीच का आदमी' के नायक रामचरित्तर का भूमि-रक्षा का संघर्ष हमें प्रेमचंद के उपन्यास 'रंगभूमि' के नायक सूरदास तथा 'गोदान' के होरीराम की याद दिला देता है। प्रेमचंद के ये पात्र ग़ुलाम भारत में भूमि-रक्षा के संघर्ष में पराजित होते हैं, परन्तु रामचरित्तर की पराजय स्वतन्त्र मॉरिशस में होती है। अभिमन्यु अनत के चौथे कहानी-संग्रह 'एक थाली समन्दर' (1988) में 24 कहानियाँ हैं। इनमें से तीन कहानियाँ पूर्व कहानी-संग्रहों में आ चुकी हैं। इस कहानी-संग्रह में भी मॉरिशस के जन-जीवन के यथार्थ को अंकित किया गया है। इसमें सम्वेदनाओं का विस्तार एवं उनका घनत्व तथा कलात्मकता भी है। मॉरिशस की स्वतन्त्रता के उपरान्त वहाँ राजनीति, राजनेता, समाज, धर्म, मनुष्यता, मूल्य, नीति आदि का जो पतन हुआ, शहरी संस्कृति एवं विसंस्कृतिकरण के जो दुष्परिणाम हुए तथा आम आदमी के जीवन में जो संकट उत्पन्न हुए, कहानीकार ने उन्हें व्यंग्य की तेजधार से अभिव्यक्त किया है। अभिमन्यु अनत इसके लिए मार्क्सवाद से प्रेरणा नहीं लेते और न किसी दर्शन और सिद्धान्त का सहारा लेते हैं। वे मनुष्य को मनुष्यता की दृष्टि से देखते हैं और चाहते हैं कि राजनीति, सत्ता, धर्म, पूँजीपति तथा अधिकारी भी निर्धन तथा असहाय मनुष्यों को भी मनुष्यता की दृष्टि से ही देखें। लेखक को हर बार ऐसा मनुष्य ही मिलता है, जो अपनी इन्सानी ख़ामियों और ख़ूबियों के साथ अपनी पीठ पर दूसरों का सलीब ढोता फिर रहा है। यह आदमी की आदमीयत के हनन का दुष्परिणाम है। अत: वह इस आदमीयत की रक्षा के लिए, मनुष्य को एक बेहतर जीवन देने के लिए तथा समाज का 'सांस्कृतिक और मानसिक परिष्कार' के लिए साहित्य का उपयोग करता है। अनत का स्पष्ट कथन है कि उसका साहित्य 'आम आदमी का साहित्य' रहे। साहित्य पांडित्य के लिए नहीं जीवन की सार्थकता के लिए है।[1]

अभिमन्यु अनत के काव्य-क्षेत्र में आने से पहले मॉरिशस में हिन्दी कविता प्रतिष्ठित हो चुकी थी तथा लगभग 62 निजी कविता-संग्रह तथा 10 सामूहिक कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। अभिमन्यु अनत का पहला कविता-संग्रह 'नागफनी में उलझी साँसें' सन् 1977 में छपा था और तब तक मॉरिशस के हिन्दी कवियों के 73 कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। इसका अर्थ है कि अभिमन्यु के आगमन तक कविता की परम्परा स्थापित हो चुकी थी तथा इस काल-खण्ड के कवियों के प्रिय विषय थे—सामाजिक बुराईयों पर चोट, देश-प्रेम, हिन्दुत्व की रक्षा, राजनीतिक-दार्शनिक स्थितियाँ, भावुकतापुर्ण प्रसंग, प्रकृति तथा प्रेम आदि। यद्यपि पं. लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी 'रसपुंज' के कविता-संग्रह 'रसपुंज कुण्डलियाँ' (1923) से हिन्दी कविता का आरम्भ होता है, लेकिन ब्रजेन्द कुमार भगत 'मधुकर' ने हिन्दी कविता की नींव रखी तथा मुनीश्वरलाल चिन्तामणि तथा सोमदत्त बखोरी के साथ मिलकर

1. 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत', पृ0 63

रिसाल मिश्र, विष्णुदत्त मधु चन्द्र, जयरुद्ध दोसिया, ब्रजभूषण माथुर, हरिनारायण सीता, ठाकुर प्रसाद मिश्र, पं. रामरत्न रिसाल मिश्र, गिरजान गंगू, जगलाल रामा, ज्ञानेश्वर रघुवीर 'वैरागी', कृष्णलाल बिहारी, जनार्दन कालीचरण, इन्द्रदेव भोला, लालमन बसराम 'अनुरागी', हेमराज सुन्दर, परमेश्वर बिहारी 'शिवरत्न', ठाकुर दत्त पाण्डेय, ज्ञानदत्त धनुकचन्द्र, केशली कुमारी रागपत, सूर्यप्रसाद भगत, पूजानन्द नेमा, सुमति बुधन, मुकेश जीबोध, दानीश्वर शाम आदि कवियों ने भी अपने निजी कविता-संग्रह प्रकाशित कराकर इस नींव पर एक सुन्दर कविता-भवन का निर्माण किया। मॉरिशस में कुछ हिन्दी कवि ऐसे भी हुए जिनकी कविताएँ पत्रिकाओं में छपीं लेकिन संग्रहों में आने से वंचित बनी रहीं। अभिमन्यु अनत के आने से पहले लगभग 10 सामूहिक कविता-संग्रह भी प्रकाशित हुए, जिससे हिन्दी कवि एकत्रित और संगठित हुए तथा काव्य-रचना एक आन्दोलन का रूप लेने लगी। इन सब प्रयासों से मॉरिशस की हिन्दी कविता में कविता के अनुकूल परिवेश बना तथा उसका एक रूप निर्मित हुआ। इससे हिन्दी कविता का विकास ही नहीं हुआ, बल्कि खड़ी बोली हिन्दी के पक्ष में भी पूरे देश में अनुकूल वातावरण निर्मित हुआ।

अभिमन्यु अनत का मॉरिशस की हिन्दी कविता में प्रवेश उसके पहले कविता-संग्रह नागफनी में उलझी साँसें' (1977) से होता है। इसके उपरान्त उनके तीन और कविता-संग्रह—'कैक्टस के दाँत' (1982), 'एक डायरी बयान' (1987) तथा 'गुलमोहर खौल उठा' (1994) प्रकाशित हुए तथा उनका नवीनतम अप्रकाशित कविता-संग्रह 'लरजते लम्हे' भी अब डॉ. कमल किशोर गोयनका द्वारा सम्पादित पुस्तक 'अभिमन्यु अनत : समग्र कविताएँ' (1998) में प्रकाशित हो गया है। असल में कविता के संसार में आने से पहले अभिमन्यु के 6 उपन्यास, 2 कहानी-संग्रह तथा 1 नाटक प्रकाशित हो चुके थे। अत: हिन्दी साहित्यकार के रूप में मॉरिशस तथा भारत दोनों देशों में प्रतिष्ठित होने के बाद ही वह काव्य-संसार में प्रवेश करता है। इस समय तक मॉरिशस स्वतन्त्र हो चुका था तथा जनता में अपने स्वदेशी शासन के प्रति मोह-भंग होने लगा था। यह ऐसा ही था, जैसे भारत में नेहरू युग के 'माया-लोक' से जनता का मोह-भंग हुआ था। अभिमन्यु अनत ने इसी ओर संकेत करते हुए कहा था कि नये शासन से जनता में बेहतर दिन देखने की आशाएँ बँधी थीं, लेकिन अब लगता है कि मुखौटे लगाये ये अपने लोग भी पुराने शासकों जैसे ही हैं। दासता तथा शोषण विदेशी हो या स्वदेशी, वह दासता एवं शोषण ही होता है।[1] अभिमन्यु, शारीरिक एवं मानसिक, दो प्रकार की दासता की चर्चा करते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि मॉरिशस में 'काले अंग्रेज' तथा 'काले फ्रेंच' पुराने गोरे मालिकों के 'एजेन्ट' बने हुए हैं जो अंग्रेजों-फ्रेंचों से भी अधिक ख़तरनाक हैं तथा इनके इन 'दोगले' लोगों तथा 'गद्दारों' से अपने देश, संस्कृति, अस्मिता तथा भाषा को बचाना कठिन हो रहा है।[2] अनत स्वतन्त्र मॉरिशस में उपनिवेशवाद के नये चेहरे को देखते हैं, विसंस्कृतिकरण की आँधी में 'सांस्कृतिक स्वतन्त्रता' की लड़ाई का संकल्प लेते हैं तथा आम आदमी के बीच बेहतर सम्वाद, रिश्ते के साथ उसके जीवन को बेहतर बनाने का स्वप्न भी देखते हैं। भारत की स्थिति तो और भी भयानक थी। भारत की स्वतन्त्रता को देश-विभाजन, नर-संहार तथा गांधी की हत्या ने दुर्गन्ध से भर दिया था।

1. 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत', पृ0 14-15
2. वही, पृ0 29

महादेवी वर्मा के शब्दों में यह राजनीतिक विजय अन्धविश्वास, स्वार्थ और बर्बरता से मुक्त होकर ही मानवता की विजय बन सकती थी।[1]

मॉरिशस की इन्हीं परिस्थितियों में अभिमन्यु अनत ने काव्य-संसार में प्रवेश किया। उनकी पहली कविता थी–'पसीना किसी का, फसल किसी की।' इसमें मज़दूर और मालिक के सम्बन्धों पर अनेक प्रश्न उठाये गये हैं। अनत स्वयं खेतीहर मज़दूर रहे थे, इस कारण कविता में आक्रोश के साथ भावुकता आ गयी है। कवि ने यह स्वीकार किया है कि उसने भावुक होने पर भी प्रेम-गीतों से काव्य-यात्रा शुरू नहीं की, क्योंकि निजी जीवन में बेकारी की यातना, भूखी रातों की दारुण-पीड़ा, व्यवस्था की अमानवीयता के साथ दूसरों की यातनाओं का पूरा माहौल मेरे सामने था और जिसे मैं प्रमुख रूप से मन के स्तर पर झेल रहा था।[2] कवि की इस मनोरचना ने उसे अपने पूर्व के कुछ बड़े कवियों–ब्रजेन्द्र कुमार भगत 'मधुकर', सोमदत्त बखोरी तथा मुनीश्वरलाल चिन्तामणि आदि से कुछ भिन्न दिशा की ओर उन्मुख किया। उसकी मनोरचना तथा सम्वेदनाएँ देश की छल-कपटपूर्ण राजनीतिक स्थिति, भाई-भतीजावाद, शोषण, दमन, भेदभावपूर्ण व्यवस्था, बेकारी, अभाव, भूख, मिथ्या आश्वासन, अस्मिता का हनन, विसंस्कृतिकरण, अमानवीयता, गूँगे इतिहास की उपेक्षा, बाँझ व्यवस्था आदि विभिन्न परिस्थितियों से निर्मित हुई और स्वभावत: उसके कवि में आक्रोश तथा प्रश्न करने की प्रवृत्ति मुख्य रूप से उत्पन्न हुई। अभिमन्यु ने माना है कि उसने 'तेजाबी प्रश्नों' के लिए ही कविता लिखना आरम्भ किया था।[3] कवि फ्रांज फेनन के समान अपने समाज, सत्ता तथा उसकी 'अव्यवस्था रूपी व्यवस्था' से प्रश्न करने का अधिकार चाहता है,[4] और अभिमन्यु अनत की काव्य-रचनाएँ इसकी प्रमाण हैं कि उसने अपने इस कवि-धर्म का पूरी ईमानदारी से पालन किया है। कवि का मत है कि उसका साहित्य ही उसके प्रश्नों का उत्तर है। वह किसी 'मसीहा' के समान उपदेशक तथा उद्धारक कहलाना नहीं चाहता। वह पाठक को झकझोरना तथा समाज को सचेत करना चाहता है।

अभिमन्यु अनत के पाँच कविता-संग्रहों में मॉरिशस के अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों का अंकन है। प्रमुख रूप से अतीत और वर्तमान की आप्रवासी भारतीयों की जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण है। इन कविताओं में अतीत का रंग भयावह है। इस रंग में आप्रवासियों का ख़ून और पसीना, शोषण और दमन, मौन किन्तु चीखता इतिहास, भूख और अभाव, नृशंस और बर्बर अत्याचारों का गहरा रंग है, लेकिन इस घोर अमानवीयता के बीच इन भारतीय मज़दूरों की धर्म, संस्कृति, भाषा, मूल्य आदि के प्रति अटूट आस्था एवं जिजीविषा का भी गहरा रंग है। कवि के पहले कविता-संग्रह 'नागफनी में उलझी साँसें' में–'खाली पेट'; 'शहरों की व्यावसायिक संस्कृति'; 'सूरज की मृत्यु से पहले/एक नया सूरज बना लो'; 'और मेरी कोठी का उजाला/तुम्हारी मुट्ठी में बन्द है'; 'खेतों में खड़े पत्थरों के ढेर के नीचे/मेरे वंश का इतिहास है'; 'बौना वर्तमान'; 'आश्वासनों के पर्वत से व्यवस्था की चट्टान तक';

1. 'धर्मयुग', 8 सितम्बर, 1974
2. 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत', पृ0 5
3. वही, पृ0 61
4. वही, पृ0 3

'अस्तित्व की हत्या होती है/अस्मिता चिता चढ़ती है/हर दूसरे क्षण'; 'सर पर अभाव की बोझिल गठरी/पीठ पर कोड़े से अंकित/मालिक का लाल हस्ताक्षर'; 'पेट में एक खाली कुआँ'; 'मेरी धुकधुकी साँसों की/बौराई हुई ख़ामोशी/पता नहीं/कब गरज उठे' तथा दूसरे कविता-संग्रह 'कैक्टस के दाँत' में—'कुहासे को गले में लपेटे/झूल रहा आदमी'; 'मज़दूर सूरज को निगल गया'; 'बेकारी की लाचारी/असन्तोष का आक्रोश'; 'मुट्ठी में बन्द क्रान्ति/साबुन की फेनिल बुलबुली बनकर रह जाती'; 'शहर का सूरज फ्रीज में बन्द है'; 'तलाश! नये क्षितिज के नये आयाम की/ नये मूल्यों की तलाश/तलाश! नव-क्रान्ति की/वह नव-क्रान्ति जो खरीदी जा चुकी है'; 'मेरी मुट्ठी में/बहुत सारे प्रश्न हैं/प्रश्न ही प्रश्न, उत्तर एक भी नहीं'; 'मैं इस युग को/डुबो नहीं सकता'; 'अब आदमी को स्वयं उठना होगा/स्वयं पार करना होगा/अमृत के बाढ़ के बाद की/उफनती नदी को'; 'वह नया सूरज कब उगेगा/अपनी परछाईं कब दीखेगी/अपनी साँसें कब ग़ैर की-सी/नहीं लगेंगी/कब उजाले में/भेड़िया पहचाना जायेगा'; 'यहाँ दोपहर में रात हो गयी'; 'मेरी मुट्ठी में बीमार शाम है/आँखों में मरी हुई सुबह/ज़मीन नहीं है मेरे पाँव के नीचे/न मेरे सिर के ऊपर सूरज है/यही मेरी आज़ादी है' आदि कविता-पंक्तियों में इन्हीं रंगों की अभिव्यक्ति हुई है। इन कविता-संग्रहों में कवि का राजनीति, समाज एवं संस्कृति-दर्शन ही नहीं है, बल्कि देश के प्रति उसका जीवन-दर्शन है। इस जीवन-दर्शन में कवि अपने देश के गूँगे इतिहास और मूक चीत्कार को वाणी देता है और मुक्ति की कामना करता है। वह अपने देश की मिट्टी का कवि है, जनता के दु:ख-दर्द का कवि है, देश की अस्मिता और संस्कृति का कवि है और मानव-मूल्यों का कवि है। वह एक प्रकार से आम आदमी और आदमीयत का कवि है, इसलिए अपनी कुछ प्रेम-कविताओं में भी वह समुद्र की वेगवती और उफनती लहरों को याद करता है। अपनी इस प्रतिबद्धता के कारण वह कुछ जनविरोधी शक्तियों के दिल का काँटा बनता है और वे उसे 'देशद्रोही कवि' घोषित कर देते हैं, परन्तु अभिमन्यु अनत अपनी कविताओं में मानव-मूल्यों तथा मानवता की पक्षधरता की यह लड़ाई बराबर लड़ता रहता है। कुछ की दृष्टि की यह 'देशद्रोहिता' वास्तव में, अनत का 'देश-प्रेम' ही है। इस देश-प्रेम और आदमीयत को कोई मार नहीं सकता।

सम्वेदना तथा विचार के इस वैशिष्ट्य के साथ कवि के रूप में अभिमन्यु अनत का अभिव्यक्ति कौशल, समृद्ध भाषा, प्रचुर कल्पना, नया प्रतीक एवं बिम्ब-विधान आदि ऐसी काव्यगत उपलब्धियाँ हैं जो उन्हें मॉरिशस के हिन्दी काव्य-इतिहास में एक विशिष्ट कवि के रूप में स्थापित करती हैं।

मॉरिशस के हिन्दी नाटक के इतिहास में भी अभिमन्यु अनत की उपस्थिति और स्थिति महत्त्वपूर्ण है। अभिमन्यु के नाट्य-रचना में आने से पहले मॉरिशस में खुले आकाश के नीचे रामायण, महाभारत, पुराण की कथाओं पर आधारित नाटक तथा 'रामलीला', 'रासलीला' एवं 'इन्दर-सभा' आदि खेले जाते थे। इसी प्रकार धार्मिक उत्सवों, विवाह आदि पर भी नाटकों का मंचन होता था। इन नाटकों के रचनाकार हिन्दू पुरोहित, बैठकाओं के अध्यापक तथा कुछ मामूली लेखक थे। रंगमंच प्राय: बैठका से लगा मैदान, मन्दिर या खुला स्थान होता था तथा स्त्रियों का अभिनय पुरुष पात्र करते थे। हिन्दी नाटक की यह स्थिति बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दो दशकों तक बन चुकी थी। यद्यपि मॉरिशस के एक प्रसिद्ध नाटककार आस्तानन्द सदासिंह का विचार है कि नाटक का मंचन उतना ही पुराना है, जितने कि हमारे

पूर्वज। यह हमारा रंगमंच हमारी भारतीय वंश पीढ़ियों की विरासत, सम्पत्ति है। जैसे हमारी संस्कृति है, वैसे ही नाटक भी हमारे आप्रवासी पूर्वजों की देनों में से एक हैं।[1] बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दो दशकों तक लगभग 80 छोटी संस्थाएँ थीं जो नाटक का मंचन करती थीं। सन् 1924 में त्रिओले में एक नाट्य संस्था ने 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'सूरदास', 'सावित्री-सत्यवान' आदि नाटक खेले और खूब चर्चित हुए। सन् 1926 में 'मालिनी की लड़की' तथा सन् 1928 में 'चन्द्रहार', 'पाकजाद परी', 1940 में 'लीलावती' एवं 'प्रेम की दुनिया', 1941 में 'शरीफ़ डाकू', 1942 में 'फिरोज़ गुलज़ार', 'भक्त सूरदास', 'कृष्ण अवतार', 'अतिरेहिरस', 1942 में 'अलीबाबा', 1943 में 'दीनारजादे', 1944 में 'ख़्वाबे हस्ती', 1945 में 'मिश्र की हसीना', 'इम्तहाने मुहब्बत', 1946 से 1950 के बीच में 'श्रवणकुमार', 'वरदान' और 'सीताहरण', आदि नाटकों का मंचन हुआ। यद्यपि मॉरिशस में आर्य समाज नाटकों के पक्ष में नहीं था, लेकिन स्थानीय तथा पारसी नाटक मंडलियों ने जनता का मनोरंजन जारी रखा और जनता की भी रुचि बनी रही। अब तक प्राय: सभी अभिनेता किसी प्रशिक्षण के बिना ही अभिनय करते थे। इन अभिनेताओं में स्तर की समानता भी नहीं थी, लेकिन हिन्दी सम्वादों के उच्चारण में काफ़ी कुछ ठीक था।

इसी समय लगभग 1940 से रेडियो पर नाटकों का प्रसारण शुरू हुआ और जयनारायण राय, ब्रजेन्द्र कुमार भगत 'मधुकर', शिवगोविन्द शर्मा, सोमदत्त बखोरी, डी.के. जानकी तथा एल.पी. रामयाद आदि ने रेडियो के लिए अनेक नाटक लिखे। ये नाटक प्राय: भारतीय नाटककारों के अथवा प्रेमचंद की कहानियों पर आधारित होते थे। कुछ मौलिक नाटक—'मेरा तोता', 'आदर्श बेटी' आदि सिनेमा हॉल में भी प्रस्तुत किये गये। इसी समय अभिमन्यु अनत ने 17 वर्ष की आयु में अर्थात् 1954 में 'अजन्ता आर्ट्स' की स्थापना की और अपने सामाजिक नाटक 'परिवर्तन' का मंचन त्रिओले के माहेश्वर मन्दिर के प्रांगण में किया। अभिमन्यु ने सन् 1954 से 1960 के बीच लगभग एक दर्जन नाटक देश के विभिन्न स्थानों पर मंचित किये और इस प्रकार मॉरिशस के हिन्दी नाटक में अपनी युवावस्था में ही महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। सन् 1961 में टैगोर शताब्दी पर टैगोर के 'चित्रा', 'मालिनी', 'वरदान', 'डाकघर' तथा 'विसर्जन' नाटकों का मंचन किया गया। इनके हिन्दी प्रारूप भारतीय उच्चायुक्त ने उपलब्ध कराये थे। इसी अवसर पर रवि कौलेश्वर का नाटक 'सूर्योदय' पोर्टलुई के थियेटर में प्रस्तुत किया गया। सर शिवसागर रामगुलाम इसे देखने आये थे और बहुत प्रभावित हुए थे। सन् 1963 में 'हिन्दी लेखक संघ' ने नाटक समारोह आयोजित किया और चार नाटकों का मंचन किया गया। इसी अवसर पर प्रेमचंद की कहानी 'कानूनी कुमार' पर आधारित नाटक खेला गया। प्रो. रामप्रकाश ने भी सन् 1964 में 'कलंक रेखा', 'गड्ढा' तथा 'बाँसुरी वाला' का अपने छात्रों से मंचन कराया जिससे इस क्षेत्र में नयी आशाएँ उत्पन्न हुईं।

सन् 1965 में टेलीविजन की शुरूआत ने हिन्दी नाटक के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। अभिमन्यु अनत के अनेक अप्रकाशित नाटक टेलीविजन पर दिखाये गये। टेलीविजन पर भोजपुरी नाटकों का भी प्रसारण हुआ। 'हिन्दी परिषद्' ने 1971 में अश्क के कई नाटकों को प्रस्तुत किया तथा उन्हें गाँवों में दिखाया गया। सन् 1972 में मॉरिशस सरकार

---

1. 'मारिशस में हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास', डॉ. श्यामधर तिवारी, पृ0 223 पर उद्धृत

ने हिन्दी नाटक प्रशिक्षण कोर्स आरम्भ किया। इसके संचालक प्रसिद्ध नाटककार अभिमन्यु अनत, मुनीश्वरलाल चिन्तामणि, टी. पाण्डे, रवि कौलेश्वर तथा डी. के. जानकी थे। सन् 1973 में भारत के मोहन महर्षि तथा श्रीमती महर्षि को मॉरिशस सरकार ने नाट्य-प्रशिक्षण के लिए बुलाया। ये सन् 1979 तक प्रशिक्षण देते रहे। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सन् 1973 में 'हिन्दी नाटक समारोह' आयोजित किया गया। इसमें 22 नाटक प्रस्तुत किये गये तथा श्रेष्ठ चार को पुरस्कृत किया गया। इनमें अभिमन्यु का नाटक 'मीठे बेर' भी था। दिसम्बर, 1973 में धर्मवीर भारती का नाटक 'अंधा युग' मोहन महर्षि के निर्देशन में त्रिवेणी क्लब-भवन में मंचित किया गया तथा मई, 1974 में भी डॉ.धर्मवीर भारती की उपस्थिति में पुनः इसका मंचन प्लाजा थियेटर में किया गया। सन् 1975 में प्रथम 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' के अवसर पर नागपुर में मॉरिशस के अभिनेताओं ने फिर इसका मंचन किया। इसके बाद भी 'अंधा युग', 'आषाढ़ का एक दिन' आदि का भी मॉरिशस में मंचन किया गया। मोहन महर्षि सन् 1979 में मॉरिशस से जब भारत लौटे तो मॉरिशस का हिन्दी रंगमंच काफ़ी विकसित हो चुका था। मॉरिशस के हिन्दी नाटक समारोह में 45-50 नाटकों का प्रतिवर्ष मंचन होता रहा तथा लगभग 500 अभिनेता एवं अभिनेत्रियाँ इनके अभिनय में सक्रिय सहयोग देते रहे और लगभग 2000 तक दर्शक इन्हें देखने के लिए आते रहे। नाटक एकांकी के क्षेत्र में आस्तानन्द सदासिंह का योगदान भी उल्लेखनीय है। उनके 'आवाज़', 'तू-तू', 'थूक दिया भविष्य पर' आदि नाटक छप चुके हैं। हिन्दी रंगमंच के लिए उनकी प्रतिबद्धता और योगदान बड़े महत्त्व का है। मॉरिशस के ठाकुरदत्त पाण्डेय, मुनीश्वरलाल चिन्तामणि, महेश रामजियावन, ज्ञानेश्वर रघुवीर, सूर्यदेव सिबरत, रामदेव धुरन्धर, जगदीश सुकन, लालदेव बिहारी आदि अन्य लेखकों ने भी अपनी-अपनी ओर से योगदान किया है।

अभिमन्यु अनत का हिन्दी नाटक की रचना, अभिनय तथा उसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अनत ने अपने त्रिओले गाँव में अपना नाट्य-आन्दोलन शुरू किया और 'परिवर्तन' का मंचन किया। इसमें उसकी ही मुख्य भूमिका थी और मन्दिर के प्रांगण में लगभग 5000 दर्शकों की भीड़ में इसका मंचन हुआ था। इसकी सफलता के बाद दूसरे-तीसरे महीने में वह नया एकांकी लेकर आता और लोकप्रिय होने लगा। रेडियो पर भी अनेक नाटक प्रस्तुत किये तथा टेलीविजन के लिए 'अजन्ता' मंच की ओर से 30 से ऊपर नाटक लिखे तथा उनको निर्देशित किया एवं भूमिकाएँ कीं। अभिमन्यु नाटक का लेखन, निर्देशन एवं अभिनय सभी स्वयं करता था, क्योंकि उसका विश्वास था कि यदि एक व्यक्ति ये सभी कार्य करेगा तो नाटक का बेहतर मंचन हो सकता है। अभिमन्यु यह भी मानते हैं कि मॉरिशस में धार्मिक एवं मिथक नाटकों की परम्परा की समाप्ति के लगभग 20-25 वर्ष बाद उन्होंने आधुनिक समस्याओं पर नाटक की रचना एवं उनका मंचन करके एक नये युग का आरम्भ किया। उन्हें इसमें आशातीत सफलता मिली। उन्हें इसमें भी सफलता मिली कि वह नारी पात्रों के अभिनय के लिए लड़कियों को घर से निकाल सके तथा अपने मित्र प्रियदत्त मेवासिंह के माध्यम से भारतीय भाषाओं के नाटकों को भी सरकारी मान्यता दिला सके। अभिमन्यु के 'विरोध' (1977), 'तीन दृश्य' (1981), 'गूँगा इतिहास' (1984), 'रोक दो कान्हा' (1986) एवं 'देख कबीरा हाँसी' (1995) नाटक प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु अनेक रेडियो एवं टेलीविजन के नाटक तथा एकांकी और अन्य नाटक प्रकाशित होने की प्रतीक्षा में

हैं। अभिमन्यु अनत के एक अन्य नाटक 'उर्मिला' का मंचन 18 अक्टूबर, 1995 को महात्मा गांधी संस्थान तथा पोर्टलुई थियेटर में हुआ। उर्मिला का अभिनय भोपाल की विभा मिश्रा ने किया और वे इसके लिए कई महीने मॉरिशस में रहीं। इस नाटक की सफलता ने एक बार फिर मॉरिशस में हिन्दी नाटक की सशक्त परम्परा को न केवल सबल एवं गतिमान बनाया, बल्कि अभिमन्यु अनत के दीर्घ नाट्य-जीवन में एक नयी उपलब्धि को भी जोड़ दिया। अभिमन्यु की नाटककार के रूप में अनेक उपलब्धियाँ हैं—नाटक के लेखन, मंचन, निर्देशन तथा अभिनय को एकसूत्र में पिरोना, हिन्दी नाटक को आधुनिक परिस्थितियों तथा समस्याओं से सम्पृक्त करना, सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना के नाटकों का नया युग आरम्भ करना, मॉरिशस के इतिहास तथा हिन्दू मिथक महाकाव्यों पर आधुनिक सन्दर्भों से पूर्ण नाटकों की रचना एवं मंचन करना, नाटकों पर प्रतिबन्धों के बावजूद नाट्य-लेखन में प्रवृत्त रहना, हिन्दी रंगमंच को नयी दिशा एवं नयी ऊर्जा देना तथा अभिनेताओं की नयी पीढ़ियों को तैयार करना तथा हिन्दी नाटक की भाषा का परिष्कार करना तथा उसे साहित्यिक बनाना। अभिमन्यु की नाट्य-सम्वेदना में वैविध्य है। इसमें देश का अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों हैं तथा मानव-जाति की युद्ध से रक्षा का भी स्वप्न है। इस प्रकार मनुष्य की नियति और उसका भविष्य दोनों ही नाट्य-संसार के अंग हैं। मनुष्य और मनुष्यता की कल्याण-कामना ही उसका आधार है।

हिन्दी गद्य की कुछ अन्य विधाओं में भी अभिमन्यु अनत का उल्लेखनीय योगदान है। इन विधाओं में जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत, लेख, सम्पादकीय, भेंटवार्ता, लघुकथा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये प्राय: ऐसी विधाएँ हैं, जिनमें कविता, कहानी, उपन्यास तथा नाटक के समान सर्जनात्मक लेखन नहीं हुआ और इस कारण इनका समुचित विकास नहीं हो पाया। 'जीवनी' विधा में पं. आत्माराम विश्वनाथ, मणिलाल कन्हैया श्री ठाकुर, हीरालाल गुप्त, प्रो. वासुदेव विष्णुदयाल, मुनीश्वरलाल चिन्तामणि, पं. ब्रजनाथ माधव वाजपेयी, टेकलाल गणेश, श्रीकृष्ण शर्मा, पं. रामलगन शिवगोविन्द शर्मा, सुरेश रामवर्ण, प्रह्लाद रामशरण, उदयनारायण गंगू, भरत कौड़िया तथा अभिमन्यु अनत आदि का नाम उल्लेखनीय हैं। अभिमन्यु अनत ने 'जन-आन्दोलन के प्रणेता : प्रो. वासुदेव विष्णुदयाल' (1986) तथा 'मज़दूर नेता रामनारायण' (1988) शीर्षक जीवनियाँ लिखीं लेकिन 'आत्मकथा' को लेकर उन्होंने लगभग 60 लेखों में अपनी आत्मकथा लिखने का प्रयत्न किया है। ये आत्मकथात्मक प्रसंग अभी प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं। इसी प्रकार अभिमन्यु ने अनेक संस्मरण तथा यात्रा-वृत्तांत लिखे हैं, जिनमें से कुछ प्रकाशित हुए हैं, लेकिन बड़ी संख्या में अप्रकाशित हैं। यात्रा-वृत्तांत में सोमदत्त बखोरी की पुस्तक 'गंगा की पुकार' (1972) एक उपलब्धि है, परन्तु अभी इस विधा को गम्भीरता से लेने की आवश्यकता है। इसी प्रकार लेख, निबन्ध तथा सम्पादकीय टिप्पणियों की दृष्टि से भी बहुत कम साहित्य उपलब्ध होता है। निबन्ध और लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे हैं तथा मॉरिशस की स्वतन्त्रता के बाद प्रो. वासुदेव विष्णुदयाल, ठाकुर प्रसाद मिश्र, राममणि त्रिपाठी, शिवलाल मोती, मुनीश्वरलाल चिन्तामणि, बी. सोनू, हेमराज सुन्दर, प्रह्लाद रामशरण, ठाकुरदत्त पाण्डेय, रामदेव धुरन्धर, पूजानन्द नेमा, राजेन्द्र अरुण, मुकेश जीबोध, उदयनारायण गंगू, धर्मवीर घूरा, नारायणपत देसाई, लक्ष्मीप्रसाद रामयाद, अभिमन्यु अनत, बीरसेन जागासिंह आदि

अनेक लेखकों के लेख, निबन्ध आदि पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों में प्रकाशित होते रहे हैं। सम्पादकीय टिप्पणियों में विभिन्न पत्रिकाओं के सम्पादकीयों के रूप में काफ़ी सामग्री असंकलित पड़ी है। 'वसन्त' में नियमित सम्पादकीय प्रकाशित होते रहे हैं। अभिमन्यु अनत ने काफ़ी सम्पादकीय स्वयं लिखे हैं, परन्तु अपने सहयोगी पूजानन्द नेमा तथा रामदेव धुरन्धर को भी सम्पादकीय लिखने का अवसर देते रहे हैं। ये सम्पादकीय देश के सम्मुख ज्वलन्त समस्याओं पर बड़ी साफ़गोई से लिखे गये हैं और सत्ता की भी अनेक बार आलोचना की गयी है। भेंटवार्ता के क्षेत्र में 'वसन्त' में कुछ भेंटवार्ताएँ प्रकाशित हुई हैं। अभिमन्यु अनत ने कुछ लेखकों के इन्टरव्यू लिये तथा अनेकों ने रेडियो, टेलीविजन तथा पत्र-पत्रिकाओं के लिए अनत के इन्टरव्यू लिये। अभिमन्यु अनत से मैंने 117 पृष्ठों का इन्टरव्यू लिया जो सन् 1984 में 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। अभिमन्यु अनत ने स्वयं अपने से भेंट-वार्ता लेकर एक नया प्रयोग भी किया। यह आत्म-भेंटवार्ता 'आईने के सामने' शीर्षक से 'आत्मविज्ञापन' में पहली बार छपी थी। जहाँ तक लघुकथा का सवाल है, सन् 1966 में मुनीश्वरलाल चिन्तामणि की 12 लघुकथाएँ 'काँग्रेस' साप्ताहिक में छपी थीं। इसके बाद प्रथम कहानी-संकलन 'नये अंकुर' (1967) में भी लघुकथा के कुछ संकेत हैं, परन्तु अभिमन्यु अनत के लघुकथा संग्रह 'इन्सान और मशीन' (1976) को मॉरिशस का प्रथम हिन्दी लघुकथा-संग्रह का गौरव मिला और इस विधा को विधिवत प्रतिष्ठा मिली। अभिमन्यु ने इसकी 44 लघुकथाओं के द्वारा लघुकथा की सम्वेदना, विचार एवं शिल्प के स्वरूप को रूपायित किया और जीवन में विभेद, विसंगति, विषमता, विघटन, मूल्यहीनता, शोषण, दमन, भ्रष्टाचार, चरित्रहीनता, आम आदमी की दुर्दशा, मनुष्य के दोहरे चेहरे, विसंस्कृतिकरण आदि पर गहरा व्यंग्य करके पाठकों को जागृत करने का प्रयत्न किया। इस संग्रह के बाद अभिमन्यु ने अनेक लघुकथाएँ लिखीं और उनमें से कुछ छपीं हैं और कुछ अप्रकाशित हैं। निश्चय ही अभिमन्यु अनत ने इस विधा को साहित्यिक रूप देते हुए न केवल विकसित किया, बल्कि अन्य लेखकों को भी जाने-अनजाने इस विधा में आने के लिए प्रेरित किया। इसके सुखद परिणाम के रूप में रामदेव धुरन्धर ने लघुकथा के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किया है। उनकी 903 लघुकथाओं के तीन संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं तथा चौथा लघुकथा-संग्रह 303 लघुकथाओं के साथ तैयार हो रहा है। इस प्रकार धुरन्धर की 1206 लघुकथाएँ छप जाने के बाद वे मॉरिशस के ही नहीं भारत के संयुक्त लघुकथा-संसार में सर्वाधिक लघुकथा लिखने वाले लेखक बन जायेंगे। लघुकथा के इतिहास में यह उपलब्धि निश्चय ही अकल्पनीय और अनूठी है। मॉरिशस की 'वसन्त' आदि पत्रिकाओं में अब भी यदाकदा लघुकथा छपती रहती हैं, परन्तु इसके विकास के लिए इसे एक आन्दोलन का रूप देने की आवश्यकता है।

इस लम्बी भूमिका के बाद मॉरिशस के हिन्दी साहित्य में अभिमन्यु अनत की परिस्थिति, उपस्थिति, स्थिति तथा उसके योगदान को रेखांकित करना सरल होगा। मॉरिशस के हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं के साहित्य के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट है कि अभिमन्यु अनत अपने देश के बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार हैं तथा सर्वाधिक प्रतिष्ठित साहित्यकार भी वही हैं। वे अपने देश के राष्ट्र-साहित्यकार हैं। विश्व में मॉरिशस की पहचान डॉ. शिवसागर रामगुलाम तथा अभिमन्यु अनत से होती है। भारत में तो वे मॉरिशस

की अस्मिता, संस्कृति, भाषा और मूल्य के प्रतीक हैं तथा मॉरिशस के हिन्दी साहित्य के एक सम्पूर्ण युग के प्रवर्तक और संवाहक साहित्यकार भी हैं। यह युग 'अभिमन्यु अनत युग' है, जो उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक आदि प्रमुख विधाओं में लगभग चार दशकों तक निरन्तर साहित्य-साधना से इस नामकरण को सार्थक करता है। अभिमन्यु अनत युग-सर्जक और इतिहास-सर्जक साहित्यकार हैं। ऐसे युग-स्रष्टा साहित्यकार की अपने ही देश में उपेक्षा व्यथित एवं उद्वेलित करने वाले अनेक प्रश्नों को जन्म देती है। वह अपने देश का वास्तविक भूमि-पुत्र है और इसलिए वह अपनी भू-संस्कृति, भू-अस्मिता, भू-भाषा, भू-दासता, और भू-पीड़ा के साथ भू-मुक्ति का शंखनाद करने वाला साहित्यकार है। वह मूलत: स्वाधीनता और मानव-मुक्ति का लेखक है। यह मुक्ति बीसवीं सदी का सत्य है। यह मुक्ति आदमी की बन्धनों और भेदों से मुक्ति है, हर प्रकार की दासता, एकल तानाशाही और विचारधारा के आतंक से मुक्ति है। इस सदी के मुक्ति-संघर्ष को हिन्दी भाषा से भी लड़ा गया है। हिन्दी और स्वाधीनता दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। मॉरिशस में भी, भारत के समान, हिन्दी मुक्ति के लिए संघर्ष की भाषा रही है। अभिमन्यु ने भी अपने देश के अतीत, वर्तमान और भविष्य के मनुष्य की मुक्ति का संघर्ष हिन्दी भाषा में साहित्य की रचना करके ही किया और अभिव्यक्ति के संकट के बावजूद वह अपनी कलम से मनुष्य और मनुष्यता की लड़ाई बराबर लड़ता रहा। यह लड़ाई शब्द-शस्त्र से होती है। वह शब्दों से अमानवीय परिस्थितियों का विरोध करता है और अपने देश के इतिहास, भूगोल, प्रकृति, धर्म, संस्कृति, भाषा, सत्ता, समाज, स्त्री-पुरुष आदि सभी पर प्रश्न करके मनुष्य और मनुष्यता के कल्याण के लिए मूलभूत उपादानों की खोज करता है। अभिमन्यु अनत इसीलिए एक प्रश्नकर्त्ता साहित्यकार हैं, क्योंकि वह सर्वत्र मानवीय दुर्गति, चारित्रिक पतन तथा न्यायपूर्ण व्यवस्था के पतन को देखता है। वह इन सब का साक्षी है, लेकिन उसके पास राजनेताओं एवं धर्म-उपदेशकों जैसा समाधान नहीं है कि एक पल में देश स्वर्ग बन जाये या स्वर्ग मिल जाये। अभिमन्यु भी साहित्यकार को 'मसीहा' बनाने या मानने का विरोधी है। उसका मत है कि साहित्यकार अपने प्रश्नों से समाज को दृष्टि देना चाहता है और सोये हुए को झकझोर कर जगाना चाहता है जिससे वह अपने घर में लगी आग को देखकर सावधान हो सके। इस प्रकार इस सदी के साहित्य-धर्म और साहित्य-कर्म का पूर्णरूप से पालन करते हुए वह इस सदी की आवाज़ को शब्द-ब्रह्म में रूपायित करके अपने कर्त्तव्य का पालन करता है।

अभिमन्यु अनत के साहित्य के प्रतिनिधि रूप की यह प्रस्तुति पाठकों को यह अवसर देगी कि वे मॉरिशस के हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार की श्रेष्ठ रचनाओं की एक झलक पा सकें तथा मॉरिशस द्वीप के हिन्दी साहित्य की आत्मा को समझ सकें। मॉरिशस के हिन्दी साहित्य का इतिहास 5-6 दशकों से पुराना नहीं है और इस काल में चार दशकों तक साहित्य-साधना करने वाले हिन्दी साहित्यकार भी अधिक नहीं हैं। इन सभी में अभिमन्यु अनत सर्वोपरि हैं।[1]

---

1. (क) "हमारे बाद जो लेखक हुए हैं, उनमें सबसे मशहूर अभिमन्यु अनत 'शबनम' हैं। ×××अभिमन्यु अनत को छोड़कर कोई प्रमुख उपन्यासकार नहीं है।"—सोमदत्त बखोरी, 'एक मॉरिशसवासी की हिन्दी-यात्रा', पृ0 232 एवं 235

   (ख) (अभिमन्यु अनत) मॉरिशस के सबसे मूर्धन्य लेखक हैं।"—प्रह्लाद रामशरण, 'मॉरिशस के प्रमुख हिन्दी-सेवी और साहित्यकार', पृ0 17

अत: उनके साहित्य से चुनी हुई प्रतिनिधि रचनाएँ इस द्वीप की लगभग आधी शताब्दी के हिन्दी साहित्य की एक विश्वसनीय झलक दे सकती हैं। उनके उपन्यासों में से उनके सर्वाधिक प्रसिद्ध उपन्यास 'लाल पसीना' से कुछ आरम्भिक परिच्छेद दिये गये हैं। मुझे विश्वास है कि उपन्यास के इस अंश से पाठकों में अनत के उपन्यासों को पढ़ने का चाव पैदा होगा। इसी प्रकार उनकी सम्पूर्ण कहानियों में से कुछ कहानियाँ यहाँ दी गयी हैं। ये कहानियाँ मॉरिशसीय जीवन के कुछ वास्तविक चित्र प्रस्तुत करती हैं। उनके कविता-संसार से भी ऐसी ही कविताएँ ली गयी हैं, जिनमें मॉरिशस के जन-जीवन के विविध रंग हैं, विसंगतियाँ और व्यथाएँ हैं और है कवि का आक्रोश, विद्रोह और अमानवीयता तथा मानव-अधिकारों के निषेध पर गहरी चोट। नाटक, एकांकी और रेडियो एवं टेलीविजन के नाटकों-रूपकों में से यहाँ एक सम्पूर्ण नाटक 'रोक दो कान्हा' दिया गया है। इससे पाठक एक सम्पूर्ण रचना का रसास्वादन तो करेंगे ही, साथ ही वे यह भी देख सकेंगे कि मॉरिशस का हिन्दी नाटककार भारत की मिथक-कथाओं तथा मिथक-महापुरुषों का किस प्रकार आधुनिक सन्दर्भों में प्रस्तुतीकरण कर सकता है। यह नाटक अभिमन्यु अनत की गहरी मानवीय सम्वेदना तथा रंगमंच-कौशल एवं प्रवीणता का प्रतीक है। गद्य की अन्य विधाओं में से आत्मकथा, भेंटवार्ता, लघुकथा, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत, व्याख्यान तथा सम्पादकीय एवं लेख से यहाँ कुछ रचनाएँ दी गयी हैं। आत्मकथा के संकलित लेख अप्रकाशित पाण्डुलिपि में से दिये गये हैं लेकिन लघुकथा, संस्मरण एवं यात्रा-वृत्तांत, सम्पादकीय एवं लेखों में से कुछ को छोड़कर शेष पत्र-पत्रिकाओं में छप चुके हैं। यहाँ संकलित कुछ सम्पादकीय अभिमन्यु की सत्ता और व्यवस्था के विरुद्ध आग उगलने की क्षमता और निर्भयता को तो उजागर करते ही हैं, लेकिन हिन्दी, अस्मिता, अस्तित्व, संस्कृति की रक्षा तथा देश-हित की महत् भावना एवं प्रतिबद्धता को भी वे बड़े प्रभावी शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं। कुल मिलाकर यह संकलन मॉरिशस द्वीप के बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न तथा अपने देश के सबसे अधिक प्रतिष्ठित साहित्यकार के साहित्य की मूलभूत सम्वेदनाओं को न केवल जीवन्त रूप में प्रस्तुत करेगा, बल्कि इस देश के लोक-मानस की आत्मा का भी परिचय दे सकेगा। अभिमन्यु अनत के साहित्य का महत्त्व इस शताब्दी के अन्त होते समय तो निश्चय ही है और रहेगा, बल्कि यह महत्त्व इक्कीसवीं शताब्दी में भी बना रहेगा। इक्कीसवीं शताब्दी में अनत का साहित्य प्रबल प्रेरणा-स्त्रोत होगा तथा जब भी मॉरिशस के आप्रवासी भारतीयों के लोक-जीवन के इतिहास को जानने का प्रयत्न होगा तो अभिमन्यु अनत का साहित्य सबसे अधिक प्रामाणिक एवं विश्वसनीय सिद्ध होगा। निश्चय ही, इस दृष्टि से कुछ अन्य साहित्यकारों की रचनाएँ भी सहायक होंगी। अभिमन्यु अनत में तुलसीदास की लोकमंगल की दृष्टि, कबीर की दो-टूक कथन-शैली, महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसा सम्पादकीय दायित्व, निराला का विद्रोह और तेज, प्रेमचंद की सामाजिक, राष्ट्रीय, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि एवं दासत्व से मुक्ति, जयशंकर प्रसाद का नाटकीय-कौशल, तथा स्वातन्त्र्योत्तर कुछ कवियों की आम आदमी की नियति और मानव-अधिकारों के प्रति घोर चिन्ता का गहरा भाव संश्लिष्ट रूप में विद्यमान है। अभिमन्यु अनत के इस संश्लिष्ट सर्जनात्मक व्यक्तित्व में यदि हम उनके चित्रकार एवं छायाकार को भी समाहित कर लें तो उनके इस संश्लिष्ट कलाकार एवं रचनाकार का दूसरा उदाहरण इनके देश में मिलना दुर्लभ ही होगा। अत: अभिमन्यु अनत का यह संश्लिष्ट लेखकीय एवं सर्जक

कलाकार का व्यक्तित्व नयी शताब्दी तथा नयी पीढ़ियों के बीच उसकी सार्थकता को अक्षुण्ण रखेगा।[1]

इस संकलन के प्रकाशन में के.के. बिड़ला फाउंडेशन के अध्यक्ष श्री कृष्ण कुमार बिड़ला तथा उसके निदेशक श्री बिशन टंडन ने जो आर्थिक सहयोग दिया है, उसके लिए उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। आशा है, सहयोग की यह परम्परा भविष्य में भी चलती रहेगी।

कमल किशोर गोयनका

ए-98, अशोक विहार
फेज प्रथम
दिल्ली-110052
12 मार्च, 1999
मॉरिशस का स्वतन्त्रता दिवस

1. मॉरिशस के हिन्दी साहित्य तथा अभिमन्यु अनत के साहित्य के सम्बन्ध में और अधिक जानने के लिए इस पुस्तक के सम्पादक की अन्य पुस्तकें भी देखी जा सकती हैं। उनकी सूची परिशिष्ट में दी गयी है।

उपन्यास

लाल पसीना

(एक)

वह ताम्रपर्णी से निकली थी। दोनों भिक्षु नाविक कलिंग के थे। पाण्ड्य देश में दोनों भिक्षुओं ने बाक़ी भिक्षुओं से अलग अपना निर्णय लिया था। उनसे पहले निकले भिक्षु यवन, काम्बोज, गान्धार जैसे देशों को पहुँच चुके थे। यह सूचना उन्हें कलिंग ही में मिल गयी थी। अतः उनकी नौका जब नयी भूमि की तलाश में ताम्रपर्णी पहुँची तो उन्होंने देखा कि वहाँ भी पहले ही से भिक्षु पहुँचे हुए थे।

ताम्रपर्णी में उन्होंने चुनी हुई लकड़ियों से अधिक विश्वसनीय नाव बनायी। नयी भूमि पर प्रथम पहुँचने की चाह लिये दोनों ने वहाँ से नयी यात्रा शुरू की। सुदूर पूर्व के द्वीपों की चर्चाएँ वे सुन चुके थे। उस विस्तृत महासागर के एक द्वीप से दूसरे द्वीप को होते हुए फिर तो वे इतने अधिक आगे निकल आये कि न तो उन्हें स्थान का पता रहा, न दिशा का। सामने सागर विस्तृत होता चला गया था। इधर कई दिनों से वर्षा न होने के कारण और जल-पात्र खाली हो जाने से उनकी अपनी स्थिति तो नाजुक थी ही, उनके साथ पीपल का जो अन्तिम पौधा था वह भी मुरझाने लगा था। बीच पानी, पानी का मुहताज!

प्रथम भिक्षु ने दूसरे भिक्षु की ओर देखा। उसके साहस को बढ़ाने के लिए उसने धीरे से कहा, "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय! जाओ, बढ़ते जाओ!"

दूसरे ने अपने सूखे होंठों को हिलने दिया। कोई स्वर नहीं फूटा। फिर भी प्रथम भिक्षु ने नेत्र बन्द कर लिये, "बुद्धं शरणं गच्छामि·········।"

नाव चलती रही·········

एकाएक—उस दोपहर में शाम का-सा धुँधलका छा गया। दोनों एक-दूसरे को देखते हुए मौन रहे। दूर, काफ़ी दूर, जहाँ एक क्षण पहले सागर और आकाश के रंग आपस में मिले हुए लग रहे थे वहाँ लाली छा गयी थी। देखते-ही-देखते सामने पहाड़ जैसे ऊँचे ज्वारभाटे उठने लगे। हवा में उष्णता आ गयी थी। दूर के प्रलयंकर ज्वारभाटे अपने फेनिल उफान के साथ नाव के पास आते गये। कूपदण्ड डगमगाने लगा, उसके साथ ही नाव भी जोरों से हिलने लगी। दोनों ने पूरी स्फूर्ति के साथ पाल को नीचे उतारा। नाव डगमगाती ही रही।

सागर की उथल-पुथल बढ़ती गयी। उसके गहरे नीलेपन को भेदकर गहराई से दूध की-सी फेनिल लहरें गम्भीर गर्जन के साथ उठती रहीं। उस भयानक नाद से दोनों भिक्षु सहम गये थे।

बवण्डर! चक्रवात!

और सागर चिंघाड़ता रहा। दूर की वह लालिमा विस्तार पाती गयी। अपने स्वर को सागर के गम्भीर गर्जन से ऊपर उठाते हुए एक नाविक ने अपने भय को प्रकट किया, "आँधी ?"

दूसरे ने उसी आश्चर्य-भरे स्वर में कहा, "विचित्र!"

यात्रा के दौरान यात्रियों ने कई आँधियाँ देखी थीं। चक्रवात, बवण्डर सभी देखे थे लेकिन इससे भिन्न। अचानक ही एक घटाटोप अँधेरे ने पूरे वातावरण को अपने में लपेट लिया। हाथ को हाथ नहीं सूझ पा रहा था। धड़कनें तेज होकर भी अहसास नहीं की जा रही थीं। नाव के डोलते रहने के कारण दोनों को अपने अस्तित्व का बोध बना रहा। दोनों के हाथ से पतवारें छूट गयी थीं। उस गहन अदृश्य वातावरण में दोनों के हाथ आगे बढ़े। स्पर्श होते ही दोनों हाथ एक-दूसरे के साथ बँध गये। मुखड़ों पर झंझावात के थपेड़ों से दोनों ने एक बार फिर अपने जीवित होने का प्रमाण पाया। कुछ दिखायी पड़ जाना नितान्त असम्भव था।

दोनों एक-दूसरे के हाथों को थामे महासागर की उपद्रवी स्थिति का अनुभव करते रहे। भयानक कालेपन के बीच दोनों जकड़े रहे। भारी कोलाहल होता रहा। झटास का पानी नाव में भरने लगा। नाव के आसपास का पानी उबलता-सा प्रतीत हो रहा था। बिजली कौंधी! उसके साथ ही अँधेरा फट गया। दोनों ने विस्फारित नेत्रों से अपने सामने देखा। ऊँचे ज्वारभाटे एकदम पास आ गये थे। पानी का रंग नीलेपन से हटकर कालेपन को आ गया था। दोनों ने चारों ओर देखा। कोई क्षितिज नहीं था सामने। चारों ओर से उफनती लहरें, विद्रोही ज्वारभाटे......... ।

धमाके के साथ विस्फोट हुआ। वातावरण रंग बदलता रहा। दूसरा प्रलयंकर विस्फोट हुआ। दोनों नाव के भीतर लुढ़क गये। किसी तरह एक-दूसरे का सहारा लेकर दोनों खड़े हुए.........उनके नेत्र खुले-के-खुले रह गये। जीवन का सबसे बड़ा आश्चर्य उनके नेत्रों के सामने व्यतीत हो रहा था। कुछ ही दूरी पर सागर के बीच अंगारे और लपटें उठती दिखायी पडीं। गरमी से दोनों के शरीर दग्ध हो चले थे। उनके मुखड़ों पर पानी के छींटे अब भी थे, फिर भी उन्हें पसीने का अनुभव हुआ।

ज्वारभाटे शिथिल होते गये। सागर के रंग बदलते रहे। आँधी, चक्रवात, बवण्डर सभी कुछ थमता जा रहा था। नाव पानी से भर जाने के कारण डूबने लगी थी कि तभी बादल का-सा कोई भारी गर्जन हुआ। बिजलियाँ चमकीं। एक-दो साधारण विस्फोट हुए......... ज्वारभाटे अपने-आप में टूट-टूटकर लहरों का रूप लेते गये। तभी दोनों को लगा कि समुद्र के पानी का तापमान बढ़ता जा रहा था.........लहरें उबलती दीख रही थीं। वातावरण इतना अधिक उष्ण हो चला था कि श्वास लेना कठिन प्रतीत हो रहा था।

अभी वे सोच रहे थे कि यह समुद्र के बीच से निकलनेवाला कैसा ज्वालामुखी है कि तभी दूरी पर सागर को फाड़कर पहाड़-सी कोई चीज़ ऊपर आती दिखायी पड़ी। एक बार फिर चारों ओर से ज्वारभाटे उठते दिखायी पड़े और बीच से उठने वाला पहाड़ ऊपर को उठता गया। सागर फेनिल ज्वारभाटों के साथ पीछे को हटता गया और पहाड़ फैलते गये......... । भिक्षुओं की नाव के नीचे से भी ज्वारभाटे उठे और नाव को दोनों भिक्षुओं के साथ-साथ ऊपर, बहुत ऊपर उठाकर फिर लपेट में ले लिया। इससे आगे का दृश्य भिक्षुओं ने नहीं देखा। वे अथाह गहराई में विलीन हो गये। द्वीप विस्तृत होता गया जब तक कि बीच के ज्वालामुखी से अंगारे निकलने बन्द न हो गये......... । और इसी तरह महासागर के बीच एक नये द्वीप का जन्म हुआ।

लम्बे समय तक वह धरती बंजर बनी रही। फिर धीरे-धीरे धरती ठण्डी होती गयी। ज्वालामुखी का विषाक्त प्रभाव कम होता गया। वनस्पतियों का उगना आरम्भ हुआ। पक्षी और पशु भी पैदा होते गये।

इतिहास के धूमिल पन्नों से इस द्वीप को पहुँचने वाला पहला जहाज द्रविड़ नाविकों का

था जो सम्भवत: दिशाहीन होकर इधर भटक आया था। उस समय द्वीप निर्जीव था। द्रविड़ नाविकों को जब अन्य जहाजों और लोगों के इधर पहुँचने की सम्भावना नहीं दिखी तो वे वहाँ से चल पड़े। इसी तरह समय बीतता गया। ईसा के बाद पहली शताब्दी के लगभग भारत की ओर जाते हुए अरबों की नज़र इस वीरान द्वीप पर पड़ी। उन्होंने भी सम्भवत: अधिक उम्मीद न करके उसे छोड़ दिया। इसी तरह समय-समय पर जातियाँ आती रहीं, जाती रहीं।

इतिहास के पन्ने कुछ स्पष्ट हुए। हिन्द महासागर से यात्रा करते हुए पुर्तगालियों का आगमन इस द्वीप में हुआ। इसे बसाना जब उन्हें टेढ़ी खीर प्रतीत हुआ तो वे आगे बढ़ गये। उनकी इच्छा भारत जीतने की थी। पुर्तगालियों के बाद और भी लोग आये और गये।

भारत पर अधिकार जमाने के लिए फ्रांस और इंग्लैण्ड के बीच संघर्ष था। उसी समय इस द्वीप को भारत-विजय की सुविधा के लिए लक्ष्य में रखा गया। इसी द्वीप से होकर फ्रांसीसियों ने मद्रास में अंग्रेजों के ख़िलाफ़ पहली लड़ाई लड़ी। इन्हीं लोगों के समय में मॉरिशस में भारतीयों का आगमन शुरू हो गया था। इस द्वीप के महत्त्व को समझकर अंग्रेजों ने भारतीय सेना के साथ फ्रांसीसियों पर आक्रमण किया और द्वीप उनके अधिकार में आ गया।

यहाँ से मॉरिशस में भारतीयों के आगमन की महत्त्वपूर्ण कहानी शुरू होती है।

इतिहास के पन्नों पर धूल जमती गयी और कई पृष्ठों को जला भी दिया गया। फिर भी कुछ पन्नों को एक ऐसी स्याही से लिखा गया था जिस पर धूल टिक नहीं पायी। चन्द ऐसे ही पन्ने थे जो भारतीय मज़दूरों के खून-पसीने से कुछ इस तरह भीगे हुए थे कि उन्हें आग जला न सकी और जो पन्ने जले भी उनकी राख को खाद समझ नियति ने खेतों में बिखेर दिया। इतिहास की बलि का वह सारा रक्त बहकर खेतों के रक्त से जा मिला और.........

और दबोचा हुआ वह इतिहास परतों के नीचे कैसे साँसों के लिए संघर्ष करता रहा, उसकी गवाही आज भी धरती की सोंधी गन्ध देती रहती है। लेकिन उस इतिहास को कैसे जिया गया था। आगे उसी जीवन की कहानी है।

(दो)

अपनी साँसों को महसूसते हुए वह घास पर पड़ा रहा। उन साँसों के साथ-साथ वह ख़ामोशी की गहराई को भी भाँप रहा था। आकाश के झिलमिलाते तारों को वह अपने मस्तिष्क के भीतर टिमटिमाता अनुभव करता रहा। सामने के अँधेरे को अपनी साँसों से चीरने के प्रयास में असफल वह अपने-आप उसके मिटने की आस में बैठा रहा। अँधेरे में एक हाथ से दूसरे हाथ को टटोलकर उसने घास को हटाया। भूमि की हल्की गरमी को अनुभव किया। फिर अपने दाहिने हाथ को अपने शरीर पर दौड़ाते हुए उसे नाक तक पहुँचाया। वहाँ भी साँसों के साथ उसी तरह की गरमी थी। उसे अपने सही-सलामत होने का पूरा यकीन हो गया था।

उसने पैरों को हिलाकर देखा। अभी ताकत बाक़ी थी। दोनों हाथों को धरती पर टिकाकर वह धीरे से खड़ा हुआ। सीधा खड़ा हो जाने के बाद उसे लगा कि जाँघों में बहुत कम ताकत बाक़ी थी। दाहिनी जाँघ पर हाथ फेरकर उसने मुँडेर पर से गिरने के बाद के घाव को महसूसा। उसकी अँगुलियाँ तरल हो गयी थीं। उस कालेपन में लाल रंग को बस महसूसा ही जा सकता था। वह रंग गहरा था। अधिक गहरा था। चोट गहरी थी। हाथ से छू जाने के बाद उसे दर्द का अनुभव हुआ।

आँखें ऊपर करके तारों को देखा। फिर ख़्याल आया, धुँधलके में रास्ता टटोलकर उसे बढ़ना था। अभी वह बहुत दूर नहीं निकल पाया था। अँधेरे का लाभ उठाकर उसे दूर निकल जाना था। दूर, जहाँ उसके भीतर का डर मिट जाये। जहाँ से क्षितिज उसे विस्तृत लगे। साँसों की अकुलाहट कम हो जाये। पर वह स्थान अभी दूर था। अभी उसे बहुत अधिक चलना था। उसने क़दम उठाया। एक के बाद दूसरा। बड़ी कठिनाई से तीसरा उठा, फिर चौथा भी। थकान अभी बनी हुई थी। पूरी कठोरता के साथ जाँघ की पीड़ा को नकारकर वह बढ़ने लगा। घाव रिसता जा रहा था। वह उसे चलने से रोक रहा था, लेकिन उसे रोक पाना आसान नहीं था। उसका दाहिना पाँव जमीन पर अच्छी तरह पड़ नहीं पा रहा था, फिर भी वह चलता रहा।

उसका अपना शरीर अधिक बोझिल प्रतीत होने लगा था। लग रहा था, वह इतिहास के सभी बोझ को अपने ऊपर लिये चल रहा है। इतिहास तो कुछ लोगों को कुछ भी नहीं देता। बोझ ही सही, उसे कुछ तो मिला था, लेकिन वह गठरी इतनी भारी कभी नहीं थी। थकान और चोट का ख़्याल करके उसके होंठों के बीच जो फीकी मुस्कान आयी वह क्षणिक रही। उस अँधेरे में उसका ओझल हो जाना बड़ा सहज और तेज रहा। एक क्षण उसे ऐसा ख़्याल भी आया कि जाँघ के घाव के कारण पाँव बेकार है। हाथों और घुटनों के बल चलने की इच्छा हुई। वह फीकी हँसी एक बार फिर आयी और उसी तेजी के साथ फिर गायब हो गयी। सामने के अँधेरे को टटोलते हुए उसके हाथ झाड़ियों से छू गये। उन्हें हटाता हुआ वह बढ़ता गया।

दर्द के अधिक बढ़ जाने पर वह झींगुरों और जंगली कीड़ों की आवाज़ों की झनझनाहट को अपने ही भीतर पाने लगता। रात के घटाटोप अँधेरे को टटोलता-पकड़ता वह बढ़ता गया। उसकी वह पकड़ कहीं मुलायम थी, कहीं एकदम कठोर और कहीं तो वह स्पर्श से बाहर थी। तब उसके कदम अनुमान से उठते और अचानक किसी खरगोश या चिड़िया द्वारा पैदा की गयी खरखराहट से वह सिहर जाता। उसकी ज़ोरों से आती-जाती साँसें और काँपते क़दम वर्षों पहले के फ़ौजी जीवन की याद दिला जाते। उस समय वह कभी नहीं हाँफता था। उसे पसीना बहुत आता था, पर पसीना आने का मतलब थकान नहीं हो जाता था।

पैर जब जवाब-से देने लगे तो वह क्षण-भर को ठिठका, फिर रात के उस भारी सन्नाटे में उसने धीरे-से कहा, "नहीं! लोग मुझे यहाँ पड़े हुए नहीं पा सकते, मुझे बेबस पाकर यहाँ से बाँध नहीं ले जा सकते। नहीं.........नहीं!" वह फिर से चलने लगा। वह अभी उतनी दूर नहीं आ सका था जहाँ से चारदीवारी की अकुलाहट पीछे छूट चुकी हो। वह नर्क अब भी उसके मस्तिष्क के अंश-अंश में था। वह लम्बा अतीत अब पास ही था। उसे मरना भी था तो उससे दूर जाकर, उससे कटकर। जीवन के एक-दो क्षण ही सही, वह अलग से उन वेदनाओं को नकारकर ही जीना चाहता था। वह ठौर दूर था, फिर भी उसके संकल्प में वह उतना अधिक दूर नहीं था जहाँ पहुँचा न जा सके। वह हाथों के बल रेंगकर भी वहाँ पहुँचना चाहता था। उसके अपने भीतर की सीली आवाज़ भीतर-ही-भीतर अकुलाती रही.........। आगे का यह दूर तक तना हुआ एकान्त और पीछे की वह सीमित चारदीवारी.........। बीच में वह.........

उसके क़दम बोझिल थे। सभी कुछ युग-सा लम्बा लग रहा था। उसकी अपनी साँसें भी। एक टिमटिमाता चिराग भी दीख जाता तो उसका हौसला इस तरह पिघलकर बह न जाता। अपने बहते हौसले को वह अँजुली में थामे एक क़दम को ऊपर उठाकर आगे बढ़ाता और दूसरे को घसीट लाता। वह अपनी हड्डियों को ढीली-सी होते हुए महसूसने लगा था। उसके भीतर एक

भय, जो पहले कभी नहीं था, घर करता जा रहा था। चारदीवारी के भीतर वर्षों तक रहकर वहाँ की उस यन्त्रणा से वह जितना डरा था, उससे अधिक वह वहाँ फिर से लौटने के ख़्याल से काँप रहा था। इसी तरह की स्थिति उसकी भारत छोड़ते वक़्त भी हुई थी। भावना में अन्तर था, पर स्थिति वही थी। जहाज में पहली बार उसे ज्ञात हुआ था कि सभी अभावों के बावजूद वह स्थान उसका एकमात्र स्थान था। इस बार वही स्थिति, एकदम विपरीत ढंग से। क़ैद से बाहर उसकी वीभत्सता सामने आयी थी। अब तो मरकर भी वहाँ नहीं लौटना चाहेगा।

एक बड़े-से पत्थर से टकराकर वह उसी पर बैठ गया। पहली बार उसे यह ख़्याल आया कि जंगलों में जीया जा सकता है। कम-से-कम मारीच की एक चीज़ तो सराहनीय रही। भयानक जंगली जानवरों से रहित इस देश का जंगल ही वह स्थान था जहाँ स्वच्छन्द घूमा जा सकता था। पहाड़ों, नालों और नदियों के बीच का स्वतन्त्र जीवन! सामने के गहरे अँधेरे में उसे जेल के सिपाहियों के चेहरे झिलमिलाते-से नज़र आये। उस अँधेरे में मालगासी काले चेहरे और भी भयानक प्रतीत हुए। उसके ख़्याल को पीछे की ओर उछलते देर नहीं लगी। वहुत पीछे·······बिहार की एक डरावनी रात। अहीरों के मुहल्ले से वह बिरहा सुनकर लौट रहा था। बहुत पुरानी याद समय की झिलमिल परतों से एकदम धूमिल थी। न जाने मस्तिष्क के किस भाग में मुद्दतों तक छिपे रहने के बाद आज सम्पूर्ण अस्पष्टता के साथ वह दृश्य सामने कौंध गया। वह रात एकदम ऐसी ही थी। ऐसी ही बोझिल, इसी तरह की गन्ध लिये। दो रात पहले चन्दर महतो के खेत से उसने अधकच्ची मकई चुरायी होगी और हाथ में लट्ठ लिए चन्दर महतो का काला शरीर लाल और·······और·······। बाक़ी यादें स्पष्ट नहीं हो सकीं और उसने भी नहीं चाहा कि उसके जीवन का वह प्रथम भय, प्रथम आन्तरिक पीड़ा उसके भीतर फिर से जीवन्त हो·······उसने मस्तिष्क पर ज़ोर नहीं दिया।

सामने का अँधेरा क़ैद की दीवार की तरह उसे अपने सामने की चीज़ों को देखने से रोक रहा था। उस घटाटोप अँधेरे में उसके लिए एक ही उपाय था। उसने वैसा ही किया। आँखें मूँद लीं उसने। नये आनेवालों से चारदीवारी के भीतर कई नयी बातें वह सुनता आ रहा था। उसने उन सारी बातों को एक-एक करके याद किया। उसी के देश के, उसी के प्रान्त के लोग······ झोंपड़ियाँ एकदम वहीं जैसी·····वहीं की बोली····वहीं के रीति-रिवाज। किसी पिछले क़ैदी ने तो हनुमानजी के चौथरे तक की चर्चा की थी······। उसे बिहार के गाँव याद आये। अपने गाँव की कालीमाई याद आयी। इसके साथ ही नये क़ैदी का फुसफसाना उसे सुनायी पड़ा····।

"हम सबन मिलके गाँव में कालीमाई की स्थापना करना चाहत रहीं पर कोठी वाले गोरवा ने आज्ञा ही ना दी·······साले मौगों को मालूम नाहीं कि राज करते राजा जइहें, रूप करते रानी, बेद पढ़ते पण्डित जइहें, रह जयहीं नेक निशानी।"

उसने मन-ही-मन पूछा : आख़िर धरम-करम के मामले में दख़ल देनेवाले ये कौन होते हैं? इन हरामजादों ने अभी देवीमैया का कोप नहीं देखा। सारी शेखी निकल जायेगी। इधर नये क़ैदियों से उसने जो कुछ सुन रखा था, उसे देखने की इच्छा उसके भीतर तीव्र हो चली थी। वह रेंगकर भी एक ऐसे गाँव में पहुँचना चाहता था जहाँ बिहार का भी कोई टुकड़ा आनेवाले कुलियों के साथ आ गया था।

उसके कानों में मुर्गे की बाँग आयी। एकदम वैसी ही जो वह मुद्दतों पहले अपने गाँव में सुनता था। उसके क़दमों ने उत्साह पा लिया था। वह आगे बढ़ा। सामने के अँधियारे की आड़

से दूर कोई चिराग झिलमिलाता नज़र आया। शायद वे पेड़ के पत्ते रहे होंगे जिनसे आँखमिचौनी खेलती हुई वह धूमिल रोशनी ओझल हो गयी। दूसरे ही क्षण एक दूसरा चिराग दिखायी पड़ा, उसी तरह दूरी की टिमटिमाहट लिये। फिर तो दो-तीन दीखने लगे। अपने घायल पाँव को खींचता हुआ वह उस अनजान डगर के लिए इस तरह बेताब हो गया, जैसे कि वह उसका अपना ही गाँव हो और वहाँ उसके अपने ही लोग उसकी प्रतीक्षा कर रहे हों। उसने दो बहुत ही उतावले क़दम उठाये, फिर एकाएक सहमकर स्थिर हो गया। कुछ ही समय में पौ फटनेवाली थी। जिस गहरे अँधेरे को कुछ ही देर पहले वह कोस रहा था, उसके बहुत जल्द मिट जाने के ख़्याल से वह काँप उठा। यह अँधेरा उसका रक्षक था। उसके बिना सामने के नये गाँव में पहुँचने की उसकी हिम्मत नहीं हो रही थी।

बड़ी कठिनाई से उसने समय का अनुमान किया। सुबह क़रीब होने पर भी तीन-चार घण्टों के फ़ासले पर थी। बगल से जो कल-कल ध्वनि आ रही थी उससे यह समझते देर नहीं लगी थी कि चन्द ही क़दमों पर कोई नदी थी। वह गाँव की ओर न बढ़कर नदी की ओर बढ़ गया। नदी किनारे पेड़ों के झुरमुट के कारण अँधेरा और भी गहन था। चट्टान पर बैठकर उसने सामने के अँधेरे में छिपे गाँव के बारे में सोचा.........वहाँ के लोगों के बारे में। गाँव के किसी व्यक्ति की नज़र उस पर पड़ जाये, इससे पहले वह गाँव के किसी आदमी को देखकर उस गाँव के बारे में अपने विचार निर्धारित कर लेना चाहता था; क्योंकि इतनी दूर आकर भी वह चारदीवारी को नहीं भूल सका था।

गाँव के किसी व्यक्ति का इधर आना हो सके, इसमें अभी तीन-चार घण्टे बाक़ी थे। समय पहले ही से उसके लिए युग-सा लम्बा था। उसे काटने के लिए उसने एक बार पीछे छोड़ आये लोगों के बारे में सोचना चाहा—चाहे वह याद दर्दनाक ही क्यों न ठहरे। पीछे वह जो छोड़ आया था वहाँ भी घनिष्ठता थी और.........एकाएक नदी की ठण्डक को अपने भीतर तक महसूस करके उसे अपनी मुक्ति पर आश्चर्य हुआ। क्या यह सम्भव था ? कुछ भी हो वह सपना नहीं देख रहा था, इसका उसे पूरा यकीन था.........तो फिर ? ख़ैर कुछ भी हो, वह चारदीवारी से बाहर आ गया था।

वह सुबह की प्रतीक्षा में बैठा रहा।

वह सुबह अभी तीन-चार घण्टे की दूरी पर थी। इस लम्बे समय को काटने के लिए उसने चारदीवारी की उस घनिष्ठता को याद किया जिससे घुलमिलकर एक अलग संसार बना था। एक सीमित इच्छा का संसार। लम्बी साँसों का संकुचित जीवन.........यादें घिस गयी थीं।

अधिक आगे की यादें कोड़ों और जूतों के प्रहार से छिन्न-भिन्न थीं। इसलिए उसने अधिक आगे की स्मृति का सहारा न लेकर उसी क्षण तक अपनी याद को पीछे जाने दिया जब वह जेल के अस्पताल में था.........जहाँ से बाहर के ईख के खेत ठीक सामने थे......... ।

(तीन)

ईख के खेत ठीक सामने थे। वहाँ की हरियाली स्वतन्त्र थी। कुन्दन की चारपाई खिड़की के पास होने के कारण उसकी आँखें उस दुर्लभ स्वतन्त्रता को घूरा करतीं। कुछ वर्ष पहले यह हरियाली वहाँ नहीं थी। सभी कुछ देखते-ही-देखते हो गया था। उस हरियाली को हाथों से स्पर्श करने को वह लालायित-सा था। वहाँ की स्वतन्त्रता को महसूसते हुए उसके अपने

भीतर की चाह सामने के कँटीले तारों की ऊँची दीवार से टकराकर रह जाती। उस हरे-भरे खेतों से भी पास थी वह काले पत्थरों की चारदीवारी, जहाँ वह इतने लम्बे समय से था कि वह युग-सा प्रतीत होने लगा था। इस स्थान को क़ैदी दो नामों से पुकारते थे। कभी वे खुश होते तो उसे ननिहाल कह लेते थे अन्यथा वह चारदीवारी से ही जाना जाता था। साँसें जितनी वहाँ घुटती थीं, यहाँ भी घुटती हैं। अन्तर केवल इतना होता कि यहाँ कुन्दन अपने को जंजीर में नहीं पाता। उसे पड़े रहने के लिए यहाँ लकड़ी की चारपाई पर वाक्वा की चटाई होती। नंगी लकड़ी और उस पर पतली चटाई कुन्दन के लिए कोई विशेष अन्तर नहीं पैदा करती। दोनों स्थानों की व्यवस्था दो बूँद पानी की तरह एक दूसरे से मिलती थी।

क़ैदख़ाने का यह बारह चारपाइयों का छोटा-सा अस्पताल क़ैदख़ाने के पिछवाड़े में पड़ता था। उस दिन क़ैदख़ाने के भीतर एक और दीवार खड़ी करते समय कुन्दन के पाँव पर पत्थर लुढ़क आया था। चोट गहरी थी। यहाँ अस्पताल में आने पर भी क़ैद का अहसास क्षण-भर के लिए भी नहीं मिटता। यहाँ भी एक सिपाही भीतर बैठा होता और दूसरा दरवाज़े पर तैनात रहता। दरवाज़ा एक ही था। टट्टी के लिए जाते वक्त भी एक सिपाही साथ हो जाता था। कुन्दन का आज यहाँ दसवाँ दिन था। यह तो वह अँगुलियों पर गिनकर याद किये हुए था, लेकिन उसकी गिरफ़्तारी के बाद आज तक कितने दिन हुए थे उन्हें दीवार की लकीरें भी बताने में असफल थीं। पहले तीन वर्षों के बाद दूसरी लकीरों के लिए दीवार पर जगह ही नहीं रह गयी थी। कुन्दन को इतना अनुमान अवश्य था कि इस तरह की कोई और दस दीवारें अब तक भर गयी होतीं।

उसके पैर का घाव अब भी दूसरे दिन जैसा था। दर्द भी लगभग वैसा ही था। यहाँ प्रवेश पाने पर तीन दिन तो उसे एक दूसरे रोगी के साथ उसी की चारपाई पर टिकना पड़ा था। आज भी कई चारपाइयों पर दो-दो बीमार पड़े हुए थे। अस्पताल में दाख़िल होने पर दो दिन तक मुँह में पहुँचाने के लिए कुन्दन को एक दाना तक नहीं मिला था। दवाई के नाम पर इधर दो दिन से काले रंग की कोई चीज़ उसके घाव में लगायी जा रही थी जिसका कोई ख़ास असर भी नहीं था।

रावेनाल की दीवार के बीच कटी हुई छोटी-सी खिड़की से वह दूर के नये उपजे खेतों को देखा करता। वहाँ की हरियाली के उस पार की कुछ यादें उसके भीतर कभी विद्रोह कर जातीं। ठीक सामने के मुड़िया पर्वत के पार्श्व में थी वह छोटी-सी बस्ती, जहाँ लड़ाई की जीत के तीसरे ही दिन बाद उसे अपने लोग मिल गये थे.........अपने देश से आये लोग। उनमें उसका कोई नहीं था, पर सभी अपने हो गये थे। टुकड़ी के सबसे जवान सिपाही के नाते उस समय उसकी उम्र उन्नीस की रही होगी। अपने गठीले शरीर के कारण फ़ौज़ में दाख़िल होने में उसे तनिक भी कठिनाई नहीं हुई थी। आरा की छोटी-सी अस्थायी छावनी में उसने प्रशिक्षण पाया था और बहुत कम समय में बहादुरी की कई दाद पा चुका था।

.........और एक दिन सिपाही-जीवन के दस साल बाद मॉरिशस को जीतने की चाह लिए वह सैकड़ों भारतीय सिपाहियों के साथ जहाज पर सवार हो गया। सभी सिपाहियों की तरह उसे भी यही बताया गया था कि अंग्रेज मॉरिशस को फ्रांसीसियों से जीतकर भारतीयों के हवाले कर देंगे। अंग्रेजों के चन्द ठेकेदारों ने सभी सिपाहियों को यही सुनाया था कि उनकी वफ़ादारी और वीरता के लिए मॉरिशस उन्हें भेंट कर दिया जायेगा। कुन्दन ने कई सिपाहियों से भी यही सुना था कि वह टापू उन लोगों का अपना हो जायेगा। कुन्दन मन-ही-मन खुश था—'रोवे के जी करले रहल अँखवे खोदना गईल।' घाटम मामा का स्वर रहा होगा वह।

उस समय कुन्दन के भीतर यही एक बहुत बड़ी खुशी थी। भारत में तो वे गुलाम थे, मॉरिशस में कम-से-कम इस लाघव भावना से बच जाने की आशा उसके भीतर की सबसे बड़ी प्रसन्नता थी। जहाज के सभी लोगों की आँखों में आँसू थे। अपने जनों से बिछुड़ने का दु:ख था। कुन्दन की अपनी आँखों में आँसू नहीं थे। जिन लोगों से बिछुड़ना था वे सभी तो बहुत पहले ही उससे बिछुड़ चुके थे। कुन्दन एक नये द्वीप को जा रहा था। एक नये संसार को। उसके अपने भीतर एक टीस-सी अवश्य पैदा हुई थी। काश! उसके वे अपने लोग अकाल के शिकार न होकर उस बेहतर संसार के लिए जहाज में साथ होते। इस ख़्याल मात्र से उस समय कुन्दन की वह खुशी सीमित और क्षणिक रह गयी थी।

मालगासी था वह काला परिचायक, जिसने उसके पास पहुँचकर उसके ख़्यालों को झकझोर दिया। न चाहते हुए भी कुन्दन को उसके हाथ से बूयों की कटोरी लेनी पड़ी। टीन की वह पतली अधमैली कटोरी भीतर के गरम बूयों के कारण बाहर से भी गरम हो गयी थी। उसे एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुँचाते हुए कुन्दन ने काले परिचारक को ग़ौर से देखा। वह डीलडौलवाला था। कुन्दन उसके उस साहस को भीतर-ही-भीतर आजमाता रहा जिससे उस मालगासी और उसके साथियों ने दासता को नकारा था। आज उन सभी क्रिओलों को हलके-फुलके कामों में लगे देख कुन्दन कभी उनके साहस को सराह उठता, कभी उन्हें आलसी मान उन्हें कोस जाता। एकाध बार उसके मन में यह विचार भी आया था कि इन्हीं मालगासी गुलामों की तरह अगर भारतीय मज़दूर भी खेतों में काम करने से हट जायें तो मालिकों की दशा दयनीय हो सकती थी। पर ऐसा होने से रहा। वह बिहारियों को बहुत अच्छी तरह से जानता था।

आख़िर वह भी उन्हीं में से एक ठहरा! परिश्रम से कभी न थकनेवाली जाति खेतों से भागे तो क्यों ? लेकिन हाल के क़ैदियों के मुँह से जिस अत्याचार की कहानी वह सुनता आ रहा था, उसके ख़िलाफ़ तो वे खड़े हो सकते थे! यहाँ भी कुन्दन को उन लोगों की सहनशीलता याद आ जाती, सन्तोष याद आ जाता। उसे इन दोनों शब्दों से चिढ़ थी। कभी वह बिहारी मज़दूरों के भूमि-प्रेम को अन्धविश्वास मान लेता, कभी उस आस्था को इस देश का भविष्य मानकर गम्भीर हो उठता।

उसकी अपनी चारपाई के ठीक सामने मंगरू की चारपाई थी। इस अस्पताल में मंगरू ही एक व्यक्ति था जिससे उसकी घनिष्ठता क़ैदख़ाने से शुरू हुई थी। मंगरू से जेलर के पानी का बरतन नीचे गिरकर फूट गया था जिसके बदले में भीमकाय जेलर ने पूरी ताकत के साथ अपनी लात उस पर दे मारी थी। आसपास के सभी क़ैदियों के देखते-ही-देखते मंगरू उछलकर सामने की दीवार से जा टकराया था। उसके सिर से खून बहते देखकर भी किसी क़ैदी की हिम्मत नहीं हुई थी कि बढ़कर उसे उठाये। हण्टरों की परवाह किये बिना कुन्दन ने उस वक़्त उसके सिर को अपनी गोद में लिया था, जब उसने उसे बेहोश पाया था। फिर तो दो और क़ैदियों की हिम्मत आगे बढ़ने की हो सकी थी, पर किसी से कुछ नहीं हो सका था क्योंकि दो सिपाही क्रिओली में गालियाँ देते हुए सामने आ गये थे।

कुन्दन का खून कई अवसरों पर खौला था। सिपाहियों के कन्धे से बन्दूक छीन लेने के लिए कई बार उसकी अँगुलियाँ हिल-डुलकर रह गयी थीं। उसके दाँत कई बार कड़कड़ा उठे थे। हर बार उसके भीतर का सिपाही-आवेश मोम की तरह भीतर-ही-भीतर जमकर रह गया था। बेबस बने मालगासी सिपाहियों के कन्धों की बेढंगी लटकी बन्दूकों को देखकर

उसे अपने बेहतर सिपाही होने का मन-ही-मन गर्व होता। कभी अवसर आ जाये तो वह प्रमाणित कर दे। पर अवसर आये तब तो! उसे अपनी नादानी पर हँसी आ जाती। इस क़ैद में उसके दिमागी तर्क तक संकुचित हो गये थे। यहाँ उमर ढली जा रही थी, फिर भी उसका बच्चों की तरह सोच लेना बन्द नहीं होता।

कई अन्य अवसरों की तरह उस दिन भी बड़े संयत के साथ उसे अपने को सँभालना ही पड़ा था। वह पीछे हट गया था। फ़ौज़ी जीवन में हमेशा आगे बढ़ना सीखकर भी वह अपनी उस सीख का उपयोग नहीं कर पाता। जब से उसके फ़ौज़ी कपड़े उस पर से उतरे थे, वह लगातार पीछे ही हटता जा रहा था। उसकी हर छोटी गुस्ताखी के लिए उसके सिर पर भारी बोझ रखकर उसे पीछे को झपटाया जाता। कई बार गिरने पर सिर का भारी पत्थर उसके ऊपर आने से बचा था। उसे पीछे हटना गवारा नहीं था, पर क्या करता! पीछे हट चुकने के बाद ही उसे अपने फ़ौज़ी प्रशिक्षण के चन्द उसूल याद आते। आरा जिले की छावनी में कर्नल भगूसिंह कई बार उससे कह चुका था कि क्षत्रिय जितनी बार पीछे को हटता है, उतनी ही बार उसकी मृत्यु होती है। इस याद के साथ कर्नल की बड़ी-बड़ी मूँछोंवाला गोरा चेहरा उसकी आँखों के सामने झिलमिलाने लगता और कुन्दन का अपना गोरा चेहरा लाल हो जाता।

आज का बूयों भी पतले माँड के ऊपर सजीहन के चार-पाँच पत्तों के सिवाय कुछ भी नहीं था। नमक ज्यादा पड़ गया था, यह भी हो सकता है कि जानबूझकर ऐसा किया गया हो। दो दिन पहले तीन मरीजों ने यह कहकर बुयों नहीं पिया था कि वह एकदम पनछोछर बना था। नमक की उस कमी को इस बार बहुत ही अच्छी तरह से पूरा कर दिया गया था। सामने के सिपाही की आँखें बचाकर कुन्दन ने खिड़की के जरिये कटोरी को खाली कर दिया।

अस्पताल के भीतर बैठे सिपाही को भोजपुरी नहीं आती थी, यह जानकर क़ैदी आपस में कुछ समय खुलकर बातें कर लेते थे। मंगरू ने अपनी चारपाई पर पड़े-पड़े कुन्दन से पूछा, "क्यों कुन्दन, आज भी कोनो डॉक्टर आई कि नाहीं ?"

"अभी तो डॉक्टर के यहाँ से गये तीन ही दिन हुए हैं मंगरू भैया!" बगल के जगेसर ने धीरे से कहा। "अरे अभी कोयके मरे की नौबत तो आये।" मंगरू ने एक लम्बी साँसे लेकर कहा, "दिन मोरे ओही दिवस भये आन, खात रहली मेवा पीयत रहली गुड़ पान।" उसके चेहरे पर जो मुस्कान थिरक आयी थी, वह व्यंग्य से सनी हुई थी। वह व्यंग्य, जो आदमी का अपने ही ऊपर हो।

मंगरू की चारपाई पर दो रोगी दो अलग दिशाओं को मुँह किये सो रहे थे। दीवार की ओर वाले जगलाल ने, जो यहाँ से भाग निकलने के दो असफल प्रयास कर चुका था, दबे स्वर में कहा कि उस डॉक्टर के आने-न-आने से क्या लाभ जो रोगी से चार क़दम दूर ही खड़े रहकर चिकित्सा पूरी कर जाता है। सप्ताह के भीतर दो क़ैदी मरे थे और चार नये आ गये थे। चारों नये दाख़िल हुए रोगियों को ज़ोरों का बुखार था, फिर भी दो दिन उन्हें नीचे के बोरों पर एक ही साथ पड़े रहने दिया गया था। कुन्दन ने चाहा था कि अपनी जगह वह उन चारों में से सबसे अधिक पीड़ित को दे दे। इस पर अस्पताल के मुख्य परिचारक ने उसे माँ की गाली सुनाते हुए पीछे को ढकेल दिया था। उसके पाँव की चोट से खून बह चला था। दर्द बढ़ गया था। रात को वह सो न सका। रात को काफ़ी देर तक वह मन-ही-मन गुनगुनाता रहा, "ओ रे मोरी नींदवा कहाँ खेले गुली डण्डवा।"

इस अस्पताल में सुबह महीनों देर से आती थी। सुबह होते ही दो मरीजों को हाथ में जंजीर

पहनाकर काली कोठी को लौटा दिया गया था। दूसरे दिन मंगरू की बारी थी। मुख्य परिचारक से अपनी बारी सुनकर उसे हँसी आ गयी थी। खुशी से नहीं बल्कि उस करारे व्यंग्य के कारण जिसे वह भीतर ही महसूस रहा था। उसके माथे की चोट कुछ-कुछ अच्छी हुई थी, पर इधर तीन-चार रात से उसके पेट का दर्द और भी बढ़ गया था। दर्द इतना अधिक था कि वह बच्चे की तरह रोने लगता था। चीत्कार कर उठता। यहाँ के अन्य मरीजों को उसकी चीख से बचाने के लिए उसे चारदीवारी को लौटाया जा रहा था। कम-से-कम इस बात की थोड़ी-बहुत खुशी मंगरू को थी कि रोगी क़ैदियों का इतना ख़्याल तो रखा ही गया था। दिन में उसका दर्द कम होता था और उसके अपने हाथों में.........कुछ न करने के कारण खुजली-सी होने लगी थी। पिछले दिनों रोगियों को वाक्वा के पत्तों से चटाई बुननी पड़ती थी। सूखे पत्तों के अभाव के कारण वह भी बन्द था।

ज़िन्दगी में इससे पहले मंगरू कभी बीमार नहीं पड़ा था। उसकी छोटी अंगुली कभी नहीं दुखी थी। एक दिन के लिए भी वह कभी बेकार नहीं रहा, जबकि यहाँ पूरे तीन सप्ताह से बैठे-बैठे वह ऊब गया था। इन तीन सप्ताहों में उसे बहुत कम नींद आयी थी, पर जब भी आयी थी सपने में उसने अपने को पत्थर ही तोड़ते पाया था। वह सभी क़ैदियों से अधिक फुर्तीला था। सबसे अधिक पत्थर तोड़ता था। उस काम को करते हुए चिपचिपाती गरमी में भी अपने शरीर के बहते पसीने की ठण्डक को महसूसता रहता। उस सक्रियता में वह अपने परिवार की याद को बिसार जाता, जबकि अस्पताल की चारपाई पर ऐसा करना उसके लिए असम्भव था। यहाँ तो हर क्षण उसे फूलवन्ती की याद आती। दोनों बच्चों के चेहरे सारा धुँधलापन लिये आँखों के सामने झिलमिला उठते। उनकी इस समय की हालत के ख़्याल से वह भीतर-ही-भीतर काँप उठता।

सात लम्बे नीरस साल बीत चुके थे। उसकी पुष्पा तो उसी समय दस वर्ष की थी। अब तो विवाह-योग्य हो गयी होगी। इस ख़्याल से उसको धमनियों का रक्त जमता-सा प्रतीत होने लग जाता। फूलवन्ती क्या कर पायी होगी ? यह प्रश्न वह कुन्दन से कई बार कर चुका था। बार-बार उसे सान्त्वना देकर कुन्दन अपनी उस सान्त्वना को अधिक खोखला पाने लगता। कुन्दन ही तो था वह, जिसे सिपाही और परिचारक की आँखें बचाकर वह अपनी कहानी सुनाया करता। मंगरू को अपनी उम्र मालूम नहीं थी, पर जब कुन्दन अपनी उम्र का अनुमान पैंसठ के लगभग कहता, उस समय मंगरू अपनी उम्र का अन्दाजा पचास का लगा लेता। वह इससे भी दो-तीन वर्ष अधिक ही का होगा—कुन्दन सोचता।

उसके चेहरे की झुर्रियों और सलवटों को देखकर वह ऐसा नहीं सोचता क्योंकि उनसे तो वह और भी बूढ़ा प्रतीत होता था। दिन में खाना काफ़ी देर से पहुँचा। तीन दिन से लगातार मिलने वाले मकई के भात को इस बार भी अपने आगे पाकर मंगरू के होंठों के बीच से वही फीकी मुस्कान निकल पड़ी। तीन दिन से वह अपने हिस्से के भात को बगल के मरीजों में बाँटता आ रहा था। इस मकई के भात से उसके पेट का दर्द और भी बढ़ जाता था। मंगरू को एकटक मिट्टी की थाली की ओर देखते हुए कुन्दन से नहीं रहा गया। उसने परिचारक से टूटी-फूटी क्रिओली में कहा, "यह आदमी इसी मकई के भात को खा-खाकर रात-भर सो नहीं पाता। पेट के दर्द से चिल्लाता रहता है। कम-से-कम इस व्यक्ति के लिए तो किसी हल्की चीज़ का प्रबन्ध किया जा सकता है।"

परिचारक ने पहले तो कुन्दन को घूरकर देखा। उसकी आँखों में किसी तरह का भय न पाकर उसने हँसकर व्यंग्य किया, "कल से यह हलवा खाने के लिए बड़े घर को लौट रहा है। तुम्हें चिन्ता करने को कोई ज़रूरत नहीं।"

"दोक्तेर फ़िन आँपेस ली माँज जीरी माई।" बिसेसर ने बड़े साहस के साथ कहा।

परिचारक ने बिसेसर के ही स्वर में उत्तर दिया, "क्यों नहीं—डॉक्टर ने सचमुच ही मकई का भात खाने से मना किया है। उसने तो तुम सभी की सेहत के लिए बासमती चावल का हुक्म दिया है। साला छिनरझप करता है।"

उसके इस व्यंग्य पर भात परोसने वाले काले रसोइये ने अपनी भयंकर हँसी से ईख के सूखे पत्तों के छाजन तक को हिला दिया। कुन्दन ने तो ऐसा ही महसूस किया। हँसी थमने के बाद एक क्षण का सन्नाटा रहा। दूसरे क्षण जगेसर ने अपने मोटे स्वर में अप्रत्यक्ष प्रश्न किया, "अभी तक दवाई नहीं मिली है?"

परिचारक की चिल्लाहट के साथ निकली आवाज़ में प्रत्यक्ष उत्तर आया, "खाने के बाद।"

"भाई, हियाँ त सोझिया के मुँह कुत्ता चाटेला।" बिसेसर की आवाज़ धीरे-से आयी।

दवाई कभी खाने से पहले दी जाती थी, कभी बाद में। कभी यह कहकर बिल्कुल ही नहीं दी जाती कि दवाई अभी पहुँची नहीं। सभी मरीजों को एक ही दवाई दी जाती थी। वही सफ़ेद रंगवाली। सूखे नारियल का आधा छिलका था वह, जिससे कटोरे का काम लिया जाता। एक ही कटोरे से सभी मरीजों को पीना पड़ता था। पिछले दिनों उस लम्बी चोटीवाले व्यक्ति की मृत्यु का कारण परिचारिका ने उसकी दवाई को लेने की इन्कारी को बताया था। इस पर किसी ने हँसकर कह दिया था कि वह तो दवाई लेने-पीनेवालों से भी अधिक समय तक छटपटाता रहा। मंगरू ने पूरे गाम्भीर्य के साथ कहा था कि इन जल्लादों को ब्राह्मण की मृत्यु से ब्रह्म-हत्या लगकर रहेगी।

रात को धीमे स्वर में जगलाल अपने आसपास के दो-चार व्यक्तियों को अपने दोनों बार के भागने की असफलता की कहानी सुनता रहा। एक बार तो वह कँटीले तारों के कारण पकड़ा गया था, दूसरी बार अपने साथ डरपोक साथी के कारण। फिर तो यहाँ से निकल सकने की बात को एकदम असम्भव मानने से नये प्रयास की नौबत ही नहीं आयी। किसी के इस प्रश्न पर जगलाल चुप हो गया था कि अगर सचमुच ही यहाँ से भागना असम्भव था तो फिर कई लोग कैसे फरार हो सके थे। मंगरू के पेट का दर्द कुछ कम हुआ। उसे नींद आ गयी थी, लेकिन कुन्दन उस कहानी को बड़े ध्यान से सुनता रहा। इससे पहले वह सन्तू के भाग जाने की कहानी सुन चुका था। उस युवक ने अपने ऊपर बाँस की बौछार करते हुए एक गोरे को एक ही कुदाली में मार डाला था। अपनी गिरफ़्तारी के तीसरे ही दिन वह क़ैदख़ाने की ऊँची दीवारों को फाँद गया था। अपने घर पहुँचकर हताश हो उसने दूसरे ही दिन अपने को फिर से सिपाहियों के हवाले कर दिया था, क्योंकि उसकी नवविवाहिता पत्नी ने बलात्कार का शिकार होकर आत्महत्या कर ली थी। सन्तू की कहानी से अपने को हटाकर कुन्दन जगलाल की योजनाओं की असफलता पर गहरे दु:ख का अनुमान करता रहा। उससे हुई भूलों पर वह उस समय तक ग़ौर करता रहा जब तक सभी मरीजों के बाद उसे भी नींद न आ गयी।

कुन्दन सबसे बूढ़ा न होते हुए भी सबसे पुराना क़ैदी था। जिस दिन उसकी गिरफ़्तारी हुई थी उस दिन तक तो उसके इर्दगिर्द के ये सारे लोग इस द्वीप में पहुँचे भी नहीं थे। इन लोगों के

इधर पहुँचने से कोई बीस-पच्चीस वर्ष पहले ही कुन्दन अपनी टोली के कुछ मित्रों के साथ भारत को लौट गया होता अगर.........

अगर उस दिन छावनी से छुट्टी पाकर रास्ते में वह उस नदी के किनारे सुस्ताने के लिए रुक न जाता। अपनी पुरानी कहानी कुन्दन को सुना चुकने के बाद मंगरू ने बार-बार यह चाहा था कि कुन्दन भी उसे अपनी कहानी सुनाये। बार-बार वह कुन्दन से अनुरोध करता रह गया था और कुन्दन हर बार 'फिर कभी' कह कर टाल जाता। आज मंगरू के उधर लौट जाने के बाद उसका हृदय एकाएक भारी-सा हो गया था। मन-ही-मन पश्चाताप को झेलते हुए वह अपने-आपको अपनी वही कहानी सुनाता रहा जिसकी वजह से वह क़ैद हुआ था। नदी किनारे के राफ़िया के पेड़ के नीचे वह अपने हाथों पर सिर को पीछे की ओर टिकाये लेट गया था। सामने की पहाड़ी से आती ठण्डी हवा उसके शरीर के पसीने को सोखती हुई उसकी साँस तक को ठण्डक पहुँचा रही थी कि.........

कि तभी एकाएक सामने के पानी में छपाक की आवाज़ हुई थी। हल्की नींद के उचट जाने की घबराहट के साथ वह अपनी जगह पर खड़ा हो गया था। आवाज़ को लक्ष्य करके उसने अपने सामने जो दृश्य पाया, उसे देख स्तम्भित रह गया था। वह अपने को भीतर-ही-भीतर काँपकर गर्म हो जाने से रोक नहीं सका।

देखता रह गया.........सामने के उस दुर्लभ दृश्य को। वह अपनी साँसों को थामे उस दृश्य को अपलक देखता रह गया था। उस समय वह अपने सामने जो कुछ देख रहा था, जीवन में पहली बार के लिए।

अपनी भीतर की उष्णता और बाहर की ख़ामोशी के साथ वह उस वक़्त भी उसी ओर देख रहा था जब पीछे से किसी का धक्का खाकर वह मुँह के बल जा गिरा था। फिर तो फ्रेंच में चुनींदी गालियों की बौछार थी और सामने के टोप पहने उस गोरे की लातों की मार थी। इससे भी बाज न आकर गोरे ने सामने से पत्थर उठाकर कुन्दन पर पटकना चाहा था कि तभी कुन्दन ने प्रशिक्षण पाये सिपाही की फुर्ती के साथ उछलकर वार को खाली कर दिया था। गोरे ने पत्थर को दोबारा उठाकर जब उसे कुन्दन पर उछालना चाहा तो कुन्दन के लिए बस अपने को बचाने का एक ही उपाय था—उसके पैरों से लिपट जाना। उसने तेजी के साथ वैसा ही किया। गोरा पत्थर के साथ गिर पड़ा था और उसकी कनपटी उसी पत्थर से टकराकर रह गयी थी।

उस घटना के तीन दिन बाद कुन्दन को एक गोरी औरत को नंगे स्नान करते देखने और उसके पति की हत्या के अभियोग में उम्रक़ैद की सज़ा हो गयी थी। अपने लिए एक फ़ौज़ी अदालत की रियायत माँगते हुए कुन्दन ने क़ैदख़ाने की सबसे काली कोठरी पायी थी। मंगरू को अपनी कहानी न सुनाकर वह अपने हृदय को बोझिल कर गया था। अपने को पश्चाताप से बचाने के लिए वह स्वयं को सान्त्वना देता रहा कि चारदीवारी में लौटते ही वह मंगरू को अपनी कहानी सुना डालेगा।

मुद्दत पहले जब क़ैदख़ाने के भीतर जंजीर के साथ पहुँचा था, उस समय क़ैदियों में सभी मालगासी गुलाम थे। तीन दिन बाद उसे पता चला था कि क़ैदख़ाने के बीच की दीवार के उस पार चार भारतीय भी थे। कुछ दिन बाद उनमें से दो से वह मिल भी सका था। अंग्रेजों द्वारा मॉरिशस के जीते जाने के कई साल पहले वे दोनों वहाँ पहुँचे थे। एक व्यापार करने आया था। दूसरे का इस द्वीप में आगमन इंजीनियर के रूप में हुआ था। दोनों व्यक्तियों पर एक ही आरोप

था, मज़दूरों को बहका कर ज़मींदारों के विरुद्ध खड़ा करना। न जाने क्यों कुन्दन को यह आरोप बहुत अच्छा प्रतीत हुआ था। उसने चाहा कि खून के बदले उसके ऊपर भी ऐसा ही आरोप होता।

उस समय क़ैदख़ाना विस्तृत भी नहीं था। दाहिनी ओर की दीवारें नहीं खड़ी हुई थीं। क़ैदियों की संख्या दो सौ से अधिक नहीं रही होगी। क़ैदियों में एक भी गोरे रंग का नहीं था। सभी मालगासी थे। साँवले-काले और भीमकाय। उनके पैरों में हर वक़्त जंजीरें होती थीं। शुरू में जब वे पत्थर तोड़ने के लिए एकसाथ मिलकर फिर टुकड़ियों में बँटते तो कुन्दन को उनसे डर लगता, लेकिन समय के साथ वह उन लोगों से हिलमिल गया था। वे लोग इसे अपनी जबान सिखाते। वह उन लोगों को चीज़ों के हिन्दी नाम सिखाता।

जिस दिन कुन्दन ने गाब्रियल नाम के क्रियोल क़ैदी को पीछे करके उसी जगह चाबुक की मार को अपने ऊपर सह लिया था, उस दिन से सभी मालगासी क़ैदी उसे 'फ्रेर' कहकर पुकारने लगे थे। जब तक वे लोग वहाँ रहे, कुन्दन उन लोगों का भाई ही बनकर रहा। गाब्रियल कहा, "तू त्रावायेर फ्रेर।"

कुन्दन मन-ही-मन सोचता। काश! गाब्रियल के कहेनुसार सभी मज़दूर भाई-भाई होते।

(चार)

जुल्म ढानेवाले दो व्यक्ति भाई होते हैं, जुल्म सहने वाले दो व्यक्ति भाई नहीं हो पाते। मालगासी बन्दियों ने सीधे बालोंवाले साँवले बन्दियों को अपना भाई नहीं माना।

बारी-बारी से मालगासी बन्दी चारदीवारी से बाहर होते गये थे। उनमें से दो, जिन्हें उम्र क़ैद की सज़ा हुई थी, वे अवधि से पहले ही चल बसे थे। मालगासी क़ैदी जाते रहे, कुछ मालाबार क़ैदी भीतर आने वाले थे। कुन्दन ने उधर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था, लेकिन मालाबार नाम से भारतीयों को क़ैद के भीतर पाकर उसे जितनी हैरानी हुई भी, उतना ही हर्ष भी। वह हर्ष भी अपने ढंग का था.........हँसी आँसू को साथ लिये। हर दूसरे-तीसरे दिन कोई-न-कोई नया क़ैदी भीतर आ ही जाता। क़ैदियों की संख्या बढ़ती गयी थी। सभी की कहानियाँ एक-सी होतीं................पत्थरों के नीचे सोना पाने की वही एक-सी चाह लिये 'मारीच देसवा' पहुँचना। जहाज से उतरते ही गले में नम्बर लटकाये खेतों में झोंका जाना। आधा पेट खाना, आधी देह कपड़ा। पीठ पर बाँसों की बौछार और.........

कोई बैल-जैसा काम करने से इन्कारी के कारण इधर आ गया था, कोई भारत लौटने की माँग करके। कोई न्याय की दुहाई करता हुआ, तो कोई बीमारी की वजह से तीन दिन नौकरी पर न पहुँच सकने के कारण। किसी की गिरफ़्तारी केवल इसलिए हो गयी थी कि उसने अपने गले से नम्बर लिखे टीन के टुकड़े को निकाल फेंका था। किसी ने सरदार से मुँह लगाने की हिम्मत की थी। जिस व्यक्ति ने पहले दिन भीतर आते ही आत्महत्या कर ली थी, उसकी गिरफ़्तारी इसलिए हुई थी कि सरदार की माँग पर उसने अपनी खूबसूरत पत्नी को पहली रात मालिक के घर नहीं पहुँचाया था।

अस्पताल में कुल चार खिड़कियाँ थीं, वे भी इतनी छोटी कि उनके बाहर निकलना कठिन था। यदा-कदा थोड़ी-बहुत हवा भीतर आ ही जाती थी जिससे दोपहर की चिपचिपाती गरमी से द्वार पर का सिपाही ऊँघने लगता था। उसके पासवाला रोगी उसके पसीने की गन्ध से नाक सिकुड़ते ही अपने मुँह को दूसरी ओर फेर लेता। लोग बताते कि न नहाने के कारण

उसके पसीने से इस तरह की दुर्गन्ध आती थी। इधर तो सभी रोगियों के लिए भी नहाने का कोई ख़ास प्रबन्ध नहीं था। कुन्दन को भी नहाये कई दिन हो गये थे, फिर भी उसके पसीने की गन्ध इतनी बुरी नहीं हो पायी थी। कुछ लोग इस त्वचा-भेद बताकर चुप रह जाते।

खिड़की से हाथ बाहर करके कुन्दन ने बाहर की हवा को महसूसना चाहा, पर ऐसा लगा कि हवा बह ही नहीं रही थी। अपने शरीर का पसीना उसे लेई की तरह लसलस लगने लगा था। टट्टी के द्वार की बाल्टी में इतना कम पानी होता था कि उससे हाथ के अलावा बाक़ी अंगों को भिगोना तक कठिन था। वह पानी भी बिरले की साफ होता था। कई दिनों तक बाल्टी के न धुलने के कारण उसके भीतर के रेंगते सफेद कीड़े साफ़ दिखायी पड़ने लगते थे। जिस लोटे के साथ टट्टी के भीतर प्रवेश करना पड़ता था, उसकी पेंदी घिस गयी थी। भीतर निवृत होते-होते लोटे का आधा पानी बह जाता था।

उस मौलिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए सभी को शीघ्रता होती थी। लोटे में छेद तो था ही, उसी तरह के कई छोटे छेद अस्पताल के छप्पर में भी थे। छोटी-सी बारिश के वक़्त भी छाजन रीसने लगता था और चारपाइयों को इधर-से-उधर करना पड़ जाता था।

दिन में रोगियों को जो मान्योक परोसा गया था, वह अच्छी तरह सीझ नहीं पाया था। यह कन्द अच्छी तरह सीझ जाने पर मकई के भात से अच्छा ही होता था। शायद यही कारण था कि उसे अच्छी तरह सीझने नहीं दिया जाता। उस तरह का अवसर बहुत कम होता जब सीझे हुए रूप में मान्योक मरीजों के सामने रखा जाता। वैसा रसोइये की भूल से हो जाता होगा। अपने दाँतों के नीचे उसे 'कच-कच' पाकर कुन्दन ने उसे उगल देना चाहा था, पर उसके भीतर की भूख ने उसे ऐसा करने दिया ही नहीं। किसी तरह जी-जाँत कर खाना ही पड़ा था। बालू में पड़े हर बैल को अपनी आँखें तो बचानी ही थीं।

पिछली रात कुन्दन के पाँव का दर्द बहुत अधिक बढ़ गया था। बड़ी कठिनाई से वह चल सका था। उधर सप्ताह-भर भूमि पर सोते रहने वाला व्यक्ति भी, जो मंगरू के जाने के बाद उसकी चारपाई पर आ गया था, रात-भर कराहकर कुन्दन के दर्द को दुगुना कर गया था। इस व्यक्ति की जाँघ का घाव पककर चमकीले पीले रंग का हो गया था। उसके काटे जाने के दिन को रोज़ ही स्थगित किया जा रहा था। सात दिन लगातार उससे यह कहकर उसे जिलाया जाता रहा कि दूसरे दिन डॉक्टर के पहुँचते ही पहला काम उसके घाव को काटना होगा। पिछली बार डॉक्टर घाव को दूर ही से देखकर कह गया था कि अभी वह काटे जाने के लिए तैयार नहीं था।

सुबह अपने पाँव के दर्द से खुद दुःखी कुन्दन ने जब घाववाले व्यक्ति के पास पहुँचकर उसकी हालत जाननी चाही तो उस समय वह खाट पर बेहोश था। रात में उसका घाव अपने-आप फूट गया था। खून और पीव से वह लथपथ था। खून कुछ इतना अधिक बहा-सा दीख रहा था कि सभी मरीज़ घबरा गये थे। दिन में ख़बर आयी थी कि डॉक्टर खुद बीमार हो जाने के कारण बिल्कुल नहीं पहुँच सकता। परिचारक घाव को बिना पोंछे, मरीज की बेहोशी हालत में उसमें बिना कुछ लगाये उसे अधमैली पट्टी से बाँध गया था।

दूसरे दिन उसे एकदम चंगा बताकर डॉक्टर उसे क़ैदख़ाने में भिजवा देने का आदेश दे गया। वह व्यक्ति अपनी जाँघ थामे गिड़गिड़ाता रहा और परिचारक ने उसके हाथों में जंजीर पहनाकर सिपाही के हवाले कर दिया। एक पैर से चलकर रोता-चिल्लाता वह क़ैदख़ाने को चल पड़ा। उसे घूम-घूमकर अपनी चारपाई की ओर देखते पाकर सभी मरीजों को उसकी हालत पर दया

आ गयी थी। किसी से कुछ होना तो दूर, किसी का अपनी दया ज़ाहिर करना भी असम्भव था।

और फिर यह तो रोज़ की बात थी। आगे भी सभी को यहाँ से इसी हालत में निकलना था। कुछ अच्छा हो जाने पर मरीज़ को घर भेज दिया जाता है, पर चूँकि इन क़ैदियों के लिए घर का प्रश्न ही नहीं उठता था, इसलिए उनके चंगे होने का इन्तज़ार भी नहीं हो पाता था। डॉक्टर के मन की बात थी, जब चाहे वह किसी को अच्छा बता सकता था और जब चाहे किसी को सबसे नाजुक स्थिति में चारदीवारी को लौटा सकता था।

कुन्दन के सामने वाली छोटी-सी खिड़की से वह बकाईन का निपाती पेड़ स्पष्ट दिखायी पड़ता, जिसकी डालियों पर मैना की जोड़ी फुदकती रहती थी। ये मैनाएँ ही भारत के अपने गाँव की सबसे अधिक याद दिलाती थीं। इन मैनाओं को यहाँ की फसल की रक्षा के लिए लाया गया था। पहली बार क़ैद की दीवार पर एक मैना को देखकर वह हैरान रह गया था। पहले तो मॉरिशस में उसने कहीं भी मैना नहीं देखी थी। बहुत बाद में उसके साथियों ने बताया था कि उन्हीं लोगों के साथ मैना की पचास जोड़ियाँ आयी थीं। अपने साथियों से सभी कुछ सुन चुकने के बाद कुन्दन ने हँसकर कहा था, "वाह रे मेरे देश की मैना! जहाँ तुम्हारे देश के लोग खुरी घँस-घँसकर बंजर ज़मीन को खेतों में बदल रहे हैं, वहाँ तुम भी फसलों पर उत्पात करने वाली टिड्डियों को मिटाकर इस देश को सँवारने में अपने ढंग से सहयोग दे रही हो।"

भारत में मैना को देखना तक कुन्दन नहीं चाहता था, लेकिन यहाँ उसी पक्षी से उसे अगाध प्यार हो चला था। चारदीवारी के भीतर से मैना की टाँय-टाँय में उसके लिए जिनती आत्मीयता थी, वह कहीं नहीं थी। वह लम्बे समय तक मैनाओं को देखता रहा और उन्हें सुनता रहता। कभी अपनी मुट्ठी में रोटी का छोटा टुकड़ा या मकई का थोड़ा-सा भात छिपाकर पत्थर तोड़ने निकलता। उन चीज़ों को मैनाओं के बीच फेंककर वह गद्‌गद् हो उठता। उनकी टाँय-टाँय में उसके लिए कहानियाँ होतीं। उनमें उसके गाँव की नदियाँ थीं। पनघट की औरतों की घाँवमाँव थी। गाँवों की वे तमाम यादें थीं उनमें, जिन्हें वह बिसार गया था। वहाँ की हरियाली वहाँ की सुखारी। सभी कुछ आँखों के सामने बरबस ही आ जाते। कुन्दन चाहता कि इन पक्षियों में से एक तो कभी उसके कन्धे पर आ टिके, लेकिन लगता कि मैनाओं को अपनी स्वतन्त्रता कहीं अधिक प्यारी थी।

परिचारक को अपना पाँव दिखाते हुए कुन्दन ने कहना चाहा कि, उस पर लगाने के लिए उसे कोई दवा मिले। उसकी बात सुनी-अनसुनी करके परिचारक चला गया। दूसरी बार कुन्दन ने फिर से दवाई का आग्रह किया तो एक दूसरा मोटा परिचारक मिट्टी की सुराही जैसी किसी चीज़ के साथ उसके पास पहुँचा। नीले रंग के एक तरह के पदार्थ की कुछ बूँदों को घाव पर टपकाकर वह चला गया। उन बूँदों से कुन्दन का समूचा पैर झनझना उठा।

जहर की-सी जलन थी वह। अच्छा ही हुआ, परिचारक वहाँ से उसी क्षण टल गया अन्यथा कुन्दन ने अपने हाथ का जूठा बरतन उस पर चला दिया होता।

कुछ देर बाद कुन्दन को अपना पैर और भी बेकार लगने लगा। घाव एक बार फिर ताजा हो गया था। जगलाल ने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा, "दवाइयवा काम करत बाते इही ख़ातिर वह दुःख रहल बा। साँझ तक अच्छा हो जाय कुन्दन, जरा धीरज धर।"

साँझ से रात हो गयी। कुन्दन के चेहरे की पीड़ा बनी रही। जगलाल ने इस बार बड़ी सहानुभूति के साथ प्रश्न किया, "बहुत ज्यादा अगरत बा का ?"

कुन्दन ने होंठों के बीच एक कठिन मुस्कान लाकर सच्चाई को छुपाने का प्रयत्न किया। रात-भर बिना कराहे वह दर्द को भीतर-ही-भीतर महसूसता हुआ करवटें बदलता रहा। एक पल के लिए भी उसकी आँखें नहीं झपक सकीं। रात में क़ैदख़ाने से आते किसी क़ैदी के चीत्कार को वह रह-रहकर सुनता रहा। उस चीत्कार से उधर की पीड़ा का अधिक असह्य होना स्पष्ट था। अपनी पीड़ा को भूलने के लिए कुन्दन को मनोबल मिला।

"तुम्हें बड़े घर लौट जाने की आज्ञा मिली है।"

कुन्दन को हैरानी नहीं हुई। पहले ही बात उसकी समझ में आ गयी थी। दोपहर में सिपाही अस्पताल के भीतर पहुँचा। कुन्दन के हाथों को जंजीर से जकड़ा और उसे लिये अस्पताल से बाहर होने लगा। बारी-बारी से सभी मरीजों की आँखों से कुन्दन की आँखें मिलीं और हटती गयीं। सभी आँखों ने गोया यही कहा :

"फिर मिलेंगे—चारदीवारी के भीतर!"

क़ैदख़ाने की पत्थर की ऊँची दीवारों से झनझनाता हुआ किसी बन्दी का स्वर गूँजता रहा— मूसे मारतें के खेतवा में सोना फड़ल बा, हमर तोहर हथवा में लोहा उगल बा।

कुन्दन इस स्वर को पहचानता था। वही पागल क़ैदी लोहे की छड़ों को दोनों मुट्ठियों से पकड़े कभी उन्हें ईख समझकर दाँतों से छिलके उतारने की कोशिश करने लगता था। कहा जाता है, वह भारत का कोई बहुत बड़ा क्रान्तिकारी था। अंग्रेज सरकार ने गिरफ़्तारी के बाद उसे इस द्वीप में भेज दिया था। कालापानी।

(पाँच)

इस द्वीप के चारों ओर समुद्र-ही-समुद्र था जिसे लाँघने के प्रयास में उसी में विलीन हो जाना कई लोगों ने बेहतर समझा। उन ज्वारभाटों के बीच अकुलाते हुए दम का घुटना क्षणिक था, चारदीवारी की तरह लम्बा और स्थायी नहीं था।

चारदीवारी के भीतर कई नये लोग आ गये थे। वापसी पर कुन्दन को लगा कि वह किसी यात्रा के बाद अपने घर लौट गया था। अपने पैर के दर्द के बावजूद वह खुश था। जानी-पहचानी दीवारें, अपने जैसे लगने वाले खम्भे। वही तारों का परदा, लोहे की सलाखें। पहरेदारों की वही सूरतें, वे ही सिपाही। परिचारक भी वे ही। वे ही बन्दी बन्धुगण। जंजीरों की वही झनझनाहट, वही खनखनाहट। जेलर का कर्कश स्वर! सभी कुछ वही था। वहाँ के धुँधलके में अपनेपन का यही आभास था।

दु:ख अगर थोड़ा-बहुत हुआ था तो बस इस बात का कि उसे पैंतालीस नम्बर की वह कोठरी नहीं मिल सकी थी जिसकी दीवारों पर उसने समय की छाप छोड़ी थी। सिपाही से पूछने पर पता चला कि उसमें किसी बहुत ही ख़तरनाक क़ैदी को रखा गया है। यह बात कुन्दन को दूसरे क़ैदी से मालूम हुई कि उसकी पुरानी कोठरी में जो क़ैदी था, उसे बगावत के जुल्म में सात वर्ष की सज़ा हुई थी। कुन्दन के भीतर उस व्यक्ति को जल्द-से-जल्द देखने की इच्छा पैदा हो गयी थी। लेकिन उसकी उस इच्छा और उस बागी के बीच एक दूसरी ऊँची दीवार थी। वह उत्तरी विभाग में था और कुन्दन तो इस नये पूर्वी विभाग में आ गया था।

क़ैदियों के बीच बन्दीगृह के सिपाहियों के अलग-अलग नाम थे। उनके सही नाम जानना क़ैदियों के लिए असम्भव था, इसलिए उस एक सौ पैंतीस नम्बर का क़ैदी मरने से पहले सभी

को अपने ढंग के नाम दे गया था। किसी का नाम दु:शासन था। किसी का जरासन्ध। वह जो द्वार पर खड़ा-खड़ा ऊँघने का आदी था उसे सभी कुम्भकरण नाम से जानते थे। लम्बी मूँछोंवाले सिपाही को कंस मामा कहकर पुकारा जाता था। दुबला पतला, जो कुछ रहमदिल था, उसे क़ैदी विभीषण कहकर पुकारते थे। यह विभीषण अपने नाम की तरह जितनी डरावनी सूरत का था, भीतर से वह उतना ही कोमल था। यही एक सिपाही था जिसे सभी क़ैदी आदर से देखते थे। उसे पास से गुजरते देखकर कुन्दन ने कहा, "विभीषण भैया, नमस्ते!"

उसके पास पहुँचकर सलाखों के इसी ओर से विभीषण ने उसकी नमस्ते का उत्तर देते हुए पुछा, "कां तो फिन रेतुने?"

"आज ही।"

"तुम्हारा पाँव कैसा है?"

"कुछ अच्छा है।" शिष्टाचार के नाते कुन्दन को झूठ बोलना पड़ा।

एक तरह से इस चारदीवारी के भीतर सभी कठोरता और बेरहमी के बावजूद कुन्दन को कभी-कभार थोड़ा-बहुत आदर-सा मिल जाता था। विभीषण के अलावा दूसरे सिपाही भी अच्छी मन:स्थिति में होने पर उससे एकाध बातें कर ही लेते थे। दो कारणों से। एक तो उसके स्वयं सिपाही होने के कारण और दूसरी वजह थी उसका सबसे पुराना होना।

कुछ देर पहले एक परिचारक कुन्दन को उसकी पुरानी गठरी दे गया था। लकड़ी की खाट पर बैठकर कुन्दन ने गठरी खोली। उसके हाथ के कड़े छोटे-के-छोटे रह गये थे और वह बढ़कर अब ढलने को था। बीते दिनों की याद दिला जाने की कई चीजें थीं उस गठरी में। लेकिन........कुन्दन उन बीते दिनों को याद करके चुभन का शिकार होना नहीं चाहता था। इसलिए उन चीज़ों को फिर से बाँध दिया। बस, उस फूलदार रूमाल को अपने हाथ में रह जाने दिया। मरने वाले ने अपनी मृत्यु के एक दिन पहले कुन्दन को भेंट किया था। उस मरने वाले के बारे में भी कुन्दन ने अधिक सोचना नहीं चाहा। बस रूमाल को अपने सिर और दीवार के बीच तकिये की तरह रखकर उठँग गया। पहली बार चारदीवारी के भीतर आकर कुन्दन ने इसी छोटी-सी गठरी को बाँधा था, उसी क्षण वह गठरी उससे ले ली गयी थी। उस दिन वह जेलर की हिफाजत से निकलकर फिर से उसके हाथों में आ गयी थी। चारदीवारी के भीतर उसके बीस वर्ष पूरे होने को थे। तब से यह गठरी लगातार उसकी अपनी कोठरी में थी। जिस दिन वह अस्पताल जाने लगा था, उससे गठरी ले ली गयी थी। आज उसे फिर से पाकर उसने जैसे एक घनिष्ठ साथी को पा लिया था।

दूसरे दिन कुन्दन के साथ रियायत की गयी। उसकी टोली के क़ैदियों के साथ उसे शहर के रास्ते बनाने को नहीं ले जाया गया। उसे कोठरी से निकालकर ऊँची दीवारों के बीच के विस्तृत स्थान में मकई के दाने छुड़ाने का काम सौंपते हुए विभीषण ने हँसकर कहा, "दो दिन के लिए तुम बड़े काम पर नहीं जा रहे हो।।"

वहाँ से जाने से पहले उसने कुन्दन के घायल पैर को गौर से देखा, फिर यह बोलता हुआ आगे बढ़ गया, "जल्द अच्छा हो जायेगा। पा त्राकासे।"

कुन्दन को लगा कि उसके घाव पर यह पहली मरहम पट्टी थी।

जिस स्थान पर वह दो अन्य क़ैदियों के साथ मक्की के दाने छुड़ाने के लिए बैठा था, वहाँ से सामने की पत्थरों की दीवार के बीच की दो खिड़कियाँ एकदम सामने पड़तीं थीं।

खिड़कियाँ काफी चौड़ी थीं, पर सलाखों के फ़ासले बहुत कम थे। फिर भी, बाहर के दृश्य काफी विस्तृम थे। दूर आदमी की-सी आकृति में खड़ा पहाड़। यहाँ के आसपास की हरियाली।

दूसरी ओर शान्त समुद्र का गहरा नीलापन.........उड़ते हुए पक्षी.........सभी कुछ कुन्दन को एक दूसरी दुनिया की तरह लग रहा था। वह कोई अदृश्य गिरजाघर था, जिसके घण्टे की आवाज़ क़ैद की चारदीवारियों की भीतर भी प्रतिध्वनित हो रही थी।

जिस मरने वाले की गठरी को अपनी गोद में लिये हुए भी कुन्दन उसके बारे में सोचना नहीं चाहता, उसकी आवाज़ इस घण्टे की आवाज़ के साथ मिलकर उसके कानों में गूँजने लगी। उन प्रतिध्वनियों के बीच कुन्दन उस नौजवान के स्वर की अनुध्वनियाँ सुनता रहा—"कुन्दन भैया.........मुझसे बार-बार यही कहा जाता कि मैं अपने गले की तावीज को उतार फेकूँ जिसके भीतर हनुमानजी का चित्र था। मैं इन्कार करता रहा, मेरी पीठ पर कोड़े बरसते रहे। मुझे गिरजाघर के आँगन में खड़ा करके घण्टे को ज़ोर से बजाया जाता.........और.........और.........फिर मुझसे कहा जाता कि मैं घुटने टेककर असली परमात्मा का नाम लूँ।.........कुन्दन भैया, मैंने सलीबवाली चेन लेने से इन्कार किया.........मेरे गले से मेरी माँ की निशानी उस तावीज को नोच लिया गया।.........बस यही मेरा जुर्म रहा.........इसीलिए मैं यहाँ हूँ.........। जिन्होंने चेन ले ली, चैन से हैं। तुम पतियाओगे नहीं कि उनके साथ हमारे अपने लोग भी मिले हुए थे।"

कुन्दन हँसकर रह जाता : ....उग्रसेन के वंश में कंस!

कुन्दन की आँखों में आँसू नहीं आये। वे बहुत अधिक मात्रा में बह चुके थे। वह अपने होंठों के बीच की उस विचित्र मुस्कान के साथ मकई के दानों को छुड़ाता रहा। यह दाने छुड़ाने का काम कुन्दन को तनिक भी पसन्द नहीं था। पहले भी कई अवसरों पर वह ऐसा कर चुका था। बड़ा अजीब था यह काम। अँगुलियों की सक्रियता के साथ मस्तिष्क के तारों की सक्रियता भी बढ़ जाती थी। ख़्याल बरबस ही पीछे को लौट जाते और.........

वह बार-बार एकाग्रता का प्रयत्न करता और बार-बार खण्डित होता रहता। एक याद से दूसरी याद, फिर तीसरी और वह यादगारों के खोखले जर्जर सोपानों के सहारे शून्य में आ गिरता।

शाम को रोटी लेने के लिए कतार में आगे बढ़ते हुए कुन्दन को मंगरू मिल गया। कड़कती धूप में पत्थर तोड़ने के बाद लौटा था वह। उसकी आँखों में अब भी थकान थी। चेहरे का रंग अधिक साँवला हो चला था। उसके समूचे शरीर से कमज़ोरी फूट रही थी। कुन्दन को लगा, यह आदमी वर्षों से बीमार है। पहली बात कुन्दन के मुँह से निकली, "तुम्हारे पेट का दर्द कैसा है?"

"लगता है उसके साथ ही जाना पड़ेगा।"

"ऐसा क्यों कहते हो?"

"छोड़ो इस बात को। तुम इसे अपने पास रख लो।" यह कहते हुए मंगरू ने एक छोटी-सी पुड़िया कुन्दन के हाथों पर रख दी।

"क्या है यह ?"

दु:शासन के सामने आकर खड़ा हो जाने से दोनों चुप हो गये। तार के बीच की छोटी-सी खिड़की के रास्ते से बासी फ्रांसीसी रोटी के टुकड़े लिए क़ैदी अपने-अपने ठौर को जाते रहे। सिपाही जंजीरों का निरीक्षण कर-करके लोगों को कोठरियों की ओर भेजते रहे, जहाँ दूसरे

सिपाही पहले ही से तैनात थे। दु:शासन के हटते ही अपनी मुट्ठी में छिपायी वस्तु को ग़ौर से देखते हुए कुन्दन ने दोबारा पूछा, "क्या है यह, मंगरू भाई ?"

"तुम्हारे घाव में लगाने के लिए।"

"कहाँ मिला ?"

"मैंने ख़ुद तैयार किया घास-पत्तों से। तीन बार लगाओगे, बस पाँव एकदम चंगा हो जायेगा। मैंने अपने बाप से सीखा था। और भी कई दवाइयाँ मुझे आती हैं । बस अपने पेट के इस जालिम दर्द की क्या दवा है, यही नहीं पता मुझे। साला नया रोग होगा, नहीं तो इसकी क्या चलती !"

कुछ देर चुप रहकर उसने आगे कहा, "साले आदमी अस्पताल जाते हैं अच्छा होने के लिए, यहाँ तो रोग को और भी बढ़ाने के लिए जाना पड़ता है। जहाँ लँगी से पानी पिलाया जाता है। दवाई तक के लिए छिछियाय पड़ेला।"

दु:शासन फिर सामने आ गया। बातें फिर रुक गयीं। इस बीच कुन्दन के हाथ में पत्थर की-सी कठोर रोटी आ गयी। उसे लिये हुए वह पूर्वी इलाके की ओर जाते हुए मंगरू को उत्तरी विभाग की ओर बढ़ते हुए देखता रहा।

अपनी कोठरी में पहुँचकर सबसे पहले उसने उस पुलिन्दे को खोला जिसमें हरे रंग का लेप था। उसने तुरन्त उसमें से थोड़ा-सा लेकर अपने घाव पर लगाया। लगाते ही उसे एक ठण्डक-सी महसूस हुई। पुड़िया को उसी तरह बन्द करके उसने उसे कोठरी के भीतर सँजोकर रख दिया। यह नयी कोठरी उसकी पिछली कोठरी से थोड़ी बड़ी थी। इसमें दो-तीन क़ैदियों को एकसाथ रखा जाता था। कुन्दन को अकेले रखने का उन लोगों का न जाने क्या कारण रहा हो। यहाँ रोशनी भी अच्छी थी। तीन ओर पत्थर की दीवारें थीं। सामने लोहे की छड़ें थीं। दाहिने ओर की दीवार के पत्थरों के बीच से मुट्ठी बराबर के एक पत्थर को हटा लिया गया था जिससे बगल की कोठरी तक कम-से-कम आवाज़ पहुँचायी जा सकती थी।

बाहर अँधेरा छाने में अभी कुछ देर थी, लेकिन कोठरियों के भीतर रात होने लगी थी। निरीक्षण पर निकले हुए विभीषण को रोककर कुन्दन ने पता लगा लिया कि यह कोठरी छ: महीनों से खाली थी। इससे पहले इसमें एक इंजीनियर दूसरे क़ैदी के साथ तीन साल की सज़ा भुगतकर एक पहरेदार की गोली का शिकार हो गया था। विभीषण ने बड़ी धीमी आवाज़ में कुन्दन को बताया कि वह इंजीनियर बहुत ही साहसी था। अपने साथी को चाबुक की मार से बचाने के लिए उसने एक सिपाही की गरदन दबोच ली थी। पीछे से पहरेदार ने उस पर गोली चला दी थी।

बहुत जल्दी-जल्दी बातें बताकर विभीषण वहाँ से आगे बढ़ गया था। ऊँची दीवार के उस पार से कुन्दन इस कहानी को उसी समय सुन चुका था, पर सच्चाई पहली बार मालूम हुई। जाते-जाते विभीषण उसके हाथ में आधी रोटी थमा गया था। हाथ से छुटकर उसके नीचे गिर जाने पर कुन्दन उसे उठाने के लिए झुका ही था कि उस धुँधलेपन में भी चारपाई के निचले भाग में उसने काग़ज़ के एक टुकड़े को लटके पाया। उसे बिना ज्यादा महत्त्व दिये वह खड़ा हो गया। चारपाई पर बैठते हुए फिर एकाएक न जाने क्या सोचकर वह नीचे आ गया। उकड़ूँ बैठकर उसने काग़ज़ को ध्यान से देखा और हाथ बढ़ाकर उसे वहाँ से निकाल लिया। काग़ज़ को अधफटा पुराना टुकड़ा कई तहों में लिपटा हुआ था। उस पर काफ़ी अस्पष्ट-सी

हिन्दी में कुछ लिखा हुआ था। मुद्दत बाद किसी दूर देश में निहत्थेपन की स्थिति को जीते हुए अपनी भाषा के अक्षरों पर नज़र पड़ जाने का मतलब होता है नवजीवन पा लेना और किसी घटाटोप अँधेरे में एकाएक प्रकाश का कौंध जाना।

(छः)

कोठरी के भीतर गलियारे से आते हुए प्रकाश का केवल अहसास-सा होता था। उस दूरी से आते-आते वह कुन्दन की कोठरी में दम तोड़ता-सा लगता था। अपने हाथ के काग़ज़ को कुन्दन उलटकर देखता रहा। यह जानकर कि उस पर की लिखी हुई भाषा को वह पढ़ सकता था, उसके भीतर एक उत्सुकता जाग उठी थी। वह अपने किसी बन्धु के विचार जानने को अधीर हुआ, पर उस धुँधलेपन में पढ़ पाना उसके लिए कठिन रहा। पहली ही नज़र में अक्षरों की अस्पष्टता उसे दिखायी पड़ गयी थी। दिन के उजाले में भी आसानी से वह उसे नहीं पढ़ पायेगा, यह उसे मालूम था। काग़ज़ों को टेंट के हवाले कर वह चारपाई पर जा बैठा।

उसके पाँव का दर्द कम था। बगल की कोठरी से छिद्र के रास्ते दूसरे क़ैदी के बिरहा की धीमी आवाज़ रह-रहकर आती। कुन्दन को बहुत जल्दी नींद आ गयी थी। यहाँ की चारपाई बकाईन के तने के अलावा कुछ नहीं थी, फिर भी अस्पताल की चारपाई से अच्छी ही थी। कुन्दन की पीठ की कठोरता की चारपाई की सख्ती से काफी घनिष्ठता हो चली थी। कुन्दन की नींद इतनी गहरी रही कि सुबह चार बजे के घण्टे की प्रलयंकर आवाज़ से भी वह नहीं जाग पाया। दु:शासन ने लोहे की छड़ों को ज़ोर से झनझनाकर उसे जगाया।

क़ैदियों के ज़मा होने वाले विस्तृत स्थान पर पहुँचने पर उसने सभी क़ैदियों को पहले ही से कतार में खड़े पाया। हवा में शरीर को सिहरन दे जानेवाली ठण्डक थी। सूरज की किरणों के ऊपर आने में अभी काफ़ी समय था, फिर भी अँधेरा धीरे-धीरे मिटकर उजाले के लिए स्थान बना रहा था। दूर से आती हुई मुर्गों की एकाध बाँगें सुनायी पड़ जाती थीं। जरासन्ध ने अपने भारी-भरकम स्वर में चिल्लाकर कतारों को सीधा करने का आदेश दिया। हल्के शोरगुल के साथ क़ैदी हिल-डोलकर सीध में खड़े होने लगे। जरासन्ध ने दोबारा चिल्लाकर हल्ला-गुल्ला बन्द करने का हुक्म दिया। उसने तथा क़ैदियों ने सभी कुछ यान्त्रिकता के साथ किया।

"प्रिज़ोन्ये दे सां त्रुवा।"

एकदम पहली कतार के उस छोर से इस छोर तक चिल्लाता हुआ कंस मामा बीच में आ खड़ा हुआ। उसकी इस आवाज़ की पुनरावृत्ति अन्य सिपाहियों ने भी की। अन्त में विभीषण ने अपने क्रिओली उच्चारण के साथ हिन्दी में आवाज़ दी :

"क़ैदी दो सौ तीन।"

कोई उत्तर नहीं मिला।

पन्द्रह मिनट बाद क़ैदियों की कानाफूसी से पता चला कि क़ैदी दो सौ तीन अपनी कोठरी में मरा पाया गया। कुन्दन उसे अच्छी तरह जानता था। रूपलाल तो सबसे तगड़ा, सबसे चंगा क़ैदी था।

उसकी यह अकस्मात् मौत ? क़ैदियों के बीच एक बार फिर कानाफूसी हुई। कई प्रश्न उठे। कहीं रामदेव की तरह सिपाहियों ने इसे भी ज़हर तो नहीं दे दिया ? दबी आवाज़ में कई लोगों ने सहमति दी।

"ऐसा ही हुआ होगा। कई दिनों से ये लोग उस रास्ते से हटाने की सोच रहे थे। अभी परसों उसने अधपका पनछोछर भात रसोइये के मुँह पर फेंक दिया था।"

पीछे से एक दूसरी आवाज़ आयी, "अरे कल की बात है। उसने जरासन्ध के गाल पर थप्पड़ जड़ते हुए कह दिया था—एक दिन तोर पारी, एक दिन मोर पारी, आज भैया पारी-पारी।"

लोगों की कानाफूसी देर तक नहीं चल सकी। क़ैदख़ाने के लगभग सभी कर्मचारी सामने आ गये थे। रामदेव के शव को दफ़नाने की बात सुनकर कुन्दन से चुप नहीं रहा गया। उसने कंस मामा को सम्बोधित करके कहा, "कंस मामा, पिछली बार भी इसने इस बात के लिए अपना विरोध प्रकट किया था। रूपलाल भी हिन्दू है, उसे दफ़नाया नहीं जा सकता। जलाना होगा उसे।"

पल-भर सन्नाटा रहा।

कुछ देर बाद कंस मामा ने क्रोध-भरे स्वर में कड़ककर कहा, "ठीक है, उसे जला आने की तैयारी की जाये।"

"इतनी जल्दी क्यों पड़ी है? डॉक्टर को तो आने दिया जाये।"

"फेंर्म ता गेल!" कंस मामा चिल्ला पड़ा।

और कुन्दन को चुप रह जाना पड़ा। उसके पीछे से किसी साथी ने धीरे-से कहा, "डॉक्टर के आइल न आइल बराबर का कुन्दन भैया।"

मान्योक वितरण करते वक़्त विभीषण ने कुन्दन के कानों में कहा कि उसकी छुट्टी रद्द कर दी गयी। उसके साथ कोई रियायत नहीं होगी और उसे घायल पाँव के साथ शहर की सड़कें बनाने जाना ही होगा। कुन्दन को इस बात से ज़रा भी दु:ख नहीं हुआ। मान्योक खाकर उसने भरपेट पानी पी लिया और फिर काम पर जाने के लिए अपने को तैयार पाया।

उजाला होने लगा था, फिर भी सूरज की प्रथम किरणें धरती को छू नहीं पायी थीं। जब क़ैदख़ाने के फाटक से क़ैदियों की दो टोलियाँ निकलीं, तीन-तीन क़ैदियों के पैर एक ही लम्बी जंजीर से बँधे हुए थे। हेमन्त की आख़िरी ठण्डक को अनुभव करते हुए वे चल रहे थे। जंजीरों की खनक के साथ उनके क़दम बढ़ रहे थे। कभी-कभार आदत से मजबूर सिपाही उन्हें अनुशासन में लाने के लिए अकारण ही चिल्ला पड़ते।

शहर के उस भाग में पहुँचने पर, जहाँ क़ैदियों को काम में लगना था, सूरज पूर्वी पेड़ों के ऊपर आ गया था।

चलकर आने की थकान अभी मिटी नहीं थी कि उन्हें काम का हुक्म मिल गया। चलने के कारण कुन्दन के पैर का दर्द बढ़ आया था। उसे भीतर-ही-भीतर झेलता हुए वह कंकड़ों को सड़क पर बिछाने में लगा रहा। क़ैदियों के पाँव और हाथमें जंजीर थी। इस पर भी किसी को कमर सीधी करने की इजाज़त नहीं थी। मुँह पर बहते पसीने को पोंछने का मतलब था, पीछे से बन्दूक की मूठ का पीठ से लग जाना। पुल और इमारतें बनाते समय भी लोगों की यही दशा होती थी।

पाँच घण्टों के लगातार काम के बाद सीटी बजी। जिसको जहाँ जगह मिली, बैठ जाना पड़ा। मैले हाथों से सभी को सूखी रोटी और उबली हुई अरबी लेनी पड़ी। खाने के दौरान कुन्दन का हाथ कोई तीन-चार बार टेंट पर पहुँचा। उस काग़ज़ को वह अब भी उसी स्थान पर महसूस रहा था। उन्हें एक बार पढ़ जाने की चाह अब भी उसके भीतर बनी हुई थी। अपनी

उत्सुकता को उसे दबाना पड़ा, क्योंकि इस खुली जगह में सिपाहियों की आँखें एक क्षण के लिए भी उन्हें नहीं छोड़तीं। उसके ठीक सामने था जरासन्ध। कुछ देर के लिए अगर वह थोड़ा-सा हट पाता तो सम्भवत: कुन्दन उस काग़ज़ पर नज़र दौड़ा सकता। कुन्दन इस ताक में रोटी को धीरे-धीरे चबाता रहा। कुछ देर बाद आख़िर वह होकर रहा जो कुन्दन मन-ही-मन चाह रहा था। धूप से तंग आकर जरासन्ध कुछ आगे जा बैठा जहाँ थोड़ी-सी छाँव थी। उसे उम्मीद बँधी। उसके हटते ही कुन्दन ने आगे-पीछे देखकर टेंट से काग़ज़ को बाहर निकाला। सींक और किसी जंगली फूल के रस से लिखी हुई अस्त-व्यस्त पंक्तियाँ थीं।

"·········जिस दिन सिर पर बोझ लिये दण्ड भुगतता हुआ मैं बड़ी दीवारों के चक्कर काट रहा था, जिस दिन मेरी पैनी नज़र को मेरी कोठरी के नीचे की सुरंग का पला लग गया था। यह बात तो मुझे पहले ही से मालूम थी कि इस इलाके मे जलदस्यु सुरंग बनाकर अपने खजाने छुपा जाते थे। दूसरी ही रात मैंने अपनी कोठरी में सूराख की खोज शुरू कर दी थी। आज पूरी सुरंग का पता चल गया है। अपनी चारपाई के नीचे के दो पत्थरों को हटाकर मैंने उनको सतह पर रख दिया है। सुरंग चालीस फुट की है, इसका यह मतलब है कि वह नाले के पास निकलती होगी। दीवार पार का मेरा साथी कुछ डरपोक है, फिर भी कल रात हमें इस नर्क से बाहर होकर रहना है—लेकिन यहाँ हर दूसरे क्षण कुछ-से-कुछ हो जाता है। कल की रात हम दोनों के लिए कैसी रहेगी—मालूम नहीं, इसलिए सुरंग का पता इस काग़ज़ पर लिखे जा रहा हूँ—भाग्य हमारे पक्ष में रहा तो यह काग़ज़ भी हमारे साथ इस चारदीवारी से पार हो जायेगा—और अगर ऐसा नहीं हुआ तो—जिसके हाथ यह काग़ज़ लगे—उसे आज़ादी मुबारक········· ।"

कुन्दन ने जल्दी से काग़ज़ को मरोड़कर टेंट के हवाले कर दिया। उसकी हैरानी कम होने पर पहला प्रश्न उसके मस्तिष्क में पैदा हुआ—लिखने वाला है कौन ?

सीटी बज चुकी थी। काम शुरू हो चुका था। हाथों की सक्रियता के साथ-साथ कुन्दन का दिमाग भी सक्रिय रहा। वह सोचता रहा।

—गोली खाकर मर जाने वाला इंजीनियर········· ।

एक दूसरी उत्सुकता से कुन्दन का ख़्याल बोझिल होता गया। अपनी कोठरी में पहुँचकर सच्चाई जानने की उसकी अधीरता बढ़ती गयी। क़ैदी जीवन की इस लम्बी अवधि ने जीवन की अलग परिभाषा दे दी थी। यही मानकर साँसें लेने में उसे सुविधा होती कि उसका तो जन्म ही इस चारदीवारी के भीतर हुआ था और मरना भी उसे इसी के भीतर था। इस दायरे से बाहर होकर सोचने से कोई लाभ नहीं था। चारदीवारी के बारह की कल्पनाएँ अगर कभी-कभार कर लेता तो न जाने किस भावना से विवश होकर। अपने शरीर को दीवारों के भीतर क़ैद रखकर वह अपने ख़्यालों को भी अपने ही भीतर बन्द किये हुए था। लेकिन·········आज अचानक ही उसके ख़्यालों ने मुक्ति के लिए संघर्ष किया। उसने अपने आगे चन्द बचे हुए दिनों की कल्पना की। कैसी हो सकती है वह ? अब तक उसका यह ख़्याल असम्भव की सलाखों के भीतर बेबस था। वे सलाखें एकाएक गल गयी थीं। दीवारें ढह गयी थीं और सामने पहाड़ थे, नदियाँ थीं, खेत थे, हरियाली थी·········साँसों की स्वतन्त्रता थी········· । विस्तृत क्षितिज था और·········और क्या था·········उसने अपने ख़्याल को एक बार फिर से असम्भव की सलाखों की ऊँची दीवारों के बीच बन्द हो जाने दिया।

शाम को अपनी कोठरी के भीतर पहुँचने के लिए वह सामने खड़ा विभीषण का इन्तज़ार

कर रहा था। विभीषण बाकी क़ैदियों को भीतर पहुँचाकर कुन्दन की कोठरी के पास आया। उसकी बगल में मंगरू था। कुन्दन से उसने धीरे से कहा, "कुन्दन, मुझे लगता है कि मेरा दिन एकदम पास आ गया है। शायद तीन-चार दिन और.........ख़ैर तुम्हारी बगल में मरना लिखा है इसलिए मेरी कोठरी बदली जा रही है। ठीक तुम्हारी बगलवाली में आ रहा हूँ।"

कुन्दन कुछ कह पाता कि तब तक विभीषण ने सलाखों वाला दरवाज़ा खोलकर कुन्दन को धीरे से भीतर ढकेल दिया, "तुम्हें कल शाम जेलर साहब के सामने हाज़िर होना है।"

यह कहते हुए विभीषण मंगरू के साथ दूसरी कोठरी की ओर बढ़ गया। जाते-जाते कुन्दन ने मंगरू की आँखों में देख लिया था। उसमें मृत्यु की निर्धारित आभा थी।

अपनी कोठरी के भीतर कुन्दन ने विभीषण के वाक्य को दोहराते हुए मन-ही-मन कहा—कल शाम जेलर साहब के सामने? वही धूप में नंगी पीठ पर सौ कोड़े और पन्द्रह दिनों तक बड़ी चक्की को अकेले चलाना? या इससे भी अधिक?

चारपाई पर बैठकर वह अँधेरा होने की प्रतीक्षा करता रहा। बार-बार उसकी आँखें चारपाई के नीचे पहुँचकर कुछ ढूँढ निकालना चाहती थीं। वहाँ अँधेरा था। वह अँधेरा और कुछ ही समय में पूरी कोठरी को अपने शिकंजे में कस लेगा। बगल की कोठरी से बिरहे की आवाज़ आती रही, अँधेरा बढ़ता गया। वह पूरी कोठरी में छा गया। उस अँधेरे को टटोलती हुई कुन्दन की अँगुलियाँ आगे बढीं।

धीरे-धीरे उसने चारपाई हटायी। दीवार को टटोलता रहा। उसकी अँगुलियाँ एक अडिग पत्थर से दूसरे अडिग पत्थर को जाती रहीं। एकाएक उसकी धड़कनें तेज हो गयीं। एक पत्थर डगमगाया, फिर दूसरा। अपनी साँसों को थामे उसने एक पत्थर को धीरे-धीरे खिसकाकर पीछे की ओर हटाया। दूसरा पत्थर आसानी से पीछे आ गया। कुन्दन ने हाथों से सुरंग का अन्दाजा लगाया। तीन फुट। वह आसानी से उसके भीतर रेंग सकता था। मंगरू की कोठरी में मौत-सा सन्नाटा था। बगल की दूसरी कोठरी से बिरहे की कम्पन-भरी आवाज़ आती रही। गठरी उठाकर कुन्दन ने अँधेरे को देखा। पहली बार उसे अँधेरा प्यारा लगा। उसमें आत्मीयता थी, शीतलता थी। उस अँधेरे में शान्ति की भीनी-भीनी सी गन्ध थी।

(सात)

गन्ने का रस उबलते समय हवा सोंधी गन्ध से लद जाती थी। कारख़ाने के काले धुएँ से वातावरण धूमिल और बोझिल प्रतीत होने लगता था। धुएँ से मुक्त स्थानों में आकाश जितना स्पष्ट दीखता, कारख़ाने के इर्द-गिर्द वह उतना ही मैला-मैला-सा लगता था। इसीलिए काम समाप्त होते ही किसन पहाड़ी की गोद में चला जाता और वहाँ की साफ़ नदी में साफ़ आकाश को देखा करता। ऐसा करने का अवसर उसे बहुत कम मिलता, क्योंकि उसका काम कभी न ख़त्म होने वाला काम था। यही कारण था कि वह उस पहाड़ी और शीतल नदी-तट के लिए हमेशा लालायित रहता। नदी के पानी में तैरती हुई पेड़ों की हरियाली, पुरैन और कच्चू के पत्ते। उन पर चमकती हुई पानी की बूँदें। वह सभी कुछ उसके भीतर के तार-तार को झंकृत कर जाता। चट्टानों से टकराती फेनिल तरंगों की थपकियाँ उसे उस रोज़ के नीरस और ऊब के जीवन से काटकर क्षणिक स्वतन्त्रता और आनन्द का आभास देती थीं। कल ही रात की निर्मल चाँदनी को वह नदी के पानी में देख रहा था। स्वच्छ आकाश के तारे इतने पास

लग रहे थे कि किसन सोच सका था बस, थोड़े ही ऊपर जाने पर उन्हें छुआ जा सकता था। ये ही तारे उसकी अपनी धुआँधार बस्ती में कितनी दूर प्रतीत होते थे।

कल काम से छूटकर वह सीधे नदी के किनारे पहुँच गया था। वहाँ से नहाकर घर लौटा था और फिर चाँदनी रात का ख़्याल आ जाने पर वह अपनी माँ द्वारा लाख रोके जाने पर भी फिर से नदी को दौड़ गया था। किसन अपना उन्नीसवाँ वर्ष पार कर चुका था। अठारह की उम्र तक वह इतना अधिक डरपोक था कि रात को एक क़दम भी अकेले चलने से डरता था। अठारह के बाद उसमें भारी परिवर्तन आ गया था। पहली बार जब रात के वक़्त वह नदी की ओर निकला था, उस समय उसके बाप के साथ-साथ पूरी बस्ती हैरान रह गयी थी। नदी एकदम दूर न होकर भी एकदम पास नहीं थी। एक बार किसन ने गिन कर देखा। पूरे बारह सौ क़दम पर थी।

आज जब फिर काम पर से लौटते ही किसन ने नदी की ओर पहला क़दम उठाया तो रघुसिंह ने उसे रोकने का प्रयत्न किया, "अभी कल दस बजे रात के उधर से लौटल रहले। तोर माँ हियाँ रात भर परेशान रहल।"

"आज रात होने से पहले लौट जाऊँगा।"

"ई अपन साथ का लिये जात रहे हो?"

"नहाकर बदलने के लिए फतुही।"

झूठ बोलकर किसन दौड़ गया। लम्बी चक्करदार पगडण्डी से होता हुआ वह जब नदी किनारे पहुँचा तो वहाँ के पेड़ों के झुरमुट के कारण शाम का साँवलापन घना था। काली चट्टान पर खड़े होकर उसने चारों ओर देखा। ज़ोर से सीटी बजायी, फिर अपने हाथ की मारकीन की फतुही को चट्टान पर रखकर वहीं बैठ गया। उसकी आँखें रह-रहकर अगल-बगल को देख जातीं। चट्टान से टकराती फेनिल लहरें उसके पाँवों से भी आँखमिचौली-सी खेल जातीं। कुछ दूरी पर के किसी घने पेड़ पर गाँव-भर के पक्षी इकट्ठे होकर अजीब कोलाहल पैदा कर रहे थे। इस स्थान से किसन को बहुत अधिक प्यार था।

जब वे लोग कुएँ-सी संकुचित उस दूसरी कोठी के इस इलाके में आये थे, उस समय किसन दस-ग्यारह साल का रहा होगा। इस जगह का पता उसे तीन-चार वर्ष बाद ही लगा था जब पहली बार क़न्धे पर कुदाली लिये वह नौकरी के लिए निकला था। इससे पहले अपने घर के आसपास से वह पेड़ों के झुरमुट को बस देखा करता था और सुनता रहता था कि वहाँ नदी है । उसे पार्श्व की पहाड़ी तो उसी समय से मोहे हुए थी। नदी और पहाड़ी की सुन्दरता को निरखते हुए वह मन-ही-मन पूछा करता कि जब लोगों को गाँव ही बसाना था तो फिर इस सुन्दर स्थान में क्यों नहीं बसाया? अगर उसकी बस्ती नदी के क़रीब और पहाड़ी के एकदम नीचे होती तो कितना अच्छा होता! इसके साथ ही उसे यह भी ख़्याल आ जाता कि यहाँ अपनी पसन्द से कौन कुछ कर पाता है। कोठीवाले चाहें तो पहाड़ पर बिठा दें, चाहें तो बाड़े में बिस्तर लगवा दें।

किसन के पास केवल प्रश्न-ही-प्रश्न थे। उत्तर नहीं था उसके पास। जब भी वह प्रश्न करता, रघु उसके मुँह पर हाथ रख देता। उसका हर वक़्त यही कहना होता कि दास प्रश्न नहीं करते, आज्ञा का पालन करते हैं। इतने पर भी किसन के प्रश्न नहीं रुकते। वह उसी स्वर में अपने बाप से पूछ बैठता, "आख़िर हम दास क्यों हैं?"

किसन अपने हर प्रश्न को गम्भीर प्रश्न मानता जबकि रघुसिंह उन्हें बच्चों की जिज्ञासा मानकर उन्हें इधर-उधर के उत्तरों से टाल जाता। अपने बाप के किसी भी उत्तर से किसन सन्तुष्ट नहीं था। उसने तय कर लिया था कि उसके प्रश्नों के उत्तर मिलें न मिलें, वह प्रश्न करता ही रहेगा। अपने इर्द-गिर्द के लोगों की हालत को देखते हुए उसे लगता कि इन सारे लोगों ने अपने प्रश्न करने की ताकत को भुला दिया है। उनके अभावग्रस्त जीवन का यही कारण था। अपनी जीभ को भीतर चिपका कर वे चुपचाप दारुण दण्डों को झेलते आ रहे थे। किसन बार-बार पूछता—यह चुप्पी क्यों?

एक बात वह समझ नहीं पाता। तीन वर्षों से वह इधर काम कर रहा था। अपने बड़ों का अनुकरण करते हुए वह भी देह-तोड़ परिश्रम करता। उसकी अपनी किस्मत में भी गालियाँ थीं, बाँसों की बौछार थी। वह क्यों चुपचाप सह लेता था? क्या केवल इसलिए कि शुरू से अब तक सभी लोग सहते आ रहे थे, इसलिए उसका भी वैसा ही करना अनिवार्य था? या वह भी उतना ही बेबस था, उतना ही डरपोक था जितना कि सभी लोग थे? उसके अपने पास केवल प्रश्न होते। तो फिर क्या कारण था कि इन प्रश्नों को जिनके सामने करना चाहिए उनके सामने न करके वह अपने लोगों से किया करता? यह उसका अपने-आप से प्रश्न था।

पिछले सप्ताह खेतों में काम करते हुए वह मुँडेर से नीचे आ गया था। पैर में मोच आ जाने के कारण दो दिन काम पर नहीं जा सका था और उसके लिए उसके चार दिन के पैसे ज़ब्त कर लिये गये थे। कुली बीमार होकर भी घर पर नहीं रह सकता। ऐसा क्यों? जिस गोरे से वह यह प्रश्न करना चाहता था, उसके सामने पहुँचते ही उसकी घिग्घी बन्द हो जाती थी। क्यों?

जिस दिन अपनी आँखों से उसने अपने बाप को बैल की जगह ईख के बोझ को खींचते पाया था, उस दिन उसके भीतर के सभी प्रश्नों ने पिघलकर आक्रोश का रूप ले लिया था। वह आक्रोश भी सीला निकला। वह कुछ नहीं कर सकता था क्योंकि औरों की तरह उसके अपने ख़्यालों में भी उसके अपने हाथ-पाँव बँधे हुए थे। उस दिन वह और कुछ न कर सका था। उसके मन और हृदय के कुछ आँसू बहकर रह गये थे। वे आँसू भी इतने गाढ़े थे कि वे उसके तमाम सवालों को बहा न सके। लेकिन क्या प्रश्नों से मुक्ति पाकर वह जी लेगा? उसने तो प्रश्न करते रहने को जीवन मान लिया था। एक बार अपने बाप से यहाँ तक कह गया था कि उसके प्रश्न करने की शक्ति को बने रहने दिया जाये।

—अगर शुरू से ही प्रश्न किया गया होता तो स्थिति यह नहीं रहती।

फिर उसे लगता—प्रश्न तो आज भी नहीं किया जा रहा। जो आवाज़ें हस्तियों के कानों के लिए हों, उनके चारदीवारी के भीतर गूँजते रहने से क्या होता है?

वह यह मानने को विवश हो जाता कि वह आज भी डरपोक था। कायर था, भीरू था। एक वर्ष पहले की उसकी वह कायरता, वह भीरूता आज भी उसकी अपनी धमनियों में सजीव थी। उसका इस तरह अपने को बहुत अधिक साहसी बताते हुए रात में जंगलों की ओर जाना उसकी निर्भयता का द्योतक नहीं था। वह उसके अपने ढंग का भय था। उसकी ऊपरी निर्भयता उसके भीतर के भीषण भय को छिपाने का तरीका था, और कुछ नहीं।

इस एकान्त स्थान में पहुँचकर किसन अपने-आपसे संघर्ष करता रहता। जब थक जाता तो प्राकृतिक सुषमाओं में अपने अन्तर्द्वन्द्व को डुबो देता। आज भी लहरों को चट्टानों से टकराकर उन्हें चूर-चूर करने के उस प्रण पर वह गम्भीरता से सोचते रहने के बाद अपने से

प्रश्न कर बैठा—इस तरह अपनी सतही निर्भयता का प्रदर्शन करके क्या मैं भी लहरों की तरह सीले आक्रोश को ही व्यक्त तो नहीं कर रहा? क्या मेरा यह साहस भी इसी तरह फेनिल नहीं? अगर यही साहस है तो फिर......... ?

वह उस व्यक्ति के बारे में सोचने लगा जो सचमुच ही साहसी था। जो कल रात को ही उसे यहाँ मिला था जिसे देखते ही उसकी सारी निर्भयता काफ़ूर हो गयी थी। वह डर गया था। भीतर-ही-भीतर काँप गया था।

इस समय उसे उसी व्यक्ति की प्रतीक्षा थी। उसी साहसी व्यक्ति की। उस ढलती उम्र में भी उस आदमी के भीतर के साहस की कल्पना मात्र से किसन प्रभावित था। वह सचमुच ही हिम्मतवाला था। निर्भीकता थी उसमें तभी तो......... ।

सूरज ढलने के बाद उसके पहुँचने की बात हुई थी। क्षितिज की लालिमा भी धीरे-धीरे मिट रही थी। थके-माँदे दिन को विदाई देकर शाम रात की अगवानी करती सूरज की दिशा को बढ़ती जा रही थी। कल किसन उससे बहुत अधिक बातें नहीं कर सका था। अगर वह ठीक समय पर पहुँच जाता तो काफ़ी बातें हो सकती थीं। किसन उसके लिए फतुही ले आया था। कुल मिला कर किसन के पास दो ही कमीजें थीं। एक उसके शरीर पर थी, दूसरी को वह घर से उठा लाया था। कल रात उसे यह ख़्याल ज़रूर आया था कि अगर वह एक फतुही उस व्यक्ति को दे बैठता है तो फिर एक ही से वह कैसे पार पायेगा? एक क्षण चिन्तित होकर दूसरे ही क्षण उसने अपने-आपसे कहा था कि आगे की बात आगे देखी जायेगी।

अँधियारे को बढ़ते पाकर उसे इस बात की चिन्ता हो चली कि कहीं वह नहीं पहुँचा तो! उसने इस चिन्ता को अपने भीतर घर करने नहीं दिया। उसे झकझोर कर वह अगल-बगल को देखता रहा। एक बार फिर से ज़ोर की सीटी बजायी। उधर का कलरव धीरे-धीरे कम होने लगा था। नदी की कलकल की आवाज़ बढ़ आयी थी। अँधेरा अभी उस गहनता को नहीं पहुँचा था कि सामने की चीज़ दिखायी न पड़े। किसन ने अपने-आपसे पूछा—और अगर वह नहीं आया तो? पर क्यों नहीं आयेगा? कई कारण हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि वह गिरफ़्तार कर लिया गया हो?

पर नहीं। किसन इतनी आसानी से यह मानने को तैयार नहीं था। उस आदमी के आने का विश्वास उसे अब भी था। शायद अपने छिपे हुए स्थान से बाहर आने के लिए वह कुछ और अँधेरा चाह रहा हो। हालाँकि क़ैदख़ाने की पतलून को बदलकर उसने अधफटी पुरानी धोती पहन रखी थी, फिर भी क़ैदख़ाने की कमीज़ तो उसी पर थी। किसन इस तरह सोच ही रहा था कि झाड़ियों के बीच खड़खड़ाहट हुई। उसने उधर देखा। दूसरे ही क्षण आकृति दिखायी पड़ी और धुँधलके में भी किसन ने कुन्दन को पहचान लिया। सामने आते ही कुन्दन ने पूछा, "क्यों बेटे, तुम अकेले हो न?"

"मैंने कहा था न अकेले ही आऊँगा?"

"गाँव में तुमने किसी से मेरी चर्चा तो नहीं की है न?"

"न करने का मैंने आपको वचन किया था।"

कुन्दन ठीक किसन के पास चट्टान पर बैठ गया।

"दिन-भर आप भूखे रहे क्या?"

"नहीं......... कुछ पपीते मिल गये थे।"

"मैं आपके लिए फतुही ले आया हूँ। आप इसे तुरन्त पहन लीजिए.........कुछ छोटी होगी पर......... । कोई बात नहीं।"

कुन्दन ने जल्दी से अपने ऊपर से क़ैद की कमीज उतारी। आत्म-शान्ति की गहरी साँस ली। अपने शरीर को बिल्कुल स्वच्छन्द और बोझ से निवृत्त पाया। वर्षों बाद की स्वतन्त्र मुस्कान के साथ किसन की ओर देखा। उसके हाथ से फतुही ली और उसे पहन लिया।

वह, वह क्षण था, जब आदमी के भीतर दर्द पहुँचानेवाले कीड़े कुतरना भूल जाते हैं और चोट, चोट-सी नहीं लगती।

(आठ)

कुन्दन की चोट ताजा थी। पहले दिन अपने को खेतों के बीच पाकर उसे जो खुशी हुई थी, वह अधिक देर तक टिक नहीं सकी थी। ईख के पैने पत्तों से उसके पैर का घाव छिल गया था। धोती के अँगोछे से वह उस पर के खून को पोंछ ही रहा था कि पीछे से आवाज़ आयी थी। उस समय उसने उस आवाज़ को विभीषण की आवाज़ मानकर उस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया था। दूसरी बार जब आवाज़ के साथ उसने माँ की गाली सुनी तो झुके न रहकर उसने कमर सीधी की थी। पर इससे पहले कि वह सरदार से गाली की वजह पूछ पाता, उसके कन्धे पर ईख का जोरदार प्रहार हो चुका था। वह उसके लिए बिल्कुल तैयार नहीं था। इससे पहले कि होश सँभालकर वह स्थिति को समझ पाता, वह मोटी-सी ईख उसकी पीठ पर टूट गयी थी।

काफ़ी देर बाद होश आने पर कुन्दन ने अपने को ईखों के ढेर पर पाया था। मज़दूरों की धुँधली आकृतियाँ दूरी पर थीं। वह अकेला था। अपने पाँव की चोट से एक असह्य जलन का उसे अनुभव हुआ था। पीड़ा उसकी हड्डियों तक प्रवेश कर गयी थी। उसकी आँखों से पहले उसका हाथ दर्द पर पहुँचा था। कुछ रूखड़े-से दाने थे उस घाव पर। उसने अपनी आँखें उधर की थीं। उस भारी दर्द से उसकी आँखें पूरी खुल न सकी थीं। अपने पाँव को हिलाना तक उससे नहीं हुआ था। उस रात क़ैद से भागते हुए जब चोट आयी थी, उस समय भी दर्द इतना अधिक नहीं था।

कुन्दन भीतर-ही-भीतर कराहता रह गया था।

उसे दोबारा बेहोशी आकर टूट भी गयी थी। उसके कन्धों पर ईखों की छाप लाल थी। पूरी पीठ में हल्की पीड़ा थी। पर घाव की पीड़ा के कारण कन्धों और पीठ की पीड़ा, पीड़ा-सी नहीं लग रही थी। अपने पाँव के घाव के आसपास के भाग को कुन्दन अपने दोनों हाथों से दबाये रह गया था। क़ैद के अपने लम्बे जीवन में उसने शायद ही इतना दर्द जाना हो।

उस समय शाम का धुँधलापन छाने लगा था, जब किसन को उसने अपने पास पाया था। किसन ने उसे अपने कन्धे का सहारा देकर खड़ा किया था। गाँव को जाती हुई पगडण्डी पर अपने कानों से उसने अपनी ही आवाज़ सुनी थी। पहले तो उसे अपनी वह आवाज़ किसी दूसरे की-सी लगी थी। उसकी अपनी आवाज़ मंगरू की आवाज़-सी थी। उसका अपना कराहना क़ैद के भीतर से मंगरू का वही पुराना कराहना था। बहुत दिन बाद उसे मंगरू की याद आयी थी। उसे दुःख हुआ कि उस घनिष्ठता की याद उसे पीड़ा के सहारे आयी थी। उसने अपने स्वर को दोबारा सुना था।

"किसन!"

"बहुत अधिक दर्द हो रहा है न चाचा?"

उसने सिर हिलाकर हामी भर दी थी।

घर पहुँचकर अपने को रावेनाल की टाटी के सहारे छोड़ते हुए उसने किसन से पूछा था, "यह मेरे घाव पर क्या डाला गया है?"

"यहाँ सभी को अधिक-से-अधिक यातना पहुँचाने के लिए ऐसा किया जाता है चाचा।"

"पर यह चीज है क्या?"

"नमक!"

"घाव में नमक?"

"यहाँ जहर ही दवा होती है।"

दूसरे दिन जब उसी हालात में उसे काम पर जाना पड़ा था तो एक बार फिर उसे ख़्याल आया था कि बेहतर तो चारदीवारी के दिन ही थे। मंगरू की याद फिर ताजी हो गयी थी। अस्पताल में चारदीवारी की याद करते हुए वह कहता था—आसमान का छूटा बबूल पर। उसका यह वाक्य कुन्दन के भीतर अनुध्वनित होता रह गया था। शाम को धधकते बुखार के साथ वह घर लौटा था। किसन की बात उसने मान ली थी। उस रात गौतम के यहाँ न टिककर वह किसन के घर आ गया था। रघुसिंह ने अपने हाथों उसके घावों पर कच्चे अदरक के लेप दिये थे। किसन ने उसके तलुवों पर पीतल का कटोरा रगड़कर उसके बुखार को उतारने का प्रयास किया था।

तभी से कुन्दन गौतम के साथ रहते हुए भी कभी-कभार किसन के घर भी रात बिता देता था। जिस दिन उसकी इच्छा आल्हा सुनने की होती, उस दिन वह जतन के यहाँ डेरा डाल देता। उन रातों में टीस पैदा कर देने वाली बिहार की रातों की यादें होतीं। उस दिन वह किसन ही के यहाँ टिका हुआ था जब रघुसिंह ने किसन को डाँटते हुए उसे सरदारों के विरुद्ध जाते रहने से रोका था।

"तोर इसब हरकतवन से एक दिन हियाँ रहल मुश्किल हो जाये। तू हर दूसरे ख़ातिर लड़ पड़त हो। इराना मरे बिराना फिकिर, बूरबक मरे पराया फिकर।"

कुन्दन को बीच में बोलना पड़ गया था, "रघु भैया, चुप रहकर भी तो यहाँ रहना आसान नहीं होता।"

इस पर रघुसिंह कुन्दन पर भी बरस पड़ा था, "देवनन् भाई, तू कहाँ ई लईक्वन के अच्छा रास्ता पर डलबे उलटे तू ही उलोगन के भड़कावत रहत हो।"

"तुम जिसे अच्छा रास्ता कहते हो रघु भाई, वह बुजदिली का रास्ता है।"

बाद में कुन्दन को लगा था कि रघुसिंह के साथ उसकी बहस का कोई भी मतलब नहीं था। काफ़ी देर तक शान्त भाव से सोचते रहने के बाद उसे यह भी मालूम हो गया था कि इस तरह की बातों के लिए रघुसिंह को दोष नहीं दिया जा सकता। उसे बुजदिल समझकर उसने भूल की थी। वह बुजदिली नहीं थी, एक बेबसी थी। रघुसिंह के दोनों हाथ बस्ती के सभी लोगों की तरह पत्थर के नीचे थे। उन हाथों को उस पत्थर के नीचे से खींचकर निकालने में हाथों को घायल कर जाने की सम्भावना थी। लेकिन कुन्दन को तो ऐसा आभास हो रहा था कि ये लोग अपने हाथों को धीरे-धीरे भी पत्थरों के नीचे से निकालने की बात नहीं सोच रहे थे। हाथों के लहुलुहान हो जाने के भय से उन्होंने बिना हिले-डोले अपने हाथों को पत्थरों के नीचे पड़े रहने को छोड़ दिया था। किसन की आँखों में कई बार उसने इस प्रश्न को चमकते पाया था।

"इन हाथों को अभी और कब तक इसी तरह पत्थर के नीचे रहना है?"

किसन से बातें करके वह उसके भीतर बेशुमार प्रश्न पाता। वह चाहता कि उन तमाम प्रश्नों में से किसी एक का भी उत्तर किसन को देकर वैसा कर जाना उतना आसान नहीं था।

उसका अपना घाव अभी पूरी तरह भरा नहीं था। पिछली मार और गालियों की बौछार उसे अब भी याद थी, पर वह चुप था। कोई दूसरा रास्ता नहीं था। उसने बोलने की कोशिश की थी और उसका नतीजा भी देख लिया था। उसने तो चन्द दिनों को झेला था और चुप हो गया था जबकि और बाक़ी लोग कोई बीस वर्ष से झेलते आ रहे थे। ऐसे तो चारदीवारी के भीतर उसने भी बहुत कुछ झेला था, पर चारदीवारी से बाहर खुले मैदान में उसने उससे बदतर की बाद कभी नहीं सोची थी। चारदीवारी से तो वह भाग सका था। यहाँ से कहाँ भागना था?

कई अवसरों पर कुन्दन को ऐसा प्रतीत हुआ था कि यह बस्ती अपने ढंग की चारदीवारी थी। जिन बाक़ी बस्तियों के बारे में वह सुनता, उसके बारे में भी यही सोचता। बिना दीवारों की इस चारदीवारी में सभी मज़दूर क़ैदी थे। सभी के हाथ पाँव बँधे थे। सभी के होंठ सिले हुए थे। जीभ जकड़ी हुई थी।

दीवारें दीखने पर उन्हें फाँदा जा सकता है। बेड़ियाँ होने पर उन्हें तोड़ा जा सकता है, पर जहाँ ये चीजें बाहर न होकर आदमी के भीतर हों वहाँ उन्हें कैसे फाँदा और तोड़ा जा सकता है? ये प्रश्न किसन के थे। ....और ख़ामोशी होती थी कुन्दन की। एक बोझिल ख़ामोशी जिससे कुन्दन ऊबने लगा था। वह सोचने लगता......... ।

उसके अपने आगे बहुत कम दिन थे। अपना समूचा जीवन उसने चारदीवारी को भेंट कर दिया था। जो बाक़ी था, उसे वह अँगुलियों पर गिन सकता था। यह बाक़ी अवधि अँगड़ाई के साथ समाप्त हो सकती थी। यही एक बात कुन्दन को पसन्द नहीं थी। वह चाहता था कि यह अवधि बिना लम्बी प्रतीत हुए अपने-आप में लम्बी प्रमाणित हो। यहाँ के चन्द दिनों से वह जो लम्बाई महसूसने लगा था, वह बोझिल थी। उसे इस तरह की लम्बाई नहीं चाहिए थी।

कल का दिन भी उसी चारदीवारी के दिनों की लम्बाई लिये हुए था। उस तरह की उमस और ऊब पैदा कर देनेवाली लम्बाई उसे नहीं चाहिए थी। चारदीवारी के लम्बे दिनों मे सबसे लम्बा दिन उसके लिए वह दिन था जब रूपलाल के नंगे शरीर पर कोड़े बरसाने के बाद उस पर मिर्चें रगड़ दी गयी थीं। कल का दिन उस दिन की याद को एकदम ताजा कर गया था। कल साहब के जूतों की मार से जतन के वे चीत्कार मानो रूपलाल के चीत्कार थे। रूपलाल के चीत्कार के समय वह सलाखों के कारण आगे बढ़ने से बेबस था, जबकि कल जतन के चीत्कार के वक़्त वह उसके एकदम पास होकर भी उस तक नहीं पहुँच सका था। फ़ासले की इस लम्बाई से कुन्दन को नफ़रत थी। बहुत लम्बे समय तक उस फ़ासले की लम्बाई को मिटाने का उपाय ढूँढते-ढूँढते वह हार गया था।

बस्ती के मज़दूरों पर जो कुछ बीतता था, उसके सभी लोग आदी थे। उन बातों से किसी के बीच कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं थी। घटनाएँ इस तरह घट जाती थीं, गोया आँगन में बैठे हुए कुत्ते पर अकारण ही कोई कंकड़ चला दे। कुत्ते का काँय करके दुम को टाँगों के बीच छिपा लेना जैसे रोज की साधारण बातें थीं, उसी तरह मज़दूरों का कराहना था। बस्ती में कुन्दन नया था। वह अकेला था जो इन घटनाओं का आदी नहीं था। उसके अकेले के लिए वे बातें भिन्न थीं। कुत्तों के काँय-काँय और आदमी के कराहने को वह अकेला था जो

अलग-अलग देखता था।

जतन के घर पहुँचकर उसने अपने हाथों से उसके कोड़ों से कटे भागों पर मरहम लगाया था। पड़ोस से आये हुए भात को उसने अपने हाथ से खिलाया था। उस समय अपनी गहरी चोट के बावजूद जतन ने तख्ते से 'आल्हा' उतारा था और ऊदल-ब्याह का भाग गाने लगा था। ऊपर से छलनी हुए उस आदमी के स्वर में उस समय भी ओज था। लेकिन इसके साथ ही जिस विडम्बना पर कुन्दन को आश्चर्य हुआ, वह साहस का गान करने वाले उस आदमी की निरीहता थी।

बस्ती के वे घर क्या थे, एक ही दालान और एक ही छत के नीचे कोई चालीस घिरावटें थीं। हर घिरावट को एक घर कहा जाता था। जतन अकेला था, इसलिए उसका घर बाक़ी घरों से छोटा था। पिछवाड़े की सभी दीवारें राफ़िया की थीं और बीच की दीवारें किसी घर में रानेवाल की थीं तो किसी में सन के पुराने बोरों की। कुन्दन की रातें जब इस घर में बीततीं तो न जाने क्यों चारदीवारी का अस्पताल याद आ जाता। दोनों जगहों में कोई सम्बन्ध न होते हुए भी न जाने क्यों उसे यह याद अनायास ही आ जाती थी। बाद में उसने जतन के चेहरे को इसका कारण मान लिया था। चेहरे से जतन मंगरू और यहाँ के सभी बीमार लोगों से भी अधिक बीमार दीखता था।

मंगरू की अपनी पीठ के घाव ताजे थे। लेकिन जतन के घावों को देखकर उसे अपने घाव का ख़्याल जाता रहा था। यह आदत उसे क़ैद से बनी थी।

रात को काफ़ी देत तक जतन से आल्हा सुनते रहने के बाद उसने मन-ही-मन पूछा था—रात में आल्हा गानेवाला यह ओजपूर्ण स्वर दिन होते-होते दब क्यों जाता है? बाँसों और कोड़ों के भय से?

अपने इसी प्रश्न के साथ उसे बस्ती की औरतों और बच्चों की याद आ गयी थी और उसे नींद आ गयी थी। नींद में उसने सपना देखा। एक गधे और एक घोड़े का। गधा काम कर रहा था। घोड़ा सो रहा था। वह सपना जतन की बातों का असर था। जतन ने कहा था, "गधा काम करे, घोड़ा खाय!"

(नौ)

चावल खाने योग्य था ही नहीं। घोड़ा तो घोड़ा होता है, गधा भी शायद उसे सूँघना न चाहे।

इस सप्ताह मज़दूरों को जो चावन मिले थे उनमें खुद्दियों की भरमार थी। शाम के वक़्त ओरियानी की शीतल छाया में बैठी किसन की माँ सूप के चावल को फटक रही थी। धान और खुद्दियों को अलग करने के साथ-साथ वह गोपाल की माँ, रुकमीनवा की बहन और सन्ध्या को पिछली महामारी की घटनाएँ सुना रही थी। घटनाओं के गवाह वे लोग भी थे, परन्तु कोसिला तो खुद मरते-मरते बची थी। उसे अलग की उस छावनी में रखा गया था जहाँ रोज़ दस-बीस लोग मर रहे थे। गाड़ियों में लदी लाशों को श्मशान की ओर ले जाते हुए वह उन काले लबादेवाले आदमियों को अधखुली खिड़की से देखा करती थी। उसे लगता था कि कुछ ही दिनों में उसकी लाश को भी लाशों के ऊपर लांदकर सभी लाशों के साथ एक ही गड्ढे में दफ़ना दिया जायेगा। अगर महामारी के टल जाने पर उसने अपने को जीवित पाया था तो

आश्चर्य के साथ।

रघुसिंह ने उसकी उस वापसी को उसका दूसरा जन्म मानकर दूसरे ही दिन देवी की पूजा की थी। वह पूजा चोरी-चुपके की गयी थी, फिर भी मालिक को उसका पता लग ही गया था। दूसरे दिन रघुसिंह से बीसों प्रश्न किये गये थे। कोसिला उन्हीं पुरानी बातों को सुना रही थी। जब वह बिहार में थी तो उसके घर पर देवी मैया की बहुत बड़ी पूजा होती थी। एक अवसर चूक जाने पर पूरे परिवार पर देवी मैया का प्रकोप छा जाता था। एक तरह से प्रकोप देवी मैया का नहीं होता था। वह सुनुआ गूंगा की छाया थी जो मरी की तरह लोगों को सताने लग जाती थी। उसी से बचने के लिए हर वर्ष देवी मैया की पूजा आवश्यक हो जाती थी। सुनुआ गूंगा के बारे में अधिक जानने के लिए गोपाल की माँ ने जब जिज्ञासा की तो कोसिला ने पूरी कहानी विस्तार से सुना दी।

सुनुआ गूंगा हमारे यहाँ बहुत पुराना नौकर था। उस समय हमारे अच्छे दिन थे। ज़मीन-जायदाद थी। मैं छोटी थी। बात आँखों देखी तो नहीं है, पर हमारे खानदान में सभी लोग उस कहानी से परिचित थे। सुनुआ बहरा और गूंगा भी था, पर बहुत ही मेहनती और आज्ञाकारी था। एक दिन खेत में बोआई हो रही थी। मेरे बाबा ने सुनुआ को खेत से घर भेजा ताकि वह बीज की टोकरी वहाँ से ले आये। मेरे बड़े भाई की नयी-नयी शादी हुई थी। घर पर हम दो-तीन छोटे बच्चों के अलावा एक ही सयाना आदमी था। वह थी बड़े भाई की दुल्हन। गूंगे से जब बीज की भारी टोकरी नहीं उठी तो मेरी भौजी ने आगे आकर टोकरी को उसके सिर पर पहुँचाने में मदद की। ऐसा करते हुए उसकी माँग से थोड़ा-सा सिन्दूर टोकरी पर गिर पड़ा था। खेत पहुँचकर सुनुआ ने जैसे ही सिर से टोकरी नीचे उतारी, मेरे बाप की नज़र सबसे पहले टोकरी पर के सिन्दूर पर पड़ी। उसी क्षण खीस से तमतमाते हुए उसने गूंगे से पूछा, "तुमने घर पर बहू से छेड़छाड़ की है, तभी तो उसके माथे का सिन्दूर इस टोकरी में लगा है। बोल, तुम बोलते क्यों नहीं?"

और जब सुनुआ गूंगे से अपने बचाव के लिए शब्द भी नहीं कहा जा सका तो मेरे बाप ने आपे से बाहर होकर हाथ की कुदाली उसके सर पर दे मारी थी। उसी क्षण सुनुआ गूंगे की मृत्यु हो गयी थी। तभी से हमारे खेत की रौनक तो जाती ही रही, साथ-साथ हमारे परिवार पर उसकी वह भटकती आत्मा सवार हो गयी।

कहानी समाप्त करती हुई कोसिला बोली, "हमके त अभी भी ओकर डर लगेला बहिन।"

सन्ध्या को हँसते पाकर कोसिला गोपाल की माँ से बोली, "देखत हवे बहिन। एकर और किसनवा के लिए त ई सब भरम के बात है। अभी सिर पर ना पड़ल बा। परी तब जनियन स।"

गोपाल की माँ आँखें बन्द करके मन्त्र पढ़ने लगी।

जिस समय पुष्पा अपनी ओढ़नी में पैबन्द लगाती हुई वहाँ पहुँची, गौतम की माँ उस चुड़ैल की कहानी सुना रही थी जिसके कारण उसके सातों बच्चों में से एक का भी स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। किसी को रोहानी नहीं थी। उसके ससुर की जान भी लेकर वह चुड़ैल बच्चों का पीछा नहीं छोड़ रही थी।

पुष्पा हँसती हुई पीढ़े पर बैठ गयी। गौतम की माँ की कहानी समाप्त होने से पहले गोपाल की माँ ने अपनी कहानी शुरू कर दी। उसका आदमी तो बड़े-बड़े भूतप्रेत और चुड़ैलों को मुट्ठी में बाँधे रहता था। घर के कोने में जो देवकूर था वहाँ उसके घुटने के बल हो जाने पर

बस.........बोल भगत, का चाहेला? जलते हुए कपूर को उसने हाथों में लेकर शरीर को झकझोरा और वर्षों से लगा हुआ भूत पाँवों को सिर पर रखे भाग खड़ा होता है।

सन्ध्या और पुष्पा एक साथ हँसती रहीं।

गौतम की माँ कुढ़कर रह गयी। मन-ही-मन बोली—देख छौंड़ी समधिन।

सन्ध्या और पुष्पा बात करती हुई बरगद के नीचे के चबूतरे के पास जा पहुँची। पुष्पा को चिकोटी लेती हुई सन्ध्या बोली, "तू इस तरह बेशरम-सी हमारे यहाँ न आया-जाया करना!"

"क्यों री? मेरा आना-जाना तुम्हारी आँखों में खटकता है क्या?"

"तुम्हें मेरे भाई की दुल्हन बनकर जो आना है।"

पुष्पा का चेहरा लाल हो गया। दोनों के ठीक सामने दो गोरैया ज़मीन से कीड़े-मकोड़े चुगने में लगी हुई थीं।

"अरी हाँ, तुम्हें एक बात बताना भूल गयी।"

"कौन-सी बात?"

"सत्या ने किसन के लिए धोती और सर का रूमाल भेजा था।"

"मुफ़्त में?"

"भेंट में दी थी।"

"क्यों?"

"लो? मैं कैसे जानूँ क्यों?"

"किसन ने क्या किया?"

"तुम्हीं बताओ तो उसने क्या किया होगा?"

"भेंट को स्वीकार कर लिया होगा।"

"नहीं। उसने उसी क्षण चीज़ें लौटा दी थीं।"

पुष्पा की आँखों में चमक आ गयी।

कुछ देर तक वहाँ बैठकर इधर-उधर की बातें करते रहने के बाद दोनों अपने-अपने घर लौटने के लिए खड़ी हुईं। उसी समय सन्ध्या को एक बात याद आ गयी, "आज तो मैं गोदना गोदा के ही रहूँगी।

"अरी तू अभी तक यह बात भूली नहीं। पर मेरी माँ इस समय कामों में न बझी हो तब तो!"

"मैं कुछ नहीं जानती। चाची हर बार इसी बहाने से बात टालती आयी है। आज मैं बिन हाथ गोदाये घर नहीं जाऊँगी।"

पुष्पा के बायें हाथ को अपने हाथों में लेकर वह उसके गोदनाओं को देखती रही। सचमुच पुष्पा के हाथ का गोदना बहुत सुन्दर था। फूलवन्ती ने काफी समय लगाकर अपनी बेटी के हाथ में सबसे भिन्न गोदना की थी। सन्ध्या भी ठीक उसी तरह की गोदना अपने हाथ में चाहती थी। इसीलिए फूलवन्ती हर बार उसे टालती रहती थी। उस तरह की गोदाई आसान नहीं थी।

फूलवन्ती घर लीपने के लिए गोबर सान रही थी जब दोनों उसके सामने पहुँचीं।

"माँ, तुम सन्ध्या का हाथ गोद दो, मैं घर लीपे देती हूँ।"

"आज त बहुत काम बाते बेटी! काल जरूर गोद सकब।"

"नहीं चाची, तुम्हें आज ही गोदना होगा।" सन्ध्या ठुनकती हुई बोली।

"हाँ माँ, आज ही गोद दे।"

दोनों एकसाथ ज़िद करती रहीं और फूलवन्ती को अपनी जगह से उठकर गोबर से सने हाथों को धोना ही पड़ा। पुष्पा उसी क्षण घर लीपने बैठ गयी और फूलवन्ती हाथ में सुई और काली स्याही लिये सन्ध्या के आगे बैठ गयी।

"बोल, कोंची गोदवायेगी? शंखा चुड़ी कि कदमगाँछ?"

"जो पुष्पा के हाथ में है।"

"ओकर हाथ में त शंखा चुड़ी है।"

"तो फिर वही गोदो।"

"सुई के दरद सहे सकबे न?"

"अरी चाची, तुम गोदोगी भी या यों ही बातें करती रहोगी?"

"अच्छा ला हाथ।"

"कौन-सा?"

"बाँया।"

अपने हाथ को आगे बढ़ाते हुए सन्ध्या ने कहा, "चाची ज़ोर से मत दुखाना।"

"अभिये से तोर जान जाई लगल!"

गोदना का गीत गुनगुनाती हुई फूलवन्ती अपने काम में लग गयी। उन चुभती सुइयों को सन्ध्या चुपचाप सहती रही। दर्द बहुत अधिक होने पर वह अपने निचले होंठ को दाँतों से दबा लेती और फूलवन्ती हँसती हुई उसके हाथ को फूँकने लग जाती। इधर अगर फूलवन्ती किसी का भी हाथ नहीं गोदती थी तो उसका एक दूसरा कारण यह भी था कि ऐसा करते हुए उसे अपने घरवाले की याद बहुत अधिक आने लगती थी। उसके अपने हाथ में जो कदमगाँछ था, उसे उसके घरवाले ही ने गोदा था। उस गोदने के नीचे उसने अपने नाम का पहला अक्षर भी लिख दिया। उसी से फूलवन्ती ने गोदाई सीखी थी। उसकी अनुपस्थिति में यह काम करते हुए उसके भीतर कसक पैदा होती थी।

घर लीपती हुई पुष्पा अपनी माँ की ओर मुड़ पड़ी, बोली, "माँ, तुमने सुना?"

"कोंची?"

"कुएँ पर आज जो चर्चा हुई थी।"

"घर बैठल हम कुँआ के बात कैसे सुनब पुष्पी?"

"तुमने सुना सन्ध्या?"

"नहीं।"

"पड़ोस की बस्ती में एक गर्भवती औरत को गोली मार दी गयी।"

फूलवन्ती ने गोदना रोककर पुष्पा की ओर देखा।

"उसके पति से कोल्हू चलवाने के बाद उसे पेड़ से लटका दिया गया था। उसकी औरत ने गोरे के मुँह पर थूक दिया था और इसीलिए गोरे ने उस पर गोली चला दी।"

"यह कब की बात है पुष्पी?"

"परसों की तो बात है।"

एक लम्बी साँस के साथ फूलवन्ती ने फिर से गोदना शुरू कर दिया।

ऊपर का आकाश बादल रहित था।

(दस)

आकाश के चाँद और फिर उसके इर्द-गिर्द के तारों को ध्यान से देखते हुए रघुसिंह ने उन्हीं महत्त्व खोते तारों में से किसी एक तारे की तरह अपने को पाया। देवननन् को कोठी में आये अभी पूरा महीना भी नहीं हुआ था, फिर भी कोठी में उसका वही स्थान हो गया था जो आकाश में चाँद को था। रघुसिंह को लगता कि इस आगन्तुक की उपस्थिति से उसकी अपनी चमक घट गयी थी। इस बस्ती के डेढ़ सौ मज़दूरों के बीच उसकी हैसियत थी, जो महत्त्व था, वह अचानक ही कम हो गया था। उसने मस्तिष्क पर ज़ोर देकर कुछ बीती हुई घटनाओं को याद किया।

.........सात वर्ष से ज्यादा ही हुआ होगा उस पहली कोठी से हटे। इतने लम्बे समय से वह वहाँ के लोगों के बीच था और सामने के गन्ने का कारख़ाना उसकी आँखों के सामने बना था। कोठी उसके देखते-देखते बसी थी। कुएँ दोनों उसने खुदवाये थे। तीन वर्ष लगातार पंचायत का मुखिया होते चला आ रहा था। बड़े ही साहस के साथ देश की पहली शादी का आयोजन उसी ने करवाया था। इस द्वीप में हिन्दू रीति-रिवाज से हुआ सन्तु और सोमा का विवाह पहला विवाह माना जाता है। कुलियों को विवाह करने का अधिकार ही कहाँ था। खुद रघुसिंह ने तो कतार में घूँघट में खड़ी कोसिला के पाँव की केवल पातली देखकर उसे पत्नी मान लिया था। रघुसिंह ने इस बस्ती में और भी कई छोटे-बड़े काम किये थे जिनके कारण गाँव के उमर वाले भी उसे उतने ही आदर के साथ देखते थे, लेकिन इधर कुछ दिनों से उसे लोगों के बीच अपना महत्त्व घटता-सा दीखने लगा था।

शुरू में जब यह कोठी बसी थी, उस समय कठिनाई से पचास आदमी रहे होंगे। घरों की एक ही कतार थी। सामने की दूसरी कतार तो उस वक़्त बनी थी जब दूर की किसी कोठी से भागकर एक ही सप्ताह के भीतर कोई सौ मज़दूर इधर आ गये थे। कुछ ने अपने भागने का कारण वहाँ के मालिक की चरित्रहीनता बतायी थी। दिन दहाड़े वह औरतों को अपनी बाँहों में कस लेता था। कुछ लोगों को इसी बात के विरुद्ध आवाज़ उठाने के कारण वहाँ से जबरन निकाला गया था। सभी के लिए रघु ने खुद लंगड़वा साहब से बातें की थी। लंगड़वा साहब को नयी कोठी के लिए मज़दूरों की सख्त ज़रूरत थी, इसलिए वह रियायत कर गया था। दो-तीन मज़दूर तो अपने काग़ज़-पत्र वहीं भूल आये थे। रघु के गिड़गिड़ाने पर लंगड़वा साहब ने उन लोगों को भी कोठी में रख लिया था। उसी क्षण से रघु बस्ती का मुखिया समझा जाने लगा था।

बस्ती के दो आदमी देवननन् के फेरे में इस तरह आ गये थे कि वही उनके लिए सभी कुछ था। रघुसिंह को अपना बेटा तो था ही, परसदवा का बेटा भी अब उसका पिछलगवा बन गया था। इस अहीर के छोकरे गोपाल को तो रघुसिंह ने क़ैद होने से बचाया था।

यही नहीं, उस देवननन् के साथ पूनम की रात होने के कारण गोपाल घरों की दोनों कतारों के बीच चबूतरे पर बैठा चिल्लाये जा रहा था।

उसका कभी न ख़त्म होने वाला वह बिरहा रघु के कानों को चुभने लगा था। वहाँ के कोलाहल के कारण उसे नींद भी नहीं आ रही थी। उस कोलाहल में उसे किसन का स्वर भी सुनायी पड़ जाता था जिससे उसकी खीज और बढ़ जाती। अपन बगल की दूसरी चटाई पर लेटी हुई कोसिला से उसने पूछा, "इतना देरी ले उ किसुनवा हुआँ करत का बा ?"

"जहाँ पूरा बस्ती गावत-बजावत बा हुआँ तोहरे किसुनवा का क्या फिकर होवे लगल।"

"जोन बाँस बाँसुरी तोने बाँस सूप दौरी।"

कुन्दन ने केवल अपना नाम ही नहीं बदला था। देवननन् होने के साथ-साथ अपना चेहरा भी बदल लिया था। घनी मूँछ-दाढ़ी में उसका चेहरा और भी गम्भीर हो गया था। कोठी के मालिक के सामने पहुँचकर जब उसने नौकरी की माँग की थी तो मालिक ने बड़ी-बड़ी आँखों से उसे घूरते हुए कहा था कि वह पहले अपनी दाढ़ी बना आये। किसन, जो बगल में खड़ा था, झट शुद्ध फ्रेंच में कह गया था, "साहब! देवननन् पंजाबी है और पंजाबी के लिए दाढ़ी रख छोड़ना धर्म है।"

आसानी से बात न मानने वाला लंगड़वा साहब ने किसन की बातों में आकर कुन्दन का नाम मज़दूरों की सूची में लिख लिया था। वह काग़ज़-पत्तर की बात करता कि इससे पहले ही किसन ने उसे बता दिया कि पिछली कोठी से निकाले जाने के कारण देवननन् की सभी चीज़ें ज़ब्त कर ली गयी थीं।

मुद्दत बाद की अपनी स्वतन्त्रता को कुन्दन ने जी-भरकर भोगा। कोड़े की मार, गालियों की हर बौछार को वह दूसरे ही दिन भूल जाता। उसे अपनी उस सहजता पर स्वयं आश्चर्य था। एक तरह से पूरी बस्ती उसके साथ सहज सजीवता पा गयी थी। रात हल्की ठण्ड लिये हुए थी। चबूतरे के बीच की आग के प्रकाश में सभी के चेहरों पर की उमंगें साफ़ चमकती दीख रही थीं। कुन्दन को गाना तो बिल्कुल नहीं आता था, फिर भी गोपाल के राग से प्रभावित होकर वह भी स्वर में स्वर मिला आता था।

पहली बार जब काफी रात तक लोगों का गाना-बजाना होता रहा था तो लंगड़वा साहब ने आदमियों को भेजकर उसे रोकने का आदेश दिया था। सुबह किसन कुन्दन और गोपाल को साथ लिये कोठी पर पहुँचा था। बड़ी कठिनाई से वह लंगड़वा साहब तक पहुँच पाया था, पर उसकी दरख़ास्त को साहब ने मानने से इन्कार कर दिया था। बाद में तीनों के बीच यह तय हुआ था कि आगे जो होगा देखा जायेगा। अभी कल ही किसन को साहब के सामने प्रस्तुत किया था। धमकियों के बावजूद आज भी आधी रात तक महफ़िल जमी रही। किसन को विश्वास था कि इस बार वह साहब के सामने जो दलील रख आया था वह खाली नहीं जा सकती। लंगड़वा साहब का असली नाम रेमों साहब था। उसने कहा था, "तुम लोग जंगलियों की तरह शोर मचाते हो।"

ढिठाई के साथ किसन ने कहा था, "नहीं साहब, हम अपनी थकान दूर करते हैं, ताकि दूसरें दिन ताजगी के साथ काम शुरू कर सकें।"

उसकी इस बात से रेमों साहब का क्रोध थोड़ा-बहुत कम हो गया था। इसी को किसन ने अपने ढंग की इजाज़त मान ली थी। आज रात पिछली रातों से भी अधिक देर तक गाना-बजाना होता रहा। गोपाल के स्वर में थकान के कारण एक तरह का कम्पन-सा आ गया था.........ईखवन के कट जाने से हो रे मोरे भैया हो।

पनिया से बचना होवे ला बड़ा ही मुश्किलवा।
चप-चप भीग के उधर टक-टक देखी ला हो।
जहाँ सजनी की ओढ़नी नीचे छीपे ला कोई और......... ।

हर दूसरी पंक्ति के चार शब्दों को सभी लोग मिलकर दोहरा जाते और उसके बाद ही किसन अपने हाथ की ढपली को इस तरह थप-थपा उठता कि बैठे-ही-बैठे लोग झूमने लग

जाते। लोग दिन-भर की कड़ी मेहनत की थकान को सचमुच ही भूल जाते.........कोड़ों और बाँसों की बौछार के दर्द भी अपने-आप कम हो जाते थे। गा-बजा कर तथा खुली हवा को अपनी फ़रियाद सुना कर ये सभी मज़दूर आश्वासन पा जाते। भीतर और बाहर की पीड़ा को कम करने के लिए इससे अच्छा उपाय उनके लिए दूसरा था ही नहीं। वह उल्लास उनके अपने ढंग का रो-तड़पकर अपनी कुण्ठा को मिटाना था। उसे भूल जाना था।

जिस दिन किसन की आँखों के सामने गोपाल की पीठ पर एक ही साथ बाँस, चाबुक और जूतों की बौछार हुई थी उस दिन किसन दाँतों से अपने निचले होंठ को काटकर घटनास्थल पर अपने को रोक पाया था, पर उससे उसके भीतर का रोदन बन्द नहीं हुआ था। उसके जीवन का वही एक दिन था जब नदी किनारे काली चट्टान पर बैठकर वह घण्टों तक जो भी मन में आया था वह गाता रह गया था। अपने हृदय के आँसुओं को सुखा देने का यही एक सहज उपाय कोई उन्हें बता गया था। कभी यह भी होता कि यह महज उन्हें असमर्थता का आभास देकर उन्हें और भी दु:खी कर जाता, पर किसन उसे क्षणिक मानकर आगे के लिए बहुत-कुछ सोचने में लगा रहता।

टोपवाले दूसरे साहब को एक बार खुश-सा पाकर किसन ने डरते-डरते धीरे से पूछा था, "साहब! इस जी-जान की मेहनत का हमें गलत इनाम क्यों दिया जाता है?"

टोपवाले साहब के चेहरे का रंग बदलते देर नहीं लगी थी। उत्तर के बदले में उसने डाँटकर पूछा था, "क्या कहा तूने?"

अपने को सँभालने में किसन ने थोड़ा समय लिया था। उसके पास प्रश्नों की कमी नहीं थी, इसलिए उसने इस बार कुछ धीमे स्वर में पूछा था, "गाड़ियों के बाँस हमारी पीठ पर क्यों तोड़े जाते हैं साहब?"

"तुम सभी को आदमी बनाने के लिए।"

किसन के भीतर एक ही साथ कई प्रश्न पैदा हुए थे, पर साहब की ओर देख कर उससे प्रश्न करने की हिम्मत जाती रही थी। साहब ने अपने कुत्ते की जंजीर किसन के हाथ में थमाते हुए आदेश दिया था, "इसे नदी में नहला लाओ।"

नदी के उस विशेष ठौर पर जहाँ साहब के कुत्ते को नहलाया जाता था, वहाँ आज भी किसी आदमी को नहाने की इजाज़त नहीं मिलती। एक बार खुद किसन को वहाँ नहाते पकड़ा गया था और उसके लिए उसे अपनी नंगी पीठ पर दस कोड़े सहने पड़े थे। सज़ा उस सात कोड़े की हुई थी, पर चूँकि उसने प्रश्न करना चाहा था, इसलिए तीन कोड़े और भुगतने पड़े थे। उसी दिन उसने नया गीत बनाया था। गीत इतना अच्छा बना गया था कि तीन ही चार दिन में बस्ती के कई लोग उसे गुनगुनाने लगे थे।

बाद में उस गीत के लिए भी उसे चन्द कोड़े और खाने पड़े थे। बीच खेत में दो साहबों के पीछे से सरदार ने सभी मज़दूरों को चेतावनी दी थी कि आइन्दा किसी ने उस गीत को गाने की कोशिश की तो उसे नौकरी और बस्ती से निकाल दिया जायेगा। फिर तो कभी-कभार घर के भीतर एकदम ही धीमे स्वर में उस गीत को गा लिया जाता।

आज की महफ़िल में जब सभी कुछ भूलकर लोग झूमने लगे थे तो किसन भी सभी कुछ भूलकर उस गीत को शुरू कर गया.........ओ रे रे मूसे लंगड़वा के राज में।

कुतवन के बड़ा भाग बा

दुम हिलावल से ओकर त बनल बात बा
मूसे रेमों के राज में
गोर चाटे के मोल बा
आदमी बा कुत्ता। कुत्ता सरदार बा
ओ रे........रे मूसे।

किसन की आवाज पुष्पा को आज बहुत अधिक अच्छी लगी।

(ग्यारह)

पुष्पा ने किसन को जिस घटना की याद दिलायी, वह महामारी के छः महीने बाद की थी। एक संकट के मारे वे लोग अभी अच्छी तरह सँभल भी नहीं पाये थे कि वह तूफ़ान आ गया था। उस घड़ी को याद करते ही सभी कुछ एक बार फिर से आँखों के सामने गुज़रने-सा लगता था। सभी कुछ आकाश के लाल होने से शुरू हुआ था। फिर अकुलाहट-भरी उमस फैली थी। हवा साँय-साँय करने लगी थी। रात होते-होते वर्षा मूसलाधार हो गयी थी। बादल गरजने लगे थे। डरावनी बिजलियाँ चमकने लगी थीं और देखते-ही-देखते हवा की रफ़्तार एकदम बढ़ गयी थी। बस्ती के घरों की सभी खिड़कियाँ, सभी दरवाज़े बन्द कर लिये गये थे। घरों के भीतर सहमे हुए लोग 'हनुमानचालीसा' का पाठ करने लग गये थे।

इस तरह की भय-भरी स्थिति का यह एक ही वर्ष के भीतर तीसरा अवसर था। पहला अवसर महामारी के तीन महीने पहले था। जब पश्चिमी आकाश में धूमकेतु देखकर पूरी बस्ती में यह डरावना स्वर फैल गया था कि आकाश में तारे के साथ झाड़ू उगना आगे के दिनों के बहुत बड़े संकट का संकेत होता है। वह झाड़ू सात दिनों तक आकाश पर छायी रही। उससे लोगों का भय बढ़ता ही गया था। उस अवसर पर भी सभी दरवाज़े-खिड़कियाँ सवेरे ही बन्द हो जाती थीं।

पुष्पा ने तूफ़ान की याद दिलायी थी। तूफ़ान के उस भयावह अवसर पर ही उसकी और किसन की घनिष्ठता बढ़ी थी। पेड़ों के साथ-साथ घर की दीवारें तक हिलने लगी थीं। छप्पर टुकड़े-टुकड़े होकर उड़े जा रहे थे। उसी डरावनी रात में किसन ने पुष्पा को मौत के मुँह से बचा लिया था। अपना घर बिना छत का हो जाने के कारण पुष्पा अपनी माँ के साथ उस मूसलाधार वर्षा और प्रलयंकारी हवा वाली रात में दूसरे आश्रय की ओर बढ़ रही थी। जब बरगद के पेड़ की एक मोटी-सी डाली उस पर गिरने ही वाली थी कि न जाने किस संयोग से बिजली के क्षणिक प्रकाश में किसन ने उस चरमराती डाली को देख लिया था। वह भी बिजली ही की तरह पुष्पा तक पहुँच गया था और उसे धक्का देकर उसके साथ खुद कुछ दूरी पर जा गिरा था जहाँ सिर्फ़ डाली के पत्ते दोनों को छू सके थे।

तूफ़ान भयंकर होता गया था। दोनों ने रात जतन की छत के नीचे बितायी थी। उसी घटना की याद पुष्पा आज किसन को दिला गयी। उस समय किसन आज से अधिक डरपोक था। आकाश में उगे झाड़ू से वह दहल गया था। आशंकाओं से जकड़ा हुआ वह घर से बाहर नहीं होना चाहता था। तूफ़ान का भी उसे उतना ही डर था, लेकिन न जाने वह कौन सी दैवी शक्ति थी जिसके कारण पुष्पा के सामने वह सबसे साहसी प्रमाणित हुआ था।

तूफ़ान की समाप्ति पर जब वातावरण शान्त और सुहावना था तो पुष्पा के घर की छत को

ठीक करने के लिए किसन ही पहला आदमी वहाँ पहुँचा था। इस तरह की कुछ और बातें थीं जिनके कारण पुष्पा किसन का हर समय आभार मानती रहती थी और किसन को इन बातों से चिढ़ थी।

तूफ़ान के तीन दिन बाद किसन नदी किनारे बैठा नया गीत तैयार करने में लगा हुआ था, जब सूखे कपड़ों की गठरी लिये पुष्पा उसके पास आ गयी थी। गठरी में पूरी बस्ती के कपड़े थे जिन्हें पुष्पा और सन्ध्या ने मिलकर धोये थे, पर उन्हें बटोरने पुष्पा अकेली आयी थी। वह शाम पहले ही से सुहानी थी। तूफ़ान के कारण सभी पेड़ निपाती थे जिससे दूर के पहाड़ किरणों की आख़िरी छाप लिये दिखायी पड़ रहे थे। पश्चिम की ओर काफ़ी दूरी के क्षितिज पर गहरा नीलापन था। किसन जानता था कि वह समुद्र है। कई बार समुद्र देखने की भारी इच्छा उसे हुई थी, पर उधर जाना उतना आसान नहीं था। पुष्पा उसके एकदम पास ही बैठ गयी थी।

निपाती पेड़ों से आते हुए पक्षियों के कलरव में एक टीस थी। उन पक्षियों के स्वर में घोंसले के टूट जाने और बन्धु-बान्धवों से बिछुड़ जाने की पीड़ा थी। बस्ती में अब भी कुछ घरों के छप्पर उजड़े हुए थे। तूफ़ान में दो आदमियों की मृत्यु भी हो गयी थी, लेकिन पुष्पा को सामने पाकर किसन उन सभी बातों को भूल गया था। पक्षियों की दर्द-भरी आवाज़ भी उससे अनसुनी रह गयी थी।

नदी किनारे की उस बात का पता न जाने रामजी सरदार की बेटी को कैसे लग गया था। दूसरे दिन उसने किसन से मुँह फुला लिया था। उन सवालों से किसन को हैरानी हुई थी। उसने जो भी उत्तर दिये, सभी सही नहीं थे। बाद में उसे झूठ के लिए दु:ख भी हुआ था। सत्या सरदार की बेटी थी, इसीलिए क्या वह उससे भी डरता था?

किसन को उन यादगारों में खोये पाकर पुष्पा ने उसके कन्धे को झकझोरते हुए कहा, "इतने सवेरे सोने लगे क्या?"

सचमुच ही नींद से जागते हुए किसन ने उसकी ओर देखा और दोनों ठहाके के साथ हँस पड़े। पुष्पा के दोनों पाँव हर क्षण पानी में नयी तरंगें पैदा कर रहे थे, जबकि उसके दोनों हाथ कुश के हरे पत्तों से चिड़िया बनाने में लगे हुए थे। सूरज की अन्तिम किरणें अब भी पेड़-पत्तों के आलिंगन में थीं।

किसन के मन में जो नया गीत आया था, उसे उसने पुष्पा को सुनाया। गीत की पहली पंक्ति थी—'उजड़े खोंतवा से चिड़िया उड़ी गयले दूसरे बसेरा को'। पुष्पा को वह गाना बहुत पसन्द आया। अपने घर के काम-काज के समय वह किसन के गानों को गुनगुनाती रहती थी। किसन का गाना पुष्पा का सबसे अच्छा साथी होता था। उससे कभी भी उसे अकेलेपन का आभास नहीं होता था। किसन अपनी जगह से उठा और उसने अपने हाथ को पुष्पा की ओर बढ़ा दिया।

उसके हाथ को पकड़कर पुष्पा भी अपनी जगह से उठ खड़ी हुई। बस्ती से विपरीत दिशा की उस ओर दोनों बढ़ गये जिस ओर उन लोगों का जाना बहुत कम होता था। दो खरगोश दोनों के सामने से निकलकर भाग गये। किसन को गौतम की याद आ गयी। अगर वह होता तो दोनों खरगोशों के पीछे हाथ धोकर पीछे पड़ जाता।

पगडण्डी के एक ओर पेड़ों का झुरमुट था, दूसरी ओर कटे हुए ईख के खेत थे ईख के

सूखे पत्तों से ढँके हुए। एक-दूसरे का हाथ थामे दोनों सुनसान पगडण्डी पर चलते रहे। दोनों के पास बातें नहीं थीं। दोनों के बीच हमेशा ऐसा ही होता आया है। एक-दूसरे से दूर उनके पास बहुत-सारी बातें होती हैं, पर आमने-सामने होते ही बातें कपूर की तरह उड़ जाती हैं।

एक लम्बी चुप्पी के बाद पुष्पा को कुछ-न-कुछ बोलने के लिए एक विषय मिल ही गया। अपनी चाल को कुछ और धीमा करती हुई वह बोल उठी, "कल माँ फिर भारत की बातें सुना रही थी।"

"क्या फ़ायदा है?"

"मन को शान्ति मिल जाती होगी।"

"दु:ख को और अधिक बढ़ाना हुआ।"

"एक बात मेरी समझ में नहीं आती।"

"कौन-सी?"

पुष्पा तुरन्त नहीं बोली। कटे हुए खेतों के पार हो जाने पर उसने कहा, "माँ कहती है कि वहाँ के मन्दिर इतने ऊँचे हैं कि सिर उठाकर क्लश देखने वाले आदमी के सिर से पगड़ी नीचे गिर जाती है।"

"गिर जाती होगी।"

"तो फिर जिस देश में इतने बड़े-बड़े मन्दिर हैं वहाँ गरीबी कैसे हो सकती है? ऐसे देश को छोड़ने की नौबत क्यों आयी?"

"वहाँ हमारे अपने लोगों का राज थोड़े ही है!"

"यहाँ भी वही हाल। क्या हमारे लोग इसीलिए पैदा हुए हैं।"

"छोड़ो इन बातों को।"

"माँ कहती थी कि मेरे नाना के यहाँ दूध देनेवाली सात गायें थीं।"

कुछ देर चुप रहकर पुष्पा ही ने आगे कहा, "मेरे यहाँ भी एक गाय होती तो......... ।"

उसकी बात बीच ही में काटते हुए किसन बोला, "न पैसा न कौड़ी बाज़ार चले छौंड़ी।"

"हाँ किसन, काश! हमारे यहाँ भी एक गाय होती! मैं उसके लिए घास लाया करती और ...."

"तुम केवल सपना ही क्यों देखती रहती हो?"

एक सुखी सरसराती हवा आयी और पुष्पा के कन्धे से उसकी ओढ़नी उड़ा ले गयी। दोनों अपने हाथों को बिना छुड़ाये हँसते हुए उसके पीछे दौड़ गये। हवा ने सहमकर ओढ़नी को छोड़ दिया। उसे उठाते हुए किसन ने कहा, "हवा को जब ओढ़नी उड़ानी ही थी तो कुछ दूर तक उड़ाये ले जाती।"

उसके हाथ से ओढ़नी लेकर पुष्पा ने उसे अपने गले में लपेट लिया। गाय का उसका सपना अभी ख़त्म नहीं हुआ था। कुछ अधिक गम्भीर होकर वह बोली, "सच मानो किसन, अपनी बस्ती में कहीं से एक गाय आ जाती तो......... ।"

"तो तुम्हें भी दूध का स्वाद आ जाता।"

किसन से हाथ छुड़ाकर पुष्पा खड़ी हो गयी, "तुम तो हर बात को मज़ाक में लेते हो।"

"तुम पगली हो पुष्पा!"

"क्यों, हमारे भाग्य में कभी गाय नहीं हो सकती क्या? सुना है, पड़ोस की किसी बस्ती

में चार-चार गायें हैं।"

"अपने घरों में तो जूठा-कूँठा खाने के लिए चूहा भी नहीं है। जहाँ चूहों को बिना खाये मर जाना होता है, वहाँ तुम गाय की बात कर रही हो।"

"तो फिर यह स्थिति कब तक रहेगी ?"

"लो ! अब तुमने की मतलब की बात ! पर रोना तो इसी बात का है पुष्पी कि हम लोग इस स्थिति के आदी होते जा रहे हैं। उसके लिए हमारे भीतर मोह पैदा होने लगा है। इस बेबसी के सामने उसे बदलने का तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता।"

इसके बाद दोनों के बीच बातें नहीं हुईं।

वातावरण साँवला होता गया। काफ़ी दूर निकल जाने के बाद दोनों फिर से बस्ती की ओर लौट पड़े। कुश के पत्तों की बनी चिड़िया को पुष्पा ने किसन के हाथ में रख दिया। बस्ती के द्वार पर पहुँचने से पहले पुष्पा ने किसन से पूछा, "किसू ! यहाँ तुम्हारा सबसे अच्छा मित्र कौन है ?"

"बस तुम हो।"

"मैं !"

"हाँ, तुम।"

"मैं तुम्हारी मित्र हूँ ?"

"हाँ। वह भी सबसे अच्छी।"

"बस, केवल तुम्हारी मित्र हूँ ?"

"कहा न सबसे अच्छी।"

फाटक से प्रवेश करके दोनों को दो तरफ़ जाना पड़ा।

बगल के जतन के घर से दबे स्वर में कुछ बच्चे रामागती पढ़ने में लगे हुए थे। अब धूप नहीं थी, फिर भी धूप में सूखने के लिए जो कपड़े रस्सी पर टँगे हुए थे, अब भी झूल रहे थे।

('लाल पसीना' उपन्यास के प्रथम भाग के आरम्भिक ग्यारह परिच्छेद)



कहानी

(एक)
माथे का टीका

वे तीनों चलते रहे। पेड़ों के झुरमुट के कारण घटाटोप रात की काली परछाईं और भी गहन थी। अपने पैरों की चाप के साथ-साथ वे रात की काली और डरावनी आवाज़ें भी सुनते जा रहे थे। तीनों की आँखें थीं पर इस समय वे छह आँखें बेकार-सी थीं। वे रात की आँखों से अनुमान का सहारा लिये बढ़े जा रहे थे। रात की काली परछाईं कहाँ से शुरू होकर कहाँ समाप्त हुई थी, इसका ख़्याल किसी को नहीं था। तीनों जानते थे कि सुमिया का घर अब अधिक दूर नहीं था।

घाटी के चारों ओर एक ही रंग था। दिन के वे विभिन्न रंग इस समय काले थे। टीलों के मटियाले रंग, पत्तों का हरापन और फूलों का रंग-बिरंग सभी एक रंग के नीचे दब गये थे। सुदान की हालत भी तो लगभग वैसी ही थी। उसके जीवन के सब रंगों को भी एक ख़ास रंग ने ढाँप लिया था। अगर ऐसा नहीं होता तो आज वह मनहर और मनीन के साथ न होता।

दिन के सभी जीव गहरी नींद सो रहे थे। जो अब भी जाग रहे थे वे रात के जीव थे। रात की भारी निस्तब्धता को तोड़ती हुई उनकी धीमी आवाज़ रह-रह कर सुनायी पड़ जाती थी। सुदान भी अपने में यही अनुभव करता। उसे लगता, जैसे उसके भीतर की सभी स्वच्छ बातें सो गयी थीं और आज जो भाव उसमें जाग रहे थे वे इसी अँधेरी रात की तरह अस्पष्ट और भयंकर थे। उसे झरने की कलकल आवाज़ सुनायी पड़ी और उसके साथ ही अपने भीतर से भी उसने इसी तरह की कोई आवाज़ सुनी। जलप्रपात की शीतल आवाज़ में एक आशा थी। वह भी इस बात की उम्मीद से चल रहा था कि आज रात के इस संघर्ष के बाद कल की सुबह सुहावनी होगी। उसकी अपनी खाली जेब में कुछ-न-कुछ अवश्य होगा।

झरने को पार करके वह ठिठक गया। वह निर्झर आवाज़ गायब थी। उसका शरीर पीछे को था और सिर आगे को। उसके दोनों मित्र आगे निकल चुके थे। उन्हें जब अहसास हुआ कि सुदान पीछे ठिठक गया है तो वे भी खड़े हो गये। काली रात के सन्नाटे को तोड़ते हुए मनीन ने कहा :

"तुम ठिठक क्यों गये ?"

"डर लगने लगा ?" मनीन के तुरन्त बाद मनहर ने पूछा।

"अगर सुमिया अब भी जाग रही हो तो ?"

"इतनी रात गये वह जाग कर क्या कर रही होगी ?"

"तुम्हीं तो कहते हो कि आधी-आधी रात तक उसके यहाँ लोग आते-जाते रहते हैं।"

तीनों फिर चलने लगे थे। मकई के खेतों से होते हुए वे दूसरे मोड़ पर आ गये थे जहाँ से पीछे की बस्ती के झिलमिलाते चिराग ओझल हो गये थे और ठीक सामने सुमिया के घर की रोशनी दिखायी पड़ने लगी थी। गाँव का वह पहला घर था और एकमात्र उससे रोशनी आ रही थी। बाक़ी सभी घर अँधेरे की अथाह गहराई में डूबे हुए थे। प्रकाश देखकर तीनों मित्र एक ही साथ ठिठक गये।

"वह जाग रही है।"

"गाँव के किस शरीफ़ की बाँहों में वह इस वक़्त होगी ?"

"मनीन! सचमुच तुम भी उसके साथ सो चुके हो ?"

"कोई एक बार थोड़े ही ?" गर्व-भरे स्वर में मनीन ने उत्तर दिया।

"एक बात की हैरानी है मुझे ।" मनहर बोला।

"कैसी हैरानी ?"

"सुमिया का दरवाज़ा खटखटाने से डरने वाला सुदान आज उससे भी बड़ा साहस कैसे कर पाया ?"

"इसे समय-समय की बात कहते हैं।"

दो-तीन क़दम चलने के बाद तीनों जान गये थे कि और दो-तीन क़दमों पर वह छोटी-सी पगडण्डी थी जिससे होकर उन्हें सुमिया के खेत में प्रवेश करना था। पूर्व की ओर दूर तक खुला मैदान होने के कारण सिहरन पैदा कर देने वाली हवा आने लगी थी। सुदान के शरीर की कमीज जगह-जगह पर फटी हुई थी। ठण्ड उसकी हड्डियों से टकरा रही थी। उस ठण्ड से उसके पैर अच्छी तरह जम नहीं पा रहे थे। तभी उसके पैरों के नीचे से एक छछूँदर चेंक-चेंक की आवाज़ के साथ निकल भागी। डर से सुदान के शरीर के सभी रोंगटे खड़े हो गये। वह चीख उठा। दबी हुई आवाज़ में उसे सावधान करते हुए मनीन ने कहा :

"सभी बने-बनाये खेल बिगाड़ दोगे। जानते नहीं रात के सन्नाटे में आवाज़ दूर तक जाती है। कहीं सचमुच वह जाग रही होगी तो मुसीबत खड़ी हो जायेगी।"

तीनों पगडण्डी पर चलने लगे थे। एक तरफ़ सुमिया का घर था और दूसरी ओर टमाटरों से लहलहाता उसका खेत! सुदान जिस बात को बिल्कुल नहीं समझ पा रहा था वह यह थी कि सुमिया गाँव की सबसे चरित्रहीन औरत थी, फिर भी उसका खेत गाँव के सभी खेतों से अधिक हरा-भरा था। गाँव में किसी ने भी उससे कम मेहनत नहीं की होगी, फिर भी भगवान सुमिया पर सबसे अधिक उदार क्यों ?

पड़ोस के खेत में पाला पड़ जाने पर उसने अपनी माँ को कहते सुना था कि धनवा की नीयत कभी अच्छी नहीं होती, यही कारण था कि उसकी इतनी बड़ी हानि हुई थी। सुदान ने मन ही मन कहा, 'आख़िर सुमिया ने कौन-सा ऐसा नेक काम किया है जिससे उसकी ज़मीन सोना उगल रही है।'

सचमुच वह सोना उगलने वाली बात थी। इस समय बाज़ार में टमाटर की कीमत तीन रुपये पाउण्ड थी, अगले सप्ताह चार रुपये हो जाने की सम्भावना थी। एक तरह से वे तीनों मित्र टमाटर चुराने नहीं पहुँचे थे, बल्कि सोने के टुकड़े बटोरने आये थे।

रात अब भी जाग रही थी, हेमन्त की ठण्डी हवा के कारण। ठण्ड से वह काँप रही थी। रह-रह कर उसकी कराहने की दर्दभरी आवाज़ भी सुनायी पड़ जाती थी। सुदान के भीतर भी कम्पन था। सामने की पगडण्डी को टटोलते हुए वह चल रहा था।

जिस स्थान पर तीनों आकर रुके थे वहाँ सुमिया के घर से आने वाली रोशनी झिमिला रही थी। तीनों मित्रों ने एक-दूसरे की धुँधली सूरत देखी। टमाटर का खेत सभी धुँधलाहट के साथ तीनों के सामने था। उसकी हरी गन्ध ने तीनों के भीतर की भावना को और भी हरा कर दिया। मनीन ने दबी हुई आवाज़ में अपने दोनों मित्रों से कहा :

"कहते हैं सुमिया के कान खरगोश के कानों की तरह हैं। ज़रा-सी आहट को भी वह सुन लेती है।"

"तब तो पूरी सावधानी बरतनी चाहिए।"

"हाँ, किसी भी हालत में मुँडेर के पत्थरों से नहीं टकारना, वरना उनके गिरने से ज़ोर की आवाज़ होगी।"

तीनों ने अपने-अपने कन्धे से सन के खाली बोरों को नीचे रखकर उन्हें इस तरह से मरोड़कर छोटा बना लिया, ताकि उनमें टमाटर पहुँचाते समय उन्हें किसी तरह की असुविधा न हो। टमाटर के कोमल खेत में प्रवेश करते हुए मनहर ने धीरे से कहा :

"कम-से-कम कुछ दिनों के लिए यह तो भूल जायेंगे कि इस स्वतन्त्र और धनधान्यपूर्ण देश में हम बेकार हैं।"

"कहीं पकड़े गये तो ?" यह काँपता हुआ स्वर सुदान का था।

"सुनने में आया है कि क़ैद की रोटियाँ आजकल बाहर की रोटियों से कहीं अच्छी होती हैं।"

"बातें बन्द करके काम में लग जाओ!" मनीन के स्वर में आदेश था।

डाली से पहला टमाटर तोड़कर अपने बोरे में पहुँचाते हुए सुदान को अपनी माँ का ख़्याल आ गया। वह रात में कई बार जागा करती है। अगर इस समय जागकर वह उसे नीचे के बिस्तर पर नहीं पायेगी तो उसे यह समझते देर नहीं लगेगी कि उसका सुदान फिर उन दोनों के साथ कहीं-न-कहीं कोई अनर्थ कर रहा होगा। उसकी माँ को नींद नहीं आयेगी। वह लकड़ी की पुरानी चारपाई पर बैठी सुदना की प्रतीक्षा करती रह जायेगी। पहले भी कई बार वह सुदना को मना कर चुकी है कि वह उन दो लड़कों के साथ न रहा करे। सुदान के लिए तो गाँव-भर में ही दो व्यक्ति थे जिन्हें उससे हमदर्दी थी।

टमाटर के पौधों को इधर-से-उधर हटाते हुए तथा उस पंर के फलों को टटोल-टटोल कर तोड़ते हुए सुदान सुमिया के घर की ओर बढ़ा जा रहा था। जीवन-भर वह अँधेरे से डरता आया था लेकिन इस समय वह सामने के मध्यम उजाले से डर रहा था। तीनों में से केवल उसी की कमीज सफ़ेद थी। इस बात पर मनीन ने चिन्ता प्रकट की थी और उससे कहा था कि किसी भी हालत में वह अपने को उजाले में न ले जाये। इस समय उजाले की ओर बढ़ते हुए उसका डर और भी बढ़ गया था, कहीं सचमुच ही सुमिया या किसी और की नज़र उस पर न पड़ जाये। पर तभी उसे ख़्याल आया कि उसे तो सभी लोगों से अधिक डर अपनी माँ से लगता है। इसका यह मतलब नहीं कि उसकी माँ की सूरत डरावनी थी। लेकिन जब भी वह कुछ ऐसी हरकतें कर जाता जिसे करते समय उसके अपने ही भीतर हिचकिचाहट होती उस समय वह अपनी माँ की आँखों में जो भाव देखता वह कदापि प्यार नहीं होता, कुछ और ही होता। उस समय उसकी माँ की आँखों से चिंगारियाँ निकलती-सी दिखायी पड़तीं और सुदान को ऐसा लगता कि वह उन चिंगारियों से जल जायेगा। माँ के मुँह से वह शब्द भी नहीं निकलता और वह उसके सामने आँखें झुकाये मौन क्षमा-याचना करने लग जाता।

उसकी माँ उसे जो सबसे बड़ी सज़ा देती वह यह होती कि उसी क्षण वह उसे ले कर मन्दिर पहुँचती और पण्डितजी के हाथों में सवा रुपया थमाकर उनसे कहती :

"पुजारीजी, आज इसने फिर वही किया जिसके लिए आपके सामने कई बार कान पकड़ चुका है।"

इस पर पण्डितजी ऊपर से कुछ नाराज़गी का भाव प्रकट करते हुए मन्त्रोच्चारण करने लग जाते। इस तरह प्रायश्चित के बाद सुदान घर लौटता और कई दिनों तक उस दारुण-दण्ड को अपने ऊपर महसूस करते रह जाता।

इस समय वह केवल यही चाह रहा था कि किसी भी तरह आज की इस बात का पता उसकी माँ को न चले। गाँव के कुछ कुत्तों के भौंकने की आवाज़ें आयीं। इसके साथ ही सुमिया का कुत्ता भी भौंकने लगा। तीनों मित्र अपने-अपने स्थान पर सहमकर खड़े हो गये। सुदान की आँखें सुमिया के घर की ओर टिकी रहीं। बगल की मुँडेर के उस पार से मनीन की दबी हुई आवाज़ उसे सुनायी पड़ी :

"कुछ दिखायी पड़ रहा है?"

"नहीं।" सुदान ने भी उसी तरह उत्तर दिया।

कुत्तों के भौंकने की आवाज़ बढ़ती गयी और इसके साथ ही सुमिया की खिड़की एकाएक बन्द हो गयी। वह प्रकाश जाता रहा जिससे सुदान को डर लग रहा था। उसने राहत की लम्बी साँस ली और मनीन से कहा :

"खिड़की बन्द हो गयी।"

"अवसर सुनहरा है। जल्दी करो, जो भी हाथ आये तोड़ लेना, घर पहुँचकर देखा जायेगा।"

झुकी कमर के साथ एक हाथ से अधभरे बोरे को थामे सुदान टमाटर तोड़ता और भरता जा रहा था। कुत्तों की भौंक समाप्त होने पर जंगली कीड़ों की आवाज़ें सुनायी पड़ जाती थीं, और कभी-कभार रह-रहकर पक्षियों के परों का फड़फड़ाना भी सुनायी पड़ जाता। रात जाग रही थी, खेत जाग रहे थे। सुदान ने सोचा, भगवान जाने सुमिया इस समय क्या कर रही होगी। उसने अँधेरी रात को गवाह बनाकर अपने-आपसे कहा—'एक-न-एक दिन इस घर में मैं भी रात बिताऊँगा। बीस बर्ष का हूँ, बच्चा थोड़े ही हूँ।' उम्र का ख़्याल आते ही उसे अपनी माँ की बातें याद आ गयीं।

"बीस वर्ष के लड़के हो तुम! तुम्हारी उमिर का कोई भी लड़का इस गाँव में तुम जैसा निखट्टू न होगा। पुजारीजी के लड़के को देखो, उमिर में वह तुमसे कुछ महीनों का छोटा ही होगा पर वह कुछ बन बैठा है, एक तुम हो!"

सुदान अपनी माँ की बातें सुनकर चुप रहता क्योंकि वह जानता था कि उसे असली बात समझाना कितना कठिन था। वह क्या समझेगी कि पुजारी का लड़का अच्छे खानदान, अच्छी जाति और अच्छे भाग्य वाला ठहरा। सुदान की अपनी पीठ पर किसका हाथ था? वह तो न किसी का भतीजा था और न ही किसी का परिवार!

ठण्ड बढ़ती जा रही थी। ओस की बूँदें टपकने लगी थीं। एकाएक खरखराहट-सी हुई। सुदान सीधा खड़ा हो गया। वह कुछ और न सुनकर केवल अपनी धमनियों से दौड़ते खून की कलकल आवाज़ और हृदय की तेज धड़कनों को सुन रहा था।

"क्या हुआ सुदान?"

"कुछ आवाज़ें।" उसकी अपनी आवाज़ में डर था।

"नेवला या खरगोश होगा।"

"मैं भी यही सोचता हूँ।" अपने ही शब्दों से अपनी हिम्मत बढ़ाने के लिए सुदान बोला।

कुछ और आगे बढ़ने के बाद सुमिया का घर कुछ ही क़दमों पर रह गया था। उसके कुत्ते

के ख़्याल से सुदान अपनी साँसों को रोके हुए कुछ आख़िरी मुट्ठियाँ नोचने में लगा था। दूसरी ओर से इस बार मनहर का स्वर सुनायी पड़ा :

"अब इससे आगे न बढ़ना। दूसरी कतार से होते हुए रास्ते को निकल चलो!"

"तुम ज़ोर से बातें कर रहे हो!"

"ख़ैर! तुम्हारा बोरा कहाँ तक पहुँचा है?"

"लगभग भरा समझो।"

"ठीक है, तो फिर लौट चलो।"

सुदान ने बोरे को दोनों हाथों से पकड़कर कन्धे तक उठाया। बोझ उम्मीद से अधिक भारी था। किसी अन्धे की तरह अनुमान से पैरों को उठाते हुए वह रास्ते की ओर लौट चला। उसका दिमाग गणित करने लगा था और उसे इस बात का विश्वास हो चला कि इस समय उसके कन्धे पर कम-से-कम दो सौ रुपये थे। तभी उसके दिलोदिमाग में एक नया विचार कौंध उठा……काश! ये मेरी कमाई और पसीने के पैसे होते। उस समय मेरी माँ की आँखों में न जाने किस तरह की खुशी होती! वह हमेशा इसी धुन में होता कि अपनी माँ को खुश करके रहेगा पर उसकी यह तमन्ना कभी पूरी नहीं हो पाती। हर बार वह अपनी माँ के सामने किसी अपराधी की ही तरह खड़ा होता और हर बार उसकी आँखों में जो देखता वह अवहेलना के अंगारे होते। उसकी माँ कभी भी यह नहीं समझ पाती कि सुदान उसे खुश करना चाहकर भी कभी सफल नहीं रहता।

सुमिया की खिड़की खुलने की आवाज़ हुई। सुदान के चारों ओर एक धुँधला प्रकाश फैल गया। उसने पीछे की ओर देखा। खिड़की नहीं दरवाज़ा खुला था। सुमिया दरवाज़े के बीच खड़ी थी और एक व्यक्ति श्वेत कपड़ों में उससे विदा लेकर बरामदे से बाहर हो गया। सुदान को ऐसा लगा कि वह उस आदमी को बहुत अच्छी तरह जानता है पर सूरत पहचानना कुछ कठिन था। वह आदमी उसीकी ओर बढ़ा आ रहा था। तभी बगल से मनीन का स्वर सुनायी पड़ा : "अपने बोरे को नीचे रखकर उसकी बगल में बैठ जाओ। वह व्यक्ति तुम्हारी ही बगल से गुज़रकर पगडण्डी की ओर जायेगा।"

सुमिया दरवाज़ा बन्द करके भीतर चली गयी थी। अँधेरा पहले जैसा हो चला था। आने वाले व्यक्ति की केवल आकृति दिखायी पड़ रही थी। मनीन की बात मानकर सुदान अपने बोरे की आड़ में बैठ गया था। वह आदमी पास आता गया। सुदान का डर बढ़ता गया। उसके हृदय की हर धड़कन और उसकी हर साँस में भय था। उसकी पलकें झुक नहीं पा रही थीं। उस गहन अँधेरे में भी वह कुछ पहचानने के प्रयत्न में था। हर सेकण्ड के साथ उसके भीतर का डर बढ़ता जा रहा था। मिनटों पहले उसे ज़ोरों की जो ठण्ड लग रही थी वह जाती रही।

पैरों की आहट अधिक स्पष्ट होती गयी। आने वाला व्यक्ति एकदम उसी रास्ते पर आ रहा था जिस पर सुदान बैठा हुआ था। उसे यह समझते देर न लगी कि वह व्यक्ति उससे टकरायेगा! पर अब तो उसका वहाँ से हटना भी मुमकिन नहीं था। वह व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठित चाल के साथ अब तो एकदम पास आ गया था। उसकी आकृति बिल्कुल स्पष्ट थी पर चेहरा अब भी अँधेरी रात की परतों में था। सुदान की धड़कनों की रफ़्तार बढ़ चली। उसका दिल इस गति से कभी नहीं धड़का था। अपनी घबराहट पर अधिकार पाते हुए उसने अपनी साँसों को रोक लिया। पहली बार रात इतनी चुप थी। अगर कुछ सुनायी पड़ रहा था

तो केवल आने वाले व्यक्ति के पैरों की आवाज़! सुदान कुछ भी नहीं देख पा रहा था। वह केवल महसूस कर रहा था कि चन्द सेकण्ड में कोई उसके बोरे से टकरायेगा। आख़िर वही हुआ। वह व्यक्ति बोरे और सुदान दोनों से टकराकर मुँडेर पर गिर पड़ा। उसके मुँह से एक चीख निकली।

"कौन हो तुम?" उस व्यक्ति के स्वर में डर था।

उठना चाहकर भी वह दोबार सुदान पर गिरा। उसको बचाते-बचाते सुदान भी नीचे था। उसका हाथ उस व्यक्ति के माथे से जा लगा। उसे यह समझते देर न लगी कि उसका माथा फूटकर बह चला था। जिस तरल पदार्थ को उसने अपने हाथ में महसूस किया वह पानी नहीं हो सकता था। परिस्थिति का भान होते ही दोनों तरफ़ से मुँडेर पार करते हुए मनीन और मनहर सामने आ गये। दोनों के पहुँचने से पहले वह व्यक्ति उठा और चोर-चोर चिल्लाता हुआ पगडण्डी की ओर दौड़ गया। आवाज़ सुनते ही सुमिया की खिड़की खुली और उसका कुत्ता ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगा।

"कौन था वह?"

"मालूम नहीं।"

"तुम्हें चोट आयी है?"

"मुझे नहीं, उसके माथे पर अवश्य आयी होगी।"

"उसे मरने दो, तुम अपना ख़्याल करो। चलो जल्दी निकल चलते हैं।"

सुदान ने बोरा उठाया और पगडण्डी की ओर झपट पड़ा। उसके दोनों साथी उसके पीछे थे। उनके पीछे से सुमिया की आवाज़ के साथ होड़ लगाये उसके कुत्ते की आवाज़ भी आती रही। तीनों अपने-अपने बोझ के साथ अन्धाधुन्ध चलने लगे थे। टकराते-गिरते-सँभलते वे पगडण्डी पार करके रास्ते पर आ गये थे। सुमिया और उसके कुत्ते की आवाज़ें अब भी आती रहीं।

झरने के पास पहुँचकर तीनों ने राहत की लम्बी साँसें लीं। क्षणभर के विश्राम के बाद वे घर की ओर चल पड़े। सुदान ने, जिसका डर अब कुछ-कुछ जाने लगा था, पूछा :

"चोर तो हम थे फिर भी वह आदमी हमसे डरकर इतने ज़ोरों से क्यों भागा?"

"क्योंकि वह हमसे भी बड़ा चोर था। उसे अपने पहचाने जाने का हमसे भी अधिक डर था।"

"मनहर, बोरे रखकर तुम सीधे धनीलाल महतो के यहाँ जाना और उससे कह देना कि माल पहुँच गया है।"

जिस समय तीनों व्यक्तियों ने अपने-अपने बोझ को नीचे रखा उस समय मुर्गों की पहली बाँग शुरू हो गयी थी और ठण्ड पराकाष्ठा पर थी।

सुबह सुदान काफ़ी देर तक सोता रह गया। उसकी माँ ने उसे जगाते हुए कहा :

"सूरज ऊपर आ चुका है और तू बिन करनी-कमाई अब तक महाराजा की तरह सो रहा है।"

अपनी माँ की बातों को अनसुनी करके उसे सोते रहने की आदत थी, इसलिए करवट बदलकर वह सोया रहा। उसकी माँ ने उसे झकझोरते हुए कहा :

"शीला दो बार तुम्हें बुलाने आ गयी। उठते हो या नहीं!"

नींद की हल्की खुमारी में सुदान को याद आया कि शीला के घर आज दुर्गापाठ होने वाला है। शीला कई बार उससे घर के कुछ कामों को सँभालने की माँग कर चुकी है। किसी तरह अपने ऊपर की अधफटी अधमैली चादर को हटाते हुए वह उठा। उसके उठ जाने पर नीचे से

बिस्तर उठाती हुई उसकी माँ बोल उठी :

"तुम्हारे शरीर से टमाटर की यह हरियापन गन्ध कैसी आ रही है?"

अपनी माँ के इस प्रश्न का कोई उत्तर दिये बिना ही वह बाहर चला गया। पड़ोस में काफ़ी चहल-पंहल थी। आसपास के लोग तथा परिवार शीला के घर पहुँचने लगे थे। नल के नीचे सुदान को मुँह धोते देख शीला ने अपने ही आँगन से कहा :

"यह भी कोई उठने का वक़्त है? पुजारीजी के लिए मिट्टी का कुण्ड बनाना है। देखती हूँ कब बनाओगे। सभी काम यों ही पड़े हुए हैं।"

सुदान जानता था कि शीला का बाप गाँव की सभा का प्रधान है, इसलिए व्यंग्य के साथ उसने पूछा : "और तुम्हारी सभा के लोग?"

"वे तो खाने के समय पर पहुँचेंगे।" शीला ने उसी स्वर में उत्तर दिया।

"ख़ैर, मैं दो मिनट में पहुँच रहा हूँ।"

कोई आध घण्टे के बाद लाल मिट्टी का कुण्ड लिये सुदान पण्डाल के उस स्थान पर पहुँचा जहाँ पूजा की वेदी बनी हुई थी। पुजारीजी सिर झुकाये वेदी पर पूजा का सामान ठीक करने में लगे थे। उनके सामने खड़े होकर सुदान ने पूछा :

"पण्डितजी, यह कुण्ड कहाँ रखना है?"

पुजारीजी ने सिर ऊपर उठारकर सुदान की ओर देखा और सुदान अपलक पुजारीजी के माथे की ओर देखता रहा गया जहाँ चन्दन के टीके की जगह एलास्टोप्लास्ट के दो सफ़ेद टुकड़े थे।

(दो)
कोलाहल

उसे बिजली की बत्ती के एक खम्भे के पास खड़े पाया था। भीड़े से अलग वह किसी की प्रतीक्षा में थी। वह 'किसी' कोई भी हो सकता था। इलेक्ट्रिसिटी थी उसकी आँखों में।

लाउडस्पीकर से राष्ट्रीय गान सुनायी पड़ रहा था। मैं दत्तचित्त खड़ा रहा। मॉरिशस माँ के लिए गीत गाया जा रहा था। और जो मेरे सामने खड़ी थी, वह भी उसी स्वर्णद्वीप की एक अंग थी। लोग आ-जा रहे थे। किसी की परवाह न करके मैं उसके बिल्कुल पास पहुँच गया। हम दोनों के बीच बातें हुईं।

कुछ ही मिनट बाद हम एक साथ चलने लगे थे। वर्षों पहले पुरोहित जी द्वारा मुझे अभय-दान मिला था, पर मेरे भीतर का भय जैसे का तैसा था। वह एक औरत थी, एक बदनाम औरत, जिसने पहली बार मुझे सचमुच ही अभय-दान दिया था। उसने कहा—"एक मर्द होकर डरता है?" इस छोटे-से वाक्य से मेरे भीतर के भय ने आत्महत्या कर ली थी।

आज़ादी की यह तीसरी वर्षगाँठ थी और उसकी नुमाइश, ऊपरी खुशियाँ और सामने का जन समूह। चलते-चलते मैंने अपनी साथिन से प्रश्न किया—"तुम्हारा नाम......... ?"

"पहले आपको अपनी जाति बतानी होगी!"

"मैं मॉरिशसीय हूँ।"

"यह तो सभी का दावा होता है!"

"मेरे माँ-बाप हिन्दू थे।"

"तो फिर मेरा नाम उर्वशी है।"

"अगर मैं मुसलमान होता, तो ?"

"मैं जुलैख़ा होती।"

"और ईसाई होने पर वेन्यूस!" वह भी मेरे साथ हँस पड़ी।

शहर ने इतना सुन्दर शृंगार पहले कभी नहीं किया था। उस दिन भी नहीं, जिस दिन स्वतन्त्र मॉरिशस के चौरंगे को पहली बार फहराया गया था। तीन वर्षों के भीतर की उस प्रगति को, जो दिखायी नहीं पड़ती, आज के शृंगार द्वारा दिखाने का प्रयत्न किया गया था। उस सुन्दर नुमाइश को देखते हुए हम सेंट जेम्स कैथिड्रल के पास पहुँचकर ठिठक गये।

मेरी वह साथिन, जो मुझे रास्ते में मिल गयी थी, मेरे साथ इस तरह बातें कर रही थी, गोया में कोई परदेशी हूँ और अभी-अभी जहाज से उतरकर आया हूँ। वह अपने उसी गाइड वाले स्वर में बोली—"यह है भगवान का घर।" फिर मुड़कर वायीं ओर संकेत करती हुई साम्यवादी स्वर में बोली—"और वह रहा लेनिन का घर।"

चौरंगे दोनों जगहों पर फहर रहे थे और चार रंगों के तोरण भी। यहाँ के दिन जैसे उजाले में उसने मेरी ओर देखते हुए पूछा—"पर तुम उदास क्यों हो! क्यों? चारों ओर आज़ादी की ख़ुशी है।"

"मेरे भीतर नहीं।"

"तुम्हारे भीतर क्यों नहीं?"

"क्योंकि मैं स्वतन्त्र नहीं।"

"तुम स्वतन्त्र क्यों नहीं?"

"इसलिए कि मेरी आत्मा कहीं गिरवी है।"

"तुम फिलॉसफर हो।"

"मैं अपनी तलाश में निकला हुआ इन्सान हूँ।"

"अजीब बातें करते हो तुम!"

"मैं स्वतन्त्रता के इस मेले में खो चुका हूँ।"

"तुम्हारी बातें समझ में नहीं आतीं।"

"मैं स्वयं को समझने की कोशिश में हूँ।"

मैंने उसकी बाँह पकड़ ली। हम चलने लगे। वेलिंग्टन स्ट्रीट से होते हुए हम उस स्थान पर आ गये, जहाँ दिन में पैसों की गन्ध और झंकार आती है। मेरी साथिन ने चाल में शिथिलता लाते हुए कहा—"ये हैं पैसों के घर!"

"या पैसों का क़ैदख़ाना?"

बैंक की बगल में एक नया भवन बन रहा था। वहाँ की अस्थायी दीवार पर मांओ का बड़ा-सा चित्र था।

"यह है माओ।"

"इसके बारे में और क्या जानती हो?"

"बस, इतना ही।"

"तब तो बुद्धिमान ठहरीं!"

"अब किधर चलते हैं?"

"बन्दरगाह की ओर।"

"समुद्र से मुझे डर लगता है।"

"तो फिर चलो शां-दे-मार्स की रौनक देखने चलें।"

मैं अब भी अपनी साथिन की बाँह पकड़े हुए था और वह अपने में स्वतन्त्रता की ख़ुशी लिये हुए थी।

पॉप हेनेसी स्ट्रीट आदमियों से उमड़ी हुई थी। ठीक नगर-पालिका के सामने एक कुत्ता मरा पड़ा था। दुर्गन्ध आ रही थी। लोग कतराकर जा रहे थे।

प्राय: सभी लोग सुन्दर कपड़ों में थे। प्राय: सभी के चेहरों पर बिजली की बत्ती की रोशनी अपना प्रभाव डाले हुए थी, जिससे उनके चेहरों की असली प्रतिक्रिया गायब थी। मैं सभी को ख़ुश पा रहा था। सभी मुझे ख़ुश पा रहे थे। सभी की नज़रों में मुझमें स्वतन्त्रता की उमंगें थीं। कुछ ऐसे भी लोग दिख जाते थे, जिनकी सूरतें जानी-पहचानी थीं और जिनकी नज़रों में मैं अब भी वही तीन वर्ष पहले वाला जीव था। लोगों ने मुझे तीन वर्ष पहले के उस भव्य जुलूस में सबके आगे देखा था, जबकि मेरे एक हाथ में चौरंगा और दूसरे में विजयी दल का झण्डा था।

"जानते हो, इस बार आज़ादी का उत्सव इतनी धूमधाम से क्यों मनाया जा रहा है?"

अनजान बनकर मैंने अपनी साथिन के प्रश्न का छोटा-सा उत्तर दिया—"नहीं।"

"कोएलिशन के कारण। आज से वे भी इस उत्सव में भाग ले रहे हैं, जो कल इसके ख़िलाफ़ थे।"

"और जिन्होंने कल इसके लिए जान दी थी, आज वे इसके ख़िलाफ़ हैं।"

"क्या कहा?"

"कुछ नहीं। मिनि स्कर्ट के बारे में तुम्हारा क्या ख़्याल है?" सामने से जाती हुई तीन लड़कियों की ओर उसका ध्यान आकर्षित करते हुए मैंने कहा।

"अभाव का प्रतीक!"

"वाह! इस बार तो तुम दार्शनिक की तरह बोलने लगीं!"

शां-दे-मार्स के इर्द-गिर्द की भीड़ गहन थी········डिब्बे की मछलियों की तरह। लाउडस्पीकर से किसी मंत्री की बुलन्द आवाज़ आ रही थी। मुझे अपने उस मंत्री की बात याद आ गयी, जिसे तीन वर्ष पहले मैंने अपने कन्धे पर लिये माइक तक पहुँचाया था। अभी सप्ताह पहले की बात है, परिस्थिति से बेबस मैं उसके सामने खड़ा था और उसने कहा था—अगर मैं व्यक्तिगत सवाल हल करने में लग जाऊँ, तो फिर देश का सवाल कब हल होगा? उस समय मुझे निराशा से अधिक इस बात की ख़ुशी हुई थी कि हमारे मंत्री को कम-से-कम इस बात का ज्ञान तो था कि देश के सामने एक सवाल है।

भीड़ में कोई सनकी था जिसकी आवाज़ लाउडस्पीकर से टकराकर उसी तक वापस आ गयी—"चावल-दाल-आटे इतने महँगे क्यों हो चले? पानी घी के दाम क्यों?"

उसके पास से गुज़रते हुए मैंने उसके कानों में धीरे से कहा—"क्योंकि आज़ादी महँगी होती है!"

बन्धन का आनन्द अनुभव करते हुए मेरी साथिन ने भी अपने कोमल बन्धन से मुझे बाँध

लिया था। हम भीड़ के लोगों से कतराते हुए जिधर रास्ता मिल जाता था, उसी ओर बढ़े जा रहे थे। युवा आन्दोलन के नेताओं के स्वर में किसी युवक का स्वर सुनायी पड़ा—"क्या कारण है कि बेकारी तीन गुनी अधिक बढ़ गयी है?"

"इसीलिए कि आज़ादी को तीन वर्ष हो रहे हैं!" मैंने कहा।

मंच के सामने पहुँचकर हम ठिठक गये। चकाचौंध कर देने वाला प्रकाश था, जिसके पीछे मन्त्रियों के चेहरे छिपे हुए थे।

मैं अँधेरे से भागते हुए यहाँ पहुँच गया था, पर यह उजाला तो और भी खल रहा था। मैंने देखा, सामने के लोगों की आँखों पर काले चश्मे थे। वे सभी सेफ साइड पर थे। चकाचौंध उजाले से उन्हें अपनी आँखों की रोशनी चली जाने का डर नहीं था। अपनी साथिन के कन्धे का सहारा लेते हुए मैंने कहा—"यहाँ रहना कठिन है। मुझे आज भी अपनी आँखें प्यारी हैं। अभी कुछ और देखने की ख़्वाहिश है। चलो, यहाँ से चले चलें।"

"कहाँ?"

"मैं तुम्हारी इन बातों को क्या समझूँ!"

"जहाँ कृत्रिमता की उष्णता न हो।"

"जहाँ अँधेरे की शीतलता हो।"

"अँधेरे में दिखेगा क्या?"

"जिससे दिल रोना चाहे, वह काम तो कम-से-कम न दिखेगा!"

"वहाँ एक चीनी पेगोडा है। उसकी बगल में एक सुनसान गली है।" पूर्व की ओर संकेत करती हुई वह बोली।

"चलो, वहीं चलें।"

शां-दे-मार्स का खचाखच मैदान इन्सान के पसीने की गन्ध से भरा हुआ था, पर वह गन्ध खेतों, कारख़ानों और औद्योगिक केन्द्रों की गन्ध-सी सौंधी नहीं थी। उसमें अकुलाहट की गन्ध थी। आज़ादी की ख़ुशियाँ मनाते हुए लोग अकुला रहे थे।

उस एकान्त जगह पहुँचने के पहले मेरी दृष्टि उस व्यक्ति पर पड़ी, जिसने अपनी भानजी के विवाह में मेरा अपमान केवल इस बात के लिए कर दिया था, क्योंकि मेरे गले में टाई नहीं थी। आज वह बिन टाई का मेरे सामने था, जबकि मैं अपने ढंग की एक लेडी के साथ था, मन में आया कि आज मैं उसे तमीज सिखा दूँ, पर दो कारणों से चुप रह गया। एक तो मेरे साथ मेरी साथिन थी, दूसरे अभी कुछ ही दिन पहले केन्या के एक मंत्री का अपमान इसी बात को लेकर हो गया था। मेरे ही इस स्वतन्त्र देश में राजकुमारी के एक प्रतिष्ठित मित्र को होटल में इसलिए कुर्सी नहीं दी गयी क्यों उसके गले में टाई नहीं थी।

दूसरा व्यक्ति नशे में मस्त, अपनी ही धुन में गा रहा था। अपने लम्बे गले में मॉरिशस के झण्डे के रंगों की टाई बाँधे हुए था।

जिस जगह हम पहुँचे, वह सचमुच ही निस्तब्ध थी। सन्नाटा हिन्द महासागर की गहराई से भी गहरा था। वहाँ भगवान भी नहीं था। सन्नाटे का अपना ही दम घुट रहा था। यह वह स्थान था, जहाँ वैज्ञानिक सुविधाओं से ऊबकर, चकाचौंध कर देने वाली ज्योति से घबराकर आदमी भाग आता हो। मेरी साथिन भीड़ से भागी थी और मैं स्वतन्त्रता की नकली ख़ुशियों से भागा था। मैं दिखावट से भागा था। स्वतन्त्रता तो स्वतन्त्रता होती है, पर दिखावा दिखावा होता है।

अँधेरे को शास्त्रों में अज्ञानता कहा गया है और अज्ञानता को अँधेरा, पर मैं अँधेरे की आँखों से उजाले को देख रहा था। वहाँ के नकली रंग, नकली उमंग.........बच्चे खिलौनों से खेल रहे थे। हमने उनको खेलने दिया, यह जानकर भी कि खिलौने जापानी थे और बच्चे ब्रिटिश मेड।

हम आगे बढ़ गये। मैंने उस अँधेरे में अपनी साथिन की ओर देखते हुए पूछा, "कहाँ चलते हैं?"

"जहाँ तुम चाहो।"

"समुद्र किनारे किसी होटल में?" उसको अपने बन्धन में बाँधते हुए मैंने पूछा।

"जैसी तुम्हारी मरजी।"

"मेरी मरजी तो सीधे जहन्नुम पहुँचने की है!"

"लेकिन जाते समय बन्धन कुछ ढीला कर देना!"

सामने से जाती हुई टैक्सी को मैंने इशारे से खड़ा किया। टैक्सी के रुकते ही मैंने अपनी शारीरिक लावण्य वाली साथिन के लिए दरवाज़ा खोला, फिर खुद उसकी बगल में जा बैठा। ड्राइवर ने मेरी ओर देखा और मैंने कहा—"ओतेल दे ला प्लाज।"

मोटर चल पड़ी और दूर के बजते ढोल सुहाने लगते रहे।

(तीन)
वह बीच का आदमी

लोहे के भारी-भरकम दैत्य की उस प्रलयंकर घड़घड़ाहट में मज़दूरों का अपना कोलाहल दब गया था। एक ओर आदमी के हाथ गन्ने काट रहे थे और दूसरी ओर बुलडोजर के पंजे और दाँत कटे हुए खेतों से गन्ने की पुरानी जड़ें उखाड़ रहे थे। चट्टानों को तोड़ रहे थे। उधर रामचरित्तर उस घडघड़ाहट से अनभिज्ञ अपने भीतर के ट्रैक्टर से जूझ रहा था। भगतवा उससे कहता कि वह सरकार से लड़ने की अनुचित चेष्टा कर रहा था और रामचरित्तर उसे समझाते हुए थक गया था कि उसकी वह लड़ाई सरकार से नहीं थी, बल्कि उसके और सरकार के बीच उस व्यक्ति से थी जो अपने पदाधिकार का नाजायज़ फ़ायदा उठा रहा था। वह भगतवा से बोला था कि ऐसे बीच के लोगों के कारण ही सरकार को बदनामी झेलनी पड़ती है और तब भगतवा कहता कि वह आदमी सरकार का बड़ा अफ़सर होने के नाते ख़ुद सरकार था। उससे जूझने का मतलब सीधे सरकार ही से तो जूझना था।

भगतवा के भाई से उसने अर्जी लिखवायी थी। उसका भी कोई जवाब नहीं आया। हर जगह से हारकर उसने भगतवा से कहा था, "जीतने की उम्मीद लेकर तो सभी लड़ लेते हैं, मैं बिना उम्मीद लिए लड़ रहा हूँ।"

"क्या फ़ायदा है हारे हुए खेल को खेलते हो।"

"यह खेल हारा हुआ तो नहीं है!"

"तो फिर?"

"मैं हार जाऊँगा, यह शायद निश्चित हो।"

"इतना जानकर भी लड़ते रहना तो नादानी हुई।"

"यही तो मुसीबत है कि इससे आगे की बात मैं तुम्हें समझा ही नहीं पाऊँगा और न वह अपने को ही समझा पाने में समर्थ था।"

दोनों दिन उसके बरतन भरे-के-भरे लौटे थे। जसोदा ने दोनों दिन उसके भात को अलग बरतन में रखा था और दाल एक छोटे-से एल्यूमीनियम के कटोरे में। और दोनों ही दिन न तो वे बरतन खुले थे और न वाक्वा के सूखे पत्रों की टोकरी। जसोदा के पूछने पर रामचरित्तर ने दोनों बार वही छोटा-सा उत्तर दिया था—भूख न होने का।

सचमुच उसे भूख नहीं थी। तीसरे दिन भी वह भरपेट पानी ही पी कर रह जाता, अगर चार बजे सुबह जसोदा की बात उसे याद न आ जाती तो। ....देखना, आज भी खाना लौटाकर मत लाना। इस तरह भूखे पेट देह-तोड़ मेहनत नहीं की जाती।

जसोदा ने शायद यह सोचा होगा कि उसे तरकारी पसन्द नहीं आयी होगी—इसलिए उसने खाया न होगा, पर ऐसा तो रामचरित्तर वर्षों पहले करता था, अब तो वह अपनी थाली में छूछा भात पाकर भी उसे हजम कर जाने वाला बन गया था। हाँ, यह बात ज़रूर थी कि उसकी वह पुरानी आदत अब उसके छोटे बेटे की हो चली थी, जो कि तरकारी के लिए रोज़ किर-किर करता। इसी तरकारी वाली बात को सोचकर एक दिन पहले ही जसोदा ने मछली मँगवा ली। सुबह तीन ही बजे, दोनों बहुओं के जागने से पहले ही उठकर उसने रामचरित्तर और दोनों लड़कों के लिए जल्दी-जल्दी मछली तैयार कर ली थी। अपने पति को भूख न लगने के उस कारण को वह जानती अवश्य थी, पर वह उसे कोई कारण मानने को तैयार नहीं थी। उसने तो उससे कहा था—आदमी को रसोई से रूसाफूली क्यों होनी चाहिए। उबन रोता है तो आदमी पर विपत आती है। ये बातें वह इसी घर में अपनी सास से सुनती आयी थी।

खेतों में जब सभी लोग खाने पर जुट गये तो रामचरित्तर को अपनी घरवाली की बातें याद आयी। फिर उसका वह सुबह तीन बजे से उठकर पकाना........पर रामचरित्तर को भूख भी तो नहीं थी और न ही उसमें एक बार फिर से भात के बरतन को भरे-के-भरे घर लौटा ले जाने का साहस था।

सभी मज़दूरों से अलग वह खाने पर बैठ गया। मसालेदार मछली, दाल और टमाटर की चटनी। थोड़ा-सा खाया और दोनों बरतनों की बाक़ी चीज़ों को पेड़ की जड़ में उड़ेल दिया। उसने मन-ही-मन सोचा—यह स्वाद पकवान में कम होता है, भूख में ज्यादा। अभी पिछले ही सप्ताह उसके बरतन में चावल के ऊपर चौराई की भाजी और बैंगन की चटनी थी, पर भूख इतने ज़ोरों की थी कि उस दिन उसने अपनी अँगुलियों को चाट-चाट कर साफ़ कर लिया था। बड़े चाव से खा चुकने के बाद उसने खाली बरतन में बोतल से पानी उड़ेला था और जूठन को झपलाकर पानी फेंकने के बजाय उसे पी गया था। खाने को थोड़ा-बहुत जो स्वाद बरतन में बचा था, उसने उसे भी छोड़ना नहीं चाहा था। उतना स्वाद तो न उसके कभी मछली में मिला था और न ही गोश्त में। उसी दिन उसने भगतवा से कहा था कि साली, भूख न हो तो घी-मलीदा भी पनछोछर होता है।

बरतनों को टोकरी में रखकर उसे इमली की डाली पर टाँग दिया। आकाश की ओर देखा। मुँडेर से गोनी उठाकर घोघी बनायी और उसे कंधे पर रख लिया। नीचे से गंड़ासा उठाया और अधकटे खेत की ओर बढ़ गया। वह चाहता तो सभी की तरह पाँच-दस मिनट सुस्ता भी सकता था, पर उसने तो तम्बाकू का एक दम भी नहीं लिया। उसे घर जल्दी पहुँचना

था। वह अधीरता और तनाव की घड़घड़ाहट थी उसके भीतर—जिसकी वजह से बुलडोजर की घड़घड़ाहट भी उसके लिए अनुसनी थी।

आसमान पर जिस तरह काले बादल उमड़ आये थे उससे बारिश की सम्भावना थी। अभी कुछ ही दिन हुए थे हफ़्ते भर के सरदर्द-बुखार से उसे चंगा हुए। पर शायद उसे अपने भीगकर दोबारा बीमार होने की उतनी चिन्ता नहीं, जितनी कि ठीक ढाई बजे अपने घर पहुँचकर उन आने वाले व्यक्तियों का सामना कर जाने की।

उसे अपने ठेके की बस और आधा ही टन ईख काटनी थी। ये नई किस्म की ईख अगर बाँस की झोंपे-झुरमुट में उपजने वाली न होती, तो अब तक वह अपना दो टन काटकर लाद भी चुका होता। अब भी ईख काटने की उसकी वही रफ़्तार थी जो सतरह-अठारह की उम्र में उसकी रही थी। उसने तो सुना था कि उसके बाप के सामने कोई कभी नहीं टिक सका था। वह तो तीन टन काटकर लादनेवाला जीव था। शुरू-शुरू में रामचरित्तर भी ढाई-तीन तक पहुँच ही जाता था, पर जसोदा उसे ऐसा करने से रोकती थी।

"बहुत हराठी में देह आगे चलकर रोगी हो जाये सकेला।"

पर वह काम से कभी डरा होता तब तो। उसे तो अब इस बात का दु:ख होने लगा था कि कोठी के मेस्ये मारतें केवल कुछ ही महीनों तक उसे इन गन्ने के खेतों से जुड़े रहने देगा। शायद इसी फसल तक। कोई दूसरा गोरा होता तो क़ानून-कायदे की बातें करके उसे अब तक नौकरी से हटा भी दिया होता। उसके तो पिछले ही साल आठ वर्ष हो चुके थे। इसी पर तो भगतवा कहता भी था कि पसीने की कमाई की बनी हड्डियाँ थीं रामचरित्तर की।

वह अपने बाक़ी आधे टन को काटने में जुट गया। उससे पहले ही खाने पर गये हुए उसके सभी साथी बगल वाले खेत में कटाई शुरू कर चुके थे। अमौरे की पूलियाँ बटोरने वाली औरतों का धाँव-धाँव भी उसके लिए अनसुना चला जा रहा था। कभी यह कोलाहल उसे बहुत अच्छा लगता था। उससे खेतों में रमणीकता होती थी। खेतों की उस रमणीकता को चीरा था कुछ दिनों से शुरू हुए उस न थमने वाले शोर ने। उससे तो सभी मज़दूरों के कान के परदे भी फटते प्रतीत हुए थे। अपने आगे के पत्थरों-पेड़ों को उखाड़ता-उलाटता वह ट्रैक्टर कइयों को सिरदर्द भी तो दे चुका था। कमर सीधी करने के लिए जब गन्नों पर गंडासे के प्रहारों को रोक कर रामचरित्तर खड़ा होता, उसी समय उसकी आँखें उस दूरी पर के दहाड़ते ट्रैक्टर पर टिकी रह जाती थी। मंदिरों की तरह खड़ी उन ऊँची मेंड़ों को ट्रैक्टर द्वारा ढकेले जाते हुए वह देखता रह जाता था। उन पत्थरों को हेर-हेरकर उस इतिहास को देखने की चाह उसके भीतर पैदा हो जाती थी, जिसे वह अपने बाप से कभी सुना करता था और जो अब मिटाये जा रहे थे। वह लौह-पंजा कितनी बेरहमी से पुरानी मेंड़ों को तोड़ कर नयी मेंड़ खड़ी किये जा रहा था। उसी घड़घड़ाहट के बीच, मुँडेर के उस पार की ईखों की कतार से भगतवा ने उसे फिर से कहा, "राम भैया, मैं फिर कहता हूँ कि तुम नाहक ज़िद किये बैठे हो। इज़्ज़त से झुक जाना, बेइज़्ज़त होकर झुकने से बेहतर होता है। तुम ज़मीन दे दो और दूसरी ले लो।"

"क्या लड़ने से पहले मर जाना भी बहादुरी होता है?"

रामचरित्तर के चेहरे का वह गाम्भीर्य बना-का-बना रह गया था।

धूप की खूँखार किरणों से थकी उसकी आँखों से आँसू बह जाते थे। जिन मेंड़ों को मशीन तोड़ रही थी, उनके एक-एक पत्थर को ज़मीन के नीचे से निकालकर मिट्टी को

उपजाऊ बनाने का साहस भरा कार्य किया था—उसके और उसके साथियों के जिन पूर्वजों ने, जिन्हें पत्थर उलटकर सोना पाने का प्रलोभन देकर इस द्वीप में घसीट लाया गया था।

रामचरित्तर के लिए वे मेंड़ सैंकड़ों भारतीय कुली-मज़दूरों के टूटे हुए पाँव, कटी हुई बाँहों के स्मारक थे। यन्त्रणा और दारुण-दण्डों के बीच की सहिष्णुता और सशक्तता की उस समाधि को मिटाया जा रहा था। इतिहास को खंडित किया जा रहा था। वह उसे रोक सकता तो रोक लेता। डेढ़ सौ साल पहले के इन खेतों के प्रथम मज़दूरों की आत्माएँ जैसे ट्रैक्टर के पंजों से छटपटाकर कराह उठी हों, और रामचरित्तर उन क्रन्दनों को सुनकर खुद भीतर-ही-भीतर चीत्कार करता जाता था। ....और वह सिर झुकाकर गन्ने काटने में लग जाता तो इस बेबसी के साथ, कि आदमी कितना निहत्था था कलपुर्जों के सामने। मेस्ये आंद्रे से उसने हिम्मत करके पूछ लिया था, "यह सब क्यों हो रहा है?"

"ताकि उपज ज्यादा हो।"

और इसके आगे के ये सवाल उसके भीतर ही घुटकर रह गये थे—उपज किसके लिए? इन तमाम नये साधनों के लाभ का हक़दार मज़दूर भी क्यों नहीं होता?

वह प्रेमचन्द का 'गोदान' पढ़ रहा था तब।

उस दिन की बोआई के वक़्त भगतवा उसके साथ था, जब पहली बार उसने उस धड़धड़ाते दैत्य को जामुनवाले खेत में धड़ाधड़ घुसते चले आते देखा था। सुन तो उसने ज़रूर रखा था कि एक बहुत ही बड़ी मशीन सौ आदमियों के कामों को अकेले कर जाती है, पर उससे पहले देखा कभी नहीं था। भगतवा ने तो जैसे अपने जीवन का सबसे बड़ा आश्चर्य देख लिया था। लोहे का वह दैत्य दहाड़ता हुआ दोनों के इतने क़रीब आ गया था कि दोनों ने उसके ऊपर बैठे हुए चालक की उस मुस्कराहट को भी देख लिया था। उसमें व्यंग्य था और वह आदमी उस मुड़िया पहाड़ जैसी मशीन पर बौना लग रहा था।

काम पूरा हो जाने पर रामचरित्तर और भगतवा दोनों—छोटे बच्चों की-सी जिज्ञासा लिए ट्रैक्टर के पास पहुँचे थे। उस समय वह चल नहीं रहा था। थककर सुस्ता रहा था। थकान से पसरे हुए उसके अंजे-पंजे बड़े भयानक थे। रामचरित्तर ने अपने हाथ की कुदाली को देखा, फिर उस लोहे के दानव को। उस हल को—उसके नुकीले दाँतों को। उसे सुरसा, महिषासुर, ताड़का और न जाने कौन-कौन से किताबी दैत्य याद आ गये थे। हालाँकि मशीन की शक्ल कुछ और थी—जो शायद ही धरती की किसी चीज़ से मिलती हो।

दोनों ने डर-डर कर उसके अंग-अंग पर अँगुलियाँ रखी थीं। उसकी शक्ति को माप जाने का प्रयास किया था। उसके चालक ने सिगरेट का एक घमण्डी कश लेकर अपने सिर की टोपी को थोड़ा-सा टेढ़ा किया था, और धुएँ के कुहासे में उसने प्रश्नों का उत्तर दिया था अपने मोटे-मोटे होंठों को अजीब ढंग से हिला-हिलाकर।

"यह अपने आगे की चट्टानों और पेड़ों को उतनी ही आसानी से उखाड़ सकता है जितनी आसानी से तुम टमाटर की क्यारी से पौधे उखाड़ सकते हो। शुरू का नाम गोलियट है। जानते हो यह गोलियट कौन था?"

"नहीं तो।"

छोटे-छोटे घुँघराले बालों वाला वह आदमी जोरों से हँस पड़ा था।

"यह सौ आदमियों की ताकत रखता है। एक महीने का काम एक घण्टे में कर सकता है।"

उसकी नज़र जब रामचरित्तर की कुदाली पर पड़ी थी तो वह और भी ज़ोर से हँसा था। "अब वह औज़ार किसी काम का नहीं।"

रामचरित्तर कुछ बोल पाने की स्थिति में नहीं था पर सोच सकता था। उसने मन-ही-मन सोचा था—क्या सचमुच ही अब यह कुदाली कुछ कर सकने की स्थिति में नहीं रही ? पर डेढ़ सौ साल तो इसी छोटे-से औज़ार ने इस बंजर भूमि को उपजाऊ बनाया। इसी कुदाली ने तो ज़मीन से इतने पत्थर निकाले कि सभी को एक ठौर पर रख देने से मुड़िया पहाड़ भी छोटा दीखे। सारे जंगल को इसी ने काटा। आज पूरे देश भर में जो भी हरियाली है—इसी की दी हुई है। इसी ने तो कुछ दिया है और आज यही बेकार साबित होने जा रहा है। यह कैसे हो सकता है! शायद उस समय के वे हाथ बहुत बड़े और शक्तिशाली थे, जिनमें पहुँचकर इन औज़ारों ने पूरे देश का नक्शा ही पलट दिया। आज वे हाथ नहीं रहे, इसीलिए अब यह कुदाली बेकार हो रही है।

उसने अपने हाथों की ओर देखा था। वे उसे झुझवावन प्रतीत हुए थे। उसे ऐसा भी लगा था कि मिट्टी की वह पुरानी सोंधी गंध भी एकाएक गायब हो गयी थी और उसकी जगह ले ली थी जले हुए मशीनी तेल की सड़ांध ने।

उस ड्राइवर ने यह भी बताया कि कुछ दिनों में एक ऐसी मशीन भी आने वाली है जो पूरे द्वीप के खेतों की ईखों को महीने भर से कम समय में काट देगी। रास्ते में भगतवा ने पूछा था, "इस ईख काटने वाली मशीन के आ जाने पर हमारी क्या दशा होगी ?"

रामचरित्तर ने कोई उत्तर नहीं दिया था, क्योंकि वह भी एकाएक वही सोच रहा था। उसके अपने दिमाग में तो चोखे पहियों वाला मुड़िया पहाड़ घड़घड़ाता हुआ उधम मचा रहा था। उसी रात रामचरित्तर ने अपने दोनों बेटों को अपने पास बुलाकर कहा था, "मेरा बाप इन ईखों को बोता-सँवारता और काटता मरा था। तुम दोनों का यह बाप भी उन्हीं खेतों में दम तोड़ेगा और शायद तुम दोनों भी इन्हीं लहलहाती हरियालियों के बीच ही मरो—पर शायद तुम्हारे बच्चों के नसीब में यह न हो, इसलिए तुम दोनों उनकी पढ़ाई-लिखाई में किसी तरह की कसर न छोड़ना।"

उसके दोनों बेटों ने उस बात को कहाँ तक समझा था—इसका ख़्याल रामचरित्तर को नहीं था।

ऊपर बादल घने होते गये। माहौल सुरमई होता गया। अपने ठेके के बाक़ी आधे टन को काट-लादकर रामचरित्तर फिर से इमली के पेड़ के पास लौटा। खाने की टोकरी से कपड़े के एक टुकड़े को निकालकर चेहरे और हाथों का पसीना पोंछा। गंड़ासे को टोकरी में रखा। लम्बी साँस ली और एक आख़िरी नज़र कुछ दूर के खेतों में जा चुके ट्रैक्टर की ओर फेंककर पगडंडी की ओर बढ़ गया। उसके दाहिने ओर के जंगल और खेतों की सफ़ाई बड़े ज़ोरों से शुरू हो चुकी थी, जिन्हें सरकार ने हवाई अड्डा बनाने के लिए अपने जिम्मे ले लिया था। एकदम सामने दूरी पर जहाँ हरियाली भरती थी। फिर मुड़िया पर्वत उसी हमेशावाली मुद्रा में समाधि साधे अपने अभिशाप को भुगत रहा था।

अपने थके पाँव को उसने झारा और तेज चलने लगा।

ठीक ढ़ाई बजे उसके यहाँ वे हुक्मरान पहुँचने वाले थे, जिनसे पहले ही वह तीन बार जूझ चुका था। उसका उस पिछली बार का निबटना तो दोनों पड़ोसियौं के सहयोग से हुआ था, जबकि अब की बार वह एकदम अकेला पड़ गया था। वे दोनों तो अब चले गये थे।

पैंतीस-पैंतीस हजार रुपयों में दोनों ने अपनी लड़ाई बेच दी थी। मंगरू ही ने तो उसे लड़ाई मानकर रामचरित्तर से कहा था, "राम भैया, हमें योंही हार नहीं मान लेनी चाहिए। हमें अपने हक़ के लिए आख़िरी दम तक लड़ना होगा। अगर अपनी बपौती अपनी न हो सके, तो फिर अपना रह ही क्या जाता है।"

.........और उसी मंगरू ने अपने को सबसे पहले बेच दिया था। उसने अपने को उस सरकारी तकाजे के सामने नतमस्तक कर दिया था—अपनी ज़मीन के टुकड़े के बराबर का एक टुकड़ा और पैंतीस हजार में।

रामचरित्तर को वह जो पिछली सरकारी चिट्ठी मिली थी—उसमें आख़िरी निवेदन पैंतीस से पैंतालीस हजार को पहुँच चुका था—और उसकी अपनी ज़मीन के बदले की वह ज़मीन भी कुछ अधिक ही होने का आश्वासन लिये हुए थी।

चूँकि रामचरित्तर ने इधर से दो बार बुलाये जाने पर दोनों बार वहाँ पहुँचने से इन्कार कर दिया था, इसलिए वे लोग उसके घर पहुँच रहे थे। रामचरित्तर ने सोचा था, शायद अख़बार में उसकी तस्वीर और कहानी आ जाने से ऐसा हुआ था। पर वे लोग सभी कागज़ातों के साथ पहुँच रहे थे—यह बात रामचरित्तर की समझ में नहीं आयी थी।

उस चिट्ठी में बड़ी शिष्ट भाषा में जो धमकी थी उससे रामचरित्तर काफ़ी घबराया हुआ था। वह जहाँ-जहाँ भी गया, उसे यही बताया गया था कि सरकार को अधिकार था उसकी ज़मीन ले लेने का, क्योंकि उसकी उस ज़मीन का उपयोग राष्ट्र के हित में होने वाला था।

जब शुरू-शुरू में उसने सुना था कि उत्तर प्रान्त के उस इलाके में सरकार नया हवाई अड्डा बनाने की सोच रही थी, तो उसे उस सूचना से थोड़ी-बहुत खुशी हासिल हुई थी। लोग बातें जो करने लगे थे कि ऐसा होने से उत्तर प्रान्त के बहुत सारे बेकारों में से कइयों को नौकरी मिल सकती थी। उसने अपने घर तो कोई बेकार नहीं था। दोनों बेटे शादी-शुदा थे—इन्हीं ईख के खेतों में समर्पित थे। तीनों नाती स्कूल जाते थे। दो नतनी थीं, वे तो छोटी थीं। उसके अपने पास-पड़ोस में शम्भू-सोनितबा-तालेव-ताम्बी-मार्सेल को नौकरियाँ मिल जायें क्या यही कम था ?

कुछ ही दिन बाद से रामचरित्तर बड़े-बड़े अफसरों—इंजीनियरों और चीन से आये हुए उन प्रतिनिधियों को आते-जाते देखता रहा था। बाद में कुछ फ्रांसीसी प्रतिनिधि भी आने लगे थे। यह तो भगतवा के छोटे भाई ने उसे समझाया था, जो सरकारी स्कूल में अध्यापक था। उसी ने कहा था कि उस बहुत बड़े आधुनिक हवाई अड्डे को सरकार चीन के सहयोग से बनाने वाली थी, पर सरकार के उस सहयोगी दल को यह बात पसन्द नहीं थी कि इतना बड़ा काम अकेले चीन के जिम्मे छोड़ा जाये। यही कारण था कि बहुत सारी राजनीतिक उठापटक के बाद फ्रांसीसियों की मदद को भी उस योजना में शामिल करना ही पड़ा।

हवाई अड्डे का क्षेत्र जब नापा जा रहा था तो एक ओर दूर तक फैला जंगल-ही-जंगल था और दूसरी ओर पैंतालीस घरों का वह छोटा-सा गाँव, जिसकी पहली कतार उस नाप की लपेट में आ गयी थी। बाईस घरों को गिराकर ज़मीन को समतल बनाने की योजना जब चली तो वे दोनों अफ़सर बातें कर रहे थे। पतला-दुबला और बिन टाई वाला अफ़सर यही बोलता रह गया था कि क्षेत्र को थोड़ा-सा उस दूसरी ओर के जंगल की ओर खींच देने से ये बाईस घर बच सकते थे। घनी मूंछों वाला वह दूसरा अफ़सर इसके लिए बिल्कुल तैयार नहीं था। उसका कहना था कि नक्शा जो तैयार था उसी के आधार पर काम होगा। आधा मील तो दूर,

वह तो एक इंच हटने को तैयार नहीं था। और यहीं से शुरू हुई थी रामचरित्तर की लड़ाई। अगर उस दूसरी ओर विस्तृत जंगल न होकर, उसके अपने गाँव की तरह कोई दूसरा गाँव होता तो वह कभी अपने हठ पर अड़ा नहीं रहता।

वह मोटा-सा फ्रांसीसी प्रतिनिधि था, जिसने रामचरित्तर को समझाने की चेष्टा की थी—और वही कोशिश रामचरित्तर ने भी की थी, ताकि वह आदमी उसकी बात को तो समझ ले। पर न तो रामचरित्तर उसकी बात समझ सका था और न ही वह प्रतिनिधि रामचरित्तर की बातों को समझने के लिए तैयार था। उसके उस आख़िरी वाक्य को तो रामचरित्तर नहीं समझ पाया था, पर उसके कहे जाने के ढंग से उसके भाव का अनुमान अवश्य लगा सका था, इसीलिए वह उसके मुँह पर ही तपाक से भोजपुरी में कह गया था, "अरे तू भी भाड़ में जा भैया।"

रामचरित्तर के पूर्वज जिस मिट्टी के साथ डेढ़ सौ साल जुड़े रहे थे—उस मिट्टी में सौ साल तक तो उसके लिए अपना कहा जा सकने वाला ज़मीन का कोई भी टुकड़ा नहीं था। वे लोग गिरते-पड़ते दूरी घंसते रहे। एक वक़्त खाकर दूसरे वक़्त का कोने में ज़मा कर-करके लोग अपने लिए कुछ बना पाये। इसी के फलस्वरूप इधर पचास साल से उनके अपने-अपने छोटे-मोटे ज़मीन के टुकड़े थे। कुछ के लिए एक मुट्ठी आश्रय था, कुछ के लिए एक मुट्ठी पहचान, तो कुछ के लिए एक मुट्ठी इज़्ज़त। इससे ज्यादा और हो भी क्या सकता था उन लोगों के पास, जिनका जीना-मरना सब मालिकों के लिए होता था। रामचरित्तर के पास जो छोटी-सी ज़मीन थी वह उसके आश्रय, उसकी इज़्ज़त, उसकी पहचान के साथ-साथ उसकी समृद्धि भी थी—अपने पूर्वजों की धरोहर भी।

पचास साल पहले जब उसके बाप ने उस छोटी-सी ज़मीन को खरीदा था, उस समय तो रामचरित्तर कठिनाई से दस वर्ष का रहा होगा। लेकिन जब उसके बाप ने उस पर ईख के सूखे पत्ते की छाजन की वह पहली झोंपड़ी बनायी थी—उस समय रामचरित्तर इतनी उम्र का तो ज़रूर हो चला था कि उन सारे संघर्षों और बलिदानों की उसे अनुभूति हो जाती। फिर दस साल बाद जब उस पर टीन की छत वाला घर बन रहा था उस समय फर्ज़ के उस बोझ को अपने बाप के साथ-साथ उसने भी तो ढोया था। वह उन दिनों को याद करना नहीं चाहता था, क्योंकि उसके अपने जेहन में पहले ही से एक बुलडोजर उसके वर्तमान को रौंद रहा था।

जिस तरह खेतों की वे मेंड़ उन प्रथम मज़दूरों की समाधियाँ थीं, ठीक उसी तरह उसकी वह ज़मीन भी उसके अपने पूर्वजों की स्मारिका थी। एक दिन बहुत पहले—खेतों की उस सबसे ऊँची मेंड़ पर चढ़कर, उसके बीच थोड़ी-सी मिट्टी में वह गुलैची का एक पौध बो आया था। वह छोटा-सा पेड़ अपने इने-गिने सफ़ेद फूलों के साथ वहाँ पर पिछले तूफ़ान तक था और उस पिछले ही तूफ़ान में जब उसके अपने घर की पीछे की दीवार ढह आयी थी, तो जसोदा और दोनों बेटों ने यही कहा था कि उस पुराने घर को तोड़कर उसकी जगह नया घर बना दिया जाये। रामचरित्तर उस घर को तोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ था। उस घर में उसके अपने पसीने की बूँदों के साथ-साथ उसके अपने बाप के खून के कतरे भी बहे थे। उस घर के तो पत्थर-पत्थर, लकड़ी-लकड़ी और टीन-टीन पर उसके बाप की ही नहीं, उन ऐतिहासिक यन्त्रणाओं की भी छाप थी। भला उस स्मारक को वह जीते-जी कैसे मिटा सकता था। उसने तो हँसकर कहा था, "यह घर तो अभी मुझसे भी अधिक ताकतवर है। जब मुझे जीये जाने का हक़ है तो फिर इसे क्यों नहीं?"

उसने अपने बेटों से यह भी कहा था कि नया घर चाहे इस घर के आगे बने कोई हर्ज़ नहीं, पर वह नया घर इस घर को धराशायी करके उसकी लाश के ऊपर बनाया जाये—यह उसे गवारा नहीं था। उसने घरवाली और बेटों से यह भी आजिजी की थी कि वे लोग इसे मात्र उसकी भावुकता और मोह न समझें।

रामचरित्तर हकासल-प्यासल घर पहुँचा। सोचा था, वे लोग पहले ही पहुँच आये होंगे, पर कोई नहीं पहुँचा था। बड़ी पतोह चाय लेकर आयी। उसने दो चुस्की लेकर कटोरा लौटा दिया। धुँधलका बना हुआ था, पर बारिश शायद दूर थी। उसकी घरवाली आकर उसके पास बैठ गयी। रामचरित्तर को उसके इस तरह आकर बैठ जाने की ख़बर तक न थी। जसोदा भी एकदम उसी तरह अपने घरवाले की मुद्रा में बैठी रही। वह बात शुरू करने को झिझकती रही क्योंकि रामचरित्तर का रात का वह गुस्सा उसे अब भी याद था। वह वही वकील के यहाँ से लौटने के बाद वाला गुस्सा था। पैसा लेने से पहले वकील ने कहा था कि उसका घर नहीं टूटेगा, उसकी ज़मीन पर ट्रैक्टर नहीं चलेगा। रामचरित्तर उसे साढ़े चार सौ दे आया था—और दो ही सप्ताह बाद उस वकील ने सिर हिला दिया था।

"हमने तो पूरी कोशिश की। कुछ भी बाक़ी नहीं छोड़ा, पर क़ानून तो यह कहता है कि उस ज़मीन पर सरकार का पूरा हक़ है.........और फिर तुम्हें तो उसका दोगुना मिल रहा है!"

वकील के सामने वह जो नहीं बोल सका था वह तो यह था कि उसका चार गुना भी लेकर वह क्या करेगा! वह तो अपने पूर्वजों की निशानी को बचाये रखने के लिए बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी के लिए तैयार था, पर ये लोग तो उलटे उस निशानी को मिटाने की कुर्बानी उससे माँग रहे थे।

उसकी माँ तो आख़िरी सीख में उसे किसी भी परिस्थिति में घर-ज़मीन को बंधक रखने को मना कर गयी थी। बंधक क्या यह तो हमेशा के लिए घर-ज़मीन गँवा देने वाली बात थी। उसका वकील जब उसका साढ़े चार सौ हड़प कर समझाते हुए बोला था कि बदले में उसे जो ज़मीन दी जा रही थी वह तो उसकी अपनी ज़मीन से भी अच्छी थी, तो रामचरित्तर को गुस्सा आ गया था—एक काला गुस्सा। पर उसे पीकर उसने बड़ी नम्रता के साथ पूछा था—

"वकील साहब! अगर आपके काने बेटे के बदले में मैं आपको अपना दोनों आँखों वाला बेटा देना चाहूँ तो आप इस अदला-बदली के लिए तैयार होंगे?"

उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना वह घर लौट आया था—और घर पर उसने उगला था अपना वह सारा गुस्सा।

जसोदा बैठी रही। रामचरित्तर के चेहरे के भावों को अच्छी तरह पढ़कर उसने धीरे-से कहा, "समधी भाई आये थे।"

जब रामचरित्तर ने आँखें उठाकर उसकी ओर देखा, तो उसे ऐसा लगा कि उसकी अपनी बात स्पष्ट नहीं थी। वह बोली, "दमोदर बहू के बाप आये थे।"

वह उसी तरह कुंडली मारे चुपचाप बैठा रहा।

"वे भी कह रहे थे कि सरकार के साथ लड़ने की ठान बैठना अच्छा नहीं।"

वह चुप ही रहा। जसोदा फिर बोली, "अड़े रहने पर इधर का भी जायेगा उधर का भी!"

"तो तुम अब भी इसे सिर्फ़ मेरी ज़िद मानती हो?"

"सभी लोग यही कह रहे हैं कि हम सरकार की बात नहीं मानते तो यह सारा कुछ ज़ब्त कर लिया जायेगा।"

रामचरित्तर भी जानता था उस परिणति को। वह तो वही रामचरित्तर था जिसने बहिला गाय को भी कसाई के हवाले न करके, कर्जा न भर सकने के जुर्म में पाँच महीने क़ैद में बिताये थे।

जसोदा कुछ और नरम होकर बोली, "पुजारीजी भी तो यही कह गये कि मरे हुए लोगों के मोह से कहीं अधिक ख़्याल इन जीवित बच्चों का करना चाहिए। अगर सरकार की बात नहीं मानी गयी तो ये कहीं के नहीं रहेंगे।"

रामचरित्तर सुनने की स्थिति में नहीं था। वह कहाँ तक लोगों को समझाता फिरता कि उसकी लड़ाई सरकार से कहीं अधिक उस घनी मूँछों वाले अफ़सर से थी जो टस-से-मस होने को तैयार नहीं था। उसे लगा कि वह बहुत सुन चुका। उसकी अपनी नसें तन आयीं। वहाँ से टल जाना ही उसने बेहतर समझा। कुछ दूर जाकर बैठ गया और आने वालों की प्रतीक्षा करता रहा। उतने घने बादलों के बावजूद वर्षा नहीं हुई। वह उमस रात भर बनी रही। वह रात—बिन नींद की रात थी।

दूसरे दिन भी सुबह से शाम तक रामचरित्तर आँगन में टहलता रहा। उस समय तक टहलता रहा, जब तक बिन बादलों की, अनायास ही हलकी बारिश न शुरू हो गयी। कोई नहीं पहुँचा। चिन्ता उसे दबोचने लगी। वह अधिक आशंकित होता गया। उस दिन की-सी स्थिति में वह घर से आँगन और आँगन से घर को आता-जाता रहा। बारिश जब थमी, अँधेरा छाना शुरू हो गया था। डाकिये ने घंटी बजाई, वह झपटकर घर से बाहर आ गया। उसके नाती ने उसके लिए वह रजिस्टर्ड चिट्ठी पढ़ी। चौबीस घण्टे की मुहलत दी गयी थी उसे।

और..........

चौबीस घण्टे बाद। उस इलाके में वह अकेला था। उससे कोई नौ मील की दूरी पर उसके परिवार के सदस्य जब उसके भूमि और आवास मंत्रालय से लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे, तो रामचरित्तर अपनी पचास वर्ष पुरानी ज़मीन पर, पाँवों को बड़ी मज़बूती के साथ टिकाये हुए खड़ा था। अपने सामने के मुड़िया पहाड़ की-सी तटस्थता और संकल्प लिए वह अपने घर के एकदम आगे, गुलैची के पेड़ के आगे खड़ा रहा।

और वह दहाड़ता हुआ लोहे का दैत्य, अपने रास्ते के हर पत्थर, हर पेड़ को उखाड़ता हुआ, फूल-पौधों को मसलता-कुचलता रामचरित्तर के बस कुछ ही क़दमों पर था। उसका चालक बिन मूँछों का था, पर रामचरित्तर को ऐसा लग रहा था कि उसकी गरदन की टाई झूल रही थी—और उसके चेहरे पर घनी मूँछें थीं।

(चार)

तोषण

लोग उसको हमेशा चलते ही पाते थे। लोगों को हैरानी होती। कुछ लोग उसे कल-मानव कहते क्योंकि वह रोबोट की तरह चलता था। उसकी जवानी चली गयी थी, दिन बीत गये थे पर चाल वही थी। कमर अब भी केले के पेड़ की तरह सीधी थी। चेहेरे पर झुर्रियाँ आ गयी थीं, पर आँखों में अब भी वही पुरानी चमक थी। मैं यह नहीं जानता कि यह मेरे लेखक होने की कमज़ोरी या विशेषता है कि जब भी मैं उसके सामने होता हूँ, उसकी आँखों में मुझे उसका

अतीत झिलमिलाता-सा लगता है। मेरे सभी ख़्याल अनायास ही रुक जाते हैं और मैं उसके बारे में सोचता रह जाता हूँ।

उस वक़्त मुझे और कुछ नहीं सुनाई पड़ता है, उस अपने और उसके हृदयों की धड़कनें। मैं यह नहीं समझ पाता कि मेरे हृदय के इस तेजी के साथ धड़कने का क्या कारण हो सकता है। मेरे कान जो संगीत के लिए भी बहरे होते हैं, उसकी बातों के लिए अपने आप खुल जाते हैं। आँखें इस तरह खुल जाती हैं जिससे वह गहरे अँधेरे को भी भेद सकें। मैं यह भी नहीं समझता कि मुझे देखकर उसका चेहरा काँपने क्यों लगता है। बातें करते समय उसका गला रुँध जाता है। उसके दाँत, जो मुझे एक आश्चर्य से प्रतीत होते, चमकने लग जाते हैं। उसके चेहरे के काले रंग के कारण उसके ये दाँत और भी सुन्दर लगते थे। उन दाँतों को देखकर लोगों को प्राय: यह सन्देह होता कि शायद वे नकली हों पर सच्चाई तो यही थी उसका एक भी दाँत न टूटा था न सड़ा।

मेरी माँ जब उसकी प्रशंसा करती तो इन शब्दों से—

"ख़राब आदमियों के दाँत जल्दी ही सड़ जाते हैं। रघुसिंह के दाँत आज भी भरपूर और चमकीले हैं क्योंकि यह हमारे गाँव का सबसे अच्छा आदमी है। उसने अपने जीवन में कभी भी कोई पाप नहीं किया और न ही कभी किसी का दिल दुखाया है।"

माँ की इन बातों पर मुझे हैरत होती। मैं यही नहीं समझ पाता कि माँ को कैसे इतना बड़ा विश्वास है कि रघुसिंह ने कभी कोई पाप किया ही नहीं । पाप तो प्राय: लोगों से छिपाकर किया जाता है। पाप का अकेला गवाह तो पाप करने वाला ही होता है।

वृद्ध रघुसिंह के बारे में सोचते हुए मुझे दोस्तोवस्की की वे बातें याद आ जातीं जो उसने अपने इलियट के लिए लिखा था। उसका दावा है कि उपन्यास का विशिष्ट उद्देश्य यथार्थ में एक अच्छे आदमी का चित्रण करना है, और यही दुनिया का सबसे कठिन काम है और वह भी आज। वह यह भी कहता है कि इस कोशिश में अब तक के सभी लेखक असफल रहे हैं ·········अच्छा एक आदर्श है। एक ऐसा आदर्श जिसे प्रस्तुत करने में सभ्य यूरोप भी पीछे रह गया है। दोस्तोवस्की की इस सच्चाई को एक सम्पूर्ण सत्य मानना शायद मुझसे न हो सके, पर उसकी इस दलील को मैं महत्त्व देता हूँ। प्रिंस मिक्खी को एक बार बहुत अच्छा मानने से मैं हिचकता नहीं हूँ। और जब मैं गाँव के लोगों द्वारा रघुसिंह को पागल कहते सुनता हूँ उस वक़्त मेरे हृदय में उसके लिए वही हमदर्दी होती है जो दोस्तोवस्की की बेवकूफ़ के लिए होती है।

रघुसिंह के हाथ में हमेशा बाल-शिक्षा की एक छोटी-सी पुस्तक होती थी। बीस वर्ष पहले की पुस्तक जिसे उसने अपनी छोटी बेटी धर्मावती के लिए खरीदा था। पुस्तक देखने से पहले ही धर्मावती चल बसी थी। वह एक लम्बी बीमारी के बाद की मृत्यु थी। तब से आज तक रघुसिंह हाथ में पुस्तक लिए अपनी बेटी को ढूँढता फिरता है।

न जाने किस सनक का शिकार होकर उसके पीछे हो लिया था। शायद यह देखने के लिए कि दिन-भर घूम-फिर कर वह कहाँ जाता और करता क्या है? अपने घर से निकलकर वह जवानों की तरह चलता हुआ चीनी दूकान के पास पहुँचा। जेब से पैसे निकालते हुए भीतर गया। उसके हाथ में चवन्नी थी। उसने बिना कुछ कहे उसे दुकानदार के हाथ में रख दिया। दुकानदार ने एक बड़ा-सा दोना लिया और उसमें सेंटवाले पच्चीस बिस्कुट भर कर उसकी ओर बढ़ा दिया। दोना हाथ में लिए वह बाहर निकला। दूकान की बगल ही में मोची

की छोटी-सी दुकान थी। सामने मोची का छोटा बेटा अपने कुत्ते से खेल रहा था। रघुसिंह ने एक बिस्कुट बच्चे को दिया और एक कुत्ते को। बिस्कुट देते समय उसके हाथ की छोटी पुस्तक छूट कर नीचे गिर गयी। उसने उसे उठाया, अपनी धोती से पोंछा और आगे बढ़ गया।

कृपया यह मत सोचिएगा कि मुझे अपनी कहानी के लिए पात्र की तलाश है इसलिए मैं इस बूढ़े के पीछे-पीछे चल रहा हूँ। और फिर आज की कहानियाँ मात्र चरित्र-चित्रण थोड़े ही हैं। पर यह कहना ज़रा कठिन है कि मैं अपनी ज़िम्मेदारी छोड़ रघुसिंह के पीछे क्यों हो लिया। विज्ञान की प्रगति—आह! जी उसे कोसने को करता है । मोटर क्या है मैं उसका गुलाम हूँ। अभी आधा मील भी न चला और पैर जवाब देने लगे हैं। वह चलता रहा। बूढ़े शरीर से जवानी की चाल लिये और मैं आदत खोकर जवान शरीर से बूढ़े की तरह चल रहा था। मन में आया घर लौट जाऊँ। लोग मुझे देख रहे थे। मैं जानता था कि सभी लोग मुझे आश्चर्य के साथ देख रहे होंगे और कुछ मुझे भी पागल कहते होंगे। पर चूँकि मैं जीवन में कभी भी पीछे को नहीं हटा इसलिए चलता रहा। ये अंग्रेज ठीक ही कहते हैं, 'हैबिट इज़ दी सेकण्ड नेचर।' अभी तो पाँच वर्ष भी नहीं हुए महाशिवरात्रि के उपलक्ष्य में मैं चलकर कांवरियों के साथ परी तालाब की यात्रा करता था। बहुत से लोग थककर बस द्वारा अपनी यात्रा पूरी करते थे पर मैंने कभी ऐसा नहीं किया था। आज वह आदत जाती रही, क्योंकि दिन-भर मोटर चलाते रहता हूँ इसलिए अपने को चलाना कठिन हो रहा था।

वह उन बच्चों के पास पहुँचा जो बीच रास्ते में गेंद खेल रहे थे। उसने सभी को एक-एक बिस्कुट दिया और आगे बढ़ने से पहले बच्चों से कहा, "तुम लोग ग्राम परिषद के प्रधान महोदय से अपने लिए फुटबाल का एक मैदान क्यों नहीं माँगते। रास्ते में मोटर आती-जाती रहती है।"

बच्चों में जो सबसे अधिक नटखट था उसने हँसकर कहा—

"प्रधान महोदय का लड़का तो अभी भी अपनी माँ का दूध पीता है। प्रधान जी उसी के बड़ा होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।" सभी बच्चे हँस पड़े थे।

भला मैं यह कैसे मान सकता था कि उन बच्चों को यह मालूम ही नहीं था कि मैं ग्राम परिषद के प्रधान का छोटा भाई था।

वह चलता रहा और मैं भी उसके पीछे-पीछे किसी तरह चलता ही रहा। चलते समय वह कभी भी पीछे मुड़कर नहीं देखता था। थकावट साँसों को बाँधती-सी लग रही थी। मैंने उसे मन्दिर के भीतर जाते देखा। उसके एक हाथ में वही पुस्तक थी और दूसरे में बिस्कुट का दोना। बिस्कुटों का अनुमान लगाया। रास्ते में कोई बीस बच्चे गेंद खेल रहे थे। उसने सभी को दिये थे। उधर मोची के लड़के और उसके कुत्ते को भी। शायद दोने में तीन बिस्कुट बाक़ी थे। वह भीतर पहुँचा, मैं भी मन्दिर के दरवाज़े के पास खड़ा उसे देखता रहा। पैरों में जूते होने के कारण मैंने बाहर रहना ही ठीक समझा। उसके हाथ की पुस्तक में बच्चों की कोई प्रार्थना थी, तभी तो उसने पुस्तक खोली और हाथ जोड़कर मन-ही-मन पढ़ता रहा। कोई पाँच मिनट बाद उसने दोने से बिस्कुट निकाले। सचमुच ही मेरी गिनती एकदम ठीक थी। उसने तीनों बिस्कुट विष्णु की मूर्ति के सामने रख दिये और नतमस्तक होकर बाहर आ गया। वह अभी मन्दिर के आँगन से कुछ ही दूर आया था कि एक भिखारिन एक बच्चे को गोद में लिए और दूसरे का हाथ थामे सामने आ गयी। भिखारिन पर नज़र पड़ते ही वह मन्दिर को लौट गया। उसके पीछे जाना चाहकर भी मैं वहीं पेड़ की छाया में खड़ा रहा। तब तक भिखारिन भी

सामने के गुलमोहर के पेड़ के नीचे पहुँचकर सुस्ताने लगी थी। वह दौड़ा हुआ लौटा। हाँफ बिल्कुल नहीं रहा था। उसके हाथ में तीन बिस्कुट थे जिन्हें उसने भिखारिन के सबसे छोटे बच्चे के हाथों में थमा दिये और आगे बढ़ गया।

मुझे अपने पैरों में कम्पन महसूस हुआ। मैंने अपने पैरों को चलने का आदेश दिया, ठीक उसी तरह जैसे दफ़्तर में नौकरों को देता हूँ। लेकिन पैरों ने मेरा आदेश नहीं माना। सामने का रास्ता सीधा था, इसलिए थोड़े से आराम के लिए मैं बैठ गया। बैठकर उसके बारे में सुनी कहानियों की सच्चाई को तौलता रहा, क्या सचमुच ही आदमी अपने धन को बाँटकर समाप्त कर सका है? लोग यह भी कहते हैं कि इसने अपने खर्च से गाँव की चार लड़कियों की शादी करवाई है। तो फिर जिस व्यक्ति ने गाँव के बच्चों के लिए पहली हिन्दी पाठशाला बनवाई हो उसे पागल क्यों कहते हैं? मैंने उसे अपनी आँखों गाँव के रमुआ शराबी और जुआरी के पैरों पर गिर कर यह याचना करते सुना था, "तुम से भीख माँगता हूँ रमुआ। तुम्हारे सात बच्चे हैं। लड़की शादी लायक हो गयी है। ये शराब और जुआ छोड़ दो।"

वह गिड़गिड़ाने लगा था, रोने लगा था। रमुआ ने लात मार कर उसे गिरा दिया था। वह उठकर उससे दोबार लिपट गया था।

वह कुछ दूर निकल गया था। कहीं वह आँखों से ओझल न हो जाय इसलिए मैं अपने स्थान से उठा और उसके पीछे हो लिया। मुझे अपनी जासूसी हरकत पर आश्चर्य हो रहा था, फिर भी बढ़ता रहा। वह ईख के खेतों के बीच पहुँच गया था। सामने बरगद का पेड़ था। वह बैठ गया। कुछ देर बाद मैं उसके पास पहुँचा। मेरी ओर देखते हुए उसने साधारण ढंग से कहा, "अब तो बुढ़ापा चलने ही नहीं देता। मैं सोचता हूँ, तुम्हें मुझ से कुछ पूछना है।"

मैंने पहले आराम किया फिर कहा, "रघु चाचा, तुम इतना अधिक चलते क्यों हो ?"

"चलती को गाड़ी कहते हैं।" उसने मुस्करा कर कहा।

मेरे मन में न जाने क्या आया, मैंने नीचे से मुट्ठी भर माटी उठाकर उसे धीरे-धीरे गिरने दिया। मेरे लिए मिट्टी इतनी मुलायम, इतनी प्यारी कभी नहीं थी। नाक तक पहुँचाया। इतनी सोंधी कभी नहीं। वह हँस दिया। मेरे मन की बात को ताड़ते हुए उसने धीरे से कहा, "इसमें भारतीय कुलियों के ख़ून और पसीने की सम्मिलित गन्ध है।"

ठीक सामने मुड़िया पहाड़ के बारे में जो बात मैं नहीं समझता था वह यह थी कि आख़िर परियों से विश्वासघात करके भी उस ग्वाले का मस्तक इतना ऊँचा क्यों है। यह चोटी जो मन्दिर के कलश से भी ऊँची और गर्वोन्मुक्त लग रही थी—क्या इससे विश्वासघात को बढ़ावा नहीं मिलता? रघुसिंह ने भी मुड़िया पर्वत की ओर देखा। मैंने सोचा शायद वह उसके बारे में कुछ कहे पर वह चुप रहा। मैं कुछ पूछता कि वह एकाएक उठकर खड़ा हो गया। अपने हाथ की पुस्तक को काँख के नीचे दबाया और चल पड़ा। कुछ आगे बढ़कर, बिन पीछे की ओर मुडे, उसने गम्भीर स्वर में कहा, "थककर बीमार हो जाओगे, घर लौट जाओ।"

मैंने नाहीं की और उसके पीछे-पीछे चलने लगा।

कटनी की धूए थी, कड़कती हुई धूप। गाँव काफ़ी पीछे छूट चुका था। दो टीलों के बीच से कल-कल करती नदी बही जा रही थी। उसकी कलकल ध्वनि में एक ठंडक थी इसका विश्वास था, पर उसे महसूस करना दुश्वार था। मेरे शरीर से पसीना बहा जा रहा था। पसीने की ठंडक से कभी-कभार एक क्षणिक सन्तोष मिल जाता।

चलते रहे, जब तक कि वह ठौर न आ गया जहाँ लोग कड़कती धूप से बेपरवाह ईख काटे जा रहे थे। माहौल कोलाहल होने के कारण रमणीक था। कुछ ही दूरी पर इमली का पेड़ था। मैं भी उसके पीछे-पीछे वहाँ पहुँचा। वहाँ दो खाली डोल थे। अपने हाथ की पुस्तक को कमर में खोंसकर उसने दोनों हाथों से उठा लिया और रामायण की चौपाइयाँ गुनगुनाता हुआ आगे को बढ़ गया। मैं जानता था कि जिस दिशा को वह बढ़ रहा था, उसमें कुछ ही दूरी पर दूसरा गाँव था—हमारे गाँव से छोटा।

मुझसे चला नहीं जा रहा था। पैर के साथ शरीर भी काँपने लगा था, गला सूख गया था, आँखें तेज धूप के कारण दुखने लगी थीं। मेरे धूप का चश्मा मोटर में छूट गया था। किसी तरह झपट कर मैं उसकी बगल में पहुँचा।

"इतना चल लेने के बाद भी तुम थके नहीं हो?"

"किसने तुम्हें कहा कि चलने से थकावट होती है? थकावट तो बैठे रहने से होती है।"

"ये डोल लिये कहाँ जाते हो?"

"देखते नहीं ये ईख काटने वाले मज़दूर किस तरह प्यासे हैं।"

"पर चाचा, ये काम तुम्हारा तो नहीं........"

"अरे यह आदमी का काम है और अगर तुम्हें मालूम नहीं तो एक बार यह भी जान लो कि मैं भी आदमी हूँ।"

मुझ से अधिक कुछ कहा न गया। उसके पीछे-पीछे चलता रहा, अपने आप को पागल कहकर भी। गाँव के शुरू ही में सरकारी नल था। उसने दोनों डोल भरे और उन्हें दोनों हाथ में दो तरफ़ से टाँगे खेतों की ओर लौटने लगा। उसके हाथ से मैंने एक डोल लेने की कोशिश की पर उसने यह कहकर इन्कार कर दिया कि मैं अधिक थक जाऊँगा।

उसके पीछे-पीछे उसे देखता हुआ मैं अपनी लड़खड़ाती चाल से चलता और सोचता रहा। मेरे सामने वही आदमी बढ़ा जा रहा था जो हर दो महीनों में ब्लडबैंक में एक बोतल खून दे आता है। वही रघुसिंह जिसने उस औरत से शादी की थी जिससे शादी करने को गाँव का कोई भी आदमी तैयार नहीं हुआ था। मेरी माँ यह कहानी बड़ी रोचकता से सुनाती थी। अपनी इस कहानी को समाप्त करते हुए वह कहती, "वही रनिया जिसे सभी ने उसकी बीमारी के लिए ठुकराया और दुतकारा था, आज रघु के घर में सचमुच ही रानी बनी बैठी है।"

मेरी माँ रनिया और रघु के पहले बेटे की कहानी भी सुनाती, जो आज भी क़ैद में है। गाँव के सभी लोग कहते हैं कि रघुसिंह अगर चाहता तो उसे बचा लेता, पर उसकी जगह पर लछमिया के बेटे को सजा हो जाती। अपनी पत्नी के आग्रह और आँसुओं को टालते हुए उसने कहा था, "रानी, जिस तरह मंगलवा तुम्हारा बेटा है उसी तरह बलदेवा भी किसी माँ का बेटा है। तुम तो यह जानती हो कि गुनहगार हमारा अपना बेटा है फिर भी उसे बचा लेने का मुझसे अनुरोध करती हो। ठीक है ममत्व-प्रेम बुरा नहीं, पर जरा लछमिया के बारे में तो सोचो—उसका बेटा निर्दोष है। अगर तुमने दोषी बेटे को बचा लिया और वह अपने निर्दोष बेटे को न बचा सके यह कैसे हो सकेगा रानी! और फिर रानी, मैं अदालत में झूठ कैसे बोलूँगा? मैं तो आज तक कभी भी झूठ नहीं बोला।"

कहते हैं कि मंगल के क़ैद हो जाने पर वह बिल्कुल उदास नहीं हुआ था। लोगों के पूछने पर उसने कहा था कि इसका तो यह मतलब होगा कि मुझे गुनहगार से हमदर्दी है, उसे सजा

मिलने का दुख है मुझे।

चलने में उसे भी कठिनाई होने लगी थी पर वह चलता ही रहा। दोनों डोलों को थामे किसी तरह वह ऊँचाई चढ़ गया, पर उतरते समय उसे कठिनाई होने लगी। मैंने आगे बढ़कर, उसके न चाहते हुए भी एक डोल उसके हाथ से ले लिया। उसे इसका दु:ख हुआ पर उसने कहा कुछ नहीं। अपने शरीर को पीछे की ओर रोके वह उतरता रहा।

मुझे जिस बात का सबसे अधिक आश्चर्य हुआ वह था मेरे भीतर का अकस्मात परिवर्तन। मैं अपनी थकावट भूल कर चल रहा था। डोल में बोझ था—बोझ जो मेरी थकावट को हल्का कर गया था। मेरे लिए सबसे बड़ा आश्चर्य पर शायद रघुसिंह के लिए नहीं।

अपने में एक अज्ञात नवशक्ति के संचारण से प्रोत्साहित होकर मैंने पूछा, "यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि आपको यह कैसे मालूम हुआ कि मज़दूर प्यासे हैं, उन्होंने तो आपसे पानी की माँग नहीं की।"

उसके थके-माँदे चेहरे पर वही उन्मुक्त हँसी खिल उठी। पूरी तरह हँस लेने के बाद उसने कहा, "मैं मज़दूरों को भिखारी नहीं मानता।"

"मैं आपका मतलब नहीं समझा।"

"हममें लोगों की आवश्यकताओं और अभाव को परखने की शक्ति होनी चाहिए, अगर हम यह प्रतीक्षा करते हैं कि लोग माँगें तभी हम दें तो इसका तो यही मतलब होता हैं कि हम लोगों को भिखारी मात्र समझते हैं।"

ऐसा महसूस हुआ कि पहली बार मैं रघुसिंह की कोई बात समझ पाया था।

जिस समय वह मज़दूरों को पानी पिला रहा था उस समय मुझे भी ज़ोरों की प्यास लगी हुई थी, पर मुझमें न खुद पानी लेकर पीने का साहस था और न ही माँगने का।

हम फिर चलने लगे।

हमारी दाईं ओर मज़दूर आते-जाते दिख रहे थे। ऐसा लग रहा था कि भक्तगण परीतालाब का जल ले-लेकर जा रहे थे। चल तो मैं रहा था, मज़दूर तो अपने-अपने काम में लगे हुए थे।

यह सच था कि मैं चल रहा था। यह आश्चर्य भी था कि मैं चल रहा था और अब भी चल रहा था। चलने के लिए नहीं बल्कि बढ़ने के लिए और पहुँचने के लिए। पहले भी चला था पर दूसरे ढंग से। छोटे होने पर बस या मोटर से यात्रा करते समय ऐसा लगता है कि मोटर या बस नहीं दौड़ रही हैं, बल्कि किनारे के पेड़-पौधे, घर, दूकान और पहाड़ दौड़ रहे हों। आज पहली बार महसूस कर रहा था कि मैं चल रहा हूँ, पेड़-पौधे नहीं। यह विचित्र था, पर सच था। मैं थक गया था, पर थकावट के बार में न सोचकर यह सोच रहा था कि यात्रा कैसे समाप्त होगी। कब समाप्त होगी और दूसरी बार कब और कैसे शुरू होगी?

मैंने अपने आपसे कहा—यह रघुसिंह ने मुझे जगा दिया। पर क्या सचमुच ही मैं जागा था? या अपने ही में चिपक गया हूँ? मैंने रघुसिंह से प्रश्न किया, "अब कहाँ जाना है?"

"घर।"

"घर पहुँच कर क्या करोगे, चाचा?"

"बहुत ज़ोरों की भूख लगी है, भर पेट खाऊँगा।"

मेरे भीतर से भी आवाज़ आयी कि आज पहली बार मुझे सच्ची भूख लगी थी और आज पहली बार जो कुछ भी सामने आयेगा भर पेट खाऊँगा, चाव से खाऊँगा। लेखक की तरह

दावा करके नहीं, बल्कि उसे जैसा देखा है वैसा ही लिखने का प्रयत्न करूँगा। टेकनीक चाहे नयी न हो पर स्टफ नया होगा। और हाँ, यह कहानी आप ही को समर्पित करूँगा।

(पाँच)
अस्वीकार

हर रात अपने कमरे में बन्द आप अपनी जीवन की बातों को लिखते हुए कई बार ऊब भी सकते हैं। कई बार काग़ज़ों को फाड़कर फिर लिखने को जी न करेगा। आपके भीतर यह प्रश्न भी पैदा हो जाये कि ये सब कुछ लिखने से क्या लाभ! आप आत्मशान्ति जैसे किसी बड़े शब्द का अर्थ ढूँढ़ते-ढूँढ़ते एकाएक अपने को अशान्त पाने लगें। उस अशान्ति को खण्डित करने के लिए कमरे के भीतर चहलक़दमी शुरू हो जाये। बाहर की वर्षा जारी रहे और उससे भागकर आपका कोई मित्र आपके घर के भीतर आ जाये। उसके आ जाने से आप के भीतर खलबली मिटती हो और उसे ठण्ड से काँपते पाकर आपको भी मौसम का आभास हो। ठण्ड लगते ही अपनी सिकुड़ती अँगुलियों से खेलने लग जायें। स्कूल में कभी विज्ञान के आपके अध्यापक ने एनर्जी की व्याख्या करते हुए आपको अपने ही हाथों की रगड़ से शान्ति उत्पन्न करने का उपाय बताया होगा। भीतर की छिपी हुई गरमी के ऊपर आ जाने पर उस अध्यापक की याद आ जाना स्वाभाविक ही रहेगा। उस अध्यापक की याद के साथ बँधी और कुछ यादें सामने आ जायें, जिससे आप को एक क्षणिक टीस-सी महसूस हो। मित्र की उपस्थिति का यह लाभ रहेगा कि उन बातों के बारे में देर तक सोच न पायें, क्योंकि वह गरम कॉफ़ी की माँग कर बैठेगा।

कॉफ़ी की चुस्कियाँ लेते हुए आप दोनों अख़बारों की ख़बरों पर टिप्पणियाँ आरम्भ कर दें और फिर पिछले दिनों का वह सर्वेक्षण याद आ जाये जब अपने सम्पादक की झिड़कियाँ सुनने के बाद सर्वेक्षण को रद्दी की टोकरी में फेंक देने को विवश हो जाना पड़ा था। सम्पादक के मुँह से यह सुनकर मैं भीतर हँसकर रह गया कि मुझे सही सर्वेक्षण करना नहीं आता। तीन दिन के देहतोड़ परिश्रम पर पानी फिर जाने के दु:ख को छिपाकर मैं उस स्नैक-बार में आ जाता हूँ जो अख़बार के दफ़्तर के ठीक सामने है। बीयर के ऊपर आ गये फेनिल भाग पर नज़र टिकाये रहने से सर्वेक्षण के वे क्षण अपने आप सामने आने लगे।

पहले प्रश्न, फिर उत्तर········प्रश्न, उत्तर········प्रश्न उत्तर!

"आप क्या करते हैं?"

"मैं कुछ भी नहीं करता।"

"मेरा मतलब, कहाँ नौकरी करते हैं?"

"मैं बेकार हूँ।"

दूसरी गली में भीड़ की आपाधापी से अलग वह बुढ़िया मूँगफली की टोकरी के सामने बैठी हुई, मेरे प्रश्न सुनकर मुझे घूरने लग जाये।

"जब हर चीज़ का दाम बढ़ गया तो फिर मूँगफली का भी महँगा होना स्वाभाविक क्यों नहीं?"

उसके इन प्रश्न से मेरे भीतर के बाक़ी प्रश्न बाहर न आ सके।

बाज़ार के सामने मछली खरीदने के लिए लोगों की लम्बी कतार में एक व्यक्ति से मेरा यह पूछ बैठना—

"समुद्र से घिरे इस देश में मछली का यह अभाव क्यों ?"

"यह सवाल सैलानियों से क्यों नहीं पूछते ?"

"सैलानियों से क्यों ?"

"तो फिर सम्बन्धित मन्त्रालय से जाकर पूछो।"

अपनी नोटबुक में मैं यह लिख गया था कि तीन गुनी क़ीमत पर भी लोगों को मछलियाँ नहीं मिल रहीं। पर्यटक इस देश से खुश होकर जाते हैं। यहाँ की मछलियाँ उन्हें बहुत भाती हैं।

वह मेरी ही तरह कोई लेखक रहा होगा, जिससे मैंने पूछा था—

"इस समय क्या लिख रहे हैं ?"

"एक उपन्यास।"

"शीर्षक क्या है ?"

"अपने देश में अजनबी।"

उपन्यास की कहानी सुनने की इच्छा न पाकर मैं आगे जाता हूँ। पीछे से कोई मेरे कन्धे पर हाथ रख देता है। पीछे मुड़कर पागलों की-सी मुस्कान लिये एक युवक को सामने पाया। मेरे सर्वेक्षण में उसका नाम आ जाता कि इससे पहले वही पूछ बैठा था—

"आप पत्रकार हैं·········मैं आप को जानता हूँ·········आप मेरे एक प्रश्न को अपने पत्र में छाप सकते हैं ?"

"कैसा प्रश्न ?"

"हमारे समुद्र-तटों पर अभी और कितने होटल बनने हैं ?"

"मुझे क्या पता !"

"आपको ऐसा नहीं लगता कि कुछ दिनों में एक-दो बचे हुए तट भी कंटीले तारों से घेर लिये जायेंगे ?"

गाँव में सब्जियाँ लेकर पहुँचे हुए एक बूढ़े को नमस्ते करने के बाद—

"आपको भी सरकार से शिकायत है ?"

"मुझे उन रंग-बिरंगे कीटाणुओं से शिकायत है जो फसल को तहस-नहस करते जा रहे हैं।"

"बढ़ती हुई महँगाई के बारे में आपका क्या ख़्याल है ?"

"शायद इससे भी परिवार-नियोजन हो जाये।"

मैं भी 'शायद' कहकर उस युवक को रोक लेता हूँ, जिसके चेहरे पर बारह बज रहे थे—

"क्यों दोस्त, इस तरह उदास क्यों हो ? नौकरी नहीं मिली ?"

"तुम दे रहे हो ?"

"मिल जायेगी। धीरज के साथ प्रयत्न जारी रखो !"

"आप नेता हैं क्या ?"

इस प्रश्न से घबरा जाना स्वाभाविक है। रास्ते में चलते हुए एक आवारा ख़्याल दिमाग में आया—आक्रोश से भरी यह युवा पीढ़ी कुछ राजनेताओं को चाचा, मामा और बहनोई कहकर अपनी किश्ती को किनारे क्यों नहीं लगा लेती ? इसी ख़्याल के साथ मुझे वह व्यक्ति याद आ गया, जिसने अपने बेटे को अच्छी-खासी कुर्सी पर बैठाने के लिए ज़रा भी कंजूसी नहीं की थी। उस लड़के को भी तो मैं जानता हूँ, जिसके पास बेहतर लियाकत थी, पर दो हज़ार रुपये

नहीं थे। सर्वेक्षण के पहले ही दिन वह मुझे दालपूरी बेचते हुए मिल गया था। उससे अगर मैं प्रश्न नहीं कर पाया तो केवल इसलिए कि उसके उत्तर को अख़बार में छापने का मतलब मेरे लिए वही होता जो 'न्याय' के सम्पादक के साथ हुआ। वह मुराद तो मुझे अपने ही काले कमरे में बन्द होकर मिल जाती है। मेरे भीतर यह इच्छा तो आज भी है कि 'न्याय' के सम्पादक की रिहाई पर मैं उसके गले में हार पहनाने वाला व्यक्ति होऊँगा।

बाहर पानी बरसता रहता है। ठण्डक शीशे को पार करके भीतर पहुँचती रहती है। राजेन कॉफ़ी की प्याली में सिगरेट के टुकड़े को कुचल देता है। मुझे न भाने वाली यह सिगरेट की गन्ध मेरी नाक में चिपक जाती है। मेरे दिमाग में कुछ ख़्याल आते हैं। राजेन की उपस्थिति में उन्हें लिख नहीं पाता, इसलिए उन्हें बन्द कमरे में अकुलाते हुए छोड़कर मैं राजेन की बातों को बीच-बीच में सुनता रहता हूँ।

सरकार मुनाफ़ाख़ोरों के खिलाफ़ जेहाद शुरू कर चुकी है—तेल और साबुन के बाद अब चावल के लिए भी कतारें लगने लगी हैं........सेड्वीक रिपोर्ट स्वीकृत हो चुकी है........ ओकाम से एक और अंफ्रीकी देश बाहर आ गया है—कॉन्फ्रेंस में भाग लेने वाले हमारे दोनों मंत्री वहाँ से आगे जा चुके हैं........"

राजेन हमेशा इसी तरह बोलता है, गोया वह अख़बार से ख़बरों के शीर्षक और अनुशीर्षक पढ़ रहा हो! मेरी राय में, इसे स्थानीय रेडियों और टेलीविजन का स्पीकर हो जाना चाहिए था। पर नहीं, जहाँ पहले से ऊब हो, वहाँ स्थिति और बिगाड़ने से क्या लाभ! और फिर वहाँ से उसको चे गुवेवारा, काहेन बेण्डित, तारिक अली और इयान पालाक की दुहाई को कोई सुनना चाहे तब तो। फीडेल कास्ट्रो टाइप की उसकी दाढ़ी एकदम नकली-सी लगती थी, लेकिन उससे उसके चेहरे का वह दाग़ अवश्य छिप गया था जो चुनाव के दौरान उसे मिला था। उसे ठण्ड से अपने आप में सिकुड़े पाकर मुझे भी गरमी की चाह पैदा हुई। दूसरे कमरे की पुरानी अलमारी में आधी बोतल ओ-दे-वी अब भी बाक़ी होगी। पता नहीं, होगी या नहीं! हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है। मस्तिष्क पर ज़ोर देकर क्षणभर को सोचता रहा— पिछली रात तो मैंने बिल्कुल नहीं पी थी........उससे पहले की रात? उसी रात तो बोतल मँगवाई थी ....अनवर भी मेरी ही तरह बहुत कम पीता है, इसीलिए आधी ही बोतल में वह कुछ ज़्यादा बोलने लगा था। इसके बाद तो मैंने अलमारी खोली ही नहीं। जब पूरा यकीन हो गया कि अब भी बोतल में कुछ होगा, तो मैंने धीरे-से राजेन से पूछा—

"आज तुम्हारे परहेज का दिन तो नहीं?"

यह अनवर का वाक्य है, जिसका यही मतलब होता है कि कुछ तो शुरू हो जाये। स्वाभाविक था कि मेरे इस प्रश्न से राजेन का चेहरा खिल उठे। बस प्रस्ताव के ताप से ही उसका सिकुड़ा हुआ शरीर एकाएक विकसित-सा हो गया। मैं दूसरे कमरे में पहुँचा। अलमारी से बोतल निकाली। उसमें आधे से कुछ अधिक ही थी। घर के पाँचों गिलास कहीं जूठे पड़े थे। मेज की सुराही के पानी से कॉफी के दोनों प्यालों को खंगालकर उन्हीं से काम निकाल लिया। प्यालों में शराब पीने का यह तरीका भी अनवर का ही था। वह यही कहता कि दुनिया इसे चाय या कॉफ़ी ही समझती रहेगी। प्याले को पकड़कर होंठों तक ले जाने की राजेन की अधीरता पर मुझे हँसी आ गयी, वह शौक से नहीं बल्कि ठण्ड से इतना अधिक आतुर हो चला था। यह ठण्ड भी ग़ज़ब की थी! राजनीतिक कार्यवाहियों की तरह इसका भी

कुछ पता नहीं चलता था कि कब इसका तनिक भी अहसास न हो और कब यह हड्डियों तक जम जाने के संकल्प के साथ आ जाये। इधर तीन दिन से बहुत अधिक ठण्ड थी, क्यूर्पिप से भी ज्यादा।

ओ-दे-वी की कड़वाहट राजेन को बहुत अच्छी लगी, तभी तो आँख मूँदकर वह उसे महसूसता रहा। एक ही घूँट में उसके भीतर की ठण्ड काँप गयी थी। वह कुर्सी पर अकड़कर बैठ गया। मुझे लगा कि बहुत पहले ही वह भाषण आरम्भ कर जायेगा। मैंने चाहा कि दूसरे कमरे में पहुँचकर रेडियो को ऑन कर दूँ, पर फिर ख़्याल आया कि ओ-दे-वी के दूसरे दौर में राजेन का स्वर रेडियो के ऊपर हो ही जायेगा।

हुआ भी वही। दूसरे प्याले के ख़त्म होने से पहले ही राजेन चिल्ला उठा—

"आई से दि सिस्टम इज़ रॉंग! ये ढंग और तरीके इस जन्नत को जहन्नुम में बदल देंगे!"

"कुछ हस्तियाँ इस सच्चाई को समझकर भी चुप हैं। यह ख़ुदगर्जी इतनी अंधी क्यों है कि उस तबाही को नहीं देख पा रही, जिसमें खुद फ़ना हो जायेगी।"

वह बोलता चला गया।

काफ़ी देर बाद वर्षा कुछ थम पायी थी। अँधेरे की गहनता बराबर थी। बहुत ही हल्की लड़खड़ाहट के साथ राजेन अपनी जगह से उठा। उसके साथ मैं भी बाहर आ गया। कोई पाँच मिनट के रास्ते पर था उसका घर। बाहर की ठण्ड ने मेरे समूचे शरीर को झकझोर दिया, फिर भी न जाने क्यों वह ठण्ड मुझे अच्छी लगी। उसे अपने अंग-अंग में महसूसता हुआ मैं राजेन को उसके घर तक छोड़ने चला गया। रास्ते में भी वह चिल्लाता ही रहा, पर उसका वह चिल्लाना एक नशे में चूर आदमी का चिल्लाना नहीं था। वह साहस और प्रोत्साहन पा चुकने वाले व्यक्ति का स्वर था। वह अपने क्षणभर के प्राप्त साहस और प्रोत्साहन का पूरा लाभ उठाना चाहता था।

मैंने उसे रोकने का प्रयत्न नहीं किया। वह बोलता रहा। गहन अंधेरे की ख़ामोशी उसे सुनती रही।

आधे मील से कम के फ़ासले पर दो मित्रों के बीच आपका घर हो। शहर की रौनक और सुविधाओं के कारण यह फ़ासला और भी कम दीखे। दोनों मित्रों में से एक हर शाम को आपके पास पहुँचकर यही जताता रहे कि वह अपनी अनुभूतियों को सहते-सहते थक गया है। दूसरा रात को पहुँचे और उसके भीतर आ जाने पर भी पटरी के कुत्ते भौंकते रह जायें। वह सहानुभूति के लिए पहुँचे, जब आप खुद उसके मोहताज हों। अपने भीतर के आक्रोश को वह अनाप-शनाप में व्यक्त करता जाये और आप सुनते रहें। दोनों के चले जाने के बाद भी आपका छोटा-सा कमरा उन आवाज़ों से गूँजता रहे। प्रतिध्वनियों की अनुध्वनियाँ होती रहें और आपको नींद आना मुश्किल हो जाये तो इसी बीच आपकी चारपाई के वे नन्हें-नन्हें जीव भी वह करने लग जायें जो आपके देश के कई बड़े-बड़े लोग करते आ रहे हों। खटमलों द्वारा आपका ख़ून का पीया जाना इस सावधानी से होता रहे कि आप उसके आदी होकर उसको महसूस भी न कर सकें।

काफ़ी रात बीते मैंने चारपाई पर बारहवीं करवट ली। ठण्ड से ठिठुरे एक खटमल को मेरे गरम ख़ून की आवश्यकता आ पड़ी। मैं चिहुँककर चारपाई के नीचे आ गया। अँधेरे में टटोलकर मेज़ पर के उस पुलिन्दे को ढूँढ़ने लगा, जिसमें वह अजीब गन्धवाला पाउडर था। फिर जब यादा

आया कि खटमल मारने वाली दवा के बदले किसी ने मुझे कुछ और ही बेच दिया था, तो मैं फिर से चारपाई पर लौट आया। खटमलों के मरने का समय अभी नहीं आया था।

मेरे लेटने के दूसरे ही क्षण बाद जब दूसरे खटमल ने बड़ी बेरहमी से मेरी ख़बर ली तो खीझ के साथ उठकर मैंने बत्ती जलायी। अपने तकिये के पास की चादर को धीरे से हटाया। काफ़ी मोटा खटमल मेरी आँखों के सामने था। चुटकी से उसे पकड़ा। उसके गुलगुलेपन से मज़ा आ गया। क्षण भर के लिए उसे चुटकी में घुमाता रहा। ख़ून से डब-डब और काला था वह। उससे कुछ देर तक खेलने के बाद मैंने उसे नीचे फर्श पर रखा और अँगूठे से उसे दबा दिया। मेरे शरीर का ख़ून पचाक से उस खटमल से बाहर निकला और बिखर गया, गोया पिचकारी से निकला हो। आत्म-शान्ति की लम्बी साँस लेकर मैं इस तरह निश्चिंत होकर चारपाई पर पड़ गया, मानो मैंने चारपाई के सभी दुश्मनों को मार डाला हो। कुछ देर बाद इस सच्चाई को समझकर मुझे अपने आप पर हँसी आ गयी। एकदम ऐसा ही होता है, मेरे पूरे देश में भी! यहाँ भी तो अनाचार जड़ें कुछ इस तरह भीतर को समायी हुई हैं कि कौन कहाँ तक उनका पार पाये!

अनवर जाते-जाते कह गया—

"भूत-प्रेत को बीमार मस्तिष्क की कल्पना माना जा सकता है, पर चुड़ैल कल्पना कैसे हो सकती है? अनेमिया से पीड़ित औरतों का खून कहाँ गया? ख़ून के बैंक से बार-बार ख़ून की माँग क्यों हो रही है? ये रक्तहीन मज़दूर······किसने इन्हें इस तरह चूस लिया?"······

तरह-तरह के प्रश्न मेरे कमरे में छोड़ दिये जाते हैं। ये प्रश्न अवसर पाकर मेरी चारदीवारी के भीतर ज्वार-भाटे की तरह उमड़ते रहते हैं। कभी लगता है, आदमी उनमें डूबकर फिर ऊपर नहीं आ सकता। कभी तो तमाम प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने में भूख-प्यास के साथ नींद भी जाती रहती है।

यह केवल कोरे कागज़ों पर आधी रात तक लिखते रहने से क्या होता है? इससे भी तो आदमी ऊब सकता है! मैं लिखना बन्द कर देना चाहता हूँ, पर ऐसा लगता है कि लिखना छोड़कर फिर तो जीना ही कठिन हो जायेगा। तो फिर क्या लिखने की विवशता भी खुदगर्ज़ी से भरपूर है? बहुजन हिताय का भी क्या अर्थ हो सकता है, जब लेखक खुद भूखा हो! अपने कमरे के प्रतिध्वनित प्रश्नों के साथ दिमागी कसरत करते हुए मैं सो जाता हूँ। सपने कई तरह के आते हैं। धूप में अपनी परछाईं को अपना पीछा करते पाना। कभी बहुत बड़ी ऊँचाई से नीचे को गिर जाना, कभी बहुत बड़ी ऊँचाई को चढ़ना। अँधेरे की आँखों से देखते हुए अपने आपसे कह जाता हूँ कि जीवन के स्पन्दन का आभास तो मिल जाता है इन चीज़ों से।

कभी दिन-दहाड़े किसी अच्छे रिपोर्ताज़ के साथ लौटते हुए ऐसा भी लगता है कि समय बूँद-बूँद टपककर मेरे अतीत के सभी सपनों को डुबाता जा रहा है। क्या यही मेरा सपना था कि मैं मीटिंगों के खोखले नारों को छापा करूँ? कुछ बातों पर टिप्पणी करने की चाह लेकर भी मैं केवल इसलिए कुछ कर नहीं पाता कि कैंची की खनक हर वक़्त मेरे कानों में होती थी। सरकारी नौकरी से तो मैं हटाया जा ही चुका था, क्या पत्रकारिता से भी हटाये जाने का डर था मेरे अपने भीतर?·········

पता नहीं क्या था, पर स्वतन्त्र वातावरण में इस तरह की आशंका के साथ जीना कि बरसात की बूँदों से दर्पण चकनाचूर हो जायेगा, कहाँ तक स्वाभाविक है! कभी कुछ ऐसी बातें

सामने आ जातीं, जिन्हें समझने के लिए पच्चीस वर्ष की उम्र से अधिक सहज एक सेकेण्ड की मृत्यु जँचती।

अनवर का विचार कभी एकदम भिन्न होता। अपनी पीठ पर सैलाब का भारी बोझ-सा लिये वह मेरे घर से अपने घर को आते-जाते कई बार कहता रहता कि उसके तो तीनों ही चित्र फूल आये थे। अतीत और वर्तमान से भी ज्यादा धुँधला था उसका भविष्य। उसे इस बात का कम दु:ख था तो केवल इसीलिए कि वह कॉलेज में इतिहास का अच्छा छात्र था। वह मानने लगा था कि मुद्दतों से आदमी एक ही तरह के प्रश्नों को सुलझाने में लगा हुआ है। वही प्रश्न कल थे, आज हैं और कल भी रहेंगे। उलझना-सुलझना तो होता रहेगा। इसके लिए कोई माथा-पच्ची क्यों करे। अनवर कभी इस घर में युद्ध का संकल्प लिये आता, कभी उस युद्ध को हारी हुई लड़ाई कहकर ठहाके लगा बैठता। उसके लिए एटम-बम्ब और वियतनाम का युद्ध जितना बड़ा इतिहास था, उतना ही बड़ा इतिहास थी कल की कल्पना भी।

अनवर अस्पष्ट बातें करके चला जाता है। मैं अपनी अधटूटी मेज़ के सामने बैठा लिखने लग जाता हूँ।

साहित्य की नवसाम्राज्यवादी हस्तियों को आज चुप पाकर मैं भी चुप रह जाने की सोचता हूँ, पर चुप रहने की शक्ति मुझमें नहीं है। मैं लेखनी से धन नहीं कमा पाया। सुपर विटामिन्स की गोलियाँ भी नहीं लेता, इसीलिए अभी तो मेरा बोलना जारी रहेगा। लेखनी के कुछ बुर्जुआ आज मन्त्रियों के भाषण तैयार करने में लगे हुए हैं, इसलिए मैं समय का लाभ उठाकर अपना बेसुरा राग अलाप रहा हूँ। सुना है, ये बुर्जुआ लेखक भाषण की दो भिन्न प्रतियाँ तैयार करते हैं—एक जनता के बीच पढ़ने के लिए, दूसरी एक्जीक्यूटिव रूम के लिए।

मेरे जिस लेख के कारण मुझे सरकारी नौकरी से बरख़ास्त किया गया था, उसका उत्तर लिखने वाला वह पुराना लेखक आज एअर-कन्डीशन रूम में व्हिस्की की बोतल सामने रखकर भाषण तैयार करता है। रात में हार्मोन का इंजेक्शन और फोली बेर्जेर उसके कमरे में होता है।

मानव की ईर्ष्या भी कितनी स्वाभाविक होती है! अब तो लिखने की रौ भी जाती रही। अपने भीतर के अपनेपन को परखता रहा। मैं दौड़ में इतना अधिक पीछे क्यों रह गया था? क्या इसलिए कि मैंने ठण्ड से काँपती हुई सच्चाई के ऊपर झूठ की चादर नहीं फेंकी? सच्चाई को बीच बाज़ार में नंगा छोड़ देने की यह सजा थी? ज़िन्दगी को जीते हुए उन लोगों के सामने लाघव भावना का अनुभव करके क्यों मैं अपने महत्त्वहीन जीवन का अन्त कर दूँ? तो फिर जिस तरह पंचतन्त्र के कछुवे को अपनी धीमी चाल के बावजूद दौड़ में भाग लेने का अधिकार था, उसी तरह मैं भी अपने मान्यताहीन जीवन को अपना हक़ मानकर चलूँ। काग़ज़ की स्वतन्त्रता न सही, अपनी निजी स्वतन्त्रता का आभास तो पा सकूँ। मेरे भीतर की आवाज़ बाहर आने का प्रयत्न करती रहे। अनवर के लिए इतिहास हर वक़्त वही इतिहास रहता होगा, लेकिन मैं तो मानता हूँ कि समय करवट लेता है।

मेरे उस लेख पर भी उस दिन कैंची चलायी गयी, जिसमें मैंने यह कहा था कि एक दिन घड़ी रुक जायेगी, सूरज जम जायेगा, आकाश डोलने लगेगा, पैसा मूल्यहीन हो जायेगा।

सुबह कुछ जल्दी उठा।

एक तरह से उठा नहीं, उठाया गया था। बाहर के टीन के दरवाज़े पर मुक्कों की मार से

अनवर ने मेरी नींद हराम की थी। इससे पहले कि मुझे इतने सवेरे उठाने के लिए मैं उसे कुछ खरी-खोटी सुनाता, वह अपना सुनाना शुरू कर चुका था—

"कल तुम्हारे यहाँ से जाते ही घर पर रेमो को इन्तज़ार करते पाया। वह कहता है कि सात सौ रुपये में काम बन जायेगा। आज दस बजे वह फिर आ रहा है।.........

"इसका मतलब है कि तुम सौदा कर ही बैठे!"

"क्या करता, तुम्हीं बताओ!"

"मेरे पास इसलिए आये हो ताकि मैं तुम्हें दो सौ दे दूँ, ताकि तुम अपने यहाँ के पाँच सौ को जोड़कर सात सौ कर सको?"

"अपने यहाँ के पाँच सौ में से एक सौ तो इधर खर्च हो गये हैं।"

"तो फिर मुझसे तीन सौ की उम्मीद रखते हो?"

"मैं तो जानता हूँ कि तुम्हारे पास दो सौ से अधिक नहीं होगा। एक सौ का प्रबन्ध तो कहीं और से करना होगा।"

"नहीं!"

"तुम मिला रहे हो कहीं से?"

"नहीं।"

"तो फिर......... ?"

"मैं फिर से वही कहता हूँ जो अब तक कहता रहा हूँ।"

"मैं रेमो के दो गवाहों के सामने दूँगा यह रक़म।"

"क्या फ़र्क़ पड़ता है!"

"वह धोखा नहीं दे सकता।"

"मान लिया जाये कि सात सौ रुपये देकर आप नौकरी में ले लिये जाते हैं......... आप अपने जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या का हल कर लेते हैं। ठीक है! पर इसके साथ ही यह सवाल भी तो उठता है कि क्या आपका ऐसा करना ठीक होगा?"

"मेरे ज़िन्दगी-भर बेकार रहने की बात को तुम ठीक समझते हो?"

"नहीं, मैं तुम्हारा ज़िन्दगी-भर बेकार रहना ठीक नहीं समझता; पर तुम भी तो मेरे सवाल का जवाब दो!"

"बेबसी आदमी से क्या नहीं कराती!"

बेबसी आदमी से बहुत कुछ कराती हो, पर इस बेबसी में अनर्थ कर चुकने के बाद आपकी क्या स्थिति होगी? एक तो आप खरीदी हुई नौकरी के बल पर अपना जीवन गुज़ारेंगे, जिससे किसी दूसरे का—जोकि आपसे भी ज्यादा योग्य हो—हक़ मारा जायेगा। दूसरी बात यह है कि आप इन अनर्थों के ख़िलाफ़ बोलने वाले होकर आज उसको बढ़ावा देने जा रहे हो!"

उसे दो सौ रुपये देने को मैं तैयार था। अलमारी की दराज के दो सौ पच्चीस रुपयों में से पच्चीस वहीं छोड़कर मैंने दो सौ रुपये अनवर को थमा दिये। यह मेरी कमाई नहीं थी, घुड़दौड़ में जीती राशि थी।

"तुम्हें पैसा चाहिए। मेरे पास जो था, तुम्हें दे रहा हूँ। मगर तुम इससे जहर खरीद लोगे तो मैं अपने को कभी माफ़ नहीं कर सकूँगा। इससे महीने भर का खर्च चला सको तो मुझे

सचमुच खुशी होगी। ख़ैर, तुम जानो........!"

अनवर पैसा लेकर चला गया।

मुझे ऐसा लगा कि जैसे मैंने खुद जहर खरीदकर उसको थमाते हुए कह दिया हो कि जाओ, एकान्त में इसे पी लो, ताकि तुम्हारे भीतर का संघर्ष समाप्त हो जाये और तुम लड़ाई की हार पर दु:खी न हो सको!

तनख़्वाह मिलने में अभी सत्रह दिन थे।

दराज में थे पच्चीस रुपये।

आपकी लिखने वाली मेज़ के ऊपर से आता हुआ सूरज का प्रकाश। आपके दिमाग के हिचकिचाते विचार, काँपती अँगुलियाँ। इस भय से लेखक का मुक्त न हो सकना कि कहीं परिश्रम नाहक न चला जाये। आपकी क़लम रुकी रहे। पंचर हो गये टायर की तरह आपका पेट, गैस का चुभता हुआ दर्द। रसोई घर के भूखे चूहों की आवाज़ें। घण्टों से अपनी कुर्सी में चिपके, अपने-आप में सिकुड़े हुए आप, धड़कते हुए शहर, काँपती हुई गोलियों की याद करके भीतर-ही-भीतर काँप जायें। आपकी खिड़की से दीखता हुआ आकाश कभी लुढ़कता-सा प्रतीत होकर आपको अपनी स्थिति की याद दिला जाये। कभी ऐसा लगने लगे कि आकाश धरती की जगह आ जायेगा और धरती आकाश की जगह। आप अपने को किसी अन्तरिक्ष-यान में कुण्डल-क्रीड़ा करते हुए पाने लगें। सूरज का प्रकाश कभी मिथ्या-सा प्रतीत हो आपको, अपने ही अस्तित्व की तरह।

मैं बहुत सारे कपड़ों की कल्पना करता रहा, जिनसे मैं सूरज के प्रकाश को अपने कमरे में आने से सचमुच ही रोक सकता। कुछ लोगों के पास रात्रि में प्रकाश की सुविधा नहीं होती। मेरे यहाँ दिन में अँधेरे से अपने को ढाँपकर असुविधाओं से अपने को वंचित कर जाने की सुविधा नहीं थी। खिड़की से बाहर के दृश्यों में मेरी गली के बच्चों का वह दृश्य ही एकमात्र ऐसी चीज़ था, जिस पर से आँखें हटाने को जी नहीं करता। मैं वहाँ की मुक्त हँसी की नकल कई दिनों से करना चाहकर भी नहीं कर पा रहा था।

घण्टों से बैठा मैं महसूसता रहा, अपने भीतर के बौद्धिक दिवालियेपन को। अपने आपसे प्रश्न करता रहा—क्या मुझसे कुछ भी नहीं लिखा जायेगा? मेरे भीतर के वे सारे विचार, जो मैं सोच लिया करता था—क्या वे भी मुझसे व्यक्त नहीं होंगे? मैं उस क्षितिज को देखने का प्रयास करता, जो मेरी गली के उस पार की बड़ी-ऊँची इमारतों से ओझल था।

जहाँ बच्चे खेल रहे थे, वहाँ से कोई दस-बारह क़दमों पर वह छोटी-सी चीनी दूकान थी, जिसके भीतर जाने से पहले लोग एक बार अपने हाथ की गठरी को देखते, फिर अगल-बगल में देखकर जल्दी से भीतर चले जाते थे। इस वक़्त मेरी कलाई पर वह घड़ी थी जो मुझे पचास रुपयों में मिल गयी थी। सौदा बराबर का था, क्योंकि कुछ महीने पहले वहीं पर मैं ढाई सौ का रेडियो सौ रुपये में छोड़ आया था।

चार घण्टों के भीतर कई लोगों को भीतर जाते-आते देखता रहा। दुकान की दायीं ओर की वह अधेड़ मुसलमान औरत खीरे को गोल-गोल टुकड़ों में काटती हुई काँच के बरतन में रखे जा रही थी। कुछ ही समय में स्कूल के बच्चे टूट पड़ेंगे। तब तक तो उसकी वह दुबली-सी बेटी भी उसका हाथ बँटाने को आ जायेगी। वही समय होगा जब आसपास के

कुछ मनचले लड़के भी मूँगफली और खीरा खरीदने के बहाने जुबेदा को घेर लेंगे। वह स्कूल के छोटे बच्चों के साथ अपने को व्यस्त रखना चाहेगी, इस पर वे मनचले लड़के कई तरह के व्यंग्य कसने लग जायेंगे।

स्कूल की घण्टी बजने में अभी कुछ समय और बाक़ी था, जुबेदा कल नहीं दीखी थी। हो सकता है आज भी न दीखे! वही आदमी दीखा जो कई दिनों से इस गली में इसी नियत समय पर दिखायी पड़ने लगा था, उसी तरह मैले-अधफटे कपड़ों में, उसी सूखी हुई ईख को सहारा बनाये, वह आगे बढ़ा। ठीक अपने हाथ की लाठी की ही तरह वह समय द्वारा चूसा हुआ व्यक्ति था। उसी बिजली की बत्ती के खम्भे के पास पहुँचकर वह पटरी पर बैठ गया, जहाँ कुछ क्षण पहले जुबेदा की माँ खीरे के छिलके फेंक चुकी थी। अपनी लाठी को नीचे रखकर आस्तीन से मुँह पोंछा, फिर खीरे के छिलकों को उठा-उठाकर चूसने लगा। पहले दिन मैं इस दृश्य को नहीं देख सका था, पर आज अपने को इसका आदी पा रहा था। बस हर स्थिति में आदी हो जाने की देर होती है!

स्कूल की घण्टी बजते ही उस आदमी ने अपनी लाठी उठायी और अपने दूसरे हाथ के छिलके को चूसता हुआ आगे बढ़ गया। ऐसा करके भी वह पूर्णतया अपने को लड़कों से नहीं बचा पाता। कुछ तेज लड़के तो घण्टी की आवाज़ के साथ ही गली में आ जाते और उसे तरह-तरह के नामों से चिढ़ाने लग जाते।

देखते-ही-देखते गली की दोनों पटरियाँ बच्चों से भर गयीं। जुबेदा भी आ गयी और उसके साथ ही वे मनचले लड़के भी आ टपक पड़े। मेरे घर के सामने इमली का पेड़ था। उस पर लड़कों द्वारा पत्थरों की बौछार शुरू हो गयी थी। पथराव के कारण मुझे खिड़की बन्द कर लेनी पड़ी। मुझे लगता, स्कूल के छात्रों का यह स्व-प्रशिक्षण थी हड़ताल के लिए। बसों और दुकानों के शीशों को तोड़ने से पहले ये लोग दो बार खिड़की के शीशे तोड़ चुके थे।

मोड़ पर की उस दूसरी चीनी दूकान में आज भी मैंने किसी को जाते नहीं देखा। उसकी दुकान की दीवार पर वह इश्तहार अब भी लगा हुआ था, जिसमें उसने अपने ग्राहकों के सामने अपनी निर्दोषिता के प्रमाण रखे थे। पर ऐसा लग रहा था कि लोगों को इतनी जल्दी मान लेना आसान नहीं था। इश्तहार के साथ पुलिस की रिपोर्ट भी थी, जिसमें उसका बेगुनाही का सबूत था। बड़े लोगों ने अपने बच्चों को भी उसके बहिष्कार का आदेश दे रखा था। दो-तीन अच्छे अवसरों पर मैंने भी उस दुकानदार से बकरे का गोश्त खरीदा था। यह तो बाद की अफवाह थी कि वह दुकानदार बकरे और भेड़ की जगह कुत्ते का मांस बेचता है। बिना किसी ख़ास प्रमाण के, कुछ लोग तो बात को सिर्फ़ इसीलिए सच मान गये थे कि जब मांस का दाम एकाएक ढाई रुपये से छह रुपये पाउन्ड हो गया था, तो भी वह दुकानदार उसे ढाई रुपये में बेचता आ रहा था।

ख़ैर, कुछ भी हो—अपने पास अब वह अच्छा अवसर भी तो नहीं, जिसके कारण गोश्त खरीदने की नौबत आये!

कोई आधे घंटे बाद मैं घर से बाहर हुआ। कुछ ही क़दम चलने पर मैंने जुबेदा को टीन का पुराना फाटक पकड़े खड़े पाया। मुझे ठिठकते पाकर वह हौले से मुस्करायी और भीतर चली गयी। पीछे से कार का हार्न सुनकर मैं पटरी पर चढ़ गया। जुबेदा की माँ के सामने से होते हुए आगे बढ़ा। अपनी गली को छोड़कर दूसरी गली में आ गया। ज़मीन-आसमान का

फ़र्क़ था दोनों गलियों में। यहाँ रौनक थी आदमियों की। कपड़ों की दुकानें, बर्तनों की दुकानें, विविध चीज़ों की विविध दुकानें। इन सारी दुकानों को देखते हुए मैं चीनी संगठन का अन्दाजा लगाने लग जाता। इनकी भी उतनी ही दुकानें थीं, जितनी हिन्दुओं और मुसलमानों की थीं, फिर भी चीनियों की हर दुकान के नाम लाल चीनी अक्षरों में थे। प्रश्न ········ये किसके लिए थे? किसे इस देश में चीनी आती है? हिन्दुओं की दुकानों पर हिन्दी क्यों नहीं लिखी होती, जबकि इस देश का हर दूसरा आदमी हिन्दी जानने वाला है!

मुझे भूख लगी हुई थी। भूखे आदमी को इन बातों से क्या वास्ता! चीनियों के पीछे कोई बहुत बड़ा संगठन भी हो तो हुआ करे! बहुसंख्यक हिन्दू अपने को इन छोटी-मोटी बातों में क्यों फँसायें! प्रतीक की लड़ाई उसके लिए थोड़े ही थी। दूसरे क़दम पर आधुनिक टूरिस्ट होटल था। उसके ठीक सामने रामानन्द साब का बेटा अपनी साईकिल पर तिरंगा फहराये दाल-पूरी बेचले में लगा हुआ था; ट्राइसिकल के अगले शीशे पर मोटे अक्षरों में 'जयहिन्द' लिखा हुआ था। ओजपूर्ण शब्दों में 'दाल-पूरी लो' चिल्लाकर रामानन्द साब का बेटा चीनियों और क्रियोलों के बीच संस्कृति बेचता-सा प्रतीत हो रहा था। मुझे भी इस भारतीय संस्कृति की सख्त ज़रूरत थी, इसीलिए जेब से चवन्नी निकालकर मैंने कहा—

"पाँच!"

"पाँच नहीं मिलेंगी साहब! आटा, दाल, तेल, सभी महँगे हो गये हैं। चार आने की चार मिलेंगी।"

क़ीमत बढ़ी थी, दालपूरियाँ पतली और छोटी हुई थीं। दो ही कौर में ख़त्म। मैं आगे बढ़ गया। पुस्तकों की दुकान के सामने रुक गया। 'मेन ओनली', 'प्ले बॉय' और 'पेरिस बाइ नाइट' के बीच 'न्यूज़ वीक' और 'टाइम' का वाटरगेट अंक और उनके नीचे अलेक्जेन्डर सोल्जेनित्सीन के 'कैन्सर वार्ड' का फ्रांसीसी संस्करण। मुझे 'फर्स्ट सर्कल' की आवश्यकता थी। पूछने पर दुकानदार मुझे देखता रहा और दूसरे ही क्षण तख्ते से हेरॉल्ड रॉबिन्स की एक पुस्तक उठाकर मेरी ओर बढ़ा दी। यह जानकर कि वह पुस्तक अभी नहीं पहुँची थी, मैं बाहर आ गया।

वही भिखारी उसी छोटे-से होटल के सामने उसी तरह हाथ फैलाये, के. सी. डे के उसी पुराने गीत को अपने उसी ढंग से गाये जा रहा था। मोड़ पर दाल-आटे की जो दुकान थी, उसके पास दो औरतें अपनी पुरानी टोकरियों में फुटपाथ पर बिखरे चावल-दाल के दानों को बटोर रही थीं। लॉरी लादने वाले एक मज़दूर के सिर के बोरे से टकराकर एक औरत नीचे को लुढ़क गयी; उसके साथ ही उसकी टोकरी के कोई पन्द्रह-बीस तरह के दाने नाले की गन्दगी से जा मिले। लम्बी दाढ़ी वाला दुकानदार बाहर आकर उसी पर बरस पड़ा। इनुस साथ होता तो प्रथम पृष्ठ के लिए मसाला मिल जाता। मैंने औरत के कन्धे थामकर उसे उठाया, फिर उसकी टोकरी उठायी, जिसका आधे से अधिक बोझ कम हो गया था। उसे टोकरी थमाते हुए इतना आश्वासन तो अपने को दे ही सका कि उसके कमज़ोर कन्धे के लिए बोझ ज्यादा नहीं था।

मैं ठीक समय पर उस दुकान के सामने पहुँच गया था, जहाँ पुलिस के साथ फूड कंट्रोल बोर्ड का धावा होने वाला था। गुप्तचर विभाग के मित्र ने मुझे यह स्कूप दिया था। उसने यह भी बताया था कि इस दुकान से कोई दो सौ चावल के बोरे निकलने वाले हैं।

बहुत देर बाद दुकान के सामने ठेलागाड़ी पर शरबत बेचने वाले व्यक्ति ने जो ख़बर दी, उसे अपने अख़बार में लाना—अख़बार के दफ़्तर में हमेशा के लिए ताला लगवा देना था।

वह अप्रकाशीय स्कूप यों था—इलाके का पुलिस इन्स्पेक्टर सुबह दुकान खुलते ही दुकान के भीतर पहुँचा था और हाथ में वजनदार बण्डल के साथ मुस्कराता हुआ अपनी कार में जा बैठा था।

अख़बार के दफ़्तर पहुँचने पर मेरी मेज़ पर सम्पादक का सन्देश था। आदेश था वह। समुद्री इलाके के एक होटल में अफ्रीकी देशों के होने वाले सम्मेलन के प्रतिनिधियों को दिये गये विशाल भोज का विशाल रिपोर्ताज़ चित्रों सहित। यह वही होटल था, जहाँ से अनवर को अपने मित्रों से भोजपुरी में बातें करने पर नौकरी से अलग कर दिया गया था।

एक पत्रकार की धुन में एक क़दम के पीछे दूसरा क़दम रखते हुए आप पटरी से आगे बढ़ रहे हों। एकदम घिस जाने वाली एड़ी के जूतों की असुविधा से मुक्त होकर आप ख़बरों और स्कूप की तलाश में चलते रहें। लोगों की निगाहें आप पर पड़ें और फिसल जायें। वे चिपक जायें पर्यटकों की उभरी हुई मांसल सुन्दरता पर। आप में उन्हें सीधे देखने की हिम्मत न हो, इसलिए दुकान के शीशे के सामने खड़े होकर उसी के माध्यम से पारदर्शित सौन्दर्य आपको हल्की-सी खुमारी दे जाये। फिर आपको अपने देश के समुद्र-तट याद आ जायें, जहाँ की तन्हाई का फ़ायदा उठाकर ये सैलानी उसे नग्नता का शिविर बना बैठे हों।

मैंने पूरे तीन कॉलम का लेख तैयार किया था—चित्रों सहित। सम्पादक खुश हो गया था। लेकिन सेन्सर-बोर्ड ने उसे अश्लील बताकर लेख और तस्वीरें पुलिस से ज़ब्त करवा दी थीं। उस दिन 'ला बेरीते' का प्रथम पृष्ठ तीन कॉलम की सफ़ेदी लिये हुए निकला था।

हेनरी मिलर को गलियों का जीवन अत्यन्त प्रिय है। अगर मैं भी यही कहूँ तो यह न समझ लिया जाये कि मैं किसी हस्ती की नकल कर रहा हूँ। मुझे गलियों का जीवन अगर प्रिय है तो केवल इसलिए कि यहाँ दीवारें नहीं होती हैं। यहाँ का उजाला और अँधेरा दोनों सामने स्पष्ट होते हैं। गलियों में ही मुझे अपने पत्र के लिए सबसे अधिक ख़बरें मिलती हैं। क्यों न मिलें, जबकि सक्रियता तो गलियों में होती है! गलियों में भिखारी भी होते हैं, धनी भी, मन्त्री भी, बेकार भी। यहाँ आवारा कुत्ते भी होते हैं और मोटरों की पिछली सीट पर बैठे अल्सेशन भी।

उस अख़बार की एक प्रति खरीदकर मैं आगे बढ़ जाता हूँ, जिससे हमारा झगड़ा कभी इसलिए नहीं मिटता, क्योंकि वह हमें बुर्जुआ बताता है और हम उसे। एक मिनट ठिठककर मैं उसके शीर्षकों को देख लेता हूँ, फिर सब्जीमण्डी के भीतर उस स्थान को पहुँचता हूँ, जिसकी दीवार पर मर्दों के लिए—'जेण्टस' लिखा होता है। वहाँ से निकलकर राहत की साँस लेते हुए मैं फिर से गली में आ जाता हूँ। इस बार उस गली में पहुँच जाता हूँ, जहाँ की पैसों की गन्ध नाक को सर्दी का दर्द देती-सी लगती है।

फिर से अख़बार के शीर्षकों को देखते हुए मैं उस भीख माँगती औरत के पैरों से टकरा जाता हूँ जो अपने चार बच्चों के साथ पूरी पटरी को घेरे बैठे होती है। सामने से एक टूरिस्ट उसके बच्चों के साथ-साथ मेरी तस्वीर भी ले बैठता है। मुझे क्रोध आ जाता है। पहले तो मन में आता है कि पर्यटक से उसका कैमरा छीनकर उसे दो थप्पड़ लगा दूँ, पर तभी ख़्याल आता है कि यह तो दूसरे अख़बारों के लिए सनसनीख़ेज ख़बर बन जायेगी। मैं ऐसा क्यों करने लगा! यह सोचता हुआ आगे बढ़ गया कि अगर मॉरिशस माँ की तस्वीर दूर देशों तक जा रही हो तो उसमें बेटे के भी साथ आ जाने में क्या हर्ज है।

कुछ दूरी पर दीवार के फिल्मी इश्तहारों को देखने लगता हूँ। एक ओर मार्लोन ब्राण्डो की आदमकद तस्वीर होती है, दूसरी ओर शशि कपूर की। दोनों के बीच लाल अक्षरों में लिखे राजनीतिक नारे का पोस्टर था।

जिसने पीछे से मेरी पीठ पर हाथ रखा, वह अनवर था। उसे नौकरी मिल गयी थी, अब वह क्लर्क था। उसकी चढ़ी हुई भौंहें अब नीचे आ गयी थीं। उसकी आँखों में वह विद्रोह भी नहीं था। उसकी मुस्कान यह कहती-सी प्रतीत हुई कि अब वह वामपन्थी नहीं रहा। वह सन्तुष्ट था, इससे मुझे न जाने क्यों सन्तोष नहीं हुआ। उसके हाथ में नीले रंग की फाइल थी। वह जल्दी में था। बस यह कहकर कि शाम को वह मेरे घर आ रहा है, वह आगे को झपट गया। मुझे यह कहने तक का अवसर नहीं मिला कि शाम को मैं घर पर नहीं होऊँगा। हमारा प्रधान मंत्री चीन की सफल यात्रा से लौट रहा था। मुझे हवाई अड्डे पर पहुँचना था। कभी-कभार तो अपने इस द्वीप के सौभाग्य पर खुश हो जाना पड़ता है। जहाँ भी हाथ फैलाया है, कुछ पा ही लेता है। कम-से-कम मेरे देश के फैले हाथों को तो कोई अविकसित नहीं कह सकता।

मुझे रास्ता पार करके दूसरी पटरी पर पहुँचना था। कारें चली आ रही थीं। मैं उस पार जाने के लिए इस पार रुका रहा। मेरे साथ कई लोग रुके रहे। कोई तीन मिनट बाद वह एक पुरानी कार थी जो रफ़्तार न बनाये रख सकने के कारण कुछ पीछे रह गयी थी। उसी से पैदा फ़ासले का फ़ायदा उठाकर मैं दूसरी पटरी को झपट गया। अपनी कमर पर बाँह के सहारे एक अधमरे बच्चे को थामे एक अधमरी औरत ने मेरे सामने हाथ फैला दिया। मैंने जेब में हाथ डाला। पाँच सेण्ट के सिक्के को उसके हाथ पर रखते हुए मैंने अपने-आप को एक छोटा-सा चीन समझा और औरत को लघु मॉरिशस।

आगे बढ़ते हुए मैंने सोचा—हर जगह मूल्य-वृद्धि के कारण अब भीख देनेवालों को भी ख़्याल रखना चाहिए कि भीख में पाँच सेण्ट देने की यह परम्परा अब काफ़ी पुरानी हो चुकी है। अब तो पाँच सेण्ट में कुछ भी मिलने को नहीं! सेड्वीक रिपोर्ट में ये भिखारी हक़दार क्यों नहीं? अपनी रिपोर्ट में भिखारियों की आवश्यकताओं की तनिक भी चर्चा न करके सेड्वीक ने कहाँ तक न्याय किया था, यह वही जाने! इन भिखारियों को जो मिलता है, उसे उनका वेतन न मानकर सेड्वीक ने पूरे देश का अपमान किया था। उसे किसी ने यह नहीं बताया होगा कि आदमी को और देश को भी हाथ इसलिए मिले होते हैं कि उन्हें दूसरों के सामने फैला सकें। हाथ पसारना 'काम' कैसे नहीं हुआ, जबकि हर देश पूरी ताकत के साथ ऐसा कर रहा है? फ़र्क़ तो बस स्तर का था!

ऑफिस देर से पहुँचा। अख़बार निकल चुका था। अपने रिपोर्ताज़ पर सरसरी नज़र दौड़कर मैंने पत्र को रख दिया। मेज़ पर की चिट्ठियों को देख ही रहा था कि सम्पादक का बुलावा आ गया।

पिछले सोमवार को मेरे लेख पर पाठकों की जो प्रतिक्रियाएँ थीं, उन्हें मेरे आगे बढ़ाते हुए मुझसे सफ़ाई माँगी गयी। मैं सम्पादक को समझाता रहा कि उस अनुच्छेद का अर्थ इसलिए गलत आ गया था, क्योंकि उससे पहले की दो पंक्तियों और अन्त की एक पंक्ति पर उसीने नीली क़लम चला दी थी। इतने पर भी ज़िम्मेदार मुझे ही बताया गया।

प्रेस से बाहर भी इस तरह की कई ज़िम्मेदारियाँ मेरे ऊपर थोपी जाती रही हैं। जो मैंने किया हो, उस अभियोग को अपने ऊपर लेने की अपनी इस आदत को मैं कभी भी कोई शब्द नहीं दे

सका। अकेलेपन में कभी इसे कायरता भी मानता रहा हूँ, कभी कुछ और। तर्क करके अपने को अभियोग से मुक्त करना मुझे कभी नहीं आया, तभी तो अपने बाप की नज़रों में भी मैं वही रहा जो मैं नहीं हूँ। मेरी माँ बार-बार कायर, डरपोक कहा करती थी, जोकि मैं नहीं था। मेरे कुछ साथी मुझे साम्यवादी बताते हैं जबकि मैं साम्यवाद क्या है, जानता भी नहीं! अनवर भी मुझे नास्तिक कहता रहता है, इस नाम की कोई फिल्म देखने के बाद। भला मैं नास्तिक कैसे हो सकता हूँ! मैं तो अपने आप पर विश्वास करता हूँ। अभी तो कल ही एक लड़के को एक पर्यटक के फेंके सिगरेट के टुकड़े उठाते देख मेरे मुँह से निकल गया था—"आ! वोंज्ये।" वोंज्ये का मतलब तो भगवान होता है। भला जो आदमी 'ओह भगवान' कहे, वह नास्तिक कैसे हो सकता है! पर तर्क तो मैं अपने-आपसे करता हूँ। उनके सामने कौन करे!

मुझे इन सारी बातों का भी किसी तरह का दुःख नहीं हुआ। हाँ, अलबत्ता माँ के यह कह देने से कि मेरे शरीर में खून की जगह पानी है और मैं डरपोक हूँ, मुझे बहुत अधिक दुःख हुआ था। अगर मैं सचमुच डरपोक होता तो चुनाव के दौरान की एक मीटिंग में मैंने उस राजनेता से प्रश्न करने का साहस कैसे किया था! उस सरकारी नौकरी को कैसे अस्वीकार किया था, जिसके लिए मेरे बाप ने मंत्री की सिफ़ारिश दिलवाई थी। इस ज़िन्दगी को मैं कैसे जीये जा रहा हूँ? क्या इसके लिए अदम्य साहस की आवश्यकता नहीं होती! कई दिनों तक अपने खाली पेट को दबाये, उसी के सहारे सोते रहना क्या किसी कायर व्यक्ति से हो सकता है?.......और भी कई बातें हैं, जिनसे मैं अपने साहसी होने का सबूत दे सकता हूँ.......पर यह भी तो मैं अकेले में ही करता रहता हूँ। किसी दूसरे के सामने सबूत पेश करने की हिम्मत क्यों अपने को नहीं होती? क्या इसी बात के लिए मैं डरपोक समझा जाता हूँ?.........

मुख्य सम्पादक के यहाँ से लौटे अभी आधा घण्टा भी नहीं हुआ था कि डायरेक्टर के कमरे में पहुँचने की आज्ञा मिली। वहाँ पहुँचकर मुख्य सम्पादक तथा अन्य चार साथियों को भी कमरे में मौजूद पाया। बात मेरे पहुँचने से पहले शुरू हो गयी थी। मेरे बैठ जाने पर डायरेक्टर ने अपने पाइप को भरते हुए बात को फिर से शुरू किया। एकदम से मुझे ही देखते हुए उसने बात को आगे बढ़ाया, "लिन्दजे के यहाँ से चले जाने पर हमने इसे मामूली बात माना था, लेकिन आज दूसरे ही सप्ताह बाद हमें मालूम होने लगा कि वह बात साधारण नहीं थी। एक रिपोर्टर के हटते ही हमारा सरकुलेशन दो हज़ार से कम हो गया है, इस बात को तुम सभी जान चुके होंगे! लिन्दजे हमारे यहाँ से कैसे गया, क्यों गया—अब इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने से कुछ नहीं होता। हम आगे की सोचें। कहीं ऐसा नहीं हो कि हमारे पत्र को इससे भी कठिन स्थिति को झेलना पड़ जाये। मुझे पत्र की प्रसार संख्या कम हो जाने का दुःख अवश्य है, लेकिन इससे भी ज्यादा दुःख मुझे इस बात का है कि विपक्षी पत्र में वह अपनी पूरी ताकत के साथ काम कर रहा है। यहाँ पर मैं यह जानना चाहूँगा कि इसका क्या कारण है?

"पैसा!" डायरेक्टर के चुप होते ही इनुस ने धीरे से हम लोगों के लिए कहा, जोकि डायरेक्टर ने भी सुन लिया।

"यहाँ वह मुफ़्त में थोड़े ही काम करता था!"

"वहाँ उसे दोगुना मिलता है।"

"ख़ैर, यही जानने के लिए मैंने तुम सभी को बुलवाया है। तुम पाँचों मुझे साफ़-साफ़ बता सकते हो कि क्या तुम भी दो पैसे ज्यादा के लिए अपने पत्रकारिता के उसूल को छोड़ देना

चाहते हो? क्या सरकार के ख़िलाफ़ सनसनीखेज ढंग से लिखना ही पत्रकारिता है?".....

एक क्षण चुप रहकर वह आगे कहता है, "सभी कुछ तुम पाँचों पर निर्भर है। अगर तुम अधिक की कामना करते हो तो फिर हमें अपनी नीति को बदल देना होगा। क्योंकि इस नीति के साथ तो ऐसा होने को नहीं! हमें अपनी राष्ट्रीय भावना का कम ख़्याल रखकर व्यवसाय को अधिक महत्त्व देना होगा। मैं सोचता हूँ, बात तुम सभी की समझ में आ गयी होगी, इसलिए अब मैं यह जानना चाहूँगा कि तुम क्या सोचते हो?"

सम्पादक ने कहा, "हर हालत में हमें पत्र के स्तर को बनाये रखना है।"

"एक मुँह से एक ही साथ रोना और हँसना, यह तो.........." इनुस की बात को बीच ही में काटते हुए मार्सेल ने कहा, "सबसे पहले हम दो हज़ार के घाटे को पूरा कर लेने की सोचें।"

सम्पादक की ओर देखते हुए डायरेक्टर ने पूछा, "तुम क्या कहते हो?"

"खपत के प्रश्न के साथ तो मार्सेल जूझ लेगा। हमें तो पत्र को कुछ अधिक सशक्त करके ही आगे के लिए सोचना पड़ेगा।"

"मैं सोचता हूँ, सोचने की बात सही है! क्या मैं तुम पाँचों से कुछ अधिक जागरूकता और परिश्रम की आशा रख सकता हूँ, इस राष्ट्र के हित में?"

"और जनता के हित में?"

—यह प्रश्न मेरे भीतर ही रह गया। अपने बाक़ी साथियों के साथ मैंने भी सिर हिलाकर हामी भर दी।

दो घण्टे बाद मैं प्लेजांस के रास्ते पर था, प्रधान मंत्री से पूछने के लिए सवालों को सोचता हुआ, इस राष्ट्र के हित में......... ।

(छः)
टूटा पहिया

देश की आज़ादी की दसवीं सालगिरह थी। कुछ लोगों के लिए दस साल बहुत जल्द ही बीत गये थे। देखते-देखते ही आज़ादी की उम्र दस साल की हो गयी थी। कुछ लोगों के लिए वक़्त ने सिर्फ़ झपकी ली थी और दस वर्ष बीत गये थे। भयवा यूसुफ के लिए ऐसा नहीं हुआ था। उसके लिए तो इधर के ये दस साल उसकी अपनी ज़िन्दगी के उन पहले साठ सालों की अवधि से भी लम्बे थे।

दसवीं सालगिरह की तैयारियाँ एकदम उसी तरह हुई थीं, जिस तरह पहली बार आज़ादी का जश्न मनाया गया था। भयवा यूसुफ की आँखें कुछ कमज़ोर ज़रूर थीं, पर उसके कान अब भी तेज थे। वह जहाँ भी होता, लोगों को उसकी उपस्थिति का ख़्याल चाहे होता या न होता, पर वह लोगों की हर बात को बड़े ध्यान से सुनता। हर ठौर पर वह यही सुनता कि इस दसवीं सालगिरह की खुशी में सरकार सौ क़ैदियों को रिहा कर रही थी। पचास से ऊपर के हर वृद्ध को भत्ते के साथ बीस रुपये अधिक दिये जाने की भी बातें हो रही थीं। पन्द्रह साल पहले भयवा यूसुफ बुढ़ापे के सरकारी भत्ते का हक़दार हुआ था। सरकारी अफ़सर उसको सभी पतों पर ढूँढकर हार गये थे। भयवा यूसुफ के नजदीक के कुछ लोगों से यह सुना गया

था कि वह भत्ते का पैसा नहीं चाहता था, इसीलिए भागा-भागा फिर रहा था और फिर तभी से उसका कोई निर्धारित स्थान नहीं था। उसके बहुत दोस्त थे। गाँवों के हज़ारों लोगों को उसने अपने ताँगे पर ढोया था। हज़ारों लोग उसे जानते थे। वह कभी यहाँ, कभी वहाँ टिक जाता। तीन दिन से अधिक वह कभी किसी स्थान विशेष पर नहीं रहा।

सरकार की ओर से उसके पुराने पते पर चार चिट्ठियाँ पहुँची थीं और चारों लौट गयी थीं। एक बार जब जैतुनियाँ के पास पाँचवाँ पत्र पहुँचा था, उस समय भयवा यूसुफ वहीं था। जैतुनियाँ के बेटे ने उसके लिए चिट्ठी पढ़ी थी। गूँगे और बहरों के अस्पताल के निदेशक ने यह पत्र लिखा था। उसमें यह कहा गया था कि अगर सचमुच ही भयवा यूसुफ को भत्ता नहीं चाहिए, तो वह सरकार के पास ज़मा अब तक की राशि को अस्पताल के नाम दान कर दे। साथ में जो काग़ज़ था, उस पर भयवा यूसुफ ने उसी क्षण हस्ताक्षर कर दिया था।

वह जहाँ से भी गुज़रता, यही सुनता कि इस बार के स्वतन्त्रता-समारोह में देश-देश की हस्तियाँ भाग लेने आ रही हैं। कहीं से राजकुमार, कहीं से मंत्री, कहीं से लेखक, कहीं से गाने वाला तो कहीं से नाचने वाली।

जवानी में उसकी एक ही तो बड़ी कमज़ोरी थी। शादियों और जलसों में कव्वाली और नाच देखने के लिए वह दूर-दूर तक चला जाता था। जब उसने सुना कि इस आज़ादी की सालगिरह के जश्न पर शां-दे-मार्स के मैदान में नाच-गाने का भी आयोजन था, तो उसमें एक बार फिर जवानी की उमंगें खलबला-सी उठी थीं। फिर जब उसने यह सुना कि हिन्दुस्तान की शकीला बानु भोपाली आ रही है, तो यह ख़बर उसके इस ढले हुए जीवन का सबसे बड़ा प्रलोभन बन गयी। वह फिल्मों का कोई बहुत बड़ा आशिक तो नहीं था, लेकिन शकीला बानू भोपाली की शायद ही कोई ऐसी फिल्म रही हो, जिसे उसने न देखा हो। यहाँ तक कि जैतुनियाँ इस सम्बोधन से भीतर-ही-भीतर खुश होकर भी ऊपर से आगबबूला होती रहती थी। उसे लगा कि शां-दे-मार्स के उस विस्तृत मैदान में तोरण-झंडियाँ आदमियों से अधिक थीं। कड़कती धूप से अपने को बचाने के लिए वह छाँव का एक टुकड़ा ढूँढता रह गया था। जहाँ-तहाँ छाँव के जो टुकड़े थे, वहाँ पहले ही से लोग इकट्ठे थे। बस टर्मिनस से सीधे चलकर वह पहुँचा था। बहुत दिनों के बाद उसकी पेशानी पर पसीना उतना बारीक झलका था। उस पसीने में परिश्रम वाले पसीने की ठंडक नहीं थी।

वह मंच के एकदम नज़दीक आ गया था। शकीला बानू भोपाली को वह नज़दीक से देखना चाहता था। इधर वह अख़बार नहीं पढ़ता था। अख़बारों में ताजा ख़बर आयी थी कि शकीला बानू भोपाली आज़ादी के जश्न में भाग नहीं ले सकेंगी। भयवा यूसुफ के यहाँ पहुँचने का एक मक़सद था। वह इसी प्रतीक्षा में धूप को अपने सिर पर थामे खड़ा रहा। कॉलेज के छात्रों के बाद सेगा का कार्यक्रम हुआ। पुलिस की टुकड़ी के बाद बालचरों ने अपनी करामात दिखायी। चीनी छात्रों की ओर से ड्रैगन के नृत्य पर तालियाँ देर तक बजती रहीं। अपनी अधीरता को न सँभाल पाकर भयवा यूसुफ ने अपनी बगल के लम्बे-से युवक से पूछा, "शकीला बानू भोपाली कब आयेगी?"

"वह नहीं आयी है। उसकी जगह पर हेलेन आ रही है।"

कुछ आगे बढ़कर उसने यह बात दूसरे लोगों से भी पूछी। हर बार उसे एक ही उत्तर मिला। उसे थकावट महसूस होने लगी। अपने मुखाले हुए झुर्रियों भरे चेहरे के साथ वह

मैदान से बाहर होने लगा। सड़क के पास भीड़ अधिक थी। लोग मंच के पास से हटकर औद्योगिक विज्ञापन-जुलूस देखने के लिए इधर आ गये थे। फूलों और सजावटों से लदी हुई ट्रकें और लारियाँ। हर ट्रक और लॉरी पर अलग-अलग उद्योग की प्रतीक झाँकियाँ थीं। मछली उद्योग के ट्रक को जहाज का रूप दिया गया था। मछुओं के लिबास में चार व्यक्ति गा-बजा रहे थे। शक्कर उद्योग का चलता हुआ गन्नों का खेत और चीनी कारख़ाना, होटलों का अपना ट्रक, पर्यटन विभाग की अपनी सजी हुई लॉरी। नुमाइशी जुलूस की पचास से ऊपर लॉरियाँ और उन सबके पीछे एक एयर लाइंस के हवाई जहाज के रूप में सजी झाँकी की अगवानी करता हुआ एक ताँगा। भयवा यूसुफ इस दृश्य से काँप उठा। उसे लगा, वह उसका अपना ही ताँगा था, उसका अपना ही गेहुँआ घोड़ा, दस वर्ष का.........।"

अपनी बगल के व्यक्ति से उसने पूछा—"यह ताँगा क्यों ?"

"यह बताने के लिए कि यात्रा कहाँ से शुरू होकर हवाई जहाज तक पहुँची है।"

दस वर्ष पहले.........

शहर की नगरपालिका से उसे चिट्ठी मिली थी। वहाँ पहुँचने पर उससे कहा गया था कि शहर में आधुनिक यातायात बढ़ जाने के कारण अब सड़कों पर गाड़ी और ताँगे नहीं चल सकते। नगरपालिका के इस निर्णय पर भयवा यूसुफ तीन दिन से अधिक चिन्तित नहीं रहा। उसे तीन दिन लगे थे, अपने आप को आश्वस्त करने के लिए। कुछ महीने पहले ही एक बार उसे ख़्याल आया था कि वीर कुणाल बूढ़ा हो चला था। नगरपालिका के निर्णय के बाद उसने यही ठीक समझा था कि अब वीर कुणाल की हालत का ख़्याल रखते हुए उससे ताँगा न खिंचवाया जाये। घुड़दौड़ के बाड़े के उस ऊँचे अहाते से वह वीर कुणाल को बाहर लाया था। उस समय घोड़े का नाम कुछ और ही था। ताँगे में जोतते हुए उसकी आँखों पर जब उसने चमड़े की पट्टी लगाई थी.........तो अकारण उसे 'वीर कुणाल' फिल्म की याद आ गयी थी। उसने घोड़े का नाम वीर कुणाल तो रखा ही था, ताँगे पर भी उसने यही नाम लिखवा लिया था। ताँगे के रुकने का वह शायद सातवाँ दिन था कि वीर कुणाल को बेकारी की वह ज़िन्दगी दबोच गयी थी। उसकी अचानक मौत पर भयवा यूसुफ ने मौत के रूप में अपने सीने के टुकड़े को बाहर निकल जाते हुए महसूस किया था। वीर कुणाल को दफ़ना चुकने के बाद उसके मुँह से पहला वाक्य बाहर आया था—"वीर कुणाल! मेरे साथ-साथ जितना तू रहा है, उतना तो मेरी परछाईं भी नहीं रही।"

और सचमुच ही वीर कुणाल उसका इतना घनिष्ठ था कि जैतुनियाँ कई बार फुफकार उठती थी, "यह मरियल घोड़ा क्या हुआ, तुम्हारी तो रखैल लगता है।"

उसका वीर कुणाल अगर मरियल होता—तो वह हर आदमी को समय पर दफ़्तर तथा समय पर घर थोड़े ही पहुँचा पाता। बस एक वही था, जो कभी भूल से भी समय पर घर नहीं पहुँचा। घर से ज़रूर समय पर ही निकल जाता था, लेकिन घर लौटने का उसका कभी भी कोई निर्धारित वक़्त था ही नहीं। जिस दिन निश्चय करके जल्दी लौटने की सोचता, तो कोई न कोई घर लौटने में देरी के कारण बेसब्री लिये उसके सामने आ ही जाता था। वह स्कूल के बच्चों से लेकर बाबुओं तक को दफ़्तर तथा रसिकों को सिनेमा तक समय पर या समय से पहले ही पहुँचाता, देर से कभी नहीं। मोटर-गाड़ियों की रोज़ाना की दुर्घटनाओं के बारे में

सुनकर उसे इस बात का बड़ा सन्तोष होता कि उसने लोगों को इसी दुनिया के ठौर-ठिकाने पर तो समय से पहले अवश्य पहुँचाया था, पर उस दूसरी दुनिया के लिए नहीं। उसके अपने उस लम्बे काल में एक ही दुर्घटना हुई थी, वह भी बहुत छोटी-सी। एक नीले रंग की मोटरकार उसके पीछे-पीछे चली आ रही थी। उसे कोई चीनी महिला ड्राइव कर रही थी। शायद ड्राइविंग सीख रही थी। बाज़ार के सामने जब भयवा यूसुफ ने ताँगा रोका—तो गाड़ी पीछे से आकर टकरा गयी थी। चीनी महिला के बगल में बैठे हुए व्यक्ति ने चिल्लाकर उससे कहा था, "खड़े होने से पहले सिग्नल नहीं दे सकते थे क्या?"

इस पर भयवा यूसुफ को ज़ोरों की हँसी आ गयी थी। उस व्यक्ति को गाली बकते छोड़ वह आगे बढ़ गया था।

उसके ताँगे में जब महिला सवारियाँ नहीं हुआ करती थीं, तो वह मस्त होकर अपना प्रिय गीत गुनगुनाता रहता जो कुछ इस तरह था—भर शहरवा घूम आवे के चार आना दाम बा, चल सैयाँ घुमा दे जिनगनियाँ में का बा।.........

पर जब ताँगे में महिलाएँ होतीं तो भयवा यूसुफ गूँगा बना हुआ लगाम को थामे रहता। मस्जिद के पास गुज़रते हुए वह मन-ही-मन खुदा का नाम ले लिया करता था। मन्दिर और गिरजाघर की बगल से गुज़रते हुए भी वह ऐसा करता। पर उसका वीर कुणाल कभी खुदा के इन घरों पर इज़्ज़त से पेश नहीं आता था, मानो धरम-करम उसके लिए बना ही नहीं था। हाँ, एक बात ज़रूर थी, विधानसभा के सामने से गुज़रते वक़्त महारानी विक्टोरिया की सफ़ेद मूर्ति के सामने वह अपना सिर नीचे से ऊपर करने लग जाता था। भयवा यूसुफ के लिए यह तय करना भी कठिन ही था कि वह इज़्ज़त से सलामी देता था, या अपनी नापसंदगी दिखाता था। स्वतन्त्रता की दसवीं सालगिरह पर जुलूस के ताँगे ने भयवा यूसुफ की सुस्त पड़ गयी यादों के साथ छेड़खानी कर दी थी। वह इस देश का आख़िरी ताँगेवाला था। उसके जिस ताँगे को सभ्यता की सड़कों पर अड़चन कहकर वर्जित कर दिया गया था, आज वही ताँगा इतिहास का गौरव बना हुआ था। एक बहुत बड़े खोखलेपन से डरकर वह वहाँ से भागने लगा। उसके पाँवों में दौड़ने की शक्ति नहीं थी, फिर भी वह भाग रहा था। उसकी उस शिथिल चाल में मीलों घंटे की रफ्तार थी।

उसके पसीने से तर चेहरे के भाव से लगता था, गोया वह बहुत भयंकर सपना देखकर डर गया हो। उसकी सूखी हुई आँखों से झाँकता हुआ वह डर आँखों के ऊपर आ गया था। रास्ते में लोग नयी उम्मीदें लिये, आज़ादी की खुशियों में शामिल होने जा रहे थे। लोग लौट रहे थे—उस ओर से, थके-माँदे, घुड़दौड़ में हारे हुए खिलाड़ियों की तरह।

अपने की वीर कुणाल की याद से मुक्त करने के प्रयास में वह जेहन पर ज़ोर देकर इधर-उधर की बातें सोचने लगा। अख़बारवाला ख़बरों के शीर्षकों को चिल्लाता हुआ सामने से गुज़र गया। भयवा यूसुफ के जेहन को खाली-खाली-सा पाकर अख़बार की सुर्खियों की आवाज़ें उसमें कूदने-फाँदने लगीं—चीन और अमेरिका में दोस्ती, परखनली का पहला बच्चा, ईरान में खलबली, भारत में बाढ़, इज़राइल और अरब देशों के बीच तनातनी, केन्याता की मौत, अगला पोप कौन?

भयवा यूसुफ ने बहुत दिन हुए अख़बार पढ़ना छोड़ दिया था। जब अख़बार पढ़ते वक़्त उसे एकाएक ऐसा आभास हुआ था कि अख़बार भ्रष्ट हो चला था, उसी दिन से उसने उसे

पढ़ना भी छोड़ दिया था। राजनीति के अलावा जैसे कोई दूसरी चीज़ थी ही नहीं इस दुनिया में, उन्हीं लोगों की तस्वीरें, उन्हीं लोगों के भाषण और विज्ञापन।

जैतुनियाँ ने तो कह ही डाला था, "अब तुममें कड़वाहट आ गयी है।"

वह हँसकर रह गया था। जैतुनियाँ तो चारदीवारी के भीतर से दुनिया को झाँकती है। वह सड़कों पर आकर उसे पास से नहीं देखती, न ही उसे कभी छूने की कोशिश करती है। भयवा यूसुफ तो उसे इतने पास से देखता था कि आँखें चुभने लग जातीं। वह तो रोज़ एक ही तरह की चीज़ें देखता चला आ रहा था। वे ही सनसनी पैदा करने वाले अख़बार, वे ही नंगी बेशर्म फिल्में, वे ही हड़तालें, डिस्को से निकलते हुए नौजवान, शोर मचाता हुआ संगीत, हर जगह से उसी जबान की गूँज—जिसमें डूबकर रह जाती थी अपनी निजी जबान की आत्मीयता, सड़कों और दुकानों में नंगी तस्वीरों और बेहूदा पुस्तकों की नुमाइशें, लाउडस्पीकरों से आते हुए वे ही घिसे-पिटे भाषण, लड़के-लड़कियाँ एक ही लिबास में, उनके जींस, बेहूदी तस्वीर वाली कमीजें·········नारे-प्रतिनारे!

भयवा यूसुफ की नज़रें उस व्यक्ति पर पड़ गयीं, जो सड़क की दूसरी पटरी पर छाते के नीचे चला जा रहा था। यही वह आदमी था, जिसने यूसुफ के ताँगे में सबसे अधिक यात्रा की थी। भयवा यूसुफ भला उसे कैसे नहीं पहचानता! वह भी पहचान जाता, अगर वह छाते के नीचे न होता तो! इस आदमी ने भयवा यूसुफ को दोगुना दिया था। रोज़ पाँच बजे सुबह वह उसे लेने शहर के दूसरे छोर पर पहुँच जाता था। वह उसका रोज़ का पहला यात्री होता था। तड़के ही भयवा यूसुफ उसके घर के सामने पहुँच जाता था। उस समय शहर की सड़कों पर कोई कार नहीं होती थी, शायद ठंड के डर से। दिन की खचाखच भरी रहने वाली गलियाँ सुनसान होती थीं। जहाँ-तहाँ एक-दो आवारा कुत्तों के अलावा कोई नज़र नहीं आता था। वह आदमी भयवा यूसुफ से कहता—"रामजीत, मेरी सुबह तुम लाते हो!"

भयवा यूसुफ का कुल-नाम रामजीत था। उसे अपने परिवार के इस नाम पर कई बार हैरानी हुई थी। रामजीत तो किसी हिन्दू का नाम होना चाहिए था, वह तो मुसलमान था! वह उन सभी मुसलमानों के बारे में सोचने लग जाता, जिनके हिन्दू नाम थे। इसके साथ ही उसे अपना बचपन याद आ जाता·········पड़ोस के घर में उसका दिन बीत जाता था। वह हिन्दू का घर था, इस बात का पता तो उसे बहुत देर से चला था, जब उसकी बहन की शादी की बात चली थी; पर यह जानने के बाद भी उसके और पड़ोस के रणजीत के बीच कोई फ़र्क़ नहीं आया था, कोई फ़ासला नहीं बना था। होली-दीवाली की मिठाइयाँ उसके घर आती थीं और ईद की सेवईं वह रणजीत के घर पहुँचा आता था। और फिर एक दिन चुनाव की सरगर्मी के बीच उसने पहली बार सुना कि हिन्दू हिन्दू हुआ करता है और मुसलमान मुसलमान होता है। मक़तब में जुटाव के बीच, चुनाव में खड़े हुए उम्मीदवार ने तो उस फ़र्क़ की व्याख्या में पूरे दो घंटे बिता दिये थे। और अब तो स्थिति यह थी कि हिन्दू-मुसलमान सिर्फ़ दो अलग धर्म ही न थे, बल्कि एक-दूसरे से कभी न मिलने वाले दो छोर थे। भयवा यूसुफ ने इन्हीं बातों के कारण न तो अपने को इस छोर पर रखा था और न ही उस छोर पर, वह बीच में था। उसे जहाँ दोस्ती मिली थी, जहाँ मुहब्बत मिली थी, वहीं मज़हब था उसका। और ये दो चीजें उसे दोनों छोरों पर मिली थीं। उसके लिए सत्य एक था, वही 'जहजिया भाई' वाला सत्य! उसकी माँ और बाप दोनों हिन्दुस्तान से आये थे। माँ कहती थी—हिन्दू और मुसलमान एक जहाज से

यहाँ आये थे, एक ही छावनी में रहे। एक ही सूरज के नीचे, एक की कोड़े की बौछारों को पीठ पर झेला……… उसकी माँ पढ़ी-लिखी बिल्कुल नहीं थी।

एक बार कुछ नौजवानों के बीच भयवा यूसुफ ने तो कह ही डाला था—"अरे, तुम लोगों की लिखाई-पढ़ाई किस काम की! तुम लोगों से अच्छी तो मेरी माँ ही थी। जाहिल थी, पर अपनी चीज़ों को टुकड़े-टुकड़े करके तालीम की दुहाई नहीं देती थी……… ।"

चलते-चलते वह थक गया था। एक चीनी क्लब के पास की पटरी से जुड़ी हुई पत्थर की सीढ़ी पर वह बैठ गया। आम छुट्टी होने के कारण जगह सुनसान थी।

भयवा यूसुफ ने अपने हाथ को कोट की जेब में पहुँचाया। कोट की दो जेबें तो खाली थीं और दो में उसका अपना खजाना था जो कभी कोट की जेब से जुदा नहीं हुआ था—काग़ज़ में लिपटा हुआ एक पुराना ब्लेड, जिसे काँच के ग्लास पर रगड़-रगड़ कर वह चोखा करता और उससे मूँछें साफ़ कर लेता था। कभी-कभार वही ब्लेड दाढ़ी सुधारने के काम में भी आ जाता। महारानी की शाही मुहर लगा वह पत्र भी था जो सीधे इंग्लैंड से उसके पास पहुँचा था। रानी जब मॉरिशस के दौर पर आयी थी तो राजकीय कार्यक्रम के अन्तर्गत ताँगे से एक छोटे-से सफ़र का भी आयोजन था। उसने रानी को अपने ताँगे में बैठाकर शां-दे-मार्स का चक्कर काटा था। उस दिन वीर कुणाल ने ज़िन्दगी में पहली बार कुछ गलत हरकतें की थीं। मरियल गधे की तरह उसने ताँगे को खींचा था। भयवा यूसुफ ने सोचा, शायद यह रानी की हैसियत और हस्ती से सहम गया था!

दूसरे दिन जब अपने सुबहवाले यात्री के सामने उसने बात रखी थी, तो वह आदमी हँसकर बोला था—"नहीं रामजीत, तुम्हारा घोड़ा रानी के सिर पर के तमाम साम्राज्य के बोझ से दब गया था……… !"

उस बात को अपने ढंग से समझकर भयवा यूसुफ ने ज़ोरों का ठहाका लगया था।

उसकी जेब की तीसरी चीज़ थी, वीर कुणाल के गले की एक छोटी-सी घंटी, और भी दो-तीन चीज़ें थीं। सभी को अँगुलियों से टटोलता हुआ वह क्षण-भर को अतीत के अँधेरे में भटकता रहा। उसमें आनन्द निहित था।

दूसरी जेब में मिस्र से लौटे हुए एक फ़ौजी दोस्त का दिया हुआ काला बटुआ था, जिसमें दो-तीन नोट और सिक्के थे—उसकी अपनी कमाई के आख़िरी सिक्के, उसका ख़ज़ाना। एक बार दुआ के साथ उसके मुँह से निकला था—"खुदा……… मेरा अपना सफ़र इन सिक्कों के ख़त्म होने से पहले ही पूरा हो जाये, इतनी ही ख़्वाहिश रखता हूँ……… ।"

दो दिन पहले उसने बटुए की पूरी रक़म को गिना था। बहुत नहीं थी वह रक़म। फिर भी उसे लगा था कि अभी सफ़र बाक़ी है। फिर ख़्याल आया था कि शायद उसे ज़िन्दगी से इस आख़िरी वक़्त में मोह-सा हो गया था। तभी तो वह कंजूसी पर उतर आया था! खर्च बहुत कम हो रहा था उससे, क्यों? क्या सिर्फ़ इसलिए कि कहीं रक़म के साथ-साथ उसका सफ़र भी समाप्त न हो जाये? वीर कुणाल की मौत के बाद जिस मौत को उसने ललकारा था, क्या अब उसी से डरने की नौबत आ गयी थी? ………पर फ़िज़ूलखर्ची भी क्यों करे? जकात तो वह दे चुका था। ये बाक़ी सिक्के उसकी कमाई की पाक निशानी थे, उसके पसीने की ठोस बूँदें थीं वे……… !

उसकी शादी के तीन ही महीने बाद उसकी बीवी की मौत हो गयी थी। खतिजा को

तपेदिक की बीमारी थी। भयवा यूसुफ के साथ खतिजा के परिवार वालों ने भी यही चाहा था कि वह जैतुनियाँ से दूसरी शादी कर ले। जैतुनियाँ को छोड़कर किसी से बात नहीं की थी। अगर उसी परिवार का सवाल न होता तो वह जैतुनियाँ से दूसरी शादी कर लेता। पर उससे शादी न करके भी वह उसे कभी अपने से दूर नहीं कर पाया। ज़मीन का टुकड़ा और घर उसके नाम करके ही उसने घर छोड़ा था। अपनी बहन की मौत के कोई बीस वर्ष बाद ही जैतुनियाँ ने शादी की थी, वह भी जमात के सरदार के मज़बूर करने पर। सभी लोग यूसुफ को 'भयवा' यूसुफ कहकर पुकारते थे। एक जैतुनियाँ ही थी, जिसने कभी भी उसे इस नाम से नहीं पुकारा। एक दिन भयवा यूसुफ ने पूछा था—

"तुम मुझे यूस क्यों कहती हो?"

"मैं तुम्हें उस नाम से नहीं पुकारना चाहती, जिससे हर एक आदमी तुम्हें पुकारता हो। और फिर तुम मेरे भाई थोड़े ही हो!"

"तुम्हारा बहनोई हूँ........."

"बहनोई तो बड़े भाई की तरह होता है।"

इससे जैतुनियाँ एक ही साथ नाराज और उदास होकर टल गयी थी।.........

कुछ सुस्ता चुकने के बाद भयवा यूसुफ फिर चलने लगा। एक अधखुले फाटक के आगे छोटे-छोटे घुँघराले वाले एक काले बच्चे को उदास बैठे पाया। उसके निकट पहुँचकर वह ठिठक गया। क्रिओली में पूछा—"क्या नाम है तेरा?"

बच्चे ने सिर झुका लिया। भयवा यूसुफ ने दोबारा वही सवाल किया। मुँह नीचे किए हुए बच्चे ने सिर्फ़ आँखें ऊपर करके उसे देखा। भयवा यूसुफ ने जेब में हाथ डालकर वीर कुणाल की छोटी-सी घंटी को बाहर किया। धीरे से उसे हिलाकर घनघनाहट पैदा की। बच्चे की आँखों में प्रलोभन-सा आ गया। घंटी उसके काले हाथ में थमाकर वह आगे बढ़ गया।

वह उस गली में आ गया था, जो आगे चलकर बाज़ार की ऊँची दीवार के कारण बन्द हो गयी थी। यह वही गली थी, जिसमें भयवा यूसुफ अपना ताँगा लिये यात्रियों की बाट जोहता। जब शहर-भर में दस से ऊपर ताँगे थे, तो वहाँ ताँगों को एक-दो मिनट से अधिक रुकने का अवसर ही नहीं मिलता था। लोग धड़ाधड़ चले आते थे, लेकिन जब भयवा यूसुफ का अकेला ताँगा रह गया था तो कभी घंटों प्रतीक्षा करनी पड़ जाती थी। लोग तो टैक्सियों की ओर लपकने लगे थे.........।

आम छुट्टी के कारण शहर की वह सबसे रमणीक गली भी सुनसान थी। भयवा यूसुफ ठीक उसी ठौर पर आकर खड़ा हो गया, जहाँ वीर कुणाल खड़ा रहता था। भीड़ के कोलाहल के बीच वह अपने मुँह को वीर कुणाल के कान तक ले जाकर कहता—"आज तुम्हारे आराम करने की बारी है........."

वीर कुणाल को यह व्यंग्य अच्छा नहीं लगता, अगली टाँगों को उठाकर हिनहिनाने लग जाता। भयवा यूसुफ को हँसी आ जाती और वह उसके सिर पर हाथ फेरने लगता—"देखें, कोई सैलानी ही निकल आये.........!"

ऐसा बहुत कम होता था कि भयवा यूसुफ के ताँगे पर सैलानी सवार होते; पर जिस दिन ऐसा होता था, भयवा यूसुफ की तो बाँछें खिल जाती थीं। किराया सिक्कों से नहीं, नोटों से चुकाया जाता था। शुरू में उसे यह बात अच्छी नहीं लगी थी, वह मुफ़्त का पैसा नहीं चाहता।

पर उसके उस सुबह वाले ग्राहक ने कहा था—"रामजीत, ये पैसे मुफ़्त के नहीं होते। तुम क्या जानो कि तुम्हारे ताँगे में इन सैलानियों को कितना आनन्द नसीब होता है!"

उसे बात जँच गयी थी। फिर भी उस तरह की कमाई से वह आधा हिस्सा जकात के लिए अलग रख देता था। सैलानी उसकी और वीर कुणाल की तस्वीरें लेते और बदले में भी उसे पैसा थमा जाते। वह उन पैसों को बच्चों में बाँट देता था। रविवार के दिन जब संयोग से वह सूरज डूबने से पहले घर पहुँचता तो बच्चे उसके ताँगे को घेर लेते। घर के सामने के ऊँचे-से पत्थर पर वह अपने हाथ में पोटली लिये खड़ा हो जाता। उन मिठाइयों को पहले लड़कियों में बाँटता, फिर लड़कों में। जिसको मिठाई नहीं मिलती उसकी हथेली पर दो सेंट का सिक्का थमा देता।

भयवा यूसुफ के सामने चाय रखती हुई जैतुनियाँ बुदबुदाने लग जाती....... 'हातिमताई ही बनना था तो रईस घर में जनम लेते? कोचवान क्यों जनमे? यहाँ आदमी पाई-पाई को दाँत से दबाये ज़िन्दगी को बेहतर बनाये चले जा रहे हैं; एक तुम हो कि ख़ैरात में लगे हो....... !'

बैठे-बैठे भयवा यूसुफ को झपकी-सी आ गयी। उसे लगा, जैसे क्षण-भर की उस झपकी में उसने वीर कुणाल को देख लिया हो! आँखों में अनायास ही आँसू छलक आये। उसके मुँह से निकल पड़ा—"वीर कुणाल!"

वह अपनी जगह से उठने को हुआ कि तभी जीन्स पहले दो लड़के उसके सामने आकर खड़े हो गये। दोनों के बाल कंधे तक थे। एक ने अजीब ढंग की दाढ़ी बढ़ा रखी थी। एक की बुश्शर्ट लाल थी, दूसरे की काली; एक की बुश्शर्ट पर नंगी औरत की तस्वीर थी, दूसरे की बुश्शर्ट पर अस्त-व्यस्त अक्षरों में न जाने क्या लिखा हुआ था। दोनों भयवा यूसुफ के एकदम निकट आ गये। एक के हाथ में गांजे की सिगरेट थी। दोनों में जो साँवला था, उसने भयवा यूसुफ की दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, "कितनी प्यारी दाढ़ी है!"

दूसरे ने उसके मुँह तक गांजे की सिगरेट पहुँचाते हुए पूछा, "लोगे एक दम?"

कुछ पीछे हटकर भयवा यूसुफ ने कहा, "क्या चाहते हो तुम दोनों?"

"जो हम चाहते हैं, दोगे हमें?"

"मेरे पास कुछ नहीं है!"

"सरकार भी ऐसे ही बोलती है!"

"कौन हो तुम लोग? मुझे तंग मत करो......... !"

"अरे, कमाल है! तुम तो हूबहू मंत्रियों की तरह बोलने लगे।"

"हटो, मेरा रास्ता छोड़ो!"

"तुम्हारा भी जुलूस निकलेगा क्या?"

एक ने गांजे का कश लेकर धुआँ उसके चेहरे पर छोड़ दिया। दूसरे ने उसके कोट की जेब में हाथ डालकर चीज़ें बाहर निकालीं, उन्हें देखा और फेंक दिया। दूसरी जेब में हाथ डालना चाहा कि तभी भयवा यूसुफ हट गया—"क्या चाहिए तुम्हें?"

"महारानी एलिजाबेथ की तस्वीर।"

"मेरे पास महारानी की तस्वीर क्या करने लगी!"

"देते हो या नहीं?"

"पर भाई, मेरे पास तस्वीर हो तब दूँ?"

"बकते हो साले! आज़ादी के दस साल बाद भी रानी की तस्वीर ही सभी कुछ है?"

यह कहकर लड़का उसकी जेब से बटुआ निकाल लेता है। उसमें से एक नोट निकालकर भयवा यूसुफ की आँखों के पास ले जाते हुए पूछता है—"यह तस्वीर तुम्हारी माँ की है क्या ?"

उसने अपने मित्र को बटुए के भीतर की चीज़ें दिखायीं। दोनों ने मिलकर भयवा यूसुफ को पटरी पर बैठा दिया। नीचे से काग़ज़ के कुछ टुकड़े उठाकर उन्हें टुकड़े-टुकड़े किया और फूलों की तरह भयवा यूसुफ के सिर पर गिराकर दोनों दूसरी गली की ओर दौड़ गये।

भयवा यूसुफ बैठा रहा, उससे उठा नहीं गया। कोई दस-पद्रह मिनट बाद ही दो व्यक्ति सामने से गुज़रे। एक ने जेब से एक सिक्का निकालकर भयवा यूसुफ की गोद में गिरा दिया। भयवा यूसुफ उसी तरह बैठा रहा। काफ़ी देर बाद आज़ादी का जश्न ख़त्म होने पर इस गली में भी थोड़ी-बहुत चहल-पहल हुई। भयवा यूसुफ दीवार से टिका हुआ बैठा रहा, बैठा ही रहा····

(सात)

दिन हमारे नहीं

काटिड्रल के घण्टे की उस पहली से ग्याहरवीं घनघनाहट के बीच तीनों कहीं भी होते, अपने स्थान से उठकर चल पड़ते थे, और फिर सवा ग्यारह से साढ़े ग्यारह बजे तक तीनों अपने स्थान पर पहुँच आते थे। शायद ही एकाध अवसर ऐसे रहे हों जब किसी एक का पहुँचना साढ़े ग्यारह बजे के बाद हुआ हो।

बन्द गली के मोड़ पर का वह खण्डहर। काले पत्थर की उसकी सीढ़ियाँ। हरी काई से युक्त दीवारें। दीवारों से टिके हुए ललछवीं जंग वाले टीन। उसके नीचे बिछे हुए सन के मैले-कुचैले बोरे। उन बोरों पर दिन-भर सोते रहने वाले दोनों कुत्ते, तीनों में से पहले के पहुँचने की आहट पाते ही उठकर खिसक जाते।

बिजली का आख़िरी खम्भा वहाँ से कुछ ही दूरी पर था। वहाँ से लपककर आने वाले धुँधले प्रकाश में कभी किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं महसूस की गयी थी। अलबत्ता एक बार कोई दस-पन्द्रह दिनों के लिए मोमबत्ती से काम लेना पड़ा था। वह भी उस समय जब खम्भे की बत्ती बेकार हो गयी थी। नगरपालिका के लोगों को क़रीब दो हफ़्ते लग गये थे उसे बदलने में।

तीनों में कभी नेपोलियन पहले आ जाता था। अपने हाथ की पोटली को फर्श पर रखकर बैठ जाता। कभी सबसे पहले अलेक्ज़ेंडर पहुँचता। वह भी अपने साथ लायी पोटली को बगल में रखकर बैठ जाता। जंगेज़ खाँ के लिए यह नियम-सा ही बन गया था कि वह पहले कभी न पहुँचे। वह जब भी पहुँचा था दूसरा या तीसरा ही, पर हमेशा दो पोटलियों के साथ पहुँचता। एक उसकी अपनी होती थी और दूसरी मेगडलेन की दी हुई होती थी। वह पोटली न होकर प्लास्टिक का एक छोटा-सा बस्ता होता था।

तीनों के जुट जाने पर ही सभी पोटलियाँ खोली जाती थीं। वे अच्छे दिन होते थे जब उनमें दालपूरियाँ, डबल रोटी, कबाब हुआ करते थे। बुरे दिन में सूखी रोटी, प्याज और मिर्च होती थी। अच्छे दिन में अंगूरी शराब होती और दिन ख़राब होने पर वही मेगडलेन के यहाँ की चाय से भरी बोतल होती। मेगडलेन उन्हें शराब पीने से मना करती। कभी-कभार गाँजे की व्यवस्था ज़रूर कर लेती थी। जंगेज़ खाँ से कहती, "गाँजे का तुम्हारा नशा मुझे अच्छा लगता है।"

पिछवाड़े में अंगूरी शराब की बोतलों का ढेर हो चला था। तीनों का यह नियम था कि जब तक संख्या सौ की न हो जाये, उन्हें न बेचा जाये। कभी सौ होते-होते साल लग जाता, कभी छह महीनों में ही बेचने की नौबत आ जाती। नेपोलियन उन्हें दो बोरों में भरकर निकल जाता था। पिछली बार तो इन बोतलों के लिए उसे हमेशा से अधिक रुपये मिल गये थे—पूरे पच्चीस। अलेक्ज़ेंडर ने कहा था—"महँगाई लाने वाले कम-से-कम ईमानदार तो हैं। बोतल को भी उसका हक़ देकर रहे।"

उस रात तीनों जमकर बैठे थे। उस रात खाने को बिरयानी थी, पीने को रम थी।

उस रात जंगेज़ खाँ रम की खुमारी में बोला था—"रातें हमारी होती हैं।"

फिर तीनों ने एक साथ कहा था—"रातें हमारी होती हैं।"

नेपोलियन पच्चीस पार कर चुका था, पर पच्चीस में उसके तीन साल क़ैद की चारदीवारी के भीतर ढल गये थे। लोगों को अपनी उम्र बताते हुए वह कहता, "उन तीन सालों को जिन्हें मैंने जिया नहीं, वे मेरे कैसे हो सकते हैं?" इसलिए वह अपने को बाईस साल का बताता। कहता, "ज़िन्दगी तो खुली हवा का नाम है। मेरे ये बाईस वर्ष खुली हवा में गुज़रे हैं।" बाइसिकल चोरी करके बेचते वक़्त पकड़ा गया था। बाद में उसे लगा था कि वह चोरी नहीं थी, बेवकूफ़ी थी और ज़िन्दगी में उसने चोरियाँ तो छोटी-बड़ी कई बार की थीं पर बेवकूफ़ी एक ही। चोरी की सज़ा नहीं होती, पर बेवकूफ़ी माफ़ नहीं होती, यह सीख उसने ज़िन्दगी से पायी थी। इसलिए बेवकूफ़ी से वह घबराता था। उसके सिर के बाल लगभग उड़ चुके थे। उसके चौड़े नंगे माथे से उसके चेहरे पर एक गाम्भीर्य की चमक का आभास-सा होता, पर वह मात्र आभास ही होता, क्योंकि नेपोलियन ज़िन्दगी में कभी भी गम्भीर नहीं रहा। उसे हँसने से मना किया जाता था। छोटी-छोटी बातों पर भी वह दाँत निपोर दिया करता था। हर घड़ी उसके हँसते रहने के लिए होती थी। अलेक्ज़ेंडर कहता, "तुम गाँजा कम पिया करो, तुम्हारी गाँजे की हँसी उबा देती है।"

अलेक्ज़ेंडर नेपोलियन से अधिक लम्बा था। उसे अपने सिर के छोटे-छोटे घुँघराले बालों से चिढ़ थी। गाँव में जनमकर वह वहाँ उस वक़्त तक था, जब उसे अपने प्रति लोगों का व्यंग्य समझ में आने लगा था। उसे अपने बाप की कोई जानकारी नहीं थी। उसकी माँ जंगलों से घास काटकर गाय पालती थी और चार बच्चों का पालन-पोषण करती थी। अलेक्ज़ेंडर सबसे छोटा था। गाँव वाले उसे 'रोलाँ' कहकर चिढ़ाते थे। रोलाँ कोठी का रखवार था। रोड्रिग से आया हुआ छोटे-छोट घुँघराले बालों वाला क्रियोल। गाँव-भर में अफ़वाह थी कि हाथी जैसे शरीर वाला यह रखवार कोठी के जंगलों में सिर्फ़ उन्हीं औरतों को घास काटने की इजाज़त देता था, जो उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती थीं। अलेक्ज़ेंडर की माँ जिन हरी-कोमल घास के बोझों के साथ जंगल से बाहर होती थी, उससे सभी लोग उसे हिम्मत वाली कहते थे। पन्द्रह साल पहले अलेक्ज़ेंडर ने गाँव छोड़ा था। एक ही बार गया था, अपनी माँ की मृत्यु पर। तीनों में वह सबसे कम हँसने वाला था।

जंगेज़ खाँ सबसे कम उम्र का था। चीनियों जैसी आँखें थीं उसकी। मोटे-मोटे सीधे-सीधे बाल। रंग गोरा था। नाक ऐसी थी, लगता चेहरे पर बुलडोजर गुज़र चुका हो। सात साल की उम्र से कपड़ों की एक दूकान में काम करता था। मुसलमान और क्रियोलों के बीच दंगा-फसाद के कारण जब दुकान में आग लगा दी गयी थी, तभी से वह बेकार रहा। आज तक बेकार था।

बाज़ार में बोझ ढो-ढोकर एकाध रुपये पा लेता था। कुछ लोग उससे अपना सामान ढुलवा कर बाज़ार से लगे हुए शराबख़ाने में उसे एकाध गुड़की शराब दे देते। यही उसके लिए पारिश्रमिक हो जाता था। यहीं से उसे शराब की लत लग गयी थी।

कोई आधे घंटे तक साथ बैठे रह कर फिर तीनों अपनी पोटलियों की चीज़ों को प्लास्टिक के बस्ते में रखकर एक साथ निकल पड़ते, और कोई दो-तीन घण्टे बाद ही सोने के लिए अपने इसी स्थान पर पहुँचते। दो-तीन घण्टे सोते और फिर एक-दूसरे से अलग हो जाते थे।

काटिड्रल के घण्टे ने ग्यारह बजाये।

आख़िरी घन की बोझिल प्रतिध्वनि पूरे शहर के बीच खो गयी। प्रतिध्वनि अब भी दिमाग में चिपकी रही। हमेशा की तरह वहाँ नेपोलियन पहले पहुँचा। खम्भे की वह सामने वाली बत्ती बुझ-बुझकर जल रही थी।

नेपोलियन ने उस ओर देखकर अनुमान लगा लिया कि अगर वह बत्ती आज रात टिक जाती है, तो कल तक ठण्डी ज़रूर पड़ जायेगी। खाली बोतलों के पीछे एक बक्से में पिछली बार की मोमबत्ती बची होगी। कल रात अँधेरे में उसे ढूँढ निकालना कठिन जानकर उसने चाहा कि आज ही उसे वहाँ से निकाल कर सामने रख दिया जाये। अपने हाथ की पोटली को नीचे रखकर वह पिछवाड़े में पहुँचा। बोतलों के बीच शायद कोई चूहा मरा पड़ा था। सरदर्द दे जानेवाली दुर्गन्ध थी वहाँ। बगल की दीवार के छिद्रों से छनकर आती हुई रोशनी के चंद टुकड़ों के सहारे नेपोलियन बक्से की जगह पर पहुँचा। उसके पाँव से टकराकर कई बोतलें एक साथ नीचे लुढ़क आयीं। सामने के घर से वही बात-बात पर नाराज़गी ज़ाहिर करती हुई आवाज़ आयी। वह आवाज़ प्राय: अनसुनी चली जाती थी, पर आज बोतलों की खनखनाहट के रुकते ही नेपोलियन ने उसे सुना। नीचे से बक्से को उठाकर उसे रोशनी के सामने लाया। कई चीज़ों के नीचे मोमबत्ती मिली, पर तीन टुकड़ों में। इंच बराबर के तीनों टुकड़ों पर चूहों ने हाथीदाँत वाली शिल्पकारी कर दी थी।

कुछ देर बाद अलेक्ज़ेंडर भी आ पहुँचा। जंगेज़ खाँ देर से आया। मेगडलेन माकारोनी पकाने में लगी हुई थी। अपना हिस्सा लेने के लिए जंगेज़ को ठहरना ही पड़ा था। पोटलियों को बीच में करके तीनों तीन ओर से बैठ गये। तीनों में वह केवल जंगेज़ खाँ था, जिसके पाँव कभी नंगे नहीं होते थे। अपने पाँवों से चप्पल उतारकर उसने उन्हें ग़ौर से देखा। उसमें दम बाक़ी पाकर उसे सन्तोष हुआ। नेपोलियन ने भी अपने सिर से मलगासी टोपी उतारकर उसके भीतर झाँका और उसे नीचे रख दिया। गंजे सिर पर हाथ फेरते हुए बोला—"लगता है बारिश होगी।"

अलेक्ज़ेंडर ने अपनी नाक को खरगोश के नथुनों की तरह हिलाकर पूछा—"क्या है तुम दोनों की पोटलियों में? लगता है तुममें से कोई सड़ी हुई चीज़ उठा लाया है।"

नेपोलियन हँस पड़ा, "यार यह महक पोटली से नहीं आ रही।"

"तो फिर।"

"बोतलों के बीच चूहा मरा पड़ा है।"

यह कहकर और भी ज़ोर से हँस पड़ा। अपनी नाक पर ज़ोर देकर सूँघने की कोशिश करके जंगेज़ ने कहा—"मुझे तो कुछ नहीं महकता लगता।"

"तुम्हारी नाक तो गाँजे की महक से बन्द है।"

"तुमने अच्छी याद दिलायी। आज बढ़िया माल मिला है.........एकदम कली।"

अपनी जेब से एक छोटी-सी पोटली निकालकर जंगेज़ ने अपने दोनों साथियों के सामने बढ़ा दी। पोटली के भीतर से गाँजे की उन पत्तियों को अपने हाथ में लेकर नेपोलियन ग़ौर से देखता रहा। उसकी आँखों में चमक और जीभ पर पानी आ गया।

"बढ़िया है।"

"पर मत पूछना कहाँ से मिला?"

"निकालो सिगरेट और काग़ज़। आज मैं अपने हाथों तैयार करता हूँ।"

नेपोलियन गाँजे की पत्तियों को हथेली पर रखकर अँगूठे से कोई दस मिनट तक मसलता रहा। इसके बाद दो पैसे वाली सिगरेट को तोड़ा। गाँजे की पत्तियों और तम्बाकू को पतले से महीन काग़ज़ पर बिछाकर उसे लपेटा। छोर पर जीभ फेर कर काग़ज़ को चिपकाया। उसे मोटी सिगरेट का रूप देकर जंगेज़ की ओर बढ़ा दिया।

तीनों ने गाँजे के तीन-तीन लम्बे कश लिये। अपनी-अपनी पोटलियों का एक बड़ा-सा बण्डल बनाकर तीनों उठ खड़े हुए। रात सो चुकी थी। शहर सपनों में खो गया था। गलियाँ ख़ामोश थीं। इमारतें धूमिल हो चली थीं। हवा अलसाई हुई थी, जिसकी वजह से उमस थी। अलेक्ज़ेंडर ने सेगा गुनगुनाना शुरू किया। नया सेगा था। उसने दो दिन पहले जंगेज़ से सुना था। जंगेज़ मेगडेलन के घर से सुनकर आया था।

नेपोलियन को सेगा से चिढ़ थी। उसका अपना स्वर कभी बड़ा सुरीला था। वह कई महफिलों में गा चुका था। चीनोरोसी और लूई मारियनों के गाने को हूबहू गा लेता था, पर पता नहीं सेगा के सपाट राग और घिनौने शब्दों में क्या था कि सेगा गाने वाले से कुछ-न-कुछ बन गये और वह जहाँ था, वहाँ भी न रहकर पीछे को लुढ़क आया था। अलेक्ज़ेंडर उससे कहता—"सेगा हमारा लोकगीत है।"

"भाड़ में जाये तुम्हारा लोकगीत। गालियों और कोलाहल को मिलाकर सालों ने संगीत बना लिया है।"

इस पर तीनों के बीच बहस छिड़ जाती। फिर तो तीनों आपस में गाली-गलौज़ पर भी उतर आते और इससे आगे फिर तीनों के ज़ोरदार ठहाके होते।

रास्ते में अलेक्ज़ेंडर ने पूछा—"आज का खाना किस होटल में होगा?"

"लाई मीन में खाये तीन हफ़्ते हो गये।"

"एक हफ़्ते को तीन हफ़्ते कहते हो।"

"लगता तो तीन हफ़्ता ही है।"

"तो फिर ठीक है, आज वहीं धावा बोला जाये।"

जिस वक़्त तीनों लाई मीन रेस्तराँ के पास पहुँचे, वहाँ की आख़िरी गाड़ी स्टार्ट होकर रवाना हो रही थी। रेस्तराँ के दरवाज़े बन्द हुए कठिनाई से दो-तीन मिनट हुए होंगे। भीतर बरतनों की खनखनाहट अब भी थी। पटरी सुनसान थी। कुछ दूरी पर था वह केसीनो, जहाँ की रमणीकता अब भी बाक़ी थी। रेस्तराँ के बड़े दरवाज़े के पास की चौड़ी चौखट पर तीनों बैठ गये।

जंगेज़ ने पोटली खोली। दो कुत्ते एक साथ पटरी से पास आ गये। अलेक्ज़ेंडर ने उन्हें खदेड़ दिया। केसीनो से हारा हुआ एक व्यक्ति मुँह लटकाये पटरी से गुज़र गया। रास्ते में एक गाड़ी तेज रफ़्तार के साथ निकल गयी। पुलिस का सिपाही सामने से गुज़रा। तीनों की जानी-पहचानी सूरत को ग़ौर से देखता हुआ आगे निकल गया।

अख़बार को तीन टुकड़ों में बाँटकर नेपोलियन ने अपने और अपने दोनों साथियों के आगे रख दिया। जंगेज़ ने तीनों पोटलियों की चीज़ों को परोसा—कबाब, मक्रोनी, भजिया, मछली, डबल रोटी, थोड़ा-सा भात। जंगेज़ ही ने बोतल खोली। एक-एक घूँट शराब थी उसमें। आधा घण्टा लगा तीनों को खाकर डकार लेने में।

दोनों कुत्ते फिर आ गये। तीनों ने अख़बार के टुकड़ों को कुत्तों के हवाले कर दिया। अलेक्ज़ेंडर ने सिगेरट जलायी। तीनों ने उससे कश लिये। केसीनो के सामने की चहल-पहल में एक रफ़्तार-सी आते पाकर तीनों खड़े हो गये। वहाँ के बढ़ आये कोलाहल से समझते देर नहीं लगी कि झगड़ा शुरू हो गया था। कुछ क़दम आगे बढ़कर तीनों एक सँकरी गली में मुड़ गये। शहर की सबसे पुरानी इमारतों वाली गली थी वहाँ, जिसमें जहाँ-तहाँ इतिहास को उखाड़कर नयी इमारतें रोप दी गयी थीं। ये नयी इमारतें शहर के चीनी व्यापारियों की कई मंज़िली इमारतें थीं। इन नयी इमारतों के बारे में नेपोलियन ने एक बार कहा था—"व्यापार के पैसों में खाद और बरसात की ताकत होती है। यह देखो, ये घर किस तरह ऊँचे लहलहा उठे हैं।"

इसी गली के बीच मेगडलेन का टीन का वह घर था जिस तक विरले ही सूरज की किरणें पहुँचती थीं और शायद यही कारण था कि उस धुँधलके में दिन दहाड़े नाविकों और दुटपूँजिये सैलानियों का ताँता बना रहता था।

उस गली से निकलकर तीनों एक दूसरी सुनसान और धुँधली गली में आ गये। उस गली में भी लोगों का निवास हो सकता है, इसका आभास नाले में बिखरे हुए कूड़े-करकट को देखकर ही होता था। सड़ी हुई सब्जियों की गंध और दुबले-पतले कुत्तों की आवा-जाही से पता लगाया जा सकता था कि इस गली में भी आदमी रहते हैं। दोनों तरफ़ की पटरियों से सटे नालों के पानी में गली हर वक़्त डूबी रहती थी। जिस दिन उस पानी से गंध नहीं आती थी, उस दिन जंगेज़ अपने नंगे पाँवों उस पानी को छपछपाते हुए चलकर ही मेगडलेन के यहाँ पहुँचता था। ऐसा करने में उसे बचपन के दिन याद आ जाते थे। वह खुश हो जाता था।

एक और धुँधली और तंग गली से निकलकर वे आम सड़क पर आ गये। हाथी की तरह झूमते हुए तीनों फिर से रायल स्ट्रीट में आ चुके थे। सामने विधानसभा की इमारत थी। चारों ओर अच्छी तरह देखकर तीनों ने कंधे तक की सफ़ेद दीवार को फाँदा। फाँदकर भीतर पहुँचे। विधानसभा का जगमगाता आँगन। पहरा देने वाला पुलिस का सिपाही थककर किसी कोने में आराम कर रहा था, और फिर इन तीनों के चेहरे तो उसके भी जाने-पहचाने थे। शुरू-शुरू में पुलिस ने आपत्ति ज़रूर की थी, पर फिर आपत्ति-आपत्ति-आपत्ति, और वह परिवर्तित हो ही जाती है अनुमति में।

एक तरह से तीनों को अनुमति थी। यह सिर्फ़ रात की बात थी।

आज सीढ़ी के सबसे ऊपरी भाग पर बैठने की बारी अलेक्ज़ेंडर की थी। वह ऊपर जा बैठा। सिगरेट को पाइप की तरह पीते हुए उसने अपने दोनों साथियों की ओर देखा। जंगेज़ ने उसे झुककर नमस्कार किया, फिर नेपोलियन की ओर देखते हुए बोला—"साले नमस्कार करो, मंत्री के सामने हो।"

नेपोलियन ने भी उसी तरह अभिवादन किया।

अलेक्ज़ेंडर ने सिगरेट दाँतों के बीच दबाते हुए पूछा, "बिना अपोइंटमेंट कैसे आ गये?"

"साहब, आपके दफ़्तर के सामने के चपरासी ने आज एक रुपये के बदले दो रुपये की

माँग की थी।"

"महँगाई! ख़ैर, यह कौन है तुम्हारे साथ?"

"यह आप ही के इलाके का मतदाता है।"

"कैसा मतदाता? मतदाता सिर्फ़ चुनाव में होते हैं।"

"अगले महीने चुनाव है साहब।"

"क्या चाहता है?"

"यह बेकार है।"

"बेकार को क्यों लाये हो? बेकार लोग मेरे पास बकरों के झुण्ड की तरह चले आते हैं। बकरे–बकरे.........पर हाँ मैं बकरे का मांस बहुत पसन्द करता हूँ।"

"आपकी कृपा से यह योग्य बन सकता है।"

"इसके पास प्रमाण-पत्र है?"

"नहीं है। आपका आशीर्वाद चाहिए।"

"पर क्या गारण्टी है कि यह नौकरी के बाद उस ओर न चला जायेगा।"

"नहीं साहब, यह इसी ओर जान दे देगा।"

"क्या वजन है इसका?"

"साहब ग़रीब है, फिर भी दो हज़ार तक का.........।"

"महँगाई! ख़ैर, तीन दिन बाद इसे मेरे घर लेकर पहुँचना।"

"बहुत-बहुत धन्यवाद साहब। अरे बेवकूफ़, साहब को धन्यवाद तो कह।"

"पर नौकरी?"

"अरे मिल गयी, साहब के पाँव छू ले।"

तीनों ठहाके के साथ सीढ़ियाँ उतर के फिर से गली में जाते हैं। जंगेज़ झपट कर चौराहे पर जा खड़ा होता है और सुनसान पड़े रास्तों की ओर बारी-बारी मुड़कर यातायात को हाथों के इशारों से निर्देशित करने लगता है। एक रास्ते अपने दोनों हाथों को ड्राइविंग व्हील की तरह घुमाकर नेपोलियन सामने से आता है। दूसरी ओर से अलेक्ज़ेंडर भी उसी तरह धड़धड़ाता हुआ आता है और दोनों टकराकर लुढ़क जाते हैं। जंगेज़ अपनी जगह से हटकर दोनों के बीच आ जाता है।

"इन्स्पेक्टर साहब, मैं सही रास्ते पर था।"

"नहीं, दरोगा साहब, सही रास्ते पर मैं था।"

"यह कसूरवार है।"

"कसूरवार यह है।"

"मैं पूछता हूँ, दो सौ रुपये किसके पास हैं?"

"साहब मैं टैक्सी चलाता हूँ। महीने में दो सौ रुपये मिलते हैं।"

"तो फिर तुम्हीं कसूरवार हो।"

गिरजाघर के घण्टे ने घनघनाहट के साथ तीन बजा दिये। आकाश पर अनायास ही काली बदली छा गयी थी। तारे ओझल हो चुके थे। गुमसुम माहौल में उमस और भी बढ़ गयी थी। समय वातावरण के कुछ शीतल होने का था, पर न जाने क्या सूझा था उसे। तीनों झपटकर सामने के एक दफ़्तर के बरामदे में जा पहुँचे। नेपोलियन एक अच्छे स्थान पर बैठ गया।

अपनी खुली हुई नंगी गरदन की टाई के बन्धन को ठीक करते हुए मोटी आँखों के साथ अलेक्ज़ेंडर की ओर देखा। उसकी उस निगाह से अलेक्ज़ेंडर सहम गया। लड़खड़ाते हुए स्वर में बोला, "डायरेक्टर साहब! मेरी तरक्की!"

"कैसी तरक्की?"

"साहब मुझसे बाद में पहुँचे हुए लोग मुझसे आगे जा चुके हैं। मेरे पास बेहतर प्रमाण-पत्र है। फिर भी मेरा प्रमोशन अभी तक नहीं हुआ।"

"तुम्हारे गाँव में खरगोश मिलते हैं?"

"जंगलों में होते हैं साहब, पर मेरे पास बन्दूक नहीं।"

"तुम्हारे इलाके में मछलियाँ मिलती हैं?"

"सैलानियों के कारण मछलियों का बड़ा अभाव है।"

"तुम्हारे गाँव में बड़े लोगों का स्वागत आदि नहीं होते हैं?"

"मंत्रियों के होते हैं। मालाएँ पहनायी जाती हैं।"

"तुम्हारे प्रमोशन में अभी देर है। अभी सेवा का भाव नहीं आया तुमको।"

तीनों एक जगह पर बैठ गये। नेपोलियन ने गाँजे की सिगरेट तैयार की। दो-दो दम के बाद ही ख़त्म हो गयी। मुक्त हँसी हँसते हुए तीनों शहर के उत्तरी इलाके को दौड़ गये। वह गली जिसमें वे पहुँचे, नये रईसों का इलाका था। अभी उनके पास गैराज का पैसा नहीं हुआ था, इसलिए उनकी गाड़ियाँ सड़क के किनारे खड़ी हुई थीं। सातवीं कार के पास तीनों ठिठक गये। वह एक लाल रंग की टोयोटा थी। नेपोलियन ने अपनी जेब से तार का टुकड़ा निकाला। कार के दरवाज़े में उसे कुछ देर तक आजमाने के बाद हँस पड़ा। उसके साथ दोनों साथी भी हँस पड़े। दरवाज़ा खटके से खुल गया। उसने पीछे के दरवाज़े भी खोल दिये। वे दोनों उछलकर गाड़ी के भीतर जा बैठे। ड्राइवर की सीट पर खुद नेपोलियन बैठा। उसी तार को थोड़ा-सा और मोड़कर उसने कार स्टार्ट की। एक्सलेटर पर धीरे-धीरे पाँव दबाकर उसने कार को थोड़ी दूर चलाया, फिर स्पीड को सेकण्ड में ले जाकर उसने रफ़्तार को थोड़ा-सा तेज किया। फिर गेयर बदल कर स्पीड को तीसरे पर ले गया, और चौथे पर गाड़ी हवा से बातें कर उठी।

शहर की इस गली से उस गली तक कार दौड़ती रही। किसी फुटबाल मैच में जीतकर लौटे हुए दर्शकों की तरह तीनों चिल्लाते-गाते उन सभी गलियों में घूमत रहे, जहाँ दिन में उनके पाँव जवाब देने लग जाते थे।

जंगेज़ ने हल्की खुमारी में पूछा, "कैसी है आज की गाड़ी?"

"एकदम फर्स्ट क्लास है।"

"कल के रेनो के बारे में भी तुमने यही कहा था।"

"इस जापानी माल के सामने फ्रांसीसी माल है ही क्या?"

"रात हमारी है।"

"रात ज़िन्दाबाद।"

गिरजाघर के घण्टे से चार आवाज़ें आयीं।

"चलो अब लौट चलें।"

"अभी तो हमारा एक घण्टा और है।"

"ठीक है, रास्ते में अपनी दुकान मिलती है। उसे भी देख लिया जाये।"

"दूकान से तो कल ही लौटे हैं।"

"आज क्लब हो लिया जाये।"

कार को उसकी जगह पर छोड़कर तीनों फिर पैदल आगे बढ़ गये। घुड़दौड़ के विस्तृत फैले मैदान में था वह क्लब। जाति विशेष का वह ऊँची दीवारों से घिरा हुआ क्लब। दिन में जिसके भीतर परिन्दे भी जाते हुए डरते हों। दीवार फाँदकर तीनों भीतर पहुँचे। बॉल के पिच में पहुँचकर तीनों इधर-से-उधर दौड़कर खेलने लगे। नेपोलियन ने अपने दोनों खाली हाथों से गेंद उछाली। जंगेज़ ने छलांग लगायी। अलेक्ज़ेंडर उसे रोकते-रोकते पीछे लुढ़क गया। जाति विशेष के लोगों के उस दुर्लभ आनन्द को तीनों भोगते रहे।

उस सन्नाटे में तीनों दर्शकों के कोलाहल और तालियों की गूँज को सुन-सुनकर और भी ज़ोर-ज़ोर से उछलते रहे। आधे घण्टे में तीनों पसीने से तर हो चले थे। खेल ख़त्म हुआ। तालियाँ बजती रहीं। तीनों ने अपने चेहरों से पसीने की बूँदें पोंछीं। अहाते से बाहर आये। अलेक्ज़ेंडर अपने दोनों खाली हाथों को छाती के पास गोलाकार किये हुए चल रहा था। जंगेज़ ने उसे रोक कर पूछा, "तुम्हारे हाथ में क्या है?"

"अरे मैं तो गेंद अपने साथ लिये चला आ रहा हूँ।"

"यह चोरी है।"

"नहीं, यह भूल है।"

"जाओ, इसे इसकी जगह पर छोड़ आओ।"

दीवार के पास पहुँचकर अलेक्ज़ेंडर ने सम्पूर्ण ताकत के साथ अपने दोनों हाथों के खालीपन को दीवार के उस पार उछाल दिया। तीनों चलते रहे। बारी-बारी से तीनों ने जम्भाई ली। काटिड्रल के घण्टे ने पाँच बजाये।

अपने स्थान पर पहुँचकर तीनों अस्त-व्यस्त पड़े बोरों को ठीक से बिछा भी नहीं पाये। नींद ने तीनों को दबोच लिया।

(आठ)

कॉफ़ी हाउस की वह शाम

वह कॉफ़ी हाउस कनॉट प्लेस में कहीं था। काफ़ी बड़ा था, लेकिन खचाखच भरे होने के कारण बड़ा सीमित लगा था। वहाँ पहुँचने के बस दो घण्टे पहले मेरे प्रकाशक ने जब मुझसे कहा था कि दिल्ली के प्राय: सभी बुद्धिजीवी मुझे वहाँ मिल जायेंगे, तो मेरे ज़ेहन में उस कॉफी हाउस की जो तस्वीर आयी थी, वह लगभग वही थी जो कनाडा के क्यूबेक में देख चुका था। उस दिन मेरे सिर में दर्द था, क्योंकि दिन में विदेश-मंत्री, शिक्षा-मंत्री, युवा-मंत्री और भी कई मंत्रियों से मिलकर लौटा था। मैं जब यात्रा में निकलता हूँ, एस्पीरिन की गोलियाँ भी मेरे लिए उतनी ही ज़रूरी हो जाती हैं जितनी शेविंग किट। मन में आया था कि एस्पीरिन की दो गोलियाँ गरम पानी के साथ लेकर सो जाऊँ, लेकिन बुद्धिजीवियों, लेखकों और कलाकारों से मिलने का प्रलोभन इतना बड़ा था कि मैंने अपने को विश्वास दिला दिया कि मुझे कोई सर दर्द था ही नहीं। यह सीख मुझे अपने देश की एक चीनी लड़की से मिली थी।

मैंने एक बार जब एक डेट टालने की कोशिश करते हुए सर दर्द का बहाना किया था, तो उसने झट कह दिया था सर दर्द कोई दर्द नहीं होता। वह काल्पनिक होता है। बस इतना ही सोच लेने से दर्द काफ़ूर हो जाता है कि अपने को कोई सर दर्द है ही नहीं।

"कान्फ्यूसस?"

"नहीं, यह मेरा अपना अनुभव है।"

और सच मानिये, उसके उस अनुभव को अपनाकर मैंने भी कई अवसरों पर सर दर्द को कपूर की तरह उड़ा दिया था। लेकिन हर बार ऐसा नहीं होता था, इसीलिए अपने साथ गोलियाँ रखना कभी नहीं भूला।

अपने प्रकाशक और एक लेखक मित्र के साथ, जिसका नाम बस राजेन ही बता दूँ तो आप जान जायेंगे कि मैं किसकी बात कर रहा हूँ—मैं उस कॉफ़ी हाउस में पहुँचा था जिसका नाम स्वतन्त्रता के सत्ताईस साल बाद भी अंग्रेज़ी में था और यही कारण है कि उसका नाम मुझे याद नहीं। चक्करदार तंग सीढ़ियों से होते हुए हम भीतर पहुँचे। धुआँधार। घाँवमाँव! और उसके बीच कई तरह की गंधों से मिलकर एक गंध का बोझ लिये हुए धुँधला माहौल। सभी मेज़ें घिरी हुई थीं कुर्सियों से चिपके हुए बुद्धिजीवियों के घेराव से। अधमैली और बेढंगी सफ़ेद वर्दी में ट्रे लिए इधर-से-उधर को जाते हुए बैरे अपने को आने-जाने वालों से बचाते-टकराते, गोया किसी आधुनिक बालेट की मुद्राओं की नुमाइश करते हुए।

कॉफ़ी हाउस की हालत ही दिल्ली की आधुनिकता और सम्पन्नता के बीच जी रहे लेखकों की अपनी हालत थी। मुझे तो अपने प्रकाशक का भी इधर आ जाना आश्चर्य में डाल रहा था, पर फिर ख़्याल आया था कि शिष्टाचार भी कोई चीज़ हुआ करती है।

ख़ैर, किसी तरह एक कोने में एक मेज़ अधखाली दिखायी पड़ी। उसके इर्द-गिर्द की छह कुर्सियों में सिर्फ़ दो पर ही वज़न थे, बाक़ी चार बिना वज़न के पड़ी हुई थीं। बिना किसी से अनुमति लिये मेरे दोस्त राजेन ने एक कुर्सी पर अधिकार ज़मा लिया। एक कुर्सी खींचकर मेरे सामने कर दी और तीसरी कुर्सी की ओर प्रकाशक को संकेत कर दिया।

कोई दो-तीन मिनट बाद ही पता चला कि पहले से बैठे दोनों व्यक्ति भी लेखक थे और मेरे मित्र के जाने-पहचाने थे। अपनी आँखों से ऐनक उतारने के बाद ही उसे इस बात का पता चला था। दोनों के परिचय देते हुए उसने उनको मेरा परिचय दिया—"यह हैं अभिमन्यु, मॉरिशस के एक हिन्दी लेखक।"

दोनों ने अपने होंठों को काफ़ी दूर तक चीर कर मेरा स्वागत किया—"पान खाइयेगा?"

"शुक्रिया!"

बातें करने और सुनने में कठिनाई हो रही थी, क्योंकि सभी मेज़ें पास-ही-पास थीं, सभी कुर्सियाँ एक-दूसरे से सटी हुई थीं। हर मेज़ के ऊपर गम्भीर बातें हो रही थीं। साहित्यिक प्रतिमानों से लेकर राजनीतिक प्रतिमानों तक की। एक दुबला-पतला आदमी काली शेरवानी में सामने आया। हमारी बगल की खाली कुर्सी को खींचकर बैठ गया। मेरे प्रकाशक ने मुझसे कहा, "ये हमारी पुरानी पीढ़ी के लेखकों में हैं। इन्होंने कइयों को बेनक़ाब किया है।"

"जी, मैं पहचान गया।"

उस लेखक ने मेरी ओर देखा, "मैं आपको नहीं पहचानता।"

"यह हैं मॉरिशस के अभिमन्यु।"

"मॉरिशस के अभिमन्यु ? क्यों भई, वहाँ भी महाभारत लड़ा गया था क्या ?"

"चक्रव्यूह वहाँ भी रचा गया था।"

मैंने तो सोचा था कि मेरी बात पर वह हँसेगा, पर वह हँसा नहीं। गम्भीर ही बना रहा। मेरी ओर देखकर पूछा, "आप मॉरिशस में क्या करते हैं ?"

मेरे कुछ कहने से पहले मेरे प्रकाशक ने कह दिया, "ये लिखते हैं। इनकी कोई पाँच-छह किताबें हमने प्रकाशित की हैं।"

बगल की मेज़ से एक हाथ में सेण्डविच का टुकड़ा, दूसरे में पत्रिका लिए सेठ जैसा दीखने वाला एक व्यक्ति मेरे पास आ गया।

"अभिमन्यु जी, आपसे मिलकर बहुत खुशी हुई। हम तो आपकी रचनाएँ पढ़ते रहते हैं।"

मेरे साथी लेखक ने इस मोटे पेट वाले व्यक्ति का परिचय दिया, "प्रधानमंत्री पर लिखी हुई इनकी पुस्तक आजकल बहुत चर्चित है।"

पहचानने में देर नहीं लगी। मैंने कहा, "आप हमारे पाठक हैं। हम आपके पाठक हैं।"

लोग हँस पड़े।

अपने हाथ की पत्रिका को मेरी ओर करते हुए उसने कहा, "आजकल यह पत्रिका निकाल रहा हूँ। यहाँ पत्रिका निकालना बड़ा कठिन काम है। खेमेबाज़ी बहुत है।"

पहले से बैठे हुए दोनों लेखकों में से लेनिन टाइप की दाढ़ी वाले महाशय ने कहा, "यहाँ तो हर स्थापित लेखक के आगे-पीछे उतने ही चमचे होते हैं, जितने मन्त्रियों के इर्द-गिर्द।"

"नो पॉलिटिक्स!" उसके साथी ने कहा।

उसके हाथ से पत्रिका लेकर मैने कहा, "मुझे तो एक बात बड़ी अजीब लगती है। यहाँ हर एक लेखक दूसरे को नकारने में अपनी सारी शक्ति लगाये हुए है।"

"आपके देश में भी ऐसा ही होता है क्या ?"

"अभी तो हम लोग अँगूठा चूस रहे हैं। जाँघिया पहनना शुरू करेंगे, तभी तो कूदेंगे अखाड़े में।" मन में आया कि इतना भी कह दूँ कि सोल्जेनित्सीन को भारतीय लेखकों के बारे में काफ़ी जानकारी रही होगी, तभी तो उसने कहा था कि लेखक तो दूसरी सरकार होता है, पर तभी बगल से आते हुए बीड़ी के धुएँ के कारण मुझे अपनी ऐनक उतारकर आँखों को मलना पड़ गया।

पहले से बैठे हुए दोनों लेखक उठे और चल पड़े। दूसरे ही क्षण तीन व्यक्ति सामने आ गये। दो को तो जगह मिल गयी, एक खड़ा रह गया। इस बीच हमारी कॉफ़ी भी आ गयी थी। मैंने पहली चुस्की ली। जिस व्यक्ति को स्थान नहीं मिल पाया था, उसने ढीली पड़ आयी अपनी पगड़ी को कसा। दाढ़ी पर हाथ फेरा और प्रकाशक से अपनी नयी पुस्तक के बारे में बात शुरू कर दी। दोनों बैठे हुए व्यक्तियों से मेरा परिचय कराया गया।

एक तो दुबला-पतला समीक्षक था। दूसरा फ्री-लांसर था। तक तब मेरा परिचय उस पगड़ी वाले कहानीकार को भी मिल गया था। तपाक से उसने हाथ मिलाया और मेरे नये उपन्यास की समीक्षा भी शुरू कर दी। थक कर बोला, "मैं शुद्ध साहित्यिक पत्रिका निकालता हूँ। आपसे इन्टरव्यू ले लेंगे।"

वह फिर से प्रकाशक से बात करने लग गया। इस बीच राजेन ने मेरे कान में कहा, "इस सरदार को इन्टरव्यू मत देना। सी. बी. आई. का आदमी है। अपनी पत्रिका चलाने और उसके

लिए विज्ञापन पाते रहने के लिए यह हर लेखक और सम्पादक की मंत्रियों से चुगली करता रहता है। मैंने राजेन से कहा, "तुम्हें मालूम है, पहली नज़र में मुहब्बत कैसे हो जाती है?"

"बकवास है।"

"नहीं यार, बकवास नहीं है।"

"जनम-जनम की बात करोगे क्या?"

"नहीं।"

"तो फिर?"

"पहली नज़र में एक व्यक्ति दूसरे पर रीझ जाता है, इसका कारण बड़ा वैज्ञानिक है। इसमें रसायन का प्रभाव होता है। एक आदमी की गंध दूसरे की गंध से मिलकर दोनों को भा जाती है, और दोनों एक दूसरे पर लट्टू हो जाते हैं। जिस रसासनी तत्त्वों की बात मैं कर रहा हूँ, वह बहुत कम अवसरों पर एक-दूसरे से मिलते हैं और यही वजह है कि 'लव एट फर्स्ट साइट' इतने कम होते हैं।"

राजेन हँस पड़ा।

"अब देखो तुम्हारे इस सरदार दोस्त की रासायनिक गंध तो मुझे सिर दर्द दे गयी।"

वह और भी ज़ोर से हँस पड़ा।

हमारी कॉफ़ी समाप्त होते-होते मुझे लगा कि मेरी चर्चा अगल-बगल की दूसरी मेज़ों पर भी होने लगी थी। अभी मैं लोगों की नज़रों से छुपी नज़र मिला ही रहा था कि कई लोग हमारे इर्द-गिर्द आ गये।

"अभिमन्यु जी, आप कब तक हैं?"

"कब आये आप? कल शाम हमारे साथ चाय क्यों नहीं लेते।"

"आपने हमारी यह पत्रिका तो कभी नहीं देखी होगी? मॉरिशस में इसके मार्केट की सम्भावना हो सकती है क्या?"

"अभिमन्यु जी, आपसे एक शिकायत है। आप लोग बार-बार उन्हीं दो-चार लेखकों को अपने यहाँ बुलाते रहते हैं जिन्हें हम लेखक से अधिक सेठाश्रित मानते हैं। ऐसा क्यों?"

"मॉरिशस में हिन्दी की सेवा करने का चांस हमें भी दीजिए। आई एम डॉक्टर इन हिन्दी लिटरेचर।"

"सुना है, आपके यहाँ कार और व्हिस्की बहुत सस्ती मिलती है!"

मैं तो अकबका गया। पहले तो पता ही नहीं चला कि ये सब सवाल थे या कुछ और।

मुझे एकदम से घबराये हुए देख राजेन ने कहा, "आप लोग अपनी-अपनी कुर्सी ले आइये और इत्मीनान से बातें कीजिये।"

ऊपर के पंखें की आवाज़ ज़ोर की थी और हवा धीमी थी। मैंने माथे के पसीने को पोंछा और एअर इण्डिया की परिचारिकाओं से उधार ली हुई मुस्कान बिखेर दी। लोग बोलते ही गये। मेरे सामने हिन्दी की कोई दस-पन्द्रह पत्रिकाएँ रख दी गयीं तब तक।

कई लोगों के एक ही साथ बातें करने की वजह से बातों को सुनकर उनके उत्तर देने के लिए कानों पर ज़ोर देना पड़ा। अस्पष्टता बनी रही। बगल की किसी मेज़ पर आवाज़ों की उठा-पटक शुरू हो गयी थी। बेचारे बैरे इधर-से-उधर दौड रहे थे।

किसी ने हमारे लिए दूसरी कॉफ़ी मँगवा दी। बातें होती रहीं। एक लेखक ने एक दिन

पहले की वह बात छेड़ दी जो एक प्रतिष्ठित प्रकाशक के कार्यालय में बीती थी। वह वहाँ हाज़िर था। उस घटना को लेकर कई लोग एक ही साथ सवाल कर उठे। बात यह थी कि जिस प्रकाशन संस्थान की बात चल रही थी उसकी एक पत्रिका का सम्पादक भी हमारे साथ बैठा हुआ था, सारे प्रश्नों का उत्तर वही देता रहा। उसी के दफ़्तर में वह बात बीती थी। उस समय मेरी पत्नी भी मेरे साथ थी। हमें चाय पिला चुकने के बाद मेरे उस सम्पादक मित्र ने कहा था कि जब मैं वहाँ पहुँच ही गया था, तो उस पारिश्रमिक को लेता जाऊँ जो बैंलेंस पड़ा था। बात यह थी कि कोई पाँच साल से मैं उस पत्रिका के लिए लिखता आया था। विदेशी मुद्रा के अभाव में वे लोग मुझे पैसा नहीं भेज पाये थे। मैं भी इत्मीनान से बैठ गया कि चलो कुछ पैसे मिल जायेंगे। कम-से-कम बीवी के लिए कांजिवरम की साड़ियाँ तो आ जायेंगी। मेरे सम्पादक मित्र ने तुरन्त अपने फाइनेन्स ऑफिसर को बुलाया था। मेरे लिए पेमेंट की बात सुनकर उसने झट से कहा था, "साहब, इनकी पूरी पेमेंट तो हो गयी है।"

"क्या मतलब ?"

"ये तो हर साल के अन्त में आकर पैसे लेते रहे हैं।"

मैं अवाक् उस आदमी को देखता रह गया था।

फिर दो घण्टे तक वहाँ बैठना पड़ा था। उस व्यक्ति का दावा था कि अभिमन्यु हर बार खुद दफ़्तर पहुँचकर अपने दस्तख़त के बाद पैसा लेता रहा है, जबकि मैं अपने जीवन में पहली बार उस कार्यालय में पहुँचा था। उस व्यक्ति को भी बुलाया गया जिसने हस्ताक्षर लिये थे और अपने हाथों पेमेण्ट किया था। उसके पहुँचते ही मेरे सम्पादक मित्र ने उससे पूछा था, "क्यों भाई ? आप मॉरिशस के हमारे लेखक मित्र अभिमन्यु को पहचानते हैं ?" उसने तपाक् से 'हाँ' कह दिया था।

"देखो तो ज़रा वह हैं यहाँ पर ?"

मुझे लगा कि मैं पुलिस आइडेन्टिटी परेड में था। दफ़्तर के सात उपस्थित व्यक्तियों को ग़ौर से देखने के बाद उसने कहा था, "नहीं। वह तो यहाँ नहीं हैं। मैं उन्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ।"

इसके बाद काफ़ी ऊहापोह होता रहा। हर वर्ष की कोई छह-सात सौ रुपये की ज़मा राशि के हिसाब से दो-तीन हज़ार रुपये होते थे। मुझे उसकी उतनी चिन्ता तो नहीं हुई थी, जितनी कि उस दूसरे अभिमन्यु के पैदा हो जाने की। यह तो कोई चक्रव्यूह तोड़ने वाला अभिमन्यु न होकर चक्रव्यूह रचने वाला अभिमन्यु हो गया। सम्पादक के दफ़्तर से लेकर फाइनेन्स ऑफिसर के दफ़्तर तक काफ़ी हंगामा रहा और अन्त में वहाँ से खाली हाथ ही निकलना पड़ा था मुझे।

कॉफ़ी हाउस की तमाम साहित्यिक हस्तियों के बीच मेरे सम्पादक मित्र ने आश्वासन दिया कि इस मामले को वह यूँ ही नहीं छोड़ने वाला है।

कुछ लोग हटे, कुछ नये लोग आये। साहित्य से अधिक चर्चा मॉरिशस की ही होती रही।

"मॉरिशस में नौकरी की क्या व्यवस्था है ?"

"आपके देश में इम्पोर्टेड कारें आती होंगी ?"

"आप लोग वहाँ अच्छी हिन्दी बोल सकें, इसके लिए—वाइ यू डोंट रीक्रूट सम टीचर्ज फ्रोम हीयर ?"

"रामगुलाम का नाम आधा हिन्दू आधा मुसलमान कैसे हुआ ?"

"डू दि फ्रेंच पीपल स्पीक हिन्दी ?"

दो घण्टे के भीतर कॉफ़ी हाउस के दमघोंटू माहौल में कई लेखक मित्र मिले। छोटे-बड़े, दुबले-मोटे, कम बोलने वाले, अधिक बोलने वाले, पर मॉरिशस के भक्त सभी थे। सभी में कहीं-न-कहीं रवीन्द्रनाथ ठाकुर का वह सपना जीवित था। किसी बंगला पत्रिका में मॉरिशस के पॉल वर्जिनी का अनुवाद पढ़कर गुरुदेव के मुँह से निकला था, "सपनों के इस देश में जीवन रहा तो एक बार ज़रूर जाना होगा।" यह कहना भी कठिन है कि उस समय हवाई टिकट की क्या व्यवस्था होती।

एक महोदय मेरी एकदम बगल में आकर बैठ गये। वह आई. सी. सी. आर. का कोई टॉप आफिसर था। कभी-कभी हिन्दी कविता भी कर लेते थे, लेकिन जब उसने बात शुरू की तो शुरू से अन्त तक शुद्ध अंग्रेज़ी ही बोलता रहा। एक भी हिन्दी शब्द का भूल से भी इस्तेमाल नहीं किया। भाषा को दोगला बनाना उसे गवारा नहीं था। सात-आठ बार के प्रयोग में उसने तो इण्डिया को एक बार भी भारत नहीं होने दिया और न ही मिस्टर गांधी को महात्मा। यह तो बाद में मुझे पता चला कि इण्डियन कौंसिल ऑफ कल्चरल रिलेशन का वह अफ़सर, वहाँ का हिन्दी ऑफिसर था।

मेरे प्रकाशक ने अपनी घड़ी देखी। उसे किसी पार्टी में जाना था। कुर्सी छोड़ कर उठते हुए उसने कहा, "ओके, मैं तुम्हें राजेन के साथ छोड़े जाता हूँ। सी यू!"

प्रकाशक के चले जाने के बाद मैंने राजेन से कहा—

"चलें!"

"तुम दो-तीन मिनट बैठो, मैं एक मित्र को फोन करके आता हूँ!"

राजेन के जाने से पहले ही मेरी नज़र उस मेज़ की ओर गयी थी, जहाँ से वह महिला हमारी ओर देख रही थी। राजेन के कुर्सी छोड़कर उठने से पहले ही वह अपनी जगह से उठकर हमारी मेज़ के पास आ गयी।

"बैठ सकती हूँ।"

"ज़रूर।" यह कहकर राजेन तो काउंटर की ओर बढ़ गया।

अब मेज़ के इर्द-गिर्द तीन ही व्यक्ति रह गये थे। पान चबाता हुआ एक शायर, सर दर्द को झेलता हुआ मैं और पर्स खोलकर अपना कार्ड निकालती हुई गुलाबी चोली और लाल साड़ी में कंधे तक कटे हुए बालों वाली वह महिला। चेहरे पर आधुनिकता और व्यक्तित्व में सोफिस्टीकेशन लिये हुए। उसने अपने बटुए से निकाला हुआ कार्ड मेरी ओर बढ़ा दिया। अंग्रेज़ी के मेरे कम ज्ञान का जैसे उसे आभास हो गया था, इसलिए कार्ड का उसने अनुवाद ही कर डाला—"विजया गहलौत। मैं भी थोड़ा-बहुत लिख लेती हूँ। ऐसे तो आपका नाम सुनती आयी हूँ, पर आपकी एक-दो कहानियों से अधिक नहीं देख पायी हूँ। काफ़ी देर पहले ही मुझे आपके बारे में बताया गया था, पर यहाँ के हजूम की वजह से मैं वहीं बैठी थी और आपकी मेज़ थोड़ी खाली होने का इन्तज़ार करती रही।"

थोड़ी खाली कहाँ मैं तो एकदम ही खाली हो चला था। उसने अपने बैग से पुस्तक आकार की चार-पाँच पत्रिकाएँ निकालीं और मुझे थमा कर बोली, "यह नयी कविता की छोटी-सी पत्रिका है। इसका मैं ही सम्पादन करती हूँ।"

पाँचों पत्रिकाएँ एक ही अंक की थीं। बाक़ी चार को मेज़ पर रखकर मैं एक के पन्नों को

पलटता रहा। मैं कुछ कहता कि वही कह उठी—"ये आपके सारे लेखक मुझे एंग्री वूमन का खिताब दिये बैठे हैं। आपके कुछ लेखक तो 'तकाजा' को साहित्यिक पत्रिका मानते ही नहीं। चिल्ला-चिल्ला कर कहते हैं कि यह पेम्फलेट है। आपके ये लेखक......... ।"

वह कुछ इस क़दर आपके लेखक, आपके लेखक कहे जा रही थी, गोया सारे लेखक गन्ने की गुलियाँ हों, जिन्हें मैं मॉरिशस से उठाकर लाया था। पर सच मानिये, वह महिला जैसे-जैसे आक्रोश में आ रही थी, उसका चेहरा अधिक आकर्षक होता जा रहा था। मैं तो ऐसे भी काफ़ी होशियार रहा ही नहीं हूँ, पर भावुकता मुझे मूर्ख बना ही जाती है।

मैंने झट कह ही दिया, "आपकी ये कविताएँ तो बहुत अच्छी हैं।"

"जी, ये मेरी कविताएँ नहीं हैं। मेरी तो इसमें एक ही कविता है अन्तिम पृष्ठ पर।"

"मेरा मतलब है, पत्रिका की सारी कविताएँ अच्छी हैं।"

"आप क्या पीना चाहेंगे?"

"बहुत पी चुका हूँ।"

"एक कॉफ़ी और पी लीजिए, नुकसान नहीं करेगी।"

"प्लीज सच मानिये, मैं कॉफ़ी का उतना आदी नहीं हूँ फिर भी चार कप ले चुका हूँ। अब तो शायद रात भर नींद ही न आये।"

"आप नींद को इतना महत्त्व क्यों देते हो? इस पत्रिका में मेरी जो कविता है, वह नींद ही पर है। मुझे तो नींद से चिढ़ है। प्लीज़ एक कॉफ़ी......... ।"

"फिर तो खाना......... ।"

"अभी तो डिनर के लिए समय है। आप डिनर मेरे साथ क्यों नहीं लेते?"

"आज रात का खाना तो राजेन के साथ है।"

"यू मीन योर फ्रेंड हू वेंट अवे?"

"आप उसको नहीं जानती क्या? वह तो इस देश के श्रेष्ठ लेखकों में गिना जाता है।"

"आई डोंट नो वाट यू मीन बाई श्रेष्ठ लेखक। ऐक्सक्यूज़ मी।"

उसने बैरे को बुलाकर कॉफ़ी का आर्डर दे दिया। मेज़ से पत्रिका उठाकर उसने अपनी कविता सुनाने शुरू की। मैं उसकी उस झुकी नज़र को देखता रहा। उसने जब एक क्षण के लिए पत्रिका से नज़र हटाकर मेरी ओर देखा तो मुझे लगा कि सुन्दर थी......... ।"

कनाडा में क्यूबेक के लावाल यूनिवर्सिटी के कैम्पस में जब उस रेड इण्डियन लड़की ने मुझे अपनी कविता सुनानी शुरू की थी, तो ऐसी ही आँखों के साथ। आवाज़ भी लगभग वही थी।

"कैसी लगी आपको?"

"जी-जी, बहुत अच्छी कविता है।"

लुसींडी को भी मैंने यही कहा था और उसने तो उन सारे अगल-बगल के गोरे चेहरों के बीच मेरे गले में बाँहें डाल दी थीं। और देखते-ही-देखते गोरों की भीड़ और फ्रेंच गीत गाते काले कलाकारों के बीच से उठकर हम काफ़ेतेरिया के भीतर जा चुके थे, और फिर दूसरे ही क्षण मैं उसके घर था, उसके कमरे में। और तब पता चला था कि वह कितनी कल्चर्ड थी।

मैं अभी भी कॉफ़ी हाउस में बैठा था। कॉफ़ी की चुस्कियाँ ले रहा था। कविता सुना चुकने के बाद वह भी कॉफ़ी पीने लगी थी। अगल-बगल आते सिगरेट के धुएँ से अकुलाकर उसने पूछा, "आप सिगरेट नहीं पीते?"

"नहीं।"

"आप नारियों की मुक्ति पर विश्वास करते हैं?"

"अगर नारी मुक्ति से वंचित हो तब।"

"मैं उस नारी सभा की अध्यक्षा हूँ जो नारी की आज़ादी के लिए संघर्ष कर रही है।"

पुराने क्यूबेक में जहाँ से सें-लोरां का दृश्य एकदम सामने था। लुसींडी जिसे दूसरे ही दिन से मैंने सींडी कहना शुरू कर दिया था, नदी के उस पास तक के विस्तृत फैले शहर और जंगल की ओर संकेत करके बोली थी, "यह सभी कुछ कभी हम लोगों का था। आज हमारा कुछ भी नहीं है। हम आज लड़ रहे हैं अपनी पहचान के लिए।"

उसकी अँगुलियाँ अपने आप उसके माथे के श्वेत फीते पर जा लगी थी, जिसके बारे में बताते हुए उसने कहा था कि वह उसकी जाति की गरिमा थी। वह बोली थी, "मैं उस आंदोलन की जूनियर विभाग की अध्यक्षा हूँ, जो अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए टोरांटो से लेकर ओतावा, क्यूबेक से लेकर मांटरीयल तक की अपनी ज़मीन पर अपने अधिकार के लिए लड़ रहे हैं। हमारी अस्मिता इसी में है।"

अपनी कॉफ़ी का आख़िरी घूँट लेकर विजया ने कहा, "दुनिया भर की औरतों को एक सूत्र में बँधकर आगे आना है, इसी में हमारा कल्याण है। आप एक कॉफ़ी लेना चाहेंगे।"

"धन्यवाद!"

"एण्ड वॉट अबाउट ड्रिंक?"

"कभी-कभार।"

"आइ हैव सम वेरी ओल्ड व्हिस्की एट होम।"

"वह राजेन का बच्चा उधर क्या करने लगा?" मैं असमंजस में पड़ गया। तभी वह बोल उठी, "मैं यहाँ से तीन मिनट के रास्ते पर रहती हूँ। देयर वी केन डिस्कस ऐ लोट ऑफ लिटरेचर! लेट्स गो।"

यह कहकर वह खड़ी हो गयी।

(नौ)
मातमपुरसी

उस ओंसाल भात की गंध और उसमें आ गये खट्टेपन की परवाह किये बिना मारियो ने उसे चपेट ही लिया। भूख के मारे तो वह छूछा भात भी हजम कर जाता था। दो दिन के बासी और ओंसाल भात के साथ तो बोमली का झोल भी था, भला वह उसे कैसे छोड़ सकता था। एक बार जब दाऊद मियाँ की बीवी बासी बिरयानी कुत्ते के सामने फेंकने वाली थी कि मारियो अपने छोटे भाई आंद्रे के साथ वहाँ पहुँच गया था। उसने झट आगे बढ़कर दाऊद मियाँ की बीवी के हाथ से उस थाली को थाम लिया था। और जब दाऊद की बीवी ने कहा था कि बिरयानी बासी थी और रात की अधिक गर्मी के कारण उसमें खटास आ गयी थी, तो भी मारियो ने उस बिरयानी को कुत्ते के सामने फेंकने नहीं दिया था। कुत्ता कूँ-काँ करके फिर दुम हिलाता वहाँ से चला गया था। मारियो जब आंद्रे के साथ बिरयानी खाने बैठ गया था तो

दाऊद मियाँ भीतर से आते हुए बोला था, "अरे यह तो ख़राब हो गया है। इसे खाने से पेट बिगड़ सकता है, बीमार हो सकते हो।"

इस पर मारियो झट बोला पड़ा था, "मैं तो चाचा, कंकड़ खाकर भी पचा सकता हूँ। मेरे पेट को तुम इतना कमज़ोर मत समझो।"

आज का ओंसाल भात तो खुद उसकी माँ ने ही उसे परोसा था। बोमली की गंध उस ख़राब हो गये भात की गन्ध से अधिक तेज थी। उस प्रलोभन के कारण लसलस हो आये उस भात के दाने-दाने तक को चट कर जाने से मारियो नहीं चुका। खा लेने के बाद उसने गिलास भर पानी पिया पर मुँह से वह खटास नहीं गयी। बार-बार मुँह के भीतर जीभ को फेरता रहा फिर भी मुँह भीतर से बिगड़ा ही रहा। उसे अपनी जेब में पड़ी चीविंग गम याद आ गयी। कुछ ही देर पहले वह दाऊद मियाँ के लिए दुकान से सिगरेट खरीद कर लाया था। जो चवन्नी बची थी, दाऊद ने उसे दे दी थी। उसी से मारियो ने चीविंग गम खरीद ली थी। चीविंग गम उसने चीविंग गम के शौक के कारण नहीं खरीदी थी, बल्कि उसके साथ जो फिल्मी कलाकारों की तस्वीरें मिलती थीं, उसी के प्रलोभन से उसने उसे खरीदा था। यही वजह थी कि उसने उसी क्षण उसे मुँह में डालकर जेब में रख लिया था। अब जब उसने अपने मुँह के स्वाद को बिगड़ा हुआ पाया, तो उसे जेब से निकालकर मुँह में रख लिया था।

मारियो के चार भाइयों में आंद्रे ही सबसे छोटा था। कुछ देर बाद मारियो को चीविंग गम चबाते देख वह उससे उसे पाने के लिए ज़िद कर बैठा। जब वह ठुनकने लगा, तो मारियो ने उसे रूसठ हो आयी चीविंग गम को अपने मुँह से निकालकर आंद्रे को थमा दिया। उस नीरस टुकड़े को अपने मुँह में डालकर आंद्रे खुश हो गया। उसे चबाता रहा। कभी एक टुकड़े को दाँतों से दबाये दूसरे को अँगुलियों से पकड़ उसे खींचता, फिर समेटता रहा। और मारियो रेडियो से ख़बरों की अगवानी करने वाले संगीत को सुनकर रेडियो के पास जा बैठा।

मारियो की उम्र तेहर साल की थी और वह अपने बाद के सीमोन और उसके बाद के चारों भाइयों से बड़ा था। उसमें और आंद्रे में ग्यारह साल का अन्तर था जबकि अपनी बहन से वह कठिनाई से साल भर ही बड़ा था। उसकी माँ की आज सुबह फिर अपने पति से तकरार हुई थी। घर के सातों दिन की तकरार एक ही बात को लेकर होती थी। आज भी सूज़ान ने अपने पति को वही गाली दी थी, "नामर्द हो! मर्द होते तो अपनी बीवी और छः बच्चों के रोटी-कपड़े का बन्दोबस्त किये बिना नहीं रहते।"

पहली बार जब सूज़ान ने फ़िलिप को नामर्द कहा था तो फ़िलिप ने जवाब में कहा था, "नामर्द होता तो तुमसे छह बच्चे नहीं जनमाता।"

उस दिन की लड़ाई बहुत लम्बी थी। मारियो डरता रह गया था कि कहीं उसका बाप जो धमकी उसकी माँ को दिये जा रहा था उसे सचमुच न कर बैठे। वह बोला था कि अगर वह चुप नहीं होगी तो वह उसे गड़ाँसे से टुकड़े-टुकड़े कर देगा। वक़्त के साथ मारियो समझ सका था कि उसके बाप की वह धमकी जवाबदेही के अभाव में महज़ एक दलील होती थी। अपने को मर्द बताने और अपनी पत्नी को डराने की प्रक्रिया थी वह।

लेकिन सूज़ान उससे कभी नहीं डरी थी। एक बार तो वह रसोई से छुरी उठाये अपने पति के सामने पहुँचकर बोली थी, "लो दिखा दो अपनी मर्दानगी। कर दो टुकड़े-टुकड़े मुझे।"

मारियो की समझ में तो यह बात देर से आयी थी कि उसका बाप कामचोर था। कभी

अच्छी रौ में होने पर वह किसी बेकरी में रोटी पकाने चला जाता था, कभी शहर की विधानसभा के बगल के कार पार्क में किसी की कार धो आता, तो आधे से अधिक की कमाई की शराब पी आता था। बस इधर कुछ महीनों से उसने अपना नया धन्धा शुरू किया था, जो वह मारियो को साथ लिए हफ़्ते में दो-तीन बार कर आता था। पर उस धन्धे से कभी कुछ मिल जाने की उम्मीद होती थी, तो कुछ गँवा बैठने की भी।

आज भी जब दोपहर को वह घर से निकलने लगा था तो मारियो से यह कहना नहीं भूला था, "पा ब्लीये एकूत राजो! देखना शाम को रेडियो से ख़बरें सुनना मत भूल जाना।"

यह हिदायत मारियो को इधर कुछ महीनों से हफ़्ते में सातों दिन मिलती रहती थी। वह सातों दिन स्थानीय रेडियो से ख़बरों के बाद के शोक समाचार सुनता रहता था। शहर के दस-बारह मील के भीतर के गाँवों में होने वाली हर मौत की सूचना को वह ध्यान से सुनता।

"………अब लीजिये कुछ शोक समाचार सुनिये—

………मालूम हो कि पैंतालीस साल की उम्र की श्रीमती राधिका रामभजन की मृत्यु हो गयी है। उनकी अर्थी कल दोपहर ढाई बजे उनके बेटे के घर लाल माटी, काली माई के पास के उनके घर से निकलकर इलाके की श्मशान भूमि को जायेगी……… ।"

मारियो इन सूचनाओं को ध्यान से सुनता और उनके पत्ते अपनी पाँचवीं कक्षा की पढ़ाई के बल किसी तरह लिख लिया करता था। उसका बाप कोई छ: बजे के क़रीब जब इधर-उधर से एक-डेढ़ गुड़ की चढ़ाकर लौटता, तो पहुँचते ही मारियो से पूछता, "कोत नू आ ले ज़ोर जी ?"

और दोनों को कहाँ के लिए निकलना होता, यह अपने बाप को बताने के लिए मारियो कागज़ के उस टुकड़े से उन पतों को पढ़ना शुरू कर देता। फिर तो जो स्थान सबसे नज़दीक होता, वहीं दोनों का जाना तय हो जाता। सूज़ान आनाकानी करके भी दोनों के लिए बिना दूध की चाय बना कर बोतल में भर देती। पड़ोस की दुकान से उधार में दो रोटियाँ मँगाकर उनमें दिन की बची-खुची जो तरकारी होती, भर कर टोकरी में डाल देती और उन दोनों के घर से निकलने से पहले पिछले दिनों के कर्ज़ का हवाला देने लग जाती। मारियो ईसा मसीह की पुरानी तसवीर की बगल के तख्ते पर से सामान उतारता और उसे भी टोकरी के हवाले कर देता। बंडल में पहला तो वह गत्ता होता था, जिस पर एक से दस तक अंक लिखे हुए थे। जिन पर दाँव लगाने वाले अंक पसन्द करके रुपया रख देते थे। एक पुराना चीनी कप था जिसमें गोटियाँ या कौड़ियाँ रखकर फ़िलिप मदारी की डुगडुगी की तरह बजाता हुआ उस वक़्त तक यह रट लगाये रहता, जब तक कि पाँच-छ: दाँव लगाने वालों के पैसे गत्ते पर नहीं आ जाते।

"मेत एन पू गाँय दूब। ताँत ला साँस! मेत एन पू गाँय दूब।"

और लोग एक के दो पाने के लिए सचमुच अपना भाग्य आजमाने लग जाते।

बंडल में बिजली का तार और बल्ब भी होता था। वहाँ पहुँचकर बस एक मेज़ ही ज़रूरत रह जाती थी उन्हें। फिर तो वे किसी-न-किसी तरह अपने साथ के तार और बल्ब के ज़रिये अपनी मेज तक रोशनी खींच ही लाते थे। मारियो जब तक सामान इकट्ठा करता फ़िलिप दाऊद मियाँ के घर दौड़ जाता। उससे पन्द्रह-बीस उधार लेने, दूसरे दिन बीस-पच्चीस लौटाने का वायदा कर आता। फ़िलिप दाऊद मियाँ का कोई सात वर्षों से किरायेदार था। घटा-बढ़ा उसी से लिया करता था। दाऊद मियाँ न तो कभी देने में रुका और न कभी लेने में। एक-दो ज्यादा ले लेने पर वह बोलता भी तो था, "तुम्हीं लोगों के लिए लेना पड़ता है। आगे

के दिनों के लिए।"

दाऊद मियाँ ने ही शुरू-शुरू में एक बार यह पूछ भी लिया था, "यह क्या धन्धा शुरू कर रखा है तुमने? लोगों के घर मय्यत पड़ी होती है और तुम मरनी के उस दु:खद मौक़े पर लोगों से जुआ खिलवाते हो?"

"हम तो मरनी के घर दु:खी लोगों का साथ देते हैं। मरनी अगोरते हैं।"

"मातमपुरसी के मौके पर जुआ खेलकर?"

"रात जागकर और लोगों से जगवाकर! लोग तो बस एक-दो घण्टे ठहरते हैं और चेहरे दिखाकर चले जाते हैं। सुबह तक तो वे लोग ठहरते हैं जो हमारे इर्द-गिर्द दाँव लगाने में मस्त होते हैं। कई बार तो ऐसा भी होता है कि लाश के इर्द-गिर्द बैठे रिश्तेदार खर्राटे लेने लग जाते हैं। बस हम लोग होते हैं और हमारे साथ अपनी किस्मत आजमाने वाले, जो सूरज के उदय होने तक जागे रहते हैं।"

मारियो भी अपने दोस्तों की पूछताछ पर यही कहता कि वह अपने बाप के साथ गाँव के रिश्तेदार के यहाँ रतजगा करने गया हुआ था। उधर से लौटने पर बाप-बेटे की जेबों में कभी पच्चास से सौ रुपये तक होते और कभी घर लौटने के लिए बस का किराया तक नहीं होता। ऐसे मौक़ों पर फ़िलिप सूज़ान से कहता, "ला वी ला मेम कूमसा। ज़िन्दगी ही तो ऐसी है। कभी जीत कभी हार। जो एक बार हारता है वही तो दस बार जीत सकता है। और जो दस बार जीत सकता है, क्या वह एक बार हार भी नहीं सकता?"

इस सवाल का सूज़ान के पास कोई जवाब नहीं होता। और जब उसके पास कोई जवाब नहीं होता तो वह गालियाँ देती रह जाती। फ़िलिप उन्हें सुनता रह जाता, अपने ऊपर बिना किसी असर को महसूस किये हुए।

छह से कुछ मिनट पहले ही फ़िलिप घर लौटा। नशे में बिलकुल नहीं था। चांग काई की दुकान से उसे उधार में अंगूरी शराब मिलने से रही। एक-दो गुड़की के लिए जिन दोस्तों के आसरे रहा करता था, वे भी नहीं मिले। घर के भीतर होते ही उसने मारियो को पुकारा। वह सामने आ गया। फ़िलिप ने सिगरेट के टुकड़े की आग से होंठों और दोनों अँगुलियों को बचाने की चेष्टा के साथ एक आख़िरी कश लिया। फ़िर टुकड़े को देखा। एक और कश की सम्भावना पाकर उसने फिर उसी सावधानी के साथ उसे होंठों तक पहुँचाया। इस बार आँखों को बन्द करके उसने कश लिया। अँगुलियाँ थोड़ी-सी जलीं। होंठों को भी हल्की जलन का अहसास हुआ। जब टुकड़े को फर्श पर गिराया तो वह इतना छोटा था कि पाँव उठाकर भी उसे रगड़कर बुझाने की ज़रूरत नहीं समझी।

लकड़ी की कुर्सी पर बैठने से पहले ही मारियो से पूछा, "कहाँ जाना है आज?"

"कहीं नहीं।"

उसने चौंककर अपने बेटे की ओर देखा। पहली बार उसे इस तरह का उत्तर मिला था। "क्यों, आज कोई मरा नहीं क्या?"

मारियो के उत्तर से पहले वह सोच उठा। आख़िर ऐसा कैसे हो सकता था, देश में कभी कोई नहीं मरा हो, ऐसा तो कभी हुआ ही नहीं। तभी मारियो ने जेब से काग़ज़ के मैले टुकड़े को बाहर निकालकर उसे देखना शुरू किया फिर बोला, "मरने को तो छह लोग मरे हैं।"

"तो फिर?"

"हमारे इलाके में कोई नहीं है इस फ़ेहरिश्त में।"

"जगह बताओ।"

"ग्रां साब्ल, कात्र सेर, रीव्येर दे जांगी।"

"तीन ही हुए।"

"इन तीनों जगहों में दो-दो मृत्यु हुई हैं।"

"धत् तेरे की। आख़िर एक मौत को इधर हो जाने में क्या हर्ज़ था!"

कुर्सी पर बैठने के बदले कमरे में चहलक़दमी करके उसने फिर से पूछा, "इन तीनों में सबसे कम दूर कौन-सा है?"

"सभी दूर हैं।"

"किसी एक को तो सबसे दूरी पर होना ही चाहिए।"

"लगता है कात्र सेर कुछ कम दूरी पर है।"

"पर उधर तो सात के बाद बस मिलने में कठिनाई होगी। ऐसा करें कि हम रीव्येर दे जांगी चलते हैं।"

"उतनी दूर?"

"नहीं जायेंगे तो तुम्हारी माँ को कल भी खाना न पकाने का बहाना मिल जायेगा।"

"इस समय तो तोंतों दाऊद मियाँ भी घर पर नहीं है।"

"उसकी बीवी तो है। उसी से पैसे ले लेंगे।"

"वह भी तोंतों के साथ गयी हुई है।"

सूज़ान बाहर से ही बड़बड़ाती हुई भीतर आ गयी। ऐसे मौक़े पर मारियो धीरे से खिसक जाने का आदी था। वह तो खिसक गया। फ़िलिप के सामने कुर्सी पर चुपचाप बैठ जाने के अलावा दूसरा चारा नहीं था, ऐसी स्थिति में जो कि उसके घर में हर दूसरे-तीसरे दिन पैदा होती ही रहती थी। फ़िलिप के अपने पास सबसे आसान तरक़ीब होती थी बहरा बने चुप बैठे रहने की। ऐसा करके वह बहरों के भाग्य को सराहता था। एक बार उसने अपने घर के मालिक दाऊद मियाँ से कहा भी था कि अल्लाह मियाँ को चाहिए था कि वह हर पति को बहरा बनाता और ऐसा वह नहीं कर सका तो कम-से-कम पत्नियों को तो गूँगी बना सकता था।

सूज़ान तब तक चुप नहीं हुई जब तक कि उसने वह सारा कुछ नहीं कह दिया, जो उसे कहना था। धीरे-धीरे खुद नरम पड़ती गयी और कमरे से बाहर होने से पहले बोल गयी, "ज़ोर जी एना त्रावाई पूर त्वा दाँ बूलांज़े। बेकरी के मालिक ने आदमी भेजा था। आज रात उसके पास काम करने वाले कम हैं। बोला है तुरन्त आ जाने को। बैठे रहोगे या जाओगे भी?"

बिन कुछ कहे फ़िलिप कुर्सी छोड़कर उठा और बोझिल क़दमों से उठकर कमरे से बाहर हो गया। सड़क पर निकल जाने पर उसने सूज़ान की आवाज़ पीछे से सुनी, "आप्रे पा फ़ेर एन मान्येर तो ब्वार तो विनी। और देखना सुबह पीकर मत आना। मुझे पूरा पैसा चाहिए। नहीं तो इस घर में चूल्हा नहीं जलेगा।"

बेकरी दूसरी गली में थी। उसे जिस गली में से होकर उस पार जाना था, उस गली में मादा सूअर अपने चार बच्चों के साथ सड़ी-गली चीज़ों को खा रही थी। उन्हें हटाने में फ़िलिप को दिक़्क़त हुई। दो छोटे सुअरों को लाँघकर ही वह उस पार जा सका। सुबह भी उसे सूअरों को लाँघकर ही उधर आना पड़ा था। धन्धे पर न जा सकने का जो पछतावा उसे हुआ था, वह

सूअरों को देखकर मिट गया। उसे याद आ गया—तीन सप्ताह पहले जब वह सुबह-सुबह उसने सूअरों को तैराकर नाले को पार किया था, उस रात धन्धे में उसके पास किराये के पैसे तक नहीं बचे थे।

फ़िलिप आटा रूँधने और रोटी के लोये काटने में माहिर था। बेकरी के मालिक ने बहुत चाहा था कि फ़िलिप उसके यहाँ नियमित काम करे, पर फ़िलिप को बँधुआ ज़िन्दगी पसन्द नहीं थी। यही तो कहा था उसने बेकरी वाले को। घर पर अपनी पत्नी से यही कहता रहा था कि मालिक को उसका काम पसन्द नहीं आता, इसीलिए उसे नियमित रूप से काम नहीं देता है। मालिक की ओर से यह सख्त हिदायत थी कि काम के दौरान कोई भी शराब नहीं पिये। शराब के नशे में काम में सिर्फ़ शिथिलता ही नहीं आ जाती थी, साथ ही रोटी की पकाई और वजन दोनों में गड़बड़ी हो जाती थी जिसके कारण मालिक को दो अवसरों पर भारी जुर्माना भुगतना पड़ा था। उस हिदायत के बावजूद भी मालिक की अनुपस्थिति में बेकरी के भीतर शराब पहुँच ही जाती थी। मार्सेल ने चार गुड़की मँगवायी थी जिसमें से उसने आधी फ़िलिप को दे दी। शराब को हल्क के नीचे उतारकर दोनों ने मुँह में चाय की सूखी पत्तियाँ रख लीं, ताकि शराब की गन्ध जाती रहे।

सुबह पाँच ही बजे फ़िलिप का काम पूरा हो गया। मालिक के बेटे ने उसके हाथ में तीस रुपये रख दिये। फ़िलिप ने अपने हिस्से की छह रोटियाँ उठाईं और घर पहुँच गया। रात-भर जागकर काम करने के कारण उसने सुबह और दोपहर सोकर बिता दी। जब उठा तो भूख इतनी तेज थी कि बिना हाथ-मुँह धोये वह खाने बैठ गया। सूज़ान ने डिब्बे की मछली पकाई थी। चावल था। कुम्हड़े की भाजी का शोरबा था। उसने डटकर खाया। खाने के बाद घर से बाहर होने से पहले मारियो से कह दिया कि आज शाम रेडियो से मौत की सूचना सुनने की ज़रूरत नहीं थी।

दूसरी शाम को ही मारियो रेडियो के सामने काग़ज़-कलम लेकर बैठा। समाचार हिन्दी में पढ़े गये। मारियो दाऊद मियाँ के यहाँ टेलीविज़न पर हर शनिवार की शाम हिन्दी फिल्म देखने का आदी था। शनिवार को उसे रेडियो सुनना नहीं होता था क्योंकि शनिवार की रात धन्धे की रात नहीं होती थी। उसके बाप की ओर से ऐसा ही तय था। हिन्दी फिल्मों के कारण मारियो को हिन्दी का ज्ञान तो नहीं हो पाया था, पर उससे मृत्यु की सूचना के दौरान के बहुत सारे शब्दों को वह आसानी से समझ लेता था और फिर सूचना भी तो उन्हीं घिसे-पिटे शब्दों में दी जाती थी········।

········मालूम हो कि········जनाज़ा या अर्थी········

और जहाँ तक वक़्त का सवाल था, उसे अंग्रेज़ी में दोहरा दिया जाता था। मारियो ने सूचना सुनी। जो लिखना था लिख लिया। फ़िलिप आधी बोतल जीवें के मामूली नशे में घर पहुँचा। पहुँचते ही पूछा, "कोत नू एना पू आले आज़ोरजी ?" मारियो ने उसके सामने समाचार से प्राप्त चार घटनाएँ रख दीं। उनमें सबसे क़रीब घटी घटना फोंजी साक की थी। जहाँ पर अस्सी साल की एक महिला की मृत्यु हुई थी। जगह बतायी गयी थी रोशनी सिनेमा के पीछे। मारियो सामान जुटाने में लगा और फ़िलिप झपट गया दाऊद के घर। दाऊद मियाँ ने उसके हाथ में पच्चीस रुपये का नोट रखते हुए कहा, "अभी पिछली बार का भी बाक़ी है।"

"सुबह ले लेना वह और यह दोनों।"

"दस और दस बीस होंगे।"

"धन्धा अच्छा रहा तो बीस क्या तीस दे देंगे।"

"हाँ, हाँ बहुत देखे हैं तुम्हारे वे बीस।"

ठीक साढ़े छह बजे मारियो अपने बाप के साथ उत्तर प्रान्त के बस टर्मिनल पहुँचा। जब दोनों के सवार होते ही बस चल पड़ी, तो फ़िलिप उसे अपनी अच्छी किस्मत समझ मन-ही-मन खुश हो गया। ठीक सात बजे उनकी बस फोंजी साक के रोशनी सिनेमा के सामने रुकी। बाप-बेटे दोनों साथ-साथ उतरे। जगह ढूँढ़ने में कठिनाई नहीं हुई। इस गाँव में बाप-बेटे पहले भी चार बार ग़मी में आ चुके थे। मारियो को तो वह पिछला अवसर बहुत अच्छी तरह याद था, क्योंकि रात भर के खेल के बाद सुबह मारियो को पता चल गया था कि किस्मत ने साथ दिया था और अपने साथ बीस रुपये के अलावा उसकी टोकरी में सौ रुपये के क़रीब की राशि थी। वह अवसर उसे इसलिए याद था क्योंकि उसने पहली बार धन्धे के पैसे से दस रुपये अपनी जेब में रख लिये थे—चुपके से। उसके बाप को उस बात का पता नहीं चला था। दूसरे दिन उस पैसे से मारियो ने 'चाईनीज़ रां दे वू' में नूडल्स खाये थे और शम्मी कपूर की फिल्म देखी थी। इसके बाद तो चार-पाँच रुपये की हेरा-फेरी वह हर मौक़े पर कर लेता था, पर दस रुपये की रक़म टोकरी के अधिक भारी होने पर ही वह जेब में रखता था।

अपने बाप के साथ जब वह मृत्युस्थल पर पहुँचा तो गाँव की सभा के लोग बाँस और लकड़ी के बल पंडाल खड़ा कर चुके थे। बेंच और कुर्सियाँ रखी जा रही थीं। मारियो हमेशा की तरह उस काम में हाथ बटाने लग गया और उसका बाप गाँव के उन बूढ़ों के बीच जा बैठा जो खेती-बारी की बातें कर रहे थे। वे सारी बातें सही-सही समझ पाना उसके लिये कठिन था फिर भी इतना वह समझ ही गया कि लोग 'बैंगन और टमाटर के पौधों में लग आये' नये कीटाणुओं के बारे में बातें कर रहे थे। फ़िलिप गाँव में जनमा था। भोजपुरी के कुछ शब्द बोल भी लेता था। घर के भीतर से औरतों की जो सूर के साथ गा-गाकर रोने की आवाज़ आ रही थी उसका तो फ़िलिप आदी हो चला था, इसलिए उस ओर उसका ध्यान चिपक नहीं पाया। कोई दस-पन्द्रह मिनट बाद उसने अपने धन्धे की तीन जनों की एक दूसरी टोली को भी वहाँ आते देखा। वे लोग भी शहर के ही थे, पर कांलास्कर इलाके के थे। तीनों व्यक्ति उसी के पास आकर बैठ गये। उनमें से एक से फ़िलिप ने सिगरेट माँगी। उस व्यक्ति ने अपने दूसरे दोस्त से माँग कर फ़िलिप को दी। कोई पाँच मिनट बाद आख़िरी बस से एक तीसरी टोली भी आ पहुँची। फ़िलिप इन ताश के पत्तों के खेल रचाने वाली टोली को अच्छी तरह जानता था, विशेषकर उसके मुखिया को। यह धन्धा तो फ़िलिप ने उसी से सीखा था और उसी से मुक्के खाकर उसने ज़िन्दगी में पहली बार अपने दो दाँत तुड़वाये थे। लेकिन दोनों के बीच दुश्मनी कभी नहीं पैदा हुई। फ़िलिप इसे अपनी ही चतुराई मानता था, वरना आज ज़ोरों के सामने वह अपना यह धंधा कर ही नहीं पाता। ज़ोरो ने एक बार जिसकी चौपड़ उलट दी थी, उसकी दोबारा उसके सामने आने की हिम्मत कभी नहीं हुई।

फ़िलिप और मारियो बारी-बारी से पंडाल से बाहर रास्ते में जाकर अपनी-अपनी रोटियाँ खा आये। आठ बजे के क़रीब तीनों टोलियाँ पास-पड़ोस के युवकों से बात करके अपनी-अपनी मेज़ ढूँढ़ने में लग गयीं। मारियो अपने लिए जगह पहले ही ढूँढ़ बैठा था। मेज़ पहुँचने से पहले वह बिजली के तार को पंडाल के एक बिजली कनेक्शन से जोड़कर उस जगह तक ले

आया। अपनी टोकरी से चालीस वाट्स का बल्ब निकालकर कनेक्ट कर लिया। लोग धीरे-धीरे ज़मा होने लगे थे। कोई दस मिनट बाद ही फ़िलिप अपने लिए एक छोटी-सी मेज़ की व्यवस्था कर पाया। चारों तरफ से चार बेंच रख लीं। दूसरे ही मिनट बाद लोग मेज़ के इर्द-गिर्द ज़मा होने लगे। फ़िलिप उन चेहरों का छिपी नज़रों से मुआइना करता रहा। अच्छे खिलाड़ियों की उसे पहचान थी। वह यह भी ताड़ जाने में काफ़ी हद तक सफल हो जाता था कि उसमें कौन सुबह तक खेलने वाले थे और किसकी जेब में कितने रुपये थे। जिस पहले व्यक्ति की कमीज़ की ऊपरी जेब में उसने सिगरेट के दो पैकेट्स देखे। उसे तो हर हालत में सुबह तक का खिलाड़ी उसने मान ही लिया। कुछ ही देर बाद पंडाल में सौ तक लोग आ गये थे और आधे से अधिक उन तीनों मेज़ों को घेरे हुए बैठे और खड़े थे, जिन पर दाँव लगाये जा रहे थे। बाक़ी लोग अलग-अलग बातों में लगे रहे। कुछ युवकों ने आवाज़ देनी शुरू की, "कोमांसे दो कोमांसे!"

"खेल शुरू हो जाये।"

फ़िलिप ने गत्ते को मेज़ पर बिछा दिया। मारियो ने यात्रा के दौरान बस-कंडक्टर से पच्चीस रुपये भुनाकर उनके सिक्के कर लिये थे। रेजगारी भरी टोकड़ी को वह अपने हाथ में लिए रहा। फ़िलिप ने अपने हाथ के चीनी कप में गोटियाँ रखीं और डुगडुगी की तरह हिलाने लगा और साथ ही साथ आवाज़ भी देता रहा, "मेत एन पू गाँय दूब। ताँत ला साँस।"

मारियो ने उस बोली को दोहराया, "एक रुपये के दो रुपये। चार के आठ........।"

वह पहला खिलाड़ी था जिसने गत्ते के सात अंक पर दो रुपये रखे। फिर दूसरा, फिर तीसरा और जब सात व्यक्तियों ने कुल बीस रुपये गत्तें के भिन्न-भिन्न अंकों पर रख दिये तो फ़िलिप ने कप को जोर-जोर से हिलाकर कहा, "आला नू फ़ेर ज्वे।"

कप को उँडेला। गोटियाँ मेज़ पर बिखरीं और उस पाँच नम्बर पर नौ रुपये रखने वाले तीन व्यक्ति ख़ुशी से मचल उठे। मारियो ने गत्ते के ऊपर के सभी रुपयों को बटोर कर पाँच नम्बर पर अठारह रुपये रख दिये और बाक़ी दो को अपनी टोकरी में। खेल जारी रहा।

घर के भीतर से सफ़ेद कमीज़ और धोती पहने एक अधेड़ व्यक्ति सामने आ गया। उसने लोगों के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित करके विनती भरे शब्दों में कहा, "देखिये, मैं आप सभी लोगों से विनती कर रहा हूँ। हमारे घर के भीतर मेरी माँ का शव है। हम लोग उसकी आत्मा की शान्ति के लिए वेद-मन्त्रों का पाठ कर रहे हैं। मेरे पिताजी का यह आदेश है कि हमारे घर इस दुःखद मौक़े पर जुआ न खेला जाये। आप लोग इसे बुरा न मानें। इसे तत्काल बन्द कर दें।"

उस व्यक्ति के चुप होते ही कुछ लोगों ने उसका समर्थन किया। कई आवाज़ें आयीं, "हाँ-हाँ, इसे आप लोग बन्द कर दें।"

कई दूसरे लोग कानाफूसी कर उठे, बुदबुदा उठे, "यह क्या बात हुई भाई?"

"हमारे खेलने से मरे हुए का क्या बिगड़ता है?"

"साले यह इन आर्य समाजियों का ढकोसला है।"

उस व्यक्ति ने दोबारा अनुरोध किया।

"कृपया आप लोग इसे बन्द कर दें। यहाँ कोई खेल नहीं होगा। आप लोग हमारे दुःख में हिस्सा लेने आये हैं। हिस्सा लीजिए। ये सारे खेल बन्द कर दें।"

इस दूसरी बार के अनुरोध पर लोग मेज़ों से हटने लगे। शोर अचानक सन्नाटे में बदल गया। घर के मालिक की इस माँग की कुछ मुँहों से सराहना हुई, कुछ उस निर्णय को गलत बताते रहे। भीतर से वेद-मन्त्रों की ध्वनि आती रही। अचानक ही एक हल्की बारिश के कारण ठण्ड कुछ बढ़ गयी थी। कुछ लोग अपने में सिमटे बैठे रहे, कुछ लोग उठते गये। दस बजते-बजते पंडाल में केवल बीस-पच्चीस लोग रह गये। धन्धे करने वाली तीन टोलियाँ आयी थीं, उनमें से एक यह कहकर एक व्यक्ति के साथ चल पड़ी कि वे लोग अपने परिवार के यहाँ रात काटने जा रहे हैं। बारिश के कारण पंडाल जहाँ-तहाँ रिसने लगा था। फ़िलिप और मारियो उस ठौर पर चले गये जहाँ ज़ोरो अपने दोनों साथियों के साथ दीवार के सहारे सोया हुआ था। ज़ोरो ने फ़िलिप से कहा, "आज तो बुरे फँस गये। शहर की सवारी तो सुबह छह बजे से पहले मिलने वाली नहीं।" फ़िलिप भी दीवार के सहारे सो गया। अपना रोना रोया।

"पहले दाँव में दो रुपये बने थे पर सातवें दाँव तक सिर्फ़ पूँजी के तीन रुपये बच पाये हैं। किराये को भी कम पड़ेगा।"

मारियो अपनी टोकरी को कन्धे पर लटकाये बेंच पर सीधा बैठा रहा। ठंड से बचने के लिए वह अपनी दोनों बाँहों को दोनों हाथों से जकड़े रहा। भीतर से आ रहे वेद-मन्त्रों का पाठ धीमा पड़कर बन्द हो चला था। कोई दो बजे के क़रीब उसे झपकियाँ आनी शुरू हुईं, पर वह सोना नहीं चाह रहा था। जगा रहा।

सन्नाटा बना रहा।

भिनसार तक ठंड बढ़ती गयी। कोई घण्टे भर की हल्की नींद के बाद फ़िलिप जागकर सीधा बैठ गया। बाहर रात का घटाटोप अँधेरा मिटने लगा था। धीरे-धीरे धुँधलका भी मिटता गया और सूरज के उदय होने में कुछ ही समय बाक़ी था। घर का मालिक जो कि रात सफ़ेद कपड़ों में पंडाल के भीतर आकर लोगों को जुआ खेलने से रोक गया था, उनींदी आँखों के साथ सामने आ गया। उसने देखा, पंडाल में केवल पाँच आदमी बेंचों पर बैठे रतजगा कर रहे थे। पाँच व्यक्ति जो गाँव के नहीं शहर के थे।

■

कविता

'नागफनी में उलझी साँसें' से कविताएँ

खाली पेट

तुमने आदमी को खाली पेट दिया
ठीक किया
पर एक प्रश्न है रे नियति!
खाली पेट वालों को
तुमने घुटने क्यों दिये?
फैलने वाला हाथ क्यों दिया?

अधगले पंजरों पर

भूकम्प के बाद ही
धरती के फटने पर
जब दफ़नायी हुई सारी चीज़ें
ऊपर को आयेंगी
जब इतिहास के ऊपर से
मिट्टी की परतें धुल जायेंगी
मॉरिशस के उन प्रथम
मज़दूरों के
अधगले पंजरों पर के
चाबुक और बाँसों के निशान
ऊपर आ जायेंगे
उस समय
उनकी तपिश से
द्वीप की सम्पत्तियों पर
मालिकों के अंकित नाम
पिघलकर बह जायेंगे
पर जलजला उस भूमि पर
फिर से नहीं आता
जहाँ समय से पहले ही
उसे घसीट लाया जाता है
इसलिए अभी उन कुलियों के
वे अधगले पंजार पंजर
ज़मीन की गर्द में सुरक्षित रहेंगे
और शहरों की व्यावसायिक संस्कृति
के कोलाहल में
मानव का क्रन्दन अभी
और कुछ युगों तक
अनसुना रहेगा।
आज का कोई इतिहास नहीं होता
कल का जो था
वह ज़ब्त है तिजोरियों में
और कल का जो इतिहास होगा
वह इतिहास को नकारने का इतिहास होगा
अधगले पंजरों पर
सपने उगाने का।

फिर भी

मेरा देश एक द्वीप है
समन्दर-ही-समन्दर
बालू-ही-बालू
इसके चारों ओर
यही कारण है कि
यहाँ बालू के घरौंदे
बहुत बनते हैं!
यहाँ नियति
तरंगों से
आँखमिचौली खेलती हुई
ज्वार-भाटों की लपेट में
आ जाती है।
मेरा देश एक द्वीप है
समन्दर में
बड़ी मछलियाँ
छोटी मछलियों को
खाती रहती हैं
यह परम्परा

इतिहास बनी
फुदक रही
हर डाली पर
समन्दर और द्वीप
के क़ानून में
कोई अन्तर नहीं होता।
मेरा देश एक द्वीप है
यहाँ गन्ने की उपज
बहुत अच्छी होती है
चीनी की कड़वाहट अधिक हो जाती है
पर समन्दर का पानी
नमकीन होता है
द्वीप में तूफ़ानों का आना
होता ही रहता है
आदमी की बुनियाद
झकझोरी जाती है
फिर भी
चट्टानों से टकराती लहरें
संघर्ष के गाने गाते
कभी थकतीं नहीं।
मेरा देश एक द्वीप है
मुझे अपने देश से
प्यार है।

कितना कठिन

तुम्हारा यह दावा कि
तुम देश की उन्नति के लिये
सबसे कठिन कार्य कर रहे हो
मेरी नज़रों में कोई अर्थ नहीं रखता
उन्नति-अवनति को छोड़ो
मेरी तरह नौकरी की तलाश में लगकर
फिर बताओ, कौन काम कितना कठिन है!

गिरवी पड़ीं किरणें

इतिहास के गँड़ासे से
डेढ़ सौ वर्ष के लम्बे समय से
सोंधी धरती की
जामुनी ईखों को काटते हुए
जब भुजाएँ थक गयीं
पसीने के साथ जब
ख़ून की बूँदें भी
शरीर के रोमकूपों पर
जमती चली गयीं
उस समय
भीतर से विषाक्त होकर
सभी शेष शक्ति के साथ
निर्दयी सूरज को
निशाना बनाकर
गँड़ासा चला दिया
सूरज की परिक्रमा करके
इस्पात की धार ने
गिरवी पड़ी सभी किरणों को
जड़ से काट दिया
गाजर-मूली की तरह
उन्हें अब चाहो तो
मेरे ख़ून-पसीने से गीली पड़ी
धरती के चारों ओर
प्रतिरोपित करके
सूरज की मृत्यु से पहले
एक नया सूरज बना लो।

ठण्डी किरण

सूर्य किरणों को मुट्ठी में बाँधे
मैं दुकान को दौड़ जाता हूँ
पर उन्हें बेच कभी नहीं पाया
क्योंकि मुट्ठी खुलते-खुलते
किरणें बर्फ़ की नन्हीं गोलियों में
परिवर्तित हो जाती हैं।
कौन किसी को रोटी देगा
बर्फ़ की गोलियों के बदले
इसीलिए मैं आज भी भूखा हूँ
सूर्य की ठण्डी किरणों को मुट्ठी में बाँधे।

अनफूला कैक्टस

मेरी कोठरी के अँधेरे में
बाहर से आता हुआ
प्रकाश का एक टुकड़ा
नंगी दीवार से चिपक गया है

उस धुँधलके में
मैं अपनी साँसों को
फाँसी के फन्दे में झूलते पाकर
देश पर मर मिटे शहीदों को
याद करता हूँ
कोड़ों की बौछारों पर झूलते हुए
उनके होंठों पर जो मुस्कान थी
वह मेरी साँसों के होंठों पर नहीं आयी
कारण जानने के लिए जब मैं
अपने से लगातार प्रश्न करने लगता हूँ
उस समय
बाहर से आती हुई रोशनी की किरणें
एक-दूसरे से ऐंठकर
मेरी गर्दन से लिपटने लगती हैं
और मैं उससे घुटकर
अँधेरे में पहुँच जाता हूँ
इस प्रश्न के साथ
कि क्या शहीदों से पहले
उनकी साँसें भी सूली चढ़ी थीं ?
तो फिर इतना विपरीत
मुझे मेरी साँसों की सूली के बाद
जीवन क्यों मिल रहा है ?
और मेरी कोठरी का उजाला
तुम्हारी मुट्ठी में क्यों बन्द है ?
मेरी मुट्ठी के कैक्टस में
फूल क्यों नहीं आया ?

काले माथे का सफ़ेद सोना

अतिथि मेरे !
मेरा परिचय
उन जामुनी गन्नों में है
गँड़ासा जिन्हें टुकड़या कर
धार पाता है
मेरे कट जाने के बाद
मेरी भी जड़ें
ईखों की तरह
ज़मीन में रह जाती हैं।
समय की धार खाकर
इतिहास का भार उठाते रहने को
बन्धु मेरे
मेरा नाता
कोल्हू से है
कोड़ों के घावों से है
और यहाँ की
सभ्यता जिससे बनी है
उस सफ़ेद सोने से है।
मेरे काले माथे की उपज है जो
मैं.........
ज़मीन से पनपता रहता हूँ
पूर्वी आकाश से ऊपर उठे हाथों में
मैं सूरज लिये आता हूँ
किरणें बाँट कर
मैं बिन किरणों के सूरज के साथ
पश्चिमी आकाश के
धुआँधार माहौल में
मैं विलीन होते-होते बचता रहता हूँ।
मेरे सहयात्री
मेरा सम्बन्ध
ईख के उन पीले पत्तों से है
जो कट गये खेतों में
ईखों के विरह का अहसान उठाते हैं
उन कुलियों की याद दिलाने वाले
खेतों में खड़े पत्थरों के ढेर के नीचे
मेरे वंश का इतिहास है
जो प्रतिबन्धित है।

लम्बी मृत्यु इतिहास की

इस द्वीप के
श्मशान के रास्ते में
दासता की प्रथम घड़ी से
मेरे कन्धे पर
वह मेरी ही अर्थी होती है
मैं जो कभी कुली था
आज उसकी सन्तान हूँ
जिसे प्राप्त है विरासत में
लम्बा इतिहास।

जिसमें ये सभी घर अपने हैं
क्योंकि अपना कोई विशेष घर नहीं
कोई विशेष शरीर नहीं
श्मशान के रास्ते
ये सभी लाशें
अपनी ही होती हैं
जिनके कभी खाली पेट
नंगे बदन थे
माथे पर काली मुहर थी
गोरे मालिकों का
कन्धों पर कोल्हू की रस्सी का
अमिट निशान था
हथेलियाँ कोरी थीं
चाट गयी थी उन हस्तरेखाओं को
सरदारों की लोलुप जीभ।
मेरे कन्धे पर के सभी बोझ
मेरे अपने ही बोझ होते हैं
ख़ामोशी के ये चीत्कार भी
अपने ही होते हैं
मैं वह लम्बा इतिहास हूँ
जिसे अब याद नहीं रहे
वे पुराने दिन लेकिन
सामने का मुड़िया पहाड़
अपना है शत्रु भी सारे
(शत्रु हमेशा अपने होते हैं
मित्र और अनुयायी
सदा अपने नहीं होते)
हिन्द महासागर भी अपना है।
श्मशान के रास्ते मेरे कन्धे पर
मुड़िया पहाड़ की लाश है
मुड़िया पहाड़ इतिहास है
वह अरथी मेरी है।
पर्यटकों की बाँहों में
वह मेरी बहन है
समुद्र किनारे के वे सारे बंगले
मेरी अपनी ही
भव्य समाधियाँ हैं
जिनसे टकराकर-टकराकर
पूर्वजों की आहें
दम तोड़ लेती हैं।

वर्तमान

अतीत की रीसती छत से
मेरा वर्तमान
ठोप-ठोप टपक रहा
भविष्य के
पेंदाहीन पात्र में।

पुराना सूरज

मेरा पुराना सूरज
घिस गये पहिये पर
पंचर के कारण
बीच आकाश में
ठिठक गया है
उसको ठेलते हुए
मेरे हाथ लाश की ठण्डक से
तर हो गये हैं।
मेरे मस्तिष्क के कोने में
पुराने ख़्यालों को पसीना आ रहा है
उसमें तैर रहा है
तुम्हारे दफ़्तर का दृश्य जहाँ मैं नौकर हूँ
तुम्हारी मेज़ पर जहाँ
प्लास्टिक का भूमण्डल स्थिर है
देश का चौरंगा
भीगी बिल्ली बना हुआ है
ये सारे तगमे
तुम्हारी भव्यता के
मेरे ऊपर हँसते हैं।
एक ही कमरे में समा गया है
धरती से सूरज तक का लम्बा फ़ासला
उस फ़ासले को तय करना है जीवन-भर
ठण्डे पड़ गये सूरज को ठेलते हुए
अपने को ठण्डा हो जाने से बचा पाना
इतिहास की पुस्तक में
चर्चित नहीं हो पाता
घिस गये पहियों पर
मेरा पुराना सूरज.............।

गूँगा इतिहास

एक हाथ में गन्ना
दूसरे में गँड़ासा
माथे पर पसीना
सिर पर अभाव की बोझिल गठरी
पीठ पर कोड़े से अंकित
मालिक के लाल हस्ताक्षर आँखों में
प्रसुप्त ज्वालामुखी का धुँधलका
पेट में एक खाली कुआँ
तार-तार हुआ फेफड़ा
उलझी हुई साँसें, गिरवी आत्मा
पैबन्द लगा वर्तमान
बारह अध्याय का यह इतिहास
आज भी अकुला रहा है
खेतों में पसीने की जमी हुई परत पर
जहाँ-तहाँ लाल बूँदें चमक रही हैं
उस बैलगाड़ी के पहियों के निशान
अब भी हैं पगडण्डी पर
जो गुज़र गयी ईख का बोझ लिये
शक्कर का खाली बोरा ओढ़े
इतिहास आज भी बोआई कर रहा है।

कोरी हथेली

यह क्रान्ति-यात्रा नहीं
इतिहास की तन्द्रा-यात्रा है
जिसमें मेरे बन्धु
न मैं चल रहा न तुम चल रहे हो
हमारे पैरों के नीचे का वह रास्ता है
जो भ्रम पैदा करता
हमारे पैरों के नीचे-नीचे
सरकता चला जा रहा है।
अधगले माँस के भीतर
दर्द से कराहती अपनी हड्डियों पर
मैं अब भी मरहम-पट्टी लगाये जा रहा हूँ
उन्हें आश्वासनों से सींचकर
इस आस में बैठा हूँ कि
कल बरसात के बाद निपाती पेड़ों की तरह
इन पर माँस उग आयेंगे
हैरत!
क्योंकि घास वहाँ भी उग आयी है
जहाँ से आटिला का घोड़ा गुज़रा था
अपनी हथेली को झकझोर कर
मैंने उन सभी हस्तरेखाओं को
लुढ़क जाने दिया
जिनके कारण मेरी पत्नी मेरे बच्चे
सभी भूखे हैं अधनंगे हैं
इतिहासकार अगर कोई है
तो लिख जाये इतिहास को अब
मेरी इस अपनी सपाट कोरी हथेली पर।

'कैक्टस के दाँत' से कविताएँ

रिस रहा समय

रिसती अंजलि से
स्याही टपकाती
सुबह दौड़ गयी।
सूरज का लेप लिये अपने चेहरे पर
मैं और तुम दौड़ जाते हैं क्षितिज को जहाँ
इन्द्रधनुष कुकुरमुत्ते की तरह उग आते हैं।
कट गये गन्ने के खेतों में
बिखरे मिल जाते हैं समय के पंजर
मूल्यों की राख को खाद के साथ मिलाकर
बंजरों को बिखेरा जा रहा है
नये अंकुरों के लिये
बीच-बीच में उग आयी नागफनियों से
ढँप जाते हैं मेरे-तेरे हिस्से के पौधे
उसके उफन आये खेतों से
छिद्रों-भरे दिवस से मेरे-तेरे दिन
रिस कर उसके हो जाते हैं
और पैबन्द-पर-पैबन्द लगाती हुई
नयी पीढ़ी पुरानी होती चली जा रही है
समस्त लोप-लोप रिस रहा समय से

पत्थर के नीचे से मिला सोना
बन्द होता रहा
उसी रिसे हुए समय की मुट्ठी में
जो न मेरा है न तेरा है
यह पीढ़ी जो नकार रही है
वही चीज़ रह जाती है अपनी
उलझी हुई सेंहुड़ के काँटों में।

आक्रोश

मुड़िया पहाड़! सुनो!
ग्रीष्म के सूरज को मुँह में लिये
लाखों अभिशप्त के क्रन्दन के साथ
देश के गद्दार प्रहरी सुनो!
इससे पहले कि मोम की तरह
तुम पिघल जाओ
तोड़ दो अपने मौन व्रत को
अपनी जड़ता को
अपनी पीछे छिपाये अवसरवादियों के
हृदयहीन वक्ष को सामने कर दो
नहीं तो
ख़ुद पिघल जाओगे
क्रोधित नेत्रों के अग्नि-बाण से।
और हाँ रे मोज़ाम्बिक कानाल
तुम भी सुनो!
अपने में उठते तूफ़ानों को
अपनी मुट्ठी में लिये
मृगकुण्ड के प्रसुप्त ज्वालामुखी को
अपनी आँखों में सजीव करके
ग्री-ग्री की प्रलयंकर लहरों की लय के साथ
परी तालाब के तट पर
महादेव का ताण्डव करने की चाह में
नियति का चक्र अगर गति न बदले
तो निजी भंगिमा से
भस्मासुर की तरह
भस्म हो जाओगे तुम भी।

तृप्ति

माथे की श्रम बूँदों को
खेत में पहुँचाकर मज़दूर ने बो दिया
लहलहाती फसल जब तैयार हुई
उन हरे-भरे दानों को किसी और ने
तिजोरी के लिए बटोर लिया
इसीलिए आक्रोश में आकर
मज़दूर सूरज को निगल गया।

अजनबी रात

नदी में नहा रहा जंगल का सूरज
शहर का सूरज फ्रीज़ में बन्द है
अँधेरे में शहर और जंगल जुड़ गये हैं
लोमड़ी और शेर दफ़्तरों में जा बैठे हैं
नुकीले दाँत किटकिटाते
लम्बी जीभ लपलपाते
अफ़सर जंगल के बीच घूम रहे हैं।
सफ़ेद कबूतर काँप रहा है भय से
माँस के टुकड़े की तरह
फ्रीज़ का सूरज सड़ने से बच गया
आदमी की दबी हुई आवाज़
शहर में आ जमे
जंगली पेड़ की डाली पर झूल रही है
और साँसें भुगत रही हैं
फाँसी की सज़ा।
जंगल का सूरज नदी को दग्ध करके
पिघला ले गया चट्टानों को
शहर का सूरज अब भी फ्रीज़ में बन्द है
ठण्ड से पूरा शहर काँप रहा है
एक अजनबी रात हमारी रातों से भिन्न
हर रात शहर में मँडरा रही है।

सुगर-कोटेड

अतीत में जिन गोलियों को चूसता रहा
वे नीरस थीं बाहर भी, भीतर भी
वर्तमान में जो चूस रहा हूँ वे
सुगर-कोटेड गोलियाँ हैं
भविष्य की कड़वाहट लिये।

तलाश

तलाश! सही अर्थों की तलाश
तलाश! नये क्षितिज के नये आयाम की
नये मूल्यों की तलाश

समझौते के केन्द्रबिन्दु की तलाश
इसी में भटकते हुए
स्वयं की तलाश का शुरू हो जाना
विध्वंस हिरोशिमा का
वह बमवर्षक भी नहीं मिला
बंगलादेश के बुद्धिजीवी की हड्डियाँ नहीं मिलीं
वियतनाम का शरणार्थी नहीं मिला
विक्षुब्ध हिन्द महासागर का
अमृत-मंथन हो चुका
युद्ध अभी नहीं छिड़ा
छिड़ जायेगा पर यह विश्वास है
रोटी का हो, ज़मीन के टुकड़े का हो
रंग का हो, अस्मिता का हो
अफ्रीका में हो, ईरान में हो
शीतयुद्ध हो, गृहयुद्ध हो
लाभान्वित कौन होता है ?
उत्तर की तलाश ज़ारी है
वह मिलकर भी अभी नहीं मिला
तलाश-यात्रा के क्षितिज पर
संयोग से वह मिल गया
बेचकर मेहनत सारी जिसने क़ीमत नहीं पायी
अपने पसीने की बूँदों की
श्वासों से उसके आती रही
भीनी गन्ध आत्म-सन्तोष की
ज़िन्दा वह अकेला है
हर नये पौधे में उसकी हाज़िरी है
खेतों की कड़कती धूप में
दी थी मौत को चुनौती
वह जो इतिहास की प्रथम घड़ी से चलकर
आज भी वही है
हिरोशिमा, वियतनाम और बांग्लादेश
तीनों उसके भीतर आज भी कराह रहे हैं
आत्म-सन्तोष की लय के साथ।
तलाश ज़ारी है
तलाश ! विचारों के पुनर्जन्म की
तलाश ! नव-क्रान्ति की
वह नव-क्रान्ति जो खरीदी जा चुकी है।

एक प्रश्न खरीदना है

मेरे हाथ की घिस गयीं भाग्य-रेखाओं पर
ये कैक्टस के उग आये पौधे
तुम्हारे अंगारों से गुलमोहर के
अकुला आये फूलों से छूटतीं
पंखुड़ियों को
धूल में मिल जाने से बचाये जा रहे
अपने मर्म-काँटों के सहारे
जिसे देख तुम्हारी आँखों से फूट आयी हैं
फ़ौलाद की धधकती सलाखें
तुम्हारे तन से छूटा भी
मेरा आभूषण बने
यह तुम्हें आज भी गवारा नहीं
अन्तर कुछ पट जायेगा
यह तुम्हें स्वीकार नहीं
तुम भाग्य-निर्णायक हो
तुम सौदागर हो इसलिए
तुमसे एक सौदा करना चाहता हूँ
मेरी मुट्ठी में
बहुत सारे प्रश्न हैं
प्रश्न ही प्रश्न। उत्तर एक भी नहीं
ये प्रश्न चाँदी के नहीं
फिर भी क्या तुम उनके बदले
मुझे कुछ उत्तर बेचोगे ?
मुझे उत्तर चाहिए
अपनी भाग्य-रेखाओं पर उग आये
कैक्टस के फूलों में पराग भरने के लिये
तुम्हारे बहिष्कृत फूलों को
काँटों ने थाम लिया
क्या सज़ा दोगे अपराधी काँटों को ?

लोक-कथा

मुझे गोद में लिये.............
आकाश के खचाखच तारों की ओर संकेत करके
मेरी माँ मुझसे कहती थी—
ये परियों के देश हैं
मेरी प्यास मिट जाती थी

मेरी अँगुली थामे.............
आकाश के खचाखच तारों की
ओर संकेत करके
मेरी माँ मुझसे कहती थी—
हर आदमी का अपना एक तारा होता है
मेरी भूख मिट जाती थी
मेरे प्रश्न के उत्तर में माँ कहती थी—
इन तारों में एक तुम्हारा भी है
तब मुझे ज़ोरों की भूख लग आयी थी
मैंने माँ से पूछा था—
मेरा अपना तारा कब मिलेगा मुझे
माँ ने कहा था—
जब तुम रोना बन्द करोगे
फिर तो तभी से
ज़ोरों की भूख पर भी मैं नहीं रोता था
और एक दिन जब
भूख से अकुलाकर
मैं अपने तारे के लिये
सिसकियाँ लेने लगा था
तो माँ बोली थी—
सिसकियाँ लोगे तो वह अंगारा बनकर गिरेगा
हमारे घर की छत
ईख के सूखे पत्तों की थी
मैं चुप हो गया था
मुझे उदास पाकर माँ बोली थी—
ये तारे अच्छे बच्चों के लिये
हीरे बनकर गिरते हैं
एक दिन चुपके से मैंने छत के ऊपर
जल से भरी थाली रख दी थी
एक काले द्वीप की तरह आज भी
थाली के पानी के बीच
कोयले का एक टुकड़ा........... ।

टूटा यन्त्र

आकाशवाणी ने देवताओं को
आगाह किया था
अमृत के साथ विष भी ऊपर आयेगा
सागर-मंथन से
इस युग में आदमी की बारी आयी
आकाशवाणी का वह
ध्वनिवर्धक टूट गया
चेतावनी प्रसारित नहीं हुई
आदमी की मुट्ठी का अमृत
विष का काम कर गया
अब आदमी को
स्वयं उठना होगा
स्वयं पार करना होगा
अमृत की बाढ़ के बाद की
उफनती नदी को
कोई दूसरा नहीं उठेगा तुम्हारे लिये
जिसको तुमने अमृत दिया
कुर्सी पर बैठाया वह भी पार नहीं करेगा
उफनती नदी को तुम्हारे लिये।

फेफड़ा और पुर्जा

ईख के खेतों का मज़दूर
सूखे फेफड़े पर हाथ रखे मर रहा है
एक भी डॉक्टर पास नहीं
उधर पाँच इंजीनियर मिलकर
ईख के कारख़ाने के पुर्जे पर
चरबी लेप रहे हैं।

वह अधूरा अधिकार

यह ऐतिहासिक झूठ
अभी और कब तक चलेगा
कब तक मुझसे
यह कहता जाता रहेगा
कि यह लाश मेरी है
लाश मेरी कैसे हो सकती है?
इसकी धड़कनों पर
अधिकार तुम्हारा था
उसी तरह
तुम्हारी ज़मीन-ज़ायदाद
कार और भेड़-बकरियों की तरह
मेरा अस्तित्व भी तुम्हारा था
मेरे पसीने की चमकती बूँदें तुम्हारी थीं
तो फिर

यह शव मेरा कैसे हो सकता है
तुमने सभी अच्छी चीज़ें ले लीं
अतीत और भविष्य ले लिये
बीच की हड्डी छोड़ दी
बाक़ी चीज़ें भी तुम्हीं क्यों नहीं ले लेते
इतिहास तो बच जाता
झूठी गवाही से
कि यह वर्तमान मेरा है
जिसका अतीत नहीं
भविष्य नहीं
उसका वर्तमान कैसे हो सकता है
यह लाश मेरी कैसे हो सकती है?

सलाखें हड्डियों की

अभी कारागार के लिबास
तन से हमारे उतरे नहीं
और हमने अपनी मुक्ति को
रस्सी में बाँधकर
एक-एक छोर को गरदनों में बाँध लिया
फिर हम दोनों
गले से पकड़ी इस स्वतन्त्रता को
अपनी-अपनी ओर खींचते रहे
गुत्थमगुत्था होती रही
जब तक कि
रस्सी टूट न गयी।
स्वतन्त्रता बन्धन से छूटकर
जंगल को दोबारा भाग गयी
तुम उसके पीछे
रस्सी लिये दौड़ गये
और मैं..............
अपनी हड्डियों की सलाखों के बीच
फिर से
बन्दी हो गया
उस क्षण तक के लिये
जब तक स्वतन्त्रता
स्वतन्त्र न हो जायेगी
अपनी हड्डियों की सलाखों के बीच
मुझे बन्दी रहना है।

हवा और हवा

बाक़ी तत्त्वों की समानता
मुझे ज्ञात नहीं
पर इससे भी अनभिज्ञ नहीं..............
कि हवा तुम भी हो
और हवा मैं भी हूँ
तुम वह हवा हो जिससे
दीये बुझ जाते हैं
मैं वह हवा हूँ जिससे
आग
और भी धधक जाती है।

प्रतिभा बौनी है

यहाँ आदमी के पाँवों में ऊँची एड़ी के जूते हैं
चाहे आदमियत घुटने टेक चुकी है
अस्तित्व गिड़गिड़ाने लगा है चाहे
ताड़ के नीचे बौने पौधे किसी तरह जी रहे हैं
उधर की ख़ामोशी को
हलक से नीचे उतार-उतारकर
धमनियों की सूखारी की सिंचाई हो रही है
बाज़ार की बासी महँगाई की तरह
जिजीविषा का मूल्य भी चढ़ गया है।
प्रगतिशील जीव है आदमी
तरक्की की कतारें
लम्बी होती चली जा रही हैं
स्तुति विद्रोह करके
मन्दिरों की चारदीवारी से बाहर आ गयी है
और पहुँच गयी है
पत्रिकाओं में, दफ़्तरों में
उत्सवों में, गोष्ठियों में
छतनार के नीचे पहुँच जाने के वास्ते
कड़कती धूप की आपाधापी
तर हो चली है पसीने से
यहाँ आदमी के पाँवों में ऊँची एड़ी के जूते हैं
सिर पर पगड़ी का फैशन लद चुका है
विश्व मंडी की मुद्राओं की तरह
कुछ मूल्यों का भाव भी गिर गया है
छतनार के नीचे कुकुरमुत्ते उग आये हैं

कुकुरमुत्तों के पाँवों में भी
ऊँची एड़ी के जूते हैं।
तुमने शर्त लगायी थी
हम एक-दूसरे के पसीने से
अपनी-अपनी रोटी बोर कर खायेंगे
तुम बोरे जा रहे हो अपनी रोटी
मेरे पसीने के रस में
मैं सूखी रोटी खा रहा हूँ
क्योंकि तुम्हारा तो
पसीना बहता ही नहीं।

सूरज अभी दूर है

वह नया सूरज कब उगेगा?
अपनी परछाईं कब दीखेगी
अपनी साँसें कब ग़ैर की-सी
नहीं लगेंगी
कब उजाले में
भेड़िया पहचाना जायेगा
जो अँधेरे में कुतरता आ रहा है
मेरे अस्तित्व को।
अकेलेपन से भय खाकर
मैं अपनी परछाईं को टटोलने लगता हूँ
फिर ख़्याल आता है कि
सूरज तो उस आँगन में खेल रहा होगा
जहाँ से पुलिस की नज़र बचाकर
उसका इधर भाग आना भी तो
सम्भव नहीं
अभी सुबह दूर है
सूरज उधर व्यस्त है
वह कब उगेगा?
इस अनुत्तरित प्रश्न की
मोटी-सी गठरी को
सिर पर रखकर
गिरता-उठता
सूरज की वापसी पर
स्वागत के लिए बढ़ा जा रहा हूँ
सूरज अभी दूर है।

स्वतन्त्रता मेरी

मेरा एक हृदय है
प्यार करने वाला
महसूस लेता हूँ जिसे
मेरा एक मस्तिष्क है
सोच-विचार करने वाला
टटोल लेता हूँ जिसे
मेरी एक स्वतन्त्रता है
राजनीति की दी हुई
जिसे छूने की चाह लिये
छू नहीं पाता।

उग आये सवाल

गूँगी छटपटाहट पालने वाले
तुम्हारे देश के ये साधारण जन
तुम्हारे निचोड़े आम को
चूसे जा रहे हैं
बच्चों की तरह चूसनी में बहले हुए
तुम्हारी गलियों में
बेशुमार पदचिह्न छोड़े जा रहे हैं
जिन पर ढेर सारे सवाल उग आये हैं
तुम्हारे मौनव्रत टूटने की प्रतीक्षा है।

तुम्हारी तीन विशेषताएँ

धूप की जलती सलाखों को
नंगी पीठ पर सहता हुआ
तुम्हारी सलीब को ढोये जा रहा हूँ
मेरी यात्रा को सुगम बनाने के वास्ते
मेरी भात की टोकरी
तुमने अपने हाथ में ले ली है।
बड़ी कृतघ्न है यह मज़दूर जाति
जो चिल्ला-चिल्लाकर कह रही है
कि तुमसे उसे कुछ भी नहीं मिला
लेकिन मैं तो तुम्हारा आभारी हूँ
जानता हूँ कि मेरी फटेहाल झोली का
यह खालीपन
तुम्हारी ही तो देन है।
कौन कहता है कि
पाश्चात्य ढंग-तरीकों के

तुम नकल मात्र हो
तुमने तो काँटे-चमचे में
काँटे को फेंक दिया है
ख़तरनाक मानकर
तुम सिर्फ़ चमचे से
फतह कर लेते हो
सजी हुई मेज़ों की कतारों को।

फ्रिज़ में

उन पैसों से जिनसे
अनाज नहीं मिले
नींद की गोलियाँ खरीद लाया हूँ
जब तक अनाज का जहाज पहुँचे
मैं, मेरी पत्नी, मेरे बच्चे
अपनी-अपनी भूख को सुला देते हैं
क्योंकि
चुनाव के समय
वह सुन्दर वचन
जो तुमने दिया था
मेरे यहाँ पड़े-पड़े
सड़ने लगा था
उसे हम खा न सके
इसलिए मैंने उसे
पड़ोसी के
फ्रिज़ में बन्द कर दिया है।

पर कुतरेगा ज़रूर

यह चूहा जो आज
मेरे नंगे पैरों को कुतर रहा है
कल तुम्हारे यहाँ भी पहुँचेगा
जूतों में सुरक्षित
तुम्हारे पैर उसे नहीं मिलेंगे
इसलिए वह उस कुर्सी को
धीरे-धीरे कुतरेगा
जिस पर तुम चिपके हुए हो।

सन्तुलन

नहीं चाहिए मुझे तुम्हारे सुख
लेकिन मेरे एक कन्धे पर सभी दु:ख लादकर
तुमने मुझे विकलांग बना दिया है
इसलिए उतना ही दु:ख
मेरे दूसरे कन्धे पर भी लाद दो
ताकि मेरे दब जाने के बाद दोनों दु:ख
एक-दूसरे का सहारा बन जायें
मैं कब तक अपनी छाती पर
भूख की हूक लिये
गिरते-उठते चलता रहूँगा असन्तुलित?
तुम्हारे नये यन्त्र के
भट्टी जैसे खुले मुँह में
सौ साधारण आदमी ठूँसकर
उनके रक्त-माँस-हड्डियों से
उस विशेष आदमी का
निर्माण हो रहा है
जो कल तुम्हारा निर्माण करेगा।

प्रतीक्षा में

उस दिन तुम्हारे मानवता पर के
लम्बे वक्तव्य के बाद
लोगों ने तुम्हें
एक भिखारी के हाथ में
दस का नोट रखते देख लिया था
इसीलिए आज शहर के चौराहों पर
सैंकड़ों भिखारी
एक दूसरे दानी की प्रतीक्षा में
हाथ फैलाये खड़े हैं।

भाषा

मेरी मुट्ठी की छाँव मेरी है
छाँव के धुँधलके में खोया
मेरा चेहरा मेरा है
यह गली मेरी है
जहाँ के बच्चों के साँवले बदन
धूप के धुँके होते हैं
मेरे माथे से
मेरी श्रम-बूँदों को पी जाने वाली
लोलुप हवा भी मेरी है
मेरे घर के चिराग को
बुझा जाने के बाद भी वह अपनी है
मेरी आँखों का सूनापन मेरा अपना है

मेरे पेट का कुआँ मेरा अपना है
मेरे घावों का दर्द मेरा है
किराये की साँसें मेरी अपनी ही हैं
मेरा बोझ मेरा है
बस एक भाषा है
जो मेरी नहीं है।

और अहसान मत कर

तुम मुझे घुटने टेकने में
मदद देते रहे
मेरे मददगार
तुम्हारे अहसान से
अभी मैं मुक्त नहीं हुआ
अभी तो सूद भी नहीं भर पाया
अब और अहसान मत कर
मेरे बेटे को
बैसाखी मत थमा
तीसरे पाँव की क़ीमत
मैं चुका न पाऊँगा
इस जन्म में।

यही मेरी आज़ादी है

मेरी मुट्ठी में बीमार शाम है
आँखों में भरी हुई सुबह
ज़मीन नहीं है मेरे पाँव के नीचे
न मेरे सिर के ऊपर सूरज है
यही मेरी आज़ादी है।

अर्थ

फसल के बाद
ईख के खाली खेतों में
मज़दूरों के हाथों को
ज़मीन में बो दिया गया
उन हाथों को जिनकी
भाग्य-रेखाओं का अर्थ था
इतिहास की गरम साँसों से
अंकुरित हाथ
कुम्हलाकर झुलस गये
समय के खौलते कड़ाह में
समृद्धि और खुशहाली के
बीजों की समाधियों पर
पत्थर की ऊँची मुंडेरें
उग आयी हैं
मज़दूरों की औलादों के
वे काले सपने
चट्टानों पर
छटपटाने लगे हैं।

'एक डायरी बयान' से कविताएँ

9 अगस्त—सुबह

आज अपनी सालगिरह पर
फिर से जूझते रहने का
एक नया संकल्प
ले रहा हूँ
और एक साल तक
अपने पैबन्द लगे अभियान में
अपने को जुझाये रख सकूँ
अपने से जितने क़रीब
उतनी ही दूर
अपनी असफलता की
जुगाली करता
अपने पसीने की बूँद-बूँद को
उन दूसरे प्यासे लोगों की
परवाह किये बिना
खुद पी रहा हूँ
क्षण-क्षण को
व़क्त के हाथों नीलाम कर रहा हूँ
अपने को टूटने से बचाने की यह बेईमानी
इसलिए ताकि—
अपनी अगली सालगिरह पर
अपने लोगों के लिए ला सकूँ
उन दूसरे लोगों द्वारा दिलासित
एक बेहतर भविष्य।

12 अगस्त—दोपहर

एक लम्बी ख़ामोशी की मैं उपज हूँ
मैं एक परछाईं की छाया हूँ
उपदेशों को सुन लेता हूँ चुपचाप
ठण्ड नहीं लगती मुझे नंगे बदन भी
क्योंकि मेरे आका तुम
थोड़ी ही दूरी पर हो
अपने को लपेटे हुए भालू के चमड़े में
मैं एक अतीत का कंकाल हूँ
मैं एक पुण्य का हूँ अभिशाप
पीता रहता हूँ ज्वालामुखी
मकड़ी के जाले पर छटपटाता रहता हूँ
पर जीवित हूँ, खूश हूँ
क्योंकि अभी भी तुम्हारा भाषण ज़ारी है
मैं वह बच्चा हूँ जिसकी माँ का
गर्भपात चुक गया था
मेरे सामने तुम्हारी नंगी तलवार है
जिसकी धार पर
मेरे आँसू टपक कर
कट जाते हैं दो टुकड़ों में
मेरी ख़ामोशी छटपटा कर भी
आह नहीं भर पाती।

18 अगस्त—रात

तुमने मुझे शाप देकर
बौना बना दिया
क्योंकि मैंने तुमसे
वरदान माँगा था
पी जाने का
संसार के सारे सन्ताप को
मैं मूर्ख था समझना नहीं चाहा था कि
संसार का जब सन्ताप ही मिट जायेगा
तो मन्दिरों की घंटियाँ बजेंगी कैसे?

25 अगस्त—सुबह

उस मृत अतीत की डगर से
उस क्षितिज को जाने के लिये
जहाँ वर्तमान आँखें नहीं खोलता
अनुपस्थित भविष्य ने
काग़ज़ की नाव भेजी है।

29 अगस्त—रात

धरती के उस छोर से
तुम्हारे सपने देखा करता था
जानता था कि तुम तक
सिर्फ़ सूरज ही पहुँच पाता था
इसलिए उछल कर
सुबह के सूरज पर सवार हो गया था
वह जलाता रहा
मैं कोयला होता रहा उसके ताप से
तुम्हारे कोमल लाल होंठों को
चूमने की शीतल चाह थी मेरे भीतर
इसलिए जान हथेली में ले रखी थी
पहुँच कर रहा तुम्हारे देश को
हाथ के फूल जल कर मर गये थे
मैं काला हो गया था पर ज़िन्दा था
मुझे देखते ही तुम डर कर भाग गयीं
और सूरज ठठा कर हँस पड़ा
उसकी हँसी की धार से मरते-मरते
समझ पाया
यह सूरज भी तुम्हारा आशिक था।

6 सितम्बर—दोपहर

मैं तुम्हारे विस्तृत पंजों की पहुँच के भीतर था
इसलिए मुझे सलाखों के भीतर लेकर
मेरी आवाज़ को तुम ज़ब्त कर लेते थे
अब तुम ऐसा नहीं कर सकोगे
क्योंकि कल सुबह जब पूरब से
कोयलों का झुंड मेरे आँगन में उतरा था
तो मैंने दानों के बदले उनके सामने
अपने सभी गीत बिखेर दिये
वे उन्हें चुग कर उड़ गयीं उन दिशाओं को
जहाँ तुम्हारे पंजे पहुँच नहीं पायेंगे
जहाँ अब चप्पे-चप्पे से होता रहेगा
मेरे उन दबाये गीतों का गुंजन।

8 सितम्बर—आधी रात

आदमी-और-आदमी के बीच की
वह आयी खाई को पाटने के लिये

ज़मीन-जायदाद का बँटवारा बाद में कर लेना
एक आदमी धमनियों में
ख़ून के उबाल से मर रहा है
दूसरा मर रहा है
अपने आँसुओं के उफान से
ये आदमी-और-आदमी जी सके
इसलिए पहले हमवार बँटवारा कर लो
ख़ून और आँसू का।

11 सितम्बर—भिंसार

अपने पसीने की बूँदों को
जहाँ बोया था मैंने
वह ज़मीन कहते हैं भगवान की है
पर से रहे हो जिस घोंसले में तुम
मेरी बोआई की सम्पूर्ण गोलाई को
वह बन्द है
तुम्हारी लौह-तिजोरी में
जिसकी लाठी उसकी भैंस
यह मर्जी कहते हैं भगवान की है।

20 सितम्बर—भिंसार

मज़दूर के पसीने की बूँदों को
तुमने तिजोरी में रख लिया
और मज़दूर को अपने फ़्रीज़ में
पर मेरे दोस्त
फ़्रीज़ से बाहर
बीयर की बोतल को पसीना आता है
आदमी को नहीं।

25 सितम्बर—दोपहर

तुम्हारी कृपा को न मानने का दु:स्साहस
आज मेरा सिर तुम्हारे दोनों हाथ में है
पूरी शक्ति से
उसे दो मिनट पानी में डुबाये-दबाये रहते हो
मेरी अकुलाहट-छटपटाहट को गिन कर
मेरे सिर को दो सेकण्ड के लिए
बाहर लाते हो
फिर डुबोते हो उसे बर्फ़ से ठण्डे पानी में
दो मिनट दबाये रहते हो उसे
फिर दो सेकण्ड के लिये ऊपर लाते हो
और इस तरह कई सबक के बाद
तुम पूछते हो मुझसे
..........तुम जी रहे हो ?
अकबकाते, साँसों को लपकते
मैं कहता हूँ—
..........हाँ, मैं जी रहा हूँ
दूसरे सेकण्ड तुम फिर पूछते हो
..........जी रहे हो किसकी कृपा से ?
जी रहा हूँ तुम्हारी कृपा से
और भी कई लोग इसी तरह
हर दो मिनटों को मर-मर कर
दो सेकण्ड जी रहे हैं
तुम्हारी कृपा से।

28 सितम्बर—दोपहर

तुम सपने देखते हो रास और परियों के
मैं सपने देखता हूँ हिरोशिमा के
बाँसों-कोड़ों की बौछार सहने वाले दासों के
तुम सपने देखते हो गगनचुम्बी इमारतों के
मैं सपने देखता हूँ पटरियों के
जहाँ आदमी भूख पालता है आँतो में
आँतों को पालता है हड्डियों के ऊपर
सपने भिन्न हुए तो क्या हुआ
आदमी तो तुम भी हो और आदमी मैं भी हूँ
बस!

2 अक्टूबर—सुबह

चौराहे पर की उस गांधी की मूर्ति का
उद्घाटन जो नेता कर गया था कल
माला जो नेता पहन गया था कल
गांधी महात्मा की उस श्वेत मूर्ति को
किसी ने तीन गोलियाँ मार दीं
ख़ामोशी उड़ कर ऊपर गयी
बादलों को खंजर मार दिया
ज़मीन पर लाल बूँदें टपकने लगीं
गांधी की मूर्ति जीवित न हो सकी
वह भी गा रही है गांधी की तरह
रघुपति राघव राजा राम
पतित पावन सीता राम।

4 अक्टूबर—भिंसार

अपनी जवानी ईख के खेतों को दे दी थी
यह सोच कर कि वहाँ की हरियाली
मेरी सन्तान के मुरझाये चेहरे को रवानी देगी
पर खेतों को अपना यौवन दे दिया
मालिक की तिजोरी को उसकी सन्तानों को
और मेरी औलाद बचपन ही में बूढ़ी हो गयी
जवानी का मुहताज मेरा वह बेटा आज
अपनी साँसों को इसलिए रोके हुए है
कि कहीं उन गरम साँसों से
उसके चारों ओर की तुम्हारी इमारतें
गल कर ढह न जायें
इसलिए साँस के अभाव में
वह धीरे-धीरे मर रहा है।

9 अक्टूबर—शाम

(अधूरेपन की पूर्ति)
उसकी शराबी डकार से
अपने को बचाता हुआ
मैं उसकी लगाम को थामे रहा
चाहा मैंने पहले उसे
अपनी बस्ती की ओर ले जाना
पर वह सातवाँ घोड़ा
मेरे साथ-साथ सूरज को भी
खींचता घसीटता
दौड़ गया फिर से
आकाओं के शहरों को पहले
उन्हें सुबह की ठण्डक से बचाने
और फिर से जुट गया वैज्ञानिक
बिजली की अधूरी ऊर्जा को बढ़ाने में
और मेरे लोग नियति के
धधकते सूरज को
अपनी श्रद्धा अर्पित करने
अपने पसीने की अन्तिम बूँदों को
अंजुलि में लिये
बढ़े जा रहे हैं अब भी……… ।

12 अक्टूबर—दोपहर

आदमी जनम से नहीं
करम से बनता था कुछ
अब तो हो गयी बात पुरानी
आदमी जनम-करम से नहीं
तुम्हारे रहम से बनता है कुछ।

15 अक्टूबर—शाम

एक छोटा-सा क्रॉस
मैंने तुम्हें दिया था
बैलेट-पेपर के ऊपर
जिससे तुमने अपना
अपने भाई-भतीजों का
कल्याण कर लिया
वचन के नाते मेरा भी ख़्याल रहा तुम्हें
मेरे लिये भी एक
उपहार भेजा तुमने
मेरी पीठ से दो गुना बड़ा
लोहे का एक क्रॉस
एक छोटे-से क्रॉस के बदले।

18 अक्टूबर—आधी रात

अपनी तो एक ही मृत्यु होगी
एक ही लाश होगी
पर गुज़र चुकी है इन गलियों से
मेरी आवाज़ की कई अर्थियाँ।

19 अक्टूबर—भिंसार

मैं स्वीकार नहीं सकता
कबूतरों के बीच बाज़ को
अपने सवालों को बेच नहीं सकता
मैं ख़ामोशी स्वीकार नहीं सकता
मेरे अपने लोगों के दूध की रखवाली
तुम्हारी माला जपती बिल्ली करे
मैं गवारा नहीं कर सकता
हाँ! अपने लोगों के लिये
ज़िन्दगी तो चाहिए मुझे
पर बख़्शी हुई ज़िन्दगी
मैं स्वीकार नहीं सकता।

2 नवम्बर—सुबह

मेरा बेटा

छाले पड़ आये
पाँवों के घुटनों से
खाली पेट को दबाये
बैठा है
तेरा कुत्ता
हड्डी को पंजों से दबाये
बैठा है
थक आये दाँतों में
दर्द लिये।

3 नवम्बर—आधी रात

तुम्हारा इतिहासकार कहता है
पिरामिड मिश्र के राजा फेरो ने बनाया था
ताजमहल मुमताज के आशिक शाहजहाँ ने
उन ठौरों से लौटा हुआ मेरा ज़मीर कहता है
पिरामिड लौह भुजाओं वाले
दासों ने बनाया है
और ताजमहल नंगी पीठ वाले
काफ़िर मज़दूरों ने
मेरा ज़मीर इतिहास पढ़ना नहीं चाहता
वह भंजकों को निर्माता नहीं मान सकता।

7 नवम्बर—भिंसार

एक समूचे द्वीप को
अपने सिर पर लिये मैं
भयानक जंगल को
नदी पहाड़ों को
आँधी तूफ़ानों में
पार करता रहा
तुम हर ठौर पर
यही कहते रहे कि
मैं अपनी ही दुनिया को
ढो रहा था
वह मेरा ही अपना द्वीप था
मेरे सिर पर
लेकिन
एक बहुत ही सुन्दर ठौर पर
जब मैंने उस बोझ को
नीचे उतारा
..........तो तुम उसे अपना कहते हुए
उसे अपनी दुनिया
अपना द्वीप बताते हुए
उछल कर तुम
उसके ऊपर आ बैठे
और थकान की ये लम्बी साँसें
बोझिल साँसें
मेरी अपनी रहीं
और मेरा द्वीप मुझसे छिन गया।

9 नवम्बर—शाम

रात के जाग जाने से पहले
चलो ख़ामोश पगों से हम निकल चलें
रात जागेगी
भेड़िये की मुस्कान का जादू चलेगा
हम फिर सम्मोहित हो जायेंगे
और भेड़िये की मुस्कान को
बनाये रखने के लिये
नीलाम करते रहेंगे
अपने जनमने वाले बच्चे की निर्मल मुस्कान
चलो निकल चलें ख़ामोश पगों से
इससे पहले कि बज उठे
ये मन्दिरों के घण्टे।
आरतियाँ होंगी भेड़िये की लोलुपता की—
दीर्घायु के लिये
तारीफ़ करेगी कविता भेड़िये के शासन की
चाँद बिक चुका है अँधेरी रात के हाथों
उसके मधुकलश से
छिटकती चाँदनी
तोड़ चुकी वह पुराना रिश्ता प्रेमियों से
चाँद तो अब
अगवानी करता है ख़ूबसूरत साज़िशों की
चाँदनी अमृत पिलाती
भेड़िये की मुस्कान को
ख़ामोश पगों से चलो निकल चलें
रात के काले पंजों के जागने से पहले।
चलो सुलझा लें
नागफनी में उलझी नयी साँसों को

उसे छुड़ा लें अपने लिये न सही
अपने जनमने वाले बच्चों के लिये ही
चलो नकार दें ख़ामोश स्वरों में
घटाटोप रात की साज़िशों को।

13 नवम्बर—दोपहर

जी तो चाहता है कि अपने सिर से
पहाड़ को उतार कर सुस्ता लूँ
पर भूल जाता हूँ कि यह पहाड़ तो
हिलता-डुलता है तुम्हारे आदेश से।

20 नवम्बर—शाम

समय की पलकों से उतरी
ठण्डी चाय की नयी सभ्यता
चीविंग गम चबाती
जीन्स पहने
आ गयी मेरे घर के भीतर
सिर पर ठण्डा सूरज लिये
मेरे यह पूछने पर कि
वह हमेशा वाला सूरज कहाँ है
नयी सभ्यता बोली
पुराना सूरज सड़ न जाये
इसलिए फ्रीज़ में रख आयी हूँ।

23 नवम्बर—दोपहर

मैं ईख के खेतों का मज़दूर हूँ
जब पाँच गाड़ियाँ गन्ने काट-लाद लेता हूँ
और बिखर जाते हैं जब तीन-चार गन्ने
तो मालिक आँखें तरेर कर कहता है
—गधे की औलाद!
मैं मालिक के घर का रखवार हूँ
जब दिन-रात
उसकी ज़मीन-जायदाद की
रखवाली करता हुआ
एक दिन बीमार पड़ कर
दूसरे दिन सेवा में पहुँचता हूँ,
तो मालिक चेहरा लाल करके कहता है
—कुत्ते की औलाद!
मैं मालिक का व्यक्तिगत विशेष नौकर हूँ
जब हर पल उसके आगे-पीछे रह कर
उसके लिये सुन्दर जाँघों की
व्यवस्था करने के बाद
एक दिन उसके जूठे गिलास से
शराब पीता हुआ
पकड़ लिया जाता हूँ
तो मालिक गरज कर कहता है
—साँप की औलाद!
मैं मालिक का
हिसाब-किताब रखने वाला हूँ
जब उसके बही-खाते से
उसके इन्कम टैक्स को सात गुना कम करके
उससे माँग करता हूँ
अपनी तन्ख़्वाह में दो रुपये की वृद्धि
तो मालिक दाँतों को किटकिटा कर कहता है
—सुअर की औलाद!
इसलिए हे भगवान
अगली बार जब तुम मुझे जन्म देना
तो मुझको बना कर भेजना
आदमी की औलाद!

26 नवम्बर—भिंसार

तुम सैलानियों को मत कोसना
कि उन्होंने तुम्हारे देश की
सभी बेहतरीन चीज़ों को तुमसे ले लिया है
अब तुम्हारे बेटे को
यौन रोग नहीं होगा
वेश्याएँ अब उसके साथ सोयेंगी नहीं
तुम अपनी किस्मत को सराहो
हाँ! अगर तुम्हारा बेटा
तुमसे पूछ बैठे
पापा! लाब्स्टर क्या होता है
तो तुम उसे लाब्स्टर और झींगे की
सैलानी मेनू पर अंकित
रंग-बिरंगी तस्वीरें दिखा देना
फिर जब उसकी जीभ लपलपाने लगे
तो तुम उसे रोड्रिग से पहुँची
सूखी मछली के साथ
चीन से दान में मिले चावल परोस देना

और जब दीवारों के फिल्मी पोस्टरों से
उत्तेजित वह ज़िद्द करे वेश्या के लिये
तो तुम गोपालन अहीर की
अनेमिया ग्रस्त बेटी को
उसके सामने ला खड़ा कर देना
उससे कहना कि
उसकी गाय अब दूध नहीं देती
क्योंकि बड़े-बड़े रहमदिल देशों से
डिब्बे के दूध बहुत आ जाते हैं
अपनी गाय का ख़ून गोपालन अहीर
पिला गया सैलानियों को
अतिथि-सत्कार उसका धर्म था
धर्म की लाज रख ली उसने
लाज लेकर
सैलानी दे गये विदेशी मुद्राएँ
तुम सैलानियों को मत कोसना।

30 नवम्बर—सुबह

मेरी माँ ने मुझसे पूछा था
तुम मेरी मौत पर उतने आँसू बहा सकते हो
जितना मैंने तुम्हें दूध पिलाया
न बहा सका
ज़िन्दगी-भर नाकाम बेटा रहा।
मेरे गुरु ने मुझसे पूछा था
मेरे लिए एकलव्य का अँगूठा ला सकते हो
तुम गुरु-दक्षिणा में
न ला सका
ज़िन्दगी-भर नाकाम शिष्य रहा।
मेरी प्रेयसी ने मुझसे पूछा था
तुम मेरे लिए मेरी सालगिरह पर
तोड़ कर ला सकते हो एक सितारा
न तोड़ सका
ज़िन्दगी-भर नाकाम प्रेमी रहा।
मेरे वतन ने मुझसे पूछा था
तुम रेत के फूलों की माला गूँथ कर
पहना सकते हो चुनाव जीत गये नेता को
न पहना सका
ज़िन्दगी-भर नाकाम नागरिक रहा।

9 दिसम्बर—शाम

अलंकारों-आभूषणों के अभाव में
मेरी कविता को नंगी बेढंगी
जलील और अश्लील घोषित कर
उसे सज़ा-ए-मौत सुना दी गयी
उसके ऊपर से
अक्षर-अक्षर को नोच कर
बुलडॉग अल्सेशियन और
फ़ोक्स टेरिटरों के आगे
फेंक दिया गया
कविता की हड्डियों को चबाते कुत्ते
स्वामियों के सामने
अपनी चिकनी दुम हिलाते रहे
और मंचों से
हाव-हाव भाँव-भाँव गूँजते रहे।

13 दिसम्बर—भिंसार

चौराहे पर
तुम्हारी आदमकद मूर्ति बनेगी
क्योंकि
गौरैया को पिंजड़े से छुड़ा कर
उसे लपटों से धधक रहे आकाश में
छोड़ देने को
तुमने मुक्ति का नाम दे डाला है
इसलिए आकाश से भून-भून कर
ज़मीन पर गिरने वाले सभी परिन्दे
अपनी शहादत को सहर्ष स्वीकार रहे हैं
और बूढ़ा भेड़िया भी
तुम्हारा शुक्रगुज़ार है
तुमने उसके लिये जीवन-भर की
सहज व्यवस्था कर डाली
आजकल वह दौरे पर है
अन्य भेड़ियों के यहाँ
तहसील के लिये
तुम्हारी मूर्ति के वास्ते चौराहे पर
तुम्हारी आदमकद मूर्ति बनेगी।

20 दिसम्बर—शाम

तुम डरते थे कि कहीं

मुझे खंजर मार देते
तो तुम्हें भी मृत्यु-दण्ड
मिल जाता
इसलिए तुमने अपने खंजर के
सभी ख़ूँखार वार
मेरी कविताओं पर किये
मेरी कविताओं के ख़ून से
तुमने अपनी कई मरी हुई
इच्छाओं की इच्छाओं को
फिर से जीवित किया
और जब मेरी मृत कविताओं को
नवजीवन देने की चेष्टा
उन नवजवान गायक ने की
तो तुमने
उसे चुनाव में खड़ा कर दिया
कल उसे मंत्री बना दिया संस्कृति का
एक सितारे की तरह
एक मंत्री का जन्म
अख़बारों की सुर्खियों में हुआ
पर दो विकलांग कलाकारों के आँगन में
और नये पाँच वर्ष के लिये
कविता मर गयी
फैल गयी लिजलिजेपन की दुर्गन्ध
फिर एक युग के लिये।

26 दिसम्बर—सुबह

कितनी और शर्तों को अभी जीना है
ठाकुर का कुआँ अभी कितनी दूर है
वह कुआँ जो गाँवों में तब गहरा था
अब शहरों में कई मंजिलें ऊँचा है
ऊपर चढ़ गया पानी उतरेगा कब
कब मरेगी घीसू की पत्नी
कब नसीब होगा कफ़न खाना
जी-भर कर दो जून रोटियों की
वह नयी शर्त क्या होगी?

31 दिसम्बर—आधी रात

जब लोग उमंगों में भरे
नये साल की प्रतीक्षा कर रहे हैं
शामारैल के सतरंगे खेतों के बीच से
मेरे पूर्वजों की ख़ामोशी
मुझसे बातें करती है
ईख के विस्तार के बीच
जहाँ-तहाँ रावेनाल के झुरमुटों से
नंगी पीठों पर
ख़ूँखारते चाबुक की आवाज़ें
जिन्हें सुन पाते नहीं देख पाते
इतिहास नहीं दीखता
मेरी आँखों से आँसू नहीं बहे
कभी-कभार इतिहास बह जाता है
शामारैल के पार्श्व में
झरना झर-झर बहता रहता है हरदम
हरदम उसी से लय मिला लेता है
कुलियों का वह कराहना
उन पगडंडियों पर
खाइयों-दरारों के बीच
मेरे दादा की परछाईं
मेरी अँगुली थामे मुझे दिखाती रही
शामारैल की सतरंगी मिट्टी
जब डिस्को की सतरंगी रोशनी में
राह तकी जा रही थी नये वर्ष की
उन्हीं पिछले तमाम वर्षों का-सा
एक और वर्ष निकल जायेगा।

5 जनवरी—दोपहर

रोटी तुम्हारे पास भी है
रोटी मेरे पास भी है
फ़र्क़ बस इतना ही है
मैं अपनी सूखी रोटी
अपने ही आँसुओं में बोर कर
खा लेता हूँ
तुम अपनी घी की रोटी
मेरे जम आये ख़ून में बोर कर
खा लेते हो।

8 जनवरी—शाम

बूँद-बूँद ख़्वाहिशें जब समन्दर बन गयीं
इस मन असफलताओं को अपने गले से बाँध

मैं कूद पड़ा ग्री-ग्री की चोटी से
अपनी उन तमाम ख़्वाहिशों की
उस अथाह खबोर गहरायी में
मेरे बच्चे स्कूल की किताबों में पढ़ेंगे
सागर की गहरायी में
मोतियों के खजाने होते हैं।

17 जनवरी—सायंकाल

जिस दिन
तुम्हारी सालगिरह की खुशी में
दावतें चल रही थीं देश-भर में
उस दिन
झुलिया की रसोई में
मुट्ठी-भर ही आटा बचा था
रोटी आधी होती
इसलिए झुलिया ने
उस आटे से एक पुतला बना कर
अपने छोटे बच्चे को देते हुए बोली—
तुम्हारी सालगिरह की खुशी में
नन्हा सोनू भी खुश हुआ
अपने खिलौने से।

20 जनवरी—भिंसार

राजनेता भाषण देता रहा
जनता चुपचाप सुनती रही सुनती रही
आकाश नीचे को झुकता आया झुकता आया
नेता मुट्ठी बाँधे गरजता रहा गरजता रहा
आगे-पीछे नारे लगे तालियाँ बजीं
जनता झूमी जनता ने फूल बरसाये
भूखे बच्चे भी उछले-कूदे और
झुक आये बादलों को तोड़-तोड़ खाने लगे।

27 जनवरी—शाम

जो आदमी को रोशनी दे जाये
वह मजहब है शायद
जो आदमी को दिशा दे जाये
वह तामिल है शायद
जो समन्दर को रोटी बना दे
सूरज को कपड़े
हवा को जो महल बना दे
वह सियासत है मेरे दोस्त।

15 फरवरी—भिंसार

पत्रकार ने पूछा—
तुम्हारे देश का भविष्य
मैंने कहा—
कल मेरा देश एक द्वीप नहीं रहेगा
चारों ओर के समन्दर को
ये बड़े देश पी जायेंगे
अफ्रीका की मछलियों का उद्धार हो जायेगा
अब वे अशान्त हिन्द महासागर की
खलबली के बीच नहीं जनमेंगी
कल मेरा देश बड़े देशों से मिले
परमाणु अस्त्रों से लैस
सातवें बेड़े में निकलेगा
प्रशान्त महासागर को
डिब्बे की मछलियों के शिकार में
फिर मैंने पूछा पत्रकार से
इस टीन की छत के नीचे
मेरी ठण्डी रातें
तब कैसे गुज़रेंगी
और कब रुकेंगी
इस पुरस्कृत देश के बच्चों की आँखों से
झर-झर झरते ये बालू के दाने!
दूर देश से आया पत्रकार हँस पड़ा
सैनिक अड्डे से तभी
सुपरसोनिक हवाई जहाजों का हुजूम
रक्षा-हेतु सनसनाते-घनघनाते
हमारे देश की कर गये
घंटे में सातवीं परिक्रमा।

20 फरवरी—सुबह

डेढ़-सौ साल पहले
मुड़िया पहाड़ पत्थरों का था
वह अभिशप्त स्यन्तक भी रहा होगा
लेकिन इधर डेढ़ सौ साल से
मुड़िया पहाड़ पत्थरों का नहीं रहा
वह हाड-माँस का गवाह
गन्ने के खेतों के मज़दूर का

डेढ़ सौ साल से जो
गन्ने के खेतों में
हेर रहा सिक्के
सभी सिक्के मालिक के लिये
सभी कंकड़ अपने लिये।

28 फरवरी—आधी रात

हर सुबह एक सूरज
मेरी आँखों से उदित होकर
न जाने किस क्षितिज को
डूब जाता है
मैं तुम्हें तुम्हारा मुँह माँगा
वह तोहफ़ा न दे सका
इसलिए तुम अपने
चाँद के उजाले से
मुझे वंचित कर जाते हो
और घटाटोप रात में
मैं अपने खोये हुए सूरज को
कभी तलाश नहीं पाता।

9 मार्च—सुबह

विचारों की दुनिया में
यहाँ बुद्धिजीवी जीता है
साँसें लेता है चिन्तन में
ख़ामोश बने रहने के लिये
यहाँ का बुद्धिजीवी अपने दिल को
खोले रखता है
अपने सपनों के सामने
पर उधर की उठ आयी अँगुली के सामने
उसका दिल सिकुड़ कर
फेफड़े के भीतर चला जाता है
वह हाँ-में-हाँ मिला कर
जीवन का आश्वासन पा लेता है
और निश्चिंत होकर
चारपाई के नंपुसक चिन्तन की बगल में
सो जाता है
अपने तमाम ग्रन्थों का
आख़िरी वाक्य लिख कर
ख़ामोशी में परमानन्द लेता है।

12 मार्च—सुबह

दासता के बाद भी
मेरा बाप सौ साल तक दास रहा
आज़ादी के सौ दिन पहले से
मैं रंग-बिरंगे परिवर्तनों के
सुनहले सपने देखता रहा
आज़ादी के सौ घंटे भी नहीं हुए कि
आज़ादी की परछाईं ने
आज़ादी के अर्थों को
चुन-चुन निगल लिया
मधुर सुहाने गीत जिसके
पुरवाई के पंछियों संग स्वर मिला कर
दक्षिण की नदियों पश्चिम के पहाड़ों
और उत्तर के उमड़े सागरों ने गाये थे
बड़े देश दयालु देश फिर आ गये
अभावग्रस्त छोटे देश का हितैषी बन कर
विश्व बैंक ने तिजोरी खोल दी
मालिक सोंधे दिनों को भकोसते गये
और आज़ादी के बाद मेरा अपाहिज बेटा
सौ साल तक कर्ज़दार रहा
वह पहिये वाली कुर्सी पर बैठा गाता रहा
आज़ादी वह भैंस है जिसे हर
लाठी वाला दूह कर ले गया।

दूसरे मंथन की उपलब्धि

समुद्र मंथन के हज़ारों वर्ष बाद
सुर-असुरों के द्वारा
जब तुम्हारे आश्वासनों
और वचनों के मंथन पर
गरल-ही-गरल बाहर आया
तो देवता-दानव
इस दूसरे मंथन की
उफन आयी साँसत के बीच
आदमी को अकेला छोड़
भाग निकले महादेव के द्वार
बेवकूफ़ों ने यह नहीं जाना कि
शिव तो विष-पान कर सकते हैं
साँसत तो आदमी को ही पीनी है।

चाह

मैंने हर वक़्त
इसलिए जीना चाहा
कि मरने से बच जाऊँ
आज मरना चाह रहा
कि जी सकूँ।

'गुलमोहर खौल उठा' से कविताएँ

वह अनजान आप्रवासी

आज अचानक
हवा के झोंकों से
झरझराते झरते देखा
गुलमोहर की पँखुड़ियों को
उन्हें ख़ामोशी में झुलसते-छटपटाते देखा
धरती पर धधक रहे अंगारों पर
फिर याद आ गया अचानक
वह अनखिला इतिहास मुझे
इतिहास की राख में छुपी
गन्ने के खेतों की वे आहें याद आ गयीं
जिन्हें सुना बार-बार
द्वीप का प्रहरी मुड़िया पहाड़
दहलकर काँपा बार-बार
डरता था वह भीगे कोड़ों की बौछारों से
इसलिए मौन साधे रहा
आज जहाँ ख़ामोशी चीत्कारती है
हरियाली के बीच की तपती दोपहरी में
आज अचानक फिर याद आ गये
मज़दूरों के माथे के माटी के वे टीके
नंगी छाती पर चमकती बूँदें
और धधकते सूरज के ताप से
गुलमोहर की पंखुड़ियाँ ही जैसे
उनके कोमल सपने भी हुए थे राख
आज अचानक
हिन्द महासागर की लहरों से तैरकर आयी
गंगा की स्वर-लहरी को सुन
फिर याद आ गया मुझे वह काला इतिहास
उसका बिसारा हुआ
वह अनजान आप्रवासी
देश के अन्धे इतिहास ने न तो उसे देखा था
न तो गूँगे इतिहास ने
कभी सुनायी उसकी पूरी कहानी हमें
न ही बहरे इतिहास ने सुना था
उसके चीत्कारों को
जिसकी इस माटी पर
बही थी पहली बूँद पसीने की
जिसने चट्टानों के बीच हरियाली उगायी थी
नंगी पीठों पर सहकर बाँसों की बौछार
बहा-बहाकर लाल पसीना
वह पहला गिरमिटिया इस माटी का बेटा
जो मेरा भी अपना था, तेरा भी अपना।

ख़ूनी इतिहास

इतिहास बनाते-बनाते
जो दब गये थे इतिहास के नीचे
उन्हीं की लाशों को
गिद्ध के हाथों बेचकर
उस रकम से
बीच बाज़ार
पूरे इतिहास को उसने खरीद लिया
जिसके आदेश पर
इतिहास बनानेवालों पर
एक-एक कर लुढ़के थे
उस बनते-बनते इतिहास के
वे सारे पत्थर
और उसी के आदेश पर, उन पत्थरों से
खड़ी की गयी वह इमारत
जहाँ इन्साफ़ होता है आज
उसी के आदेश पर।

इतिहास की अस्मिता

नहीं चाहिए स्थान मुझे कोई विशेष
तुम्हारे इतिहास में

मैं तो उसमें
बिन स्थान पाये रहूँगा उपस्थित हमेशा
प्रश्न बोध चिह्न के रूप में।
इतिहास का अवशेष तो
खण्डहर होता है, पंजर होता है
प्रश्न जो अनुत्तरित
और भी बड़ा प्रश्न बना रहता है
प्रश्न का अवशेष प्रश्न ही रहता है।
नहीं चाहिए स्थान मुझे कोई विशेष
तुम्हारे इतिहास में
जब तक मैं प्रश्न हूँ
मुझे मृत्यु का भय नहीं
इसलिए इतिहास मेरी अस्मिता नहीं
मैं इतिहास की अस्मिता हूँ।

भगवान बुद्ध ने कहा था

भगवान बुद्ध ने कहा था—
कोई गाली दे तो
उसे स्वीकार न करो
रह जायेगी वह देनेवाले तक।
पर, मैं तो भूखा था
मेरा पेट खाली था
कई दिनों से, कई व्यवस्थाओं से
इसलिए जब फिर गालियाँ ही लगीं मिलने
तो मैं पुरानी व्यवस्था, नयी व्यवस्था
दोनों में मोहताज, दोनों में भूखा
उन गरम-गरम गालियों को
उस बासी चटनी के साथ
बोर-बोर खाता गया
जब तक पुरानी-नयी व्यवस्थाओं की भूख
मरी नहीं, मैं खाता ही गया।
उन बेशुमार गालियों को खाते-खाते
उन्हें पचाते-पचाते बेहज़्मी है मुझे
चिल्ला रहा हूँ मैं
चीत्कार रहा हूँ अब तो मैं
उस भूख से भी भारी दर्द से
इस बदहज़्मी की यातना से
मैंने नहीं मानी बात भगवान बुद्ध की
अब भुगत रहा हूँ सज़ा उसी की
मैं मर रहा हूँ जीते जी
बुद्धं शरणं गच्छामि।

फ़रिश्ता

तुम्हारी मुस्कानों से
लगा था तुम फ़रिश्ते हो
जब तुम बोले थे
लगा था तुम फ़रिश्ते हो
गाँववालों से गले मिले थे
तो लगा था कि तुम फ़रिश्ते हो
पर इधर जब से सुना है कि
ईसा के बाद फ़रिश्ते मुस्कराते नहीं
मंसूर के बाद फ़रिश्ते बोलते नहीं
गांधी के बाद फ़रिश्ते गले मिलते नहीं
तब से लगातार पूछ रहा हूँ अपने आपसे
तुम कौन हो, तुम कौन हो, तुम कौन हो?
तभी से तुम मौन हो
फिर पाँच वर्ष बाद जब तुम बोले कि
फ़रिश्तों को मौन व्रत रखना पड़ता है
तो लोग फिर पहुँच आये गुलदस्ते लिये
और फिर नारे लगाने लगे
तुम फ़रिश्ते हो, तुम फ़रिश्ते हो!

आशाएँ

जब दिन-दहाड़े
गाँव में प्रवेश कर
वह भेड़िया ख़ूँखार
दोनों के पहले बच्चे को
खाकर चला गया
दिन तब रात बनी रही
गाँव के लोग दरवाज़े बन्द किये रहे
रो-धोकर अकेले में
एक-दूसरे को दूसरे से
आश्वासन मिला
कोई बात नहीं अभी तो पड़ी है ज़िन्दगी
जन्मा लेंगे हम बच्चे कई
झाड़ियों के बीच पैने कानों से
एक दूसरे भेड़िये ने यह सुना

अपनी लम्बी जीभ लपलपाता रहा।

समानता

मों-स्वाजी के समन्दर से
चार क़दम आगे
देख आया मैं
चुनाव के दौरान
दिये गये वायदे पूरे होते
ग़रीब धनी के भेद को मिटते
ग़रीब तो नहीं मिला वहाँ
पर धनी सैलानियों को बालू पर पसरे
धूप में नंगे देख आया
अपने ही गाँव के
जमनी चाची के बच्चों जैसे
जमनी चाची के बच्चे पर अब
नंगे नहीं रहते
सैलानियों की मेहरबानी को वे
अब दिन-रात पहने होते हैं।

सितारा

अपने आँगन में
आम के पेड़ से
पहले एक पत्ते को
गिरते देखा
पर वह पत्ता नहीं था
आकाश में उड़ती
एक चिड़िया का
डैना था।
फिर गिरते देखा
एक पीले आम को
पर वह आम नहीं था
रात से बिछड़ा
एक तारा था।
मैंने डैने को
तारे से जोड़ दिया
तारा उड़ गया
रात की तलाश में।
तभी टूटे डैने वाली
एक चिड़िया
आ गिरी मेरी गोद में
उसकी छटपटाहट में
उड़ने की असफल चाह थी।
तभी से मेरे आँगन में
आम के पेड़ से
चिड़ियों का गाना बन्द है
तभी से ओझल है
मेरे अपने आकाश का
मेरा वह अपना सितारा
सुन रहा हूँ, मेरे इलाके में
एक और होटल बन रहा है पाँच सितारा।

क्या मालूम था मुझे

आया तो था वरदान लेकर
कि अँधेरा फट जायेगा मेरे स्वर से
क्या मालूम था मुझे
हर बोलने वाले को गूँगा बना देने का
तुम भी आये हो वरदान लेकर।
सोचा था अपने स्वर से
अपना एक सूरज तलाश कर
हर खाली मुट्ठी में भर-भर
हर आँगन को नया सूरज दे दूँगा।
क्या मालूम था मुझे
तुम्हारे शहर में
होता ही नहीं स्वर का असर
फिर भी
सूरज से नोच ही लाया कुछ किरणें
तुम्हारे शहर की काली रातों के लिये।
क्या मालूम था मुझे
तुम्हारे डर से
मेरी मुट्ठी की ये किरणें
पहले ही
बन गयी हैं भविष्य की लाशें
जिन पर हँसे जा रही हैं
तुम्हारे काले सूरज की चट्टानें।

दीवार

दीवार खड़ी की गयी थी
गाँव में भेड़िये का प्रवेश रोकने को

उस दीवार को गिरा दिया तुमने
दूसरी दीवार उन्हीं पत्थरों से
तुमने शहर में खड़ी कर दी
अपने बीच आदमी का प्रवेश रोकने को
अब गाँव में भेड़िये दिन दहाड़े आ जाते हैं
पर आदमी तुम तक
नहीं पहुँच पाता
अभी पाँच साल होने में
कोई पाँच साल बाक़ी हैं।

प्रतिमान

प्रतिमानों के सौदागर!
तुम्हीं ने कभी
मयाकोवस्की की कविताओं को सुनते ही
हाथ रख लिये थे कानों पर
उसकी मौत के बाद तुम्हीं तो थे
उसकी कविताओं को चिल्लाते फिरते रहे
लोगों की वाहवाही लेते
तुम्हीं ने कभी
पॉल एलूआर की कविताओं पर
पथराव करवाया था
और उसके घर शराब पी आने के बाद
तुम्हीं ने अपने चेलों से
उस पर फूलों की बौछार करवायी थी
तुम्हीं ने कभी
मुक्तिबोध को अबोध
और नेरूदा को बेहूदा कहा था
आज इन दोनों के हर ठौर पर
तुम करते फिर रहे जब जय-जयकार
यह तुम्हारी मर्जी पर है कि तुम
कविता को अटपटा और
अटपटे को कविता कह दो
दुम को सिर कह दो और सिर को दुम
मैं जानता हूँ कि तुम मुझे नहीं जानते
कभी किसी एक ही खेमे में हम मिले नहीं
इसलिए मेरी कविताएँ क्या हैं
तुम बता सकते भी नहीं
क्या नहीं हैं, यह बताना तुम्हें अधिक आता है
बस यही मुझे नहीं आता
क्या है मेरी कविता
इस विवाद को भूला ही दें
कुछ और ही कहना है तुमसे
ये मेरी छटपटाहट की कुछ अधूरी पंक्तियाँ हैं
जिनमें कविता बनने की छटपटाहट है
क्या इन अधूरी पंक्तियों के आगे
अपनी बड़ी पैनी कलम से
एक भी सही शब्द जोड़ सकने की
हिम्मत है तुम्हारे भीतर
प्रतिमानों के सौदागर!

सूरज फिर सोने लगा

विश्व की पहली कविता ने
ज़िन्दगी के वास्ते
प्यार का दरवाज़ा खोला होगा
उस पहले संगीत ने
ज़िन्दगी के वास्ते
शान्ति की धारा बहायी होगी
उस पहले चित्रकार ने
आदमी में आदमी का
निर्माण किया होगा
तीनों ने मिलकर
अँधेरा ओढ़े सूरज को
झकझोर कर जगाया होगा
आज शब्द, स्वर और रंग के अभाव से
सूरज फिर सोने लगा।

तभी तो

तब सूर्य-किरणों ने
उन कोड़े बरसाने वाले हाथों से
कहीं अधिक ताकत दी थी मेरे दादा को
तभी तो
उसकी पीठ की सख्ती आयी थी
उसकी बाँहों में भी
तभी तो वह पैदा कर पाया इतनी हरियाली
अब सूर्य-किरणों ने
मेहनत करने वाले इन हाथों से
अधिक ताकत मेरे आका को दे रखी है

तभी तो उसके दिल पर
उतनी सख़्ती आ गयी है
तभी तो उसके प्रति
लोगों में उतनी भक्ति आ गयी है।

पसीने की बूँद

भारी अकाल में
बिन बादलों के आकाश से
बेमौसम की एक मासूम बूँद
मेरे माथे पर टपक कर
मेरे कान में बोली हौले से—
तेरे माथे के पसीने की
मैं ही हूँ वह पहली बूँद
धूप के भय से
माटी में बह जाने के डर से
भाग गयी थी ठण्डी हवा के साथ
अब बादलों के छलावे से
बहशी हवा के आगोश से छूटकर
लौट आयी हूँ मुक्त होकर वहाँ से
जहाँ सोमरस के अभाव में
भटकते दानव से
पीने लगे हैं देवता सभी
ज़मीन से पहुँची
मज़दूर के पसीने की बूँदें।

शब्द

मैं प्रहार नहीं कर रहा शब्दों से
अपनी रक्षा भी नहीं कर रहा शब्दों से
शब्दों को मैं बेच-खरीद भी नहीं रहा हूँ
शब्दों से मैं बस अपना परिचय दे रहा हूँ
अपनी विशेषता का नहीं, अपने अस्तित्व का
अपनी विद्वता का नहीं, अपनी विह्वलता का।
शब्द ही मेरी अस्मिता
अतीत, भविष्य, वर्तमान मेरा
शब्द मेरी शक्ति
शब्द मेरी भक्ति
शब्द मेरा विद्रोह
शब्द मेरी अस्वीकृति।
उसे धमनियों से भय नहीं
काली कोठरी में दम घुटता नहीं
गोली खाकर उनका ख़ून नहीं बहता
मरी हुई मछली की तरह
धारा के साथ नहीं बहता।
अँधेरे में
शब्दों के सहारे
बिन भटके
मैं चलता रहा हूँ
हर पल की मौत में
अपने शब्दों के सहारे
जी लेता हूँ।

लेकिन

उतार लो मेरे कपड़े
खींच लो मेरी शाल
खाल तक नोंच लो
कर दो मुझे चिथड़े-चिथड़े
मुझे सूली चढ़ा दो
शूलों की खेती उगा दो
मेरे चारों ओर
अपनी आन-बान के लिये
चिता सजा दो मेरे लिये
मेरे द्वार पर धन का अम्बार लगा दो
या मेरे घर डकैतों को भेज दो
हड़प ले जायें मेरा क्षण-क्षण
मेरा तन-मन,
मेरे कण-कण भी ले लें
ज़ब्त कर लो मेरी हर आशा
छिनने नहीं दूँगा तुम्हें लेकिन
अपनी पहचान, अपनी भाषा!

दाने की तलाश में

मेरे आँगन में हर शाम
आम के पेड़ पर
एक स्वर में नींद से पहले
कलरव करके परिन्दे
भटकी हुई रात को वापस ले आते हैं
हर सुबह फिर वे ही परिन्दे
अँगड़ाई लेकर चहक उठते हैं

आवाज़ पाकर
भटका हुआ दिन लौट आता है
और डैनों पर सूरज को थामे
आदमी को भी अपने पीछे
आ जाने का संकेत देकर
परिन्दे उड़ जाते हैं फिर
उस ज़िन्दगी की तलाश में
जो मौत के क़रीब ले जाती है।

अपना सूरज

बाँझ रातों से जब
किसी भी सुबह का जन्म नहीं हुआ
तो सूरज की तलाश में
निकल पड़े हैं लोग
हाथों में मिट्टी के चिराग लिये
कागज़ की नावों पर।

इन्द्रधनुष का देश

नीले समुद्र का दूधिया किनारा
अमरीकी सैलानी के साथ साँवली वेश्या
मुँहबाये जापानी कैमरा
जीन्स की जेब में अकुला रहे
हरे-भरे डालर
आगे फैला पीला हाथ भिखारी का
खाली-का-खाली
चमचमाती सफ़ेद रेत पर पसरे
गेहुँये उरोज / गुलाबी जाँघें
टहल रहे मनचलों की पिपासित आँखें
मछुओं के बच्चों की काली मुस्कानें
वाटर-स्की से चिरी छाती लहरों की
उन्हें कराहते छोड़ झागों में
नारंगी क्षितिज से
भाग गया सूरज।

उन्हें गोली न लगे

मेरी कविताएँ
सलाम करने नहीं पहुँच पातीं
तुम्हारे दर तक
बार-बार अगर दौड़ जातीं
पददलितों की ही गली
तो क्या करूँ मैं
अर्थ जब छूटकर मुझसे
शब्द बन जाते हैं
और शब्द जब बन जाती हैं कविताएँ
तो मेरे बस में थोड़े रह जाती हैं
लगाम तो है तेरी मुट्ठी में
मेरी कविता की दिशा
तुम नहीं बदलवा पा रहे
तो क्यों न दूसरे हाथ में
चाबुक ले लेते हो
पर तुम्हारा वह दूसरा हाथ तो
लेन-देन में बझा हुआ है
पर इससे क्या
तुम्हारे और भी कई हाथ हैं
उन सभी में भी चाबुक थमा दो
अरे मैं तो भूल गया कि
वे सारे हाथ तुम्हारी स्तुति में
परस्पर जुड़े हुए हैं
फिर तो जब इतना बड़ा हुजूम
तुम्हारी प्रशस्ति में लगा हुआ है
तो मेरी एक कविता के
तुम्हारे सामने सिर न झुकाने से
क्या हो जाता है?
हाँ! एक काम तो तुम कर सकते हो
मेरी कविता के शब्द-शब्द को
छलनी करवा सकते हो
बस मेरी एक ही शर्त होगी इसके लिये
उन्हें मगर एक भी गोली न लगे
जिन लोगों की गलियों में
मेरी कविताएँ जीती हैं।

मैं भी चमार हूँ

तुम्हारी तरह मैं भी चमार हूँ
तुम चमड़ों के
मैं विचारों का।
तुम्हें मैंने देखा है
सख्त चमड़े को पीटकर
खींच-तानकर

मुलायम बनाते हुए।
तुम्हारी ही तरह मैं भी मेरे दोस्त
शब्दों को खींच-तानकर
सही अर्थ में लाता हूँ।
तुम्हें मैंने देखा है मेरे दोस्त
चमड़ों को काटते-सीते
तुम्हारी ही तरह मैं भी
अर्थों को देने के लिये
विचारों को
शब्दों से काटता-सीता हूँ।
तुम जूते बनाते हो, ताकि
आदमी के पाँव में
काँटे न चुभें
ताकि आदमी इज़्ज़तदार बन सके
ताकि कंकड़, कीचड़
आदमी के पाँव को खाये नहीं
मैं भी मेरे दोस्त
कविता रचता हूँ, ताकि
आदमी आदमी को खाये नहीं
मैं तुम्हारी ही जाति का हूँ
मैं भी चमार हूँ मेरे दोस्त।

जब भी

जब कोई मुनाफ़ाख़ोर शहर में
एक और गोदाम किराये पर ले रहा था
तो कहीं-न-कहीं चौराहे और गली-कूचों में
एक अधनंगा बालक ज़मीन से उठा रहा था
एक राहगीर के फेंके अधखाये सेब को।
जब किसी इन्टरव्यू के दौरान
चुन लिया जा रहा था
सिफ़ारिशी ख़त के साथ पहुँचने वाले को
तो एक रिसती छत के नीचे अँधेरे में
आत्महत्या को विवश
रस्साकशी करता था किसी नौजवान का मन।
जब नशीले पदार्थों की आमदनी से चमककर
कोई अध्यक्ष बनाया जा रहा था
किसी धार्मिक सभा का
तब कहीं अँधेरी गली में कोई नयी बनी बेश्या
खड़ी नज़र आ रही थी ग्राहक की तलाश में।
जब कहीं किसी सांस्कृतिक आयोजन में
किसी राजनीतिक नेता का
हो रहा था अभिनन्दन
तब कहीं चाँदनी रात में
खंजर बाहर चमक रहे थे
दो भाइयों के हाथों में।
जब भी बरगद के पेड़ पर
मैना और कौवे प्रेम-गीत गाने लगे थे
तो किसी घोंसले से गौरेया का अण्डा
छितर गया था।
जब किसी शहर में दो समृद्ध दुश्मन
एक-दूसरे से गले मिल रहे थे
तो कहीं किसी पड़ोसी गाँव में
दो दुर्बल मित्र शत्रु में बदलकर
अलग-अलग झण्डों के नीचे
जा खड़े हुए थे।
जब दो शक्तिशाली देशों के बीच
समझौते पर हस्ताक्षर हो रहे थे
आपसी सहयोग और विश्व-शान्ति के लिये
तब कहीं किसी अर्धविकसित इलाके में
दो देश बन्दूकों से नाप रहे थे सीमा-रेखाएँ।

अपनी परछाईं की प्रतीक्षा में

दौड़ती रही थी मेरे भीतर एक नदी
बर्फ़ गिरी जब दूर कहीं किलिमंजारो पर
मेरे भीतर तभी से जमती गयी वह नदी
देता रहा बेचैन आकाश
घुमड़ आये बादलों का छलावा
सूरज चमकता रहा दूर कहीं
हवाई के तटों पर
झुलसते रहे मेरे अपने भीतर के
सपनों के अंकुर
आकार लेता रहा फूजियामा मेरे जेहन में
हाहाकार करता रहा नियागरा
दहाड़ते रहे ग्री-ग्री के प्रलयंकर ज्वार-भाटे
मैं भीतर-ही-भीतर जूझता रहा सभी से
आँखों में लिये रहा लेकिन

सहारा की बोझिल ख़ामोशी
पाता रहा अपने इर्द-गिर्द
समय के घबड़ाये हुए
उसे भी भय है किसी भारी विस्फोट का
आज़ादी को अभी मुद्दत लगेगी
तुम्हारे फैलाये आतंक से मुक्त होने में
परिन्दे तेरे आँगन के परों से सिमटे
तुम्हारे फेंके दानों को चुगने से डर रहे हैं
किलिमंजारो की बर्फ़ पर
बही हैं जो लाल धाराएँ
वे किसी पहाड़ी जानवर के ख़ून की नहीं
फूजियामा के धधकते अँगारों पर
हाथ में सफ़ेद झंडा लिये जो चला जा रहा है
वह कोई मसीहा नहीं
मसीहा तो नहा रहा है तेरे हमाम में
मेरी आत्मा की छटपटाहट है वह
फूजियामा के अँगारों पर
नियाग्रा के झरनों तक
पता नहीं पहुँच पायेगी या नहीं
तपिश को डुबोने की कोशिश में
मेरी परछाईं ग्री-ग्री में डूबकर ऊपर नहीं आयी
लोग जब कहते हैं कि वह भी
नहा रहा तुम्हारे हमाम में
तो मैं अपने सिर के ऊपर सूरज को देखता हूँ
वह ठठाकर हँस पड़ता है
जानता है बिन परछाईं
उस तक नहीं पहुँच पाऊँगा
लेकिन
किलिमंजारों और फूजियामा से होती हुई
मेरी आत्मा की छटपटाहट
नियाग्रा और सहारा को पार कर आयेगी
तो सूरज जान ले इतना
तू भी खिंच आयेगा ज़मीन तक।

गुलमौहर खौल उठा

छुईमुई से लजीले उन फूलों को
जब तुम आँखें झुकाये तोड़ रही थीं
तो आँखें मेरी टिकी हुई थीं ऊपर को
जहाँ मेरी धमनियों के ख़ून-सी
अकुलाहट लिये
उफन आये थे
मेरे ख़ून से भी लाल गुलमोहर के फूल।
तुम जितनी शान्त बैठी रहीं
पूजा पर
मैं अपने में
उतनी ही खलबली
लिये रहा
तुम्हारे सामने थाली में
तुम्हारे ही बटोरे हुए
कई रंगों के फूल थे
मेरी छाती पर कौंध रहे थे
उष्णता, अकुलाहट
और विद्रोह के गुलमोहर।
तुम आज भी सोचती हो
भगवान् को रिझा लोगी
और मैं
फाँसी की सज़ा से बच जाऊँगा
तुम कभी नहीं समझोगी मेरी बात
अपने इन हाथों को मैंने
बकरे की बलि से लाल नहीं किये हैं
ये तो रँगे थे उस भेड़िये के ख़ून से
जिसे मैंने और तुमने
भेड़ समझकर
दिखा दिया था बस्ती का रास्ता।
मेरे अपने भीतर
आज फिर खौल उठा है गुलमोहर
और मैं
अपने हाथों को एक बार फिर
लाल करना चाह रहा हूँ
उस मूर्तिकार और उस कवि के ख़ून से
जो शाही खजाने से
बना रहे हैं
उस भेड़िये की मूर्ति
और लिख रहे हैं
उस पर एक दूसरा पृथ्वीराज रासो।

'लरजते लम्हे' से कुछ कविताएँ

तथा कुछ असंकलित कविताएँ

अँधेरा

बूढा हो चला है सूरज व्योम-परिक्रमा में
उसकी रोशनी को निगल चुकी हैं काली रातें
फैलता जा रहा अब दिन दहाड़े अँधेरा
बिल्ली कबूतर से कर रही शादी का प्रस्ताव।

पसीना

बादलों से ढाँपे रहो इस बेरहम सूरज को तुम
अँगारे भरी किरणों को
मेरे आँगन में मत आने दो
अपने फूलों को मैंने पानी नहीं
पसीने से सींचा है
कह दो सहमे सूरज से
कि वह बर्फ़ीले देश पहुँच कर तो दिखाये।

फूल दर्द के

जब-जब मुझे दर्द हुआ है
मैं उसे बीज मानकर ज़मीन में बोता रहा हूँ
दर्दों की फुलवारी उग गयी है मेरे आँगन में
अब मैं दर्दों के फूलों पर
तितलियों को मँडराते देखता रहता हूँ
और बन जाना चाहता हूँ मैं भी तितली
दर्दों की पँखुड़ियों से मधु की इच्छा में।

मकबरा

कहते हैं मकबरों को अँधेरे में
सुकुन मिलता है
पर उसे अपने ही घर में
रोशनी से डर लगता है
इसलिए उसने अपने घर को
मकबरा बना रखा है।

आदमीयत

चारों ओर धमाकों का धुँधलका
भयावह जंगल गुनाहों का
ख़ून-खराबे के हाहाकार
भुखमरी के चीत्कार
दो तानाशाहों की लड़ाई में
मारे जा रहे जन्मे-अजन्मे बच्चे
दूध के लिये तड़प रहे बच्चों के ख़ून से
बिलखते लोगों के आँसुओं से
बुझाई जा रही बन्दूकों की प्यास
क्षितिज की तलाश
मकड़े की तरह अपने ही जाले में
मैं आज़ादी का जंग लड़ रहा हूँ
सूरज अब मेरी आँखों से ही उगकर
उसी में डूबा जा रहा है
आदमी ही आदमीयत का जनाजा
कन्धों पर लिये जा रहा है।

नयी सभ्यता

कल हमारी कुटियों में बिन पूछे
तूफान दाख़िल हो जाते थे
आज हमारे घरों में बिन दरवाज़े खटखटाये
जो चले आ रहे हैं
उनसे हमारी दीवारें और छतें नहीं
हमारी बुनियाद चरमरा रही है।

लोरी

रात में टी.वी. के भयानक चेहरों से डर कर
बच्चा दादी की गोद में चला जाता है
पर दादी को लोरी अब आती ही कहाँ है।

नया आदमी

पुरवाई को मुट्ठी में बन्द कर
तुमने जो नयी हवा बहाई
उसमें पौधे भी हरे दिख रहे हैं
आदमी भी साँस ले रहा है
पौधों से फूल और आदमी-से-आदमी
मगर ओझल हो गये।

अजनबीपन

मेरा अपना सुन्दर द्वीप अब मुझे
पराया दिखने लगा है

अपने ही लोगों में अपने को
अनजाना पाने लगा हूँ
अब तो मैं खुद अपने लिए भी
अजनबी बन गया हूँ
क्योंकि अपने द्वीप को मैंने नहीं चाहा
तुम्हारा द्वीप बन कर रह जाये।

प्रेम की सज़ा

ज़रूर कहा होगा पॉल ने विर्जीनी से
कि मैं तुम्हारी माँग को सिन्दूर से नहीं
पूर्णिमा के चाँद से चुरा लायी
एक चुटकी चाँदनी से भरूँगा
बस उस विद्रोही चाह की सज़ा भुगत रहे हैं
बाढ़ से उमड़ आयी नदी के दो किनारों पर
न मिल पाने की बेबसी में आज भी दो प्रेमी।

अनहोनी

अपने आँगन में मैंने
आस के जो पौधे लगाये थे
चन्द्रग्रहण की काली रात के बाद
सुबह मैंने देखा उन के ऊपर
बेशुमार कुकुरमुत्ते उग आये थे
और तितलियाँ चमगादड़ बनकर
पेड़ की निपाती टहनियों पर जा लटकी थीं।

अनुभवहीनता

तुम्हारे यहाँ से लौटने के बाद
यह क्या हो गया है मुझे
दिन ठिठक गया है
रात चिपक गयी है भिनसार से
फँस गया है कीचड़ में
सूरज के रथ का पहिया
न गरमी का अहसास न ठण्ड का
यह क्या हो गया मुझे
तुम्हारे यहाँ से लौटने के बाद
पँखुड़ियों पर की शबनमी बूँदें
तेजाबी बूँदों में टपक रही हैं।

चिराग

मैं जब बच्चा था मेरे भीतर
एक फूल खिला रहता था
आँखें मूँदे मैं उसे देखा करता था
लेकिन जब मैं जवान हुआ
तो एकाएक एक दिन
मेरे भीतर का वह फूल
नागफनी में बदल गया
आज जब मैं ज़िन्दगी को लगभग जी चुका हूँ
मेरे भीतर एक चिराग जल रहा है
केवल उसी चिराग को मैं यहाँ
छोड़ जाना चाहता हूँ।

मैं

कौन कहता है मैं नहीं था तब
जब इतिहास बन रहा था
जीया जा रहा था इतिहास जब
जब दासों के पाँवों में जंजीरें बँधी थीं
उन जंजीरों की खनक और
दासों की यातनाओं के बीच
वह चीत्कारती ख़ामोशी मैं ही तो था
जब इतिहास बन रहा था
कौन कहता है मैं नहीं था तब
गन्ने के खेतों के मज़दूरों की पीठों पर
जब मालिक के कोड़े बरसते थे तब
वह लाल पसीना मैं ही तो था
आज बेशुमार बूँदों में
बेशुमार पन्नों पर बिखरे
तुम्हारे हाथों की किताबों में मैं ही तो हूँ।

चापलूसी

आँसुओं से ठगे जाने के बाद से
मगरमच्छों के सोते समय अब
मछलियाँ सोते हुए आँखें बन्द नहीं करतीं
अब छोटी मछलियाँ ही
छोटी मछलियों को खाकर
बड़ी मछलियों के दरबार में पहुँचने लगी हैं।

नये भगवान

तुम्हारे गलियारे ही से मुझे लौटा दिया गया
क्योंकि मेरे पास
कोई 'आईडेंटिटी कार्ड' नहीं था
मैंने बार-बार कहा तुम्हारे रखवारों से

कि मैं भगवान का चेहरा हूँ
और बार-बार मुझसे यही कहा जाता रहा
भगवान तो अभी यहाँ से होकर
अपने दफ़्तर में गये हैं
उसकी सूरत तुम से नहीं मिलती।

परदेसी

कैसे मान लूँ कि तुम मेरे ही देश के हो
तुम तो कभी गन्ने के खेतों के बीच
ओस की बूँदों में नहायी पगडंडियों पर
चले ही कहाँ
तुम्हारी कोई बूँद पसीने की
कभी टपकी ही नहीं
प्यासी धरती की नंगी छाती पर
तुमने कभी समन्दर की आँधियों को
अपने भीतर महसूस किया ही कहाँ
क्या तुम मुड़िया पहाड़ के बोझ को
अपने सिर पर लिये कभी चले हो धूप में
कैसे मान लूँ कि तुम मेरे देश के हो
कभी तुमने उगाया है गुलमोहर का कोई पौधा
ज्वालामुखी की छाती के बीच
शामारैल की सतरंगी माटी पर
तुमने देखा है कभी प्रचण्ड तूफ़ान में इन्द्रधनुष
क्या सिर्फ़ इसलिए तुम्हें
अपना देशवासी मान लूँ
क्योंकि स्कूल के बच्चों के बीच
चौरंगा फहरा आये हो तुम
बूढ़ी हो गयी आज़ादी के जश्न पर।

जागरण

शाम की नीरवता में
गोधूलि को अपने में लपेटे
उस दिन का वह गहन धुँधलका
सचमुच प्रलय अपनी शुरूआत
की आगाही दे रही थी
जब विश्व स्पन्दन रहित हो गया था
कहीं नहीं था प्रकाश का
कोई भी एक धूमिल-सा आभास
तब हम दोनों ने अपने-अपने भीतर से
रोशनी की बची-खुची किरणों को
बाहर लाकर उससे
एक छोटा-सा सूरज पैदा किया था
फिर उसी सूरज के मन्द प्रकाश में
बूढ़े सूरज को पिलाया था
प्रसुप्त मृगकुण्ड के
ज्वालामुखी का ठण्डा पानी
धीरे-धीरे चेतना पाकर सूरज
उछल कर आकाश पर जा पहुँचा था
आज जब मैं उस सूरज को
फिर थक कर अवकाश लेते देख रहा हूँ
तो तुम मेरे सामने नहीं हो
और मैं जानता हूँ कुछ पल ही में
फिर से अँधेरा छा जायेगा और
सूरज को नींद से जगाने के लिये
विश्व के पूर्वी भाग के सभी परिन्दे
तारों के झिलमिलाते संगीत के साथ
समूह-सुर में जागरण-गीत शुरू कर देंगे।

नये व्यापारी

अपने नंगेपन को छिपाने के लिये
कुछ लोग वक़्त को नंगा करने लगे हैं
हथेली में केसर उगाने का
दावा करने वालों की
जब हथेलियाँ बंजर प्रमाणित होकर रहीं
तो वे उगाने से पहले सपने बेचने लगे हैं।

विवशता

मैं एक शरीफ़ आदमी था
एक बेकार आदमी था
बेकारी से तंग आकर तुम्हारे दरबार में पहुँचा
मैंने अपने लम्बे दिनों के सभी क्षणों को
तुम को बेचना चाहा
तुमने मेरी बेकारी खरीदनी नहीं चाही
इसलिए मैंने तुम्हारे हाथ
अपनी शराफ़त बेच दी।

ख़बर

तुम्हारे घर बिल्ली मरी
अख़बारों में ख़बर आयी

आदमी मरा मातम मनाया गया
और जब अचानक आदमीयत मरी
लोगों को इसका पता तक नहीं चला।

मेरी कविताएँ

मैंने कविताएँ लिखी हैं
समन्दर की बूँदों से
मैंने कविताएँ लिखी हैं
अमृत-मंथन के बाद निकले विष से
मैंने कविताएँ लिखी हैं
ज्वालामुखी से चुन लाये अँगारों से
इसलिए मेरी कविताओं से
अँधेरे से कहीं अधिक
रोशनी घबराती है।

टेलीविजन

मेरी माँ जब कहानी सुनाती थी
तो न समझ में आने वाली बातों पर
मैं सवाल कर उठता था
मेरी माँ सवालों का जवाब देती थी
अब कहानियाँ सुनाता है टेलीविजन
कई बातें समझ में नहीं आतीं
सवाल करता हूँ पर
टेलीविजन जवाब नहीं देता
इसलिए बिन समझी बातों पर भी
मैं बारी-बारी से हँस लेता हूँ।

अर्घ्य

अब तक के सभी देवताओं को
हम चढ़ाते रहे अपने हिस्से के आटे का प्रसाद
अब इन देवताओं को चढ़ा रहे हैं हम
अपने बच्चों के हिस्से का दूध
और अपनी अर्थियों के फूल।

भ्रम

मैंने सोचा था तुम्हारे आने से
नदी की रुकी हुई धारा फिर से गति पा लेगी
मैंने सोचा था तुम्हारी आवाज़ उठने पर
डालियों पर सहमें बैठे परिन्दे
फिर से चहक उठेंगे
मैंने सोचा था तुम्हारे आते ही
दुप मिलाने वाले खुशामद करने वाले
तुम्हारे गलियारे से दूर चले जायेंगे
पर यह तो कुछ और होकर रह गया
अब तो पानी के बुलबुले
अँगारों की तरह धधक उठे हैं
अब डालियों पर कौए बैठने लगे हैं
तुम्हारे गलियारे में अब वे
भीख माँगते नज़र आ रहे थे
लोगों ने सोचा था
उनकी नींद चोरी नहीं जायेगी
उनके तो अपने सपने ही विकलांग हो गये।

सत्य का चेहरा

लोगों ने सुना कि आकाश से उतर कर
पहाड़ के नीचे सत्य खड़ा है
लोग दौड़ आये चारों दिशाओं से
देखा सत्य के उस स्वरूप को
बताते फिरने लगे लोगों को
सत्य की वह छवि
देखने सुनने वालों ने मिलकर शहर में
बनानी शुरू की उस मूर्ति की प्रतिमूर्ति
और जब मूर्ति बन कर तैयार हुई
तो लोग आश्चर्य चकित उसे देखते रहे
वह तो सच के आधार पर बनी
झूठ की मूर्ति थी।

चेहरे दो

गाँव की लछमिया जब भी
गले में सोने का हार पहने बाहर आयी
लोगों ने उसे नकली हार समझा
पड़ोस के उद्योगपति की पत्नी सुनन्दा
जब भी नकली हार पहने बाहर निकली
लोगों ने उसके गले के गहने को
सोने का हार समझा।
मेरी अनपढ़ माँ परियों की
कहानियों के बीच कहा करती थी
छोटा आदमी जब कोई छोटी गलती करता है
वह बहुत बड़ी गलती बन जाती है
बड़ा आदमी जब बड़ी गलती करता है

वह बहुत छोटी गलती मान ली जाती है
लोगों की परख की तरह
सत्य के भी दो चेहरे होते हैं।

रजनीगन्धा

तुम्हारी सुगन्ध से मुझे यह विश्वास तो था
कि तुम मेरे आँगन में खिलती हो
पर तुम्हें ढूँढ कर भी जब देख नहीं पाया
तो अब यह मान कर चल रहा हूँ कि तुम
रात की रानी ने होकर भी
उजाले से डरती हो
तभी तो केवल अँधेरे में खिलती हो
मेरे आँगन में तो सपने उगते हैं।

चुम्बन

अपने होठों से मुझे शहद पिलाकर
तुम जब जाकर लौटी ही नहीं
तो लग रहा है कि तुम तो
मुझे एक गिलास समन्दर पिला गयी
और अब मेरे भीतर प्रवाल-रेखा के बीच
ज्वारभाटे दहाड़ते रहते हैं।

त्रिशंकु

उफन रहा है मेरे भीतर एक समन्दर
और अपने में छेद लिये एक नाव
भीतर सारे संघर्षों के बावजूद
न आगे बढ़ रही है
न ही डूब पा रही है
त्रिशंकु ही बनी रही।

दान

मैं महादानी कर्ण नहीं हूँ
फिर भी दे दी तुम्हें अपनी
सभी हस्त-रेखाएँ दान में
अब तुम मुझसे मेरे
जीवन-भर के दर्दों को माँग रहे हो
ये दर्द ही तो सदा मेरे रहे हैं
कैसे दे दूँ तुम्हें अपनी यह सम्पत्ति
मैं महादानी हरिश्चन्द्र भी तो नहीं
हाँ, दधीचि ज़रूर रहा
तभी तो तुम विजेता रहे हर बार।

सहयात्री

मेरे-तेरे बाप पहुँचे तो थे यहाँ
एक ही जहाज से
लेकिन मेरे दोस्त
मेरे बाप को पत्थरों के नीचे सोना नहीं मिला
मैं लाँघ न सका
विश्वविद्यालय की दहलीज को
इसलिए मेरे दोस्त
तुम जैसी सभ्य बोली मैं बोल नहीं पाता
और न ही लिख पाता हूँ तुम जैसी शुद्ध भाषा।

तलाश नये मसीहा की

इस गुंजल्क में मैं भी
आज का अख़बार बन कर रह गया हूँ
अपनी आवरण-कथा के लिये
नायक तलाशते हुए
अख़बार बार-बार
खलनायकों की तस्वीरें
पहले पृष्ठ पर छापे जा रहे हैं
मैं भी किसी नये मसीहे की तलाश में
तुम्हारे ही सामने आ खड़ा हुआ हूँ।

आकर्षण

आम के पेड़ के नीचे
छिटकी धूप के टुकड़ों को
छाँव के साथ आँख-मिचौली खेलते
देख रहा था
कि तभी तुम अपनी
भीनी-भीनी गन्ध के साथ
मेरे घर के आगे से होकर आगे निकल गयी
तुम्हारे आँचल से उत्तेजित झोंका आया
पेड़ के सभी पत्ते टूट-टूट कर
उड़ गये तुम्हारे पीछे
पेड़ के नीचे अब केवल
धूप-ही-धूप रह गयी।

आईना

तुम्हारी आँखों में अपने को देखकर
मैंने तुमसे कहा कि तुम मेरा आईना हो
तुम ठहाके लगाकर चुप रह गयी थी

आज तुमसे दूर
तुम्हारी हँसी का कारण समझ में आया
अब जान पाया कि आईना तो
बस उसी का होता है तब ही तक
जो जब तक उसके सामने खड़ा रहता है।

नयी पौध

विस्तृत फैले छतनार के नीचे
जंगल उग आया है बरगदों के बोनसाई का
बौनों के शहर में
चूहों का हजूम टाँगों पर खड़ा
चाँद को कुतर रहा है
और आदमी के भाग्य के रेगिस्तान में
जहाँ कुत्ते ने नागफनी के ऊँचे पेड़ के नीचे
अपनी दाँईं टाँग उठायी थी
बेशुमार कुकुरमुते उग आये हैं वहाँ।

छोटे-बडे आदमी

बार-बार न जाने क्यों
मैं यह जानने को अधीर रहा
कि दिन रात की हत्या करता है
या रात दिन की
आदमी हर रात छोटी-छोटी मौतों को
क्यों मरता है
मैं बार-बार यही सवाल अपने से करता रहा
ये हमारे कन्धों पर खड़े बड़े लोग
अस्पताल को छू रहे हैं
या हम छोटे लोगों को ये
धरती में धँसाते जा रहे हैं।

दृष्टि

जब-जब तुमसे नीचे खड़े होकर तुम्हें देखा
तुम मुझे बहुत बड़े बहुत ऊँचे दिखायी पड़े
लेकिन आज तुम मुझे बौने दिख रहे हो
क्योंकि आज मैं घुटने टेके
तुम्हें नहीं देख रहा हूँ।

प्रमाण

सौभद्र को अपनी मृत्यु का दु:ख नहीं
उसे तो इस बात का दु:ख है
कि चक्रव्यूह में उसे महारथियों ने नहीं
बल्कि कायरों ने मारा
अर्जुन-पुत्र को इस बात का दु:ख नहीं
कि उसके अपने जनों से उसकी रक्षा नहीं हुई
दु:ख उसे इस बात का है
कि अपनों ने अपने होने का प्रमाण नहीं दिया।

ये लोग

ये जुए में पत्नियों को हारे लोग हैं
औरों की सफलता से दु:खी लोग हैं
इनके पास अपनी कोई फुलवारी नहीं
ये औरों की फुलवारी रौंदने वाले लोग हैं।

प्रतिकूल प्रेम का परिणाम

तुम कहती हो मेरी यादें
तुम्हारे दिल में चुभती हैं
कहीं मेरी यादों के आँगन में तुमने
कैक्टस का पौधा तो नहीं उगाया है
मेरी तरह रजनीगन्धा के पौधे लगाये होते
तो मेरी यादों में तुम्हारी साँसें भी
लम्बी साँसें लेती होती उस सुगन्ध के लिये।

धोखा

चाँदनी रात की तन्हाई में
पुरवाई से फूलों की गन्ध आती है
तो मैं चाँद से नज़रें हटा कर
रास्ते की ओर देखता हूँ
तुम्हारे बदन की
गन्ध का यह धोखा
बार-बार हुआ है
और जब पेड़ों की
सूखी पत्तियाँ खड़खड़ाती हैं
तो भी भ्रम होता है
तुम्हारी चूड़ियों के बजने का।

मिलन

तुम आख़िर जब मान गयी
नदी किनारे मिलने को
तो मैं एक रात पहले ही
आसमान से एक तारा तोड़ लाया
पर तुम जब आयी और माथे पर
चाँद की बिंदिया लिये

तो मैंने अपने हाथ के तारे को
धीरे से उड़ जाने दिया।

परिभाषा

तुम कहती हो कि प्यार तो
प्यार करने वालों से बड़ा होता है
मैं कहता हूँ कला भी
कलाकार से बड़ी होती है
अब क्या परिभाषा दूँ
अपनी रचनाओं को
जिनमें मेरी कविताओं के साथ
मेरे-तेरे अधूरे सपनों की साँसें बसती हैं
तुम हो कि कह जाती हो कि
आनन्द से बड़ी होती है पीड़ा।

शत्रु प्रेम के

हम मिले थे जुड़े थे और दो से एक हुए थे
जाति और धर्म की पैनी धारों ने
बहुत चाहा हमें एक-दूसरे से जुदा करना
हमसे पहले कई प्यार करने वालों ने
उन पैनी धारों को गरदनें दे दीं
पर मौत के बाद भी हाथ थामे रहे
हम तो जीवित हैं पर जिस सफ़ेद कबूतर को
हमने मुक्त किया था
वह तड़प रहा है धर्म-पताकों के बरछों पर
खून की बूँदें टपक रही हैं
दो खुशहाल शत्रुओं के बीच।

रेत पर लिखी कविताएँ

जो पदचिह्न तुमने छोड़े थे
बालू पर
मेरे पदचिह्न के आगे-आगे
उन पर मैं लिखता गया था जो कविताएँ
जिन्हें आ-आ कर लहरें समेटती रहीं
तूफ़ानों को शान्त करने के लिये
लहरें उन्हें वे कविताएँ बाँटती रहीं
और आज दुनिया को सुना रहे
हवा के झोंके
मेरी-तेरी विरह की कहानियाँ।

तलाश प्रेमियों की

गन्ने के खेतों के बीच की
जिन पगडंडियों पर हम तुम
कभी चला करते थे
वे पगडंडियाँ आज हमें ढूँढते
हमारे घर पहुँच आयी हैं
यह पूछने कि अब प्यार करने वाले
कहाँ मिलते हैं।

प्रेम

तुम मेरे लिये जो फूल लाती थी
उनमें शामारैल के पूरे सप्तरंग हुआ करते थे
और जो कविताएँ मैं तुम्हें सुनाता था
वे अपने में ग्री-ग्री का उफान लिये होती थीं
उन दुधिया झागों को तुम अँगुली में ले कर
अपने चेहरे पर लपेट लेती थी
और माहौल रजनीगन्धा बन जाता था।

चाँद पूर्णमासी का

जब भी किसी लम्बी ख़ामोशी के बाद
तुम बोली हो
तो लगा है कि कोई बच्चा
सपने में हँस पड़ा हो
और अँधेरी रात में अचानक पूर्णमासी का
चाँद चमक आता है
जब तुम निर्धारित समय के एक घंटे बाद
दूर से आती दिखायी पड़ती हो।

एक पत्रकार की डायरी से

जानता हूँ मैं उन्हें
त्रू-ओ-बिश और ग्राँ-बे के उन मछुओं को
जिनके साथ आह-पींग की दुकान में
मैंने सिर्फ़ शराब नहीं पी थी
बल्कि जिन्हें जाना था बहुत क़रीब से भी
त्रू-ओ-बिश से ग्राँ-बे तक के
समन्दर की छाती पर
सौ मछुओं के जीवन भर की कमाई से महँगी
हिलोरें ले रही वे नावें
और उनकी मौजुदगी में अब
गाब्रियेल और उसके साथियों के

पाँवों को अब
बंगलों के सामने की लहरें छू नहीं पातीं
उस पहले की मुक्तता के साथ
जब भी गाब्रियेल और उसके साथी ने
बंगले के सामने
यह कह कर किया उन्हें पढ़ना नहीं आता
पार किया 'पासाज़ एंतेर्जी' की सीमा को
खूँखार कुत्तों का झुण्ड उन पर लपक कर
विवश कर ही दिया उन्हें
उस मौन-वर्जना को स्वीकार कर जाने को
इलाके के सबसे मनमोहक
सबसे शान्तिदायक स्थलों से दूर रह जाने को
अपने बौनेपन का अहसास करके भी
समन्दर की छाती पर अधिकार पाये
उन बड़ी नावों के आगे-पीछे से पार
जहाँ से 'प्रतिबन्धित इलाके' का
तख्ता दिखायी नहीं पड़ता
गाब्रियेल और उसके साथी
निकाल ही लेते हैं
अपनी-अपनी छोटी नावों को
बिन जाने ही उन बड़ी नावों की दिनचर्या
मेरे ये दोस्त इतना ज़रूर जानते हैं कि
वे नावें मछलियाँ फँसाने के काम नहीं आतीं
उनसे नहीं आती समन्दर की
बिसाँइंध गन्ध भी
त्रू-ओ-बीश और ग्राँ-बे के समन्दर-तट पर
ज्वारभाटे तरंगों की थपकियों में
बदल जाते हैं
और कोई सैलानी पेड़ों की आड़ में
ढल रहे सूरज को
अपने कैमरे में क़ैद कर लेता है
आज़ाद रह जाता है पर समन्दर का धुँधलापन
उस धुँधलेपन में एक शहरी
किसी सैलानी को पुड़िया थमा कर
अमरीकन डालर रख लेता है
अपनी जेब में धीरे से
समन्दर की बूँदों को
अपने बदन पर लिये एक विदेशी
देश वालों को अप्राप्य
एक सुन्दरी की कमर में हाथ डाले
सामने से गुज़र जाता है
रह जाती है हवा में
नशीली सिगरेट के धुँयें की गन्ध
गाब्रियेल की जिन आँखों में कभी
समन्दर के रंग हुआ करते थे
अब वे अपने में लिये होती हैं
सस्ती अंगुरी शराब की ख़ुमारी।
पुरानी नाव की मरम्मत के वास्ते
सहकारी बैंक से उधार की
गाब्रियेल की उम्मीदें अभी भी बनी हुई हैं
महीनों बाद भी
सामने के किसी होटल में
केवल दिन भर के दो किरायेदार
बन्द चारदीवारी के भीतर
फिसलते जा रहे समय से अनभिज्ञ
अपनी ही साँसों के शोर से सुन नहीं पाते
एक बच्ची का रोना
जो बाहर ऊब चली है माँ के इन्तज़ार में
उधर माँ का घण्टा-मिनट बना हुआ था
और बच्ची का मिनट घण्टा-सा लम्बा
कुछ लोग बालू पर
एक पुरानी उंढ़ली नाव की बगल में बैठे
ताश के खेल में मशगूल
रेडियो से प्रसारित हो रहे समाचार के दौरान
ध्यान ही नहीं दे पाये फिर से
बाज़ार में तीन-चार चीज़ों के
बढ़ आये भावों पर
गाब्रियेल के सभी वे मछुवे तो बस खुश थे
बेच कर अपने ही देशवासियों से
अपनी मछलियाँ सैलानियों के दाम
अब "एन-ची-कारी" कह कर
उनके सामने जाने की
अपने दोस्तों को दो छोटी मछलियाँ
भेंट नहीं कर पाता
ना ही एक गुड़की शराब की माँग की
हिम्मत कर पाता गाब्रियेल अब

अपनी शर्म की जिस लालिमा को
पानी पर छोड़ गया था सूरज
वे लेने लग गयी थी धीरे-धीरे
कालिमा का रूप
उन महलनुमा बड़ी-बड़ी नावों में
जिन्हें गाब्रियेल की दोनों बच्चियाँ
जहाज़ कहा करती थीं
रोशनी जगमगानी शुरू हो गयी थी
कुछ दूर पर के चार सितारे होटल से
हो रही उत्तेजक धुन पर
रोशनी की परछाइयाँ
नाचने लगी थीं समन्दर के ऊपर
उन बड़ी-बड़ी नावों में से कोई एक नाव
अँधेरी रात को चीरती हुई आगे बढ़ती गयी
किसी प्रेमी की तरह
अपनी प्रेयसी से दूर के किसी जहाज़ से मिलने
गाब्रियेल की पत्नी गाब्रियेल से कहीं अधिक
उस टोकरी की प्रतीक्षा में खड़ी रही
जिसके साथ उसने गाब्रियेल को
दुकान भेजा था
लिये आ रही थी हवा
आस-पास के होटलों से
एक साथ कई व्यंजनों की खुशबुएँ
डिब्बे की मछलियों के बढ़ आये भाव पर
गाब्रियेल झगड़ पड़ा था बूढ़े दुकानदार से
कुछ ही क़दमों पर के एक होटल से
अँगारों पर भुनी जा रही
मछली की गन्ध आ रही थी
और आ रहे थे अन्तरालों में
मन्दिर और गिरजाघरों से घण्टों की आवाज़ें
और मस्जिद के
लाउड स्पीकर की प्रतिध्वनियाँ
'ताज़ा मछली और डिब्बे की मछली' नामक
मेरा वह लेख
पसन्द नहीं आया था सम्पादक को
वह आज भी बन्द है दराज़ में
आज महीनों बाद जब सुना कि
मेर अख़बार के सम्पादक ने
एक बड़ी नाव खरीद ली है
याद आ गयी मुझे बहुत दिनों बाद
गाब्रियेल की कहानी।

अपने माहौल के प्रति

अपने माहौल के प्रलयंकर संगीत को
जो गूँज रहा है आधुनिकता के नाम पर
कुछ मध्यम करके सुनो!
एक खटखटाहट तुम्हारे
दरवाज़े पर उभरती है
खोल कर देखो अपने मोटे दरवाज़े को
एक नन्हीं-सी भिखारिन खड़ी है
ठण्ड से सिकुड़ी
भूख से सिमटी
अध-नंगी, अध-मरी
अगर हिम्मत हो प्रश्न करने की
तो करके देख लो
उत्तर वही होगा सदियों से आता हुआ
जिसे जान कर भी मौन है
यह प्रगतिशील युग
प्यास से उसके होंठ सट गये हैं
पढ़कर उसकी आँखों को
जान लो वह भूखी है कई दिनों की
उसे अपने मेहमानों की जूठन न देना
अपने कुत्ते के लिये जो बचा रखा हो
उसमें से आधी रोटी ही पर्याप्त होगी
डरो मत, तुम्हारा कुत्ता नाराज़ नहीं होगा
भूखे का पेट भर जायेगा
और उसे सब कुछ मिल जायेगा।

तू आज़ाद है

तू चमक है—
हिन्द महासागर के मोती की
परी-तालाब की निर्मलता तुझ में
इन्द्रधनुषी-बाण है तू
तू नव-प्राण दे सकता
हर मुर्झायी ईख को
इसलिए—
कि ऐ मेरे हमवतन

तू आज़ाद है, तू आज़ाद है
आज़ादी है यह
देश-सेवा करने की
आज़ादी नहीं चुप बैठने की
आज़ादी है श्रम करने की
आज़ादी नहीं झगड़ने की।

पसीना जो बहा था

मज़दूरों की ऊर्जा से उपजी
वे बूँदें भारतीय आप्रवासियों की
जो धाराएँ बनकर
बही थीं मॉरिशस की पथरीली ज़मीन पर
सींचा था बंजर भूमि को
जिस पसीने ने
वह आज भी महक रहा है
देश के रंगबिरंगे फूलों में
माटी की सोंधी गंध से मिलकर
इतिहास की भी सुवास बनकर
सुवासित किया समूचे देश को
ख़ून पसीने के सम्मिश्रण से
यह धरती आज गेंहवी हुई
उस गेंहवे रंग के बीच से
फैलती रही हरियाली क्षितिज तक
पसीना जो बहा खारा स्वाद लिये
गन्नों से बाहर आया
शहद की मिठास लिये
पसीना जो बहा था मज़दूरों के माथे से
आज़ देश का चन्दन टीका बना।

लहरें प्रलयंकर

उदित सूरज के पीछे दौड़ना
उसके साथ अस्त हो जाने की
यह कैसी मानवीय शीघ्रता
डूबते सूरज के पीछे दौड़ना
उसके साथ उदित हो सकने की
यह कैसी झूठी आशा।
नयी-पुरानी पीढ़ियों का जैसा
तुम्हारा अपने आप से झगड़ा
बिन उद्देश्य की नुक्ताचीनी
प्रलयंकर लहरों के ज्वारभाटे
फेनिल झागों की तरह
क्षणिक भी तो हो सकते हैं।
परम्परा की पूजा क्या देगी
उसे नकारने से क्या मिलेगा
फूलों-से-फूलों को छाँट कर
अलग करते रहने से बनता क्या है
फूल-से-फूल को सुई में गूँथ कर
बनता है कुछ एक के लिये
दूसरे के लिये माला है
एक ही बात पर बेबुनियाद बहस
गोया शीशे के सामने
बकरे का झगड़ा
शीशे में अतीत
या भविष्य की
आकृति देख जाने की
आपाधापी
यह जान कर भी
कि आईने में
केवल वर्तमान झाँकता है
यह मेरा-मेरा
यह तेरा-तेरा
यह प्रलयंकर लहरों का
हाहाकार कैसा।

कविता

एक ओर हड्डियों में धँसी चली जा रही है
वह गरमी
जो ठण्ड से भी अधिक
मुझे कँपा रही है
कई तरह के सभी ख़्याल
सभी योजनाएँ
जम गयी हैं बर्फ़ की तरह
इतने पर भी
अपने को शव मान लेना
मुझे गवारा नहीं
क्योंकि
मृत्यु के बाद मृत्यु का

आभास नहीं होता
जबकि मुझे तो
अब भी
उसका आभास बना हुआ है।
उष्णता से पिघला
मेरे ही भीतर का मोम भी
पिघल कर फिर से
मोम में जम गया है
मेरे ही नीचे
और उसी से मैं चिपक गया हूँ
अपने अतीत और भविष्य के बीच
हड्डियों को गला-पिघला देने वाली
वह भारी गरमी भी
मेरे शरीर के मोम को
मोम ही की तरह
पिघला नहीं पा रही।

आज़ाद मॉरिशस

उन दिनों यहाँ के यातना-शिविरों में
रातें कभी सिसकियाँ लेती कभी रोती थीं
पुरवाई फिर भी गाती रहती थी
उन भारतीय कुलियों के कानों में
एक सुबह आयेगी हँसती गाती
आज़ादी का ध्वज फहराती
तब मनमानी नहीं होगी
बात अपनी परायी न होगी।
अपनी ज़मीन से उखड़ आयी
उन गिरगिट मज़दूरों की आँखों में
बसते रहे वे सपने
पलते रहे अरमान उन के दिल में
दर्दों के बीच गाये जाते रहे थे जो गीत
देखा करते थे राह अँधेरे में
जिस आज़ादी की
उसको आना था आकर रही।
स्वागत-गान के साथ हुए संकल्प
आज़ादी हमारे बीच
नये विचार को जन्म दे
अधिक विस्तार दे
हमारे क्षितिज को।
बूँद पसीने की
जब बाज़ार में बेची गयी
क़ीमत नहीं थी जो मोती की
अनमोल तब होगी
स्वतन्त्रता की परिभाषा
हम विश्व का अंश ही न रहें
नये राष्ट्र के रूप में
आगे बढ़कर स्वयं को हम
अपने को विश्व बना दें।

वन्दना जननी की

सँवारी गयी हो पूर्वजों के ख़ून-पसीने से
हे जननी प्यारी हमारा नमन है तुम्हें।
लहलहाती हरियाली उगाकर चट्टानों पर
चमक रही तू सागर बीच नीलमणि जैसी
नमन है तुम्हें जननी तुम्हें वन्दन है हमारे
तुम्हें नमन हे जननी नमन है तुम्हें।
तू मधुर सपनों की है सतरंगी माटी
तेरे सतरंगे फूल खिले हैं हम सभी के दिल में
हो तुम सुन्दर परी इस अफ्रीकी चमन की
उतरी हो स्वर्ग से इन्द्रधनुषी ताज पहने
नमन हैतुम्हें……….।
हिलोरें ले-लेकर
हिन्द महासागर की फेनिल लहरें
पखारती रहती हैं सदा श्वेत पाँवों को तेरे
तेरे मनभावन रेतीले दूधिया किनारों का
दीवाना हर देश है तेरे कुदरती मंजरों का
नमन है……….।
तुम्हेंनमन……….।
शान्ति, सद्भाव का तू प्रतीक है पूरे विश्व में
विविधता में तेरी एकता है मिसाल जग में
विश्व संस्कृतियों का महासंगम है देश मेरा
तू मिलन-भूमि है सभी महान धर्मों की
नमन है……….।
तुम्हेंनमन……….।
मॉरिशस तू हम सभी को बेहद है प्यारा
रहेंगे हम पहरेदार हरदम अपने चौरंगे के

यहाँ खुशहाली बँटती रहे आँगन-आँगन
गली-गली सदा फैले
यहाँ आपस में भाई-चारा
विश्व को दे मानवता का उपहार
नमन है.........।
तुम्हें नमन है.........।

चौरंगा हमारा

देश की पहचान, उसकी जनता की शान है
यह लहराता चौरंगा
नवनिर्माण का प्राण, इस राष्ट्र का निशान है
यह फहराता चौरंगा।
सप्तरंगी शामारैल का गौरव-टीका
यह मॉरिशस के माथे का
मज़दूरों की मेहनत की कहानी का
इतिहास है, उस गूँगे दर्द का।
पवित्रता इसमें है मन्दिरों की, मस्जिदों की और
गिरजाघरों की
हवा में यह बिखेर रहा है, प्रतिध्वनि पूजा-मन्त्रों
और अज़ानों की
गूँज है इसमें गिरजे-घंटों की और
बौद्ध मन्दिरों के झाँझों की।
इसमें गूँथे हुए हैं, खेतों में बहे
पसीने के मोतियों के दाने
इसमें पिरोये हुए हैं, साहस के, आदर्श के
और बलिदान के नगीने।
उल्लास भरा है इसमें होली का
तो ईद का इस में प्यार है
उत्साह भरा है इसमें क्रिसमस का
तो हर त्यौहार का इसमे मर्म है।
इसके लाल रंग में, हर सुहागन के माथे का
चमक रहा सुहाग है।
शाम की लालिमा इसमें, साहस-शक्ति का
उमड़ता अनुराग है।
इसके नीलेपन में समाया हुआ है, अम्बर और
सागर का वैभव
रंग है यह प्रेम के विस्तार का
जिसमें पक्षियों का मधुर कलरव।
रंग पीला इसका बिखेर रहा विनम्रता और भक्ति
की निर्मलता।
उजागर जिससे हो रही, स्वतन्त्रता, स्वाभिमान,
शान्ति और निर्भयता
खेतों की लहलहाती हरियाली और सुबह की
ताजगी है इसके हरे रंग में
मेहनत और विकास की, समृद्धि और
खुशहाली की लौ है इसमें।
मॉरिशस का यह चौरंगा प्यारा
एक नव राष्ट्र की यह गरिमा है
एक-दूसरे से जुड़े चार रंगों में
हमारी अमिट एकता की महिमा है।
ये रंग हैं चार दिशाओं के पूरब, पश्चिम,
उत्तर और दक्षिण के
इस में गूँथे हुए फूल हैं, भारत, अफ्रीका, यूरोप
और चीन के।
हम अनेक में भी एक हैं
हमारे झण्डे की यही पुकार है
यह देश हरेक का अपना है
राष्ट्र की बस यही पुकार है
हम हर धर्म के हैं हर धर्म हमारा है
यही है हमारी संस्कृति
हम हर भाषा के हैं हर भाषा हमारी है
यही है हमारी नीति।
अन्तर को मानकर एक-दूसरे से मिले रहना
इन रंगों से ही सीखा है
जात-पाँत और भेदभावों को तजकर ही
यहाँ हम सबको जीना है।
चौरंगे के नीचे न कोई छोटा न कोई बड़ा
ना ही ग़रीब ना ही अमीर।
हम सभी भाई-भाई हैं और कुछ न सही
तो भी हैं प्यार के धनी।
यह सुन्दर देश है इन्द्रधनुष का तो
इन्द्रधनुषी यह क़ौम भी है
आकाश पर सजी इस रंगोली को
बनाये रखना, हमारा भी कौल है।
उठें इसलिये, बढ़ें इसलिये कि
इन्द्रधनुष के ये रंग, छितरे नहीं
हम जीयें इसलिये मरें इसलिये कि

चौरंगे के रंग बिखरे नहीं।

झण्डा-आरोहण

स्वतन्त्रता की सालगिरह हो
या हो कोई खेल-कूद प्रतियोगिता
झण्डा-आरोहण की रस्म तो होनी है
नेता का रिश्तेदार करे या खुद राजनेता
जब देश में तूफ़ान न हो
और न हो कोई आक्रमण किसी दुश्मन का
तो झण्डा-आरोहण
ख़ास माने रखता ही कहाँ है।
क्या हुई राष्ट्रीयता की परिभाषा तब
माने तो उसका तब हुआ
जब देश में तूफ़ानी तंगहाली हो
झुक गये, ज़मीन पर लुढ़क गये झण्डे को
कोई निर्भीक और फ़ौलादी हाथ बढ़ कर आगे
उसे ऊपर उठा सके फिर से
हवाओं से बातें करवा सके उसे
पर तब तो खेल-कूद प्रतियोगिता और
स्वतन्त्रता की सालगिरह वाले हाथ
झण्डे की रस्सी के बदले थामे होते हैं
एक हाथ में जाम और
दूसरे में ब्लाउज के फीते।

इतिहास की नीलामी

अपनी आवाज़ को
गिरवी से छुड़ाने के लिये
निकल पड़ा है वह
हाथ में गँडासा लिये
और सिर पर इतिहास की गठरी लिये
बीच बाज़ार में खड़ा
अपने देश का इतिहास बेच रहा है।
भीड़ से आवाज़ें आयीं—
तुम्हारा इतिहास
ड्राईसेल से चलता है या.......... ?
कोई ग्राहक पास नहीं भटका
लोगों को वह इतिहास चाहिए
जो पानी से चलता हो
खेंतों में पसीने की ज़मी हुई परत पर
जहाँ-तहाँ लाल बूँदें चमक रहीं हों
उस बैलगाड़ी के पहियों की लीक
अब भी है पगडंडी पर
जो गुज़र गयी गन्नों का बोझ लिये।
शक्कर का खाली बोरा ओढ़े
वह मज़दूर जो ईख काटे जा रहा था
इतिहास चक्र के नीचे दब गया
इतिहास जीवित रहता तो
वह हत्या भी जीवित रहती
इसलिए इतिहास नीलाम हो गया।

ये भेड़िये

अपने युवकों के फैले हाथों में
कब तक वादों के बंडल थमाओगे
कब तक सूद ही चुकाते जाओगे
अपनी गिरवी रखी धरोहर का
अपनी गरदन की उन मालाओं की
तुम क़ीमत कब चुकाओगे?
वह नया सूरज कब उगेगा
अपनी परछाईं कब दीखेगी
कब अकेलापन टूटेगा
अपनी साँसें कब ग़ैर नहीं लगेंगी
कब भेड़िया पहचाना जायेगा
जो अँधेरे में खाता
जा रहा एक पीढ़ी को?

बाँझ स्थिति

वातानुकूल वातावरण में भी
अकुला रहे हैं तेरे कुछ लोग
फिर भी मिलाये जा रहे हैं ये
तुम्हारी हाँ-में-हाँ
तुम्हारी नहीं-में-नहीं।
इन्हें अब फ़क्र होने लगा है
कि ये आज के द्रोणाचार्य हैं, भीष्म हैं
पर कभी कभार अकेले में
इनमें एक या दो उठकर तन जाते हैं
अपने को अपने सामने खड़े पाते हैं
और प्रण करते हैं अपने आपसे
कि कल से वे तुम्हारे कहने पर

गुलाब को कैक्टस
और अँगारे को बर्फ़ मानने से
इन्कार कर देंगे
वे महसूसने लगते हैं कि
अगर वे अपनी ख़ामोशी को तोड़ेंगे
तो उनके साथ एक-एक करके कई और
विरोध करेंगे तुम्हारा।
उस समूह-आवाज़ से
तुम्हारे चारों ओर के शीशे चकनाचूर हो जायेंगे
लोगों से किये वायदे याद आते ही
कायरता और स्वार्थ दोनों की मृत्यु हो जायेगी
एक छटपटाहट उठेगी
अपने को एक छलावे से रिहाई की
घेरे से छुटकर
इनमें से किसी एक भीष्म का मन करेगा
उस अकेले खड़े युधिष्ठिर से जा मिलने का
कोई एक भीष्म इनमें से चाहेगा
अर्जुन की बगल में खड़ा होना
लेकिन जब सूरज उगेगा
तुम्हारा रथ उसे लेने जायेगा
और जब ये तुम्हारे सामने फिर पहुँचेंगे
तो फिर भूल जायेंगे
एकान्त के सारे निर्णय
बँधेज की यातनाओं को झेलने में ही
अपनी सार्थकता मानेंगे
और वातानुकूल वातावरण में भी
अकुलाहट की साँसें गिनते रहेंगे।

इन्कार

मैं स्वीकार नहीं कर सकता
कबूतरों के बीच बाज़ को
अपने सवालों को बेच नहीं सकता
मैं ख़ामोशी स्वीकार नहीं कर सकता
मेरे लोगों के दूध की रखवाली
तुम्हारी माला जपती बिल्ली करे
मैं गवारा नहीं कर सकता
हाँ! अपने लोगों के लिये
ज़िन्दगी तो चाहिए मुझे
पर बख़्शी हुई ज़िन्दगी
मैं स्वीकार नहीं कर सकता।

एक प्रेम-गीत

रात के जाग जाने से पहले
चलो ख़ामोश पगों से हम निकल चलें
रात जागेगी
भेड़िए की मुस्कान का जादू चलेगा
हम फिर सम्मोहित हो जायेंगे
और भेड़िए की मुस्कान को
बनाये रखने के लिये
नीलाम करते रहेंगे
अपने जनमते बच्चे की निर्मल मुस्कान।
चलो निकल चलें ख़ामोश पगों से
इससे पहले कि बज उठे ये मंदिरों के घण्टे
आरतियाँ होंगी
भेड़िए की लोलुपता की दीर्घायु के लिये
तारीफ़ करेगी कविता भेड़िए के शासन की
चाँद बिक चुका है अँधेरी रात के हाथ
उसके मधुकलश से छिटकती चाँदनी
तोड़ चुकी वह पुरातन रिश्ता प्रेमियों से
चाँद तो अब
अगवानी करता है खूबसूरत साज़िशों की
चाँदनी अमृत पिलाती
भेड़िए की मुस्कान को।
ख़ामोश पगों से चलो निकल चलें
रात के काले पंजों के जागने से पहले
नागफनी में उलझी दुधिया सुबह को
सुलझा लें
उसे छुड़ा ले अपने लिये न सही
अपने जनमते बच्चों के लिये
ख़ामोश स्वरों से
चलो नकार दें घटाटोप रात की साज़िशों को।

गूँगापन

एक लम्बी ख़ामोशी की मैं उपज हूँ
मैं एक परछाईं की छाया हूँ
उपदेशों को सुन लेता हूँ चुपचाप
ठण्ड नहीं लगती मुझे नंगे बदन भी

क्योंकि मेरे स्वामी तुम
थोड़ी ही दूरी पर हो
अपने को लपेटे हुए भालू के चमड़े में।
मैं एक अतीत का कंकाल हूँ
मैं एक पुण्य का हूँ अभिशाप
पीता रहता हूँ ज्वालामुखी
मकड़ी के जाले पर छटपटाता रहता हूँ
पर जीवित हूँ, खूश हूँ
क्योंकि अभी भी
तुम्हारा भाषण ज़ारी है।
मैं वह बच्चा हूँ जिसकी माँ का
गर्भपात चुक गया था
मेरे सामने तुम्हारी नंगी तलवार है
जिसकी धार पर
मेरे आँसू टपक कर
कट जाते हैं दो टुकड़ों में
मेरी ख़ामोशी छटपटाकर भी
आह नहीं भर पाती।



नाटक

पात्र

युयुत्सु	उत्तरा
अभिमन्यु	सुभद्रा
दुर्योधन	पहला सैनिक
द्रोणाचार्य	दूसरा सैनिक
गोकुलवासी	तीसरा सैनिक
युधिष्ठिर	अस्त्रपति

रोक दो कान्हा

[कुरुक्षेत्र के पार्श्व में एक तटस्थ स्थल, युद्ध की वीभत्सता और प्रतिद्वंद्व से अलग जहाँ पांडव और कौरव दोनों की पहुँच समान रूप से है। पीछे दूरी पर युद्ध परिणाम का द्योतक खण्डहर और उजड़ी हुई आकृतियाँ धुँधलके में छिपी हुई दिखायी पड़ती है। सामने का भाग एक विस्तृत चौतरा-सा है जो पाँच सोपानों से ऊपर को उठता है। बीच में एक स्तम्भ है। पृष्ठभूमि का रंग लाल है जो समय के साथ बदलता है। परदे के हटने के साथ अँधेरे में नेपथ्य से स्वर आते हैं।]

पहला स्वर : हस्तिनापुर में उष्णता इतनी भारी कभी नहीं रही। कभी नहीं हुआ कुरुक्षेत्र इतना रक्त-रंजित।

दूसरा स्वर : न कभी कौरव-पाण्डव पत्नियों, माताओं, सन्तानों और सगे-सम्बन्धियों के इतने आँसू बहे। न कभी इतने गिद्ध मँडराये कुरुक्षेत्र के ऊपर। नगरी उजड़ती गयी। बिलखती गयी। रौंदी जाती रही। मचता रहा हाहाकार।

पहला स्वर : लज्जित होकर सूर्य समय से पहले डूबता रहा। आहों और चीखों से दबते रहे हवन-मन्त्र और अनसुनी रही प्रार्थनाएँ, स्तुतियाँ।

दूसरा स्वर : लाशें नहीं लौटीं, न शिविरों को न घरों को। लौटे केवल विकलांग। कोई बिन हाथों के, कोई बिन पैरों के, कोई बिन आँखों के। दस दिन यों ही बीते। ग्याहरवाँ दिवस भी उसी तरह पूरा होने को हुआ।

[मंच पर धीरे-धीरे प्रकाश]

[तीन घायल सैनिक अपने अधटूटे शस्त्रों के साथ लड़खड़ाते हुए आकर सोपान पर बैठ जाते हैं—तीन अलग मुद्राओं में, जिनसे उनकी पीड़ित और अपमानित स्थिति झलकती है। पहला सैनिक अन्धा होता है।]

प० सैनिक : हम कहाँ पहुँच आये ?

दू० सैनिक : रणक्षेत्र से बाहर आ गये।

प० सैनिक : कहीं हम पाण्डव-शिविर की ओर तो नहीं पहुँच आये ?

दू० सैनिक : यह तो शान्ति-स्थल है, रणनीति से मुक्त।

प० सैनिक : सूर्यास्त होने में अभी कितना समय है ?

दू० सैनिक : केवल उतना ही न जो कम-से-कम एक सैंकड़ा सैनिकों के संहार के लिए पर्याप्त हो ?

ती॰ सैनिक : हम ग्यारह दिवसों से लड़ रहे हैं पर कोई बता नहीं पाया कि हम किसका युद्ध लड़ रहे हैं। यह युद्ध न तो तुम्हारा है न मेरा, तो फिर.........

दू॰ सैनिक : यह बड़े जनों का युद्ध है। राजाओं और सेनापतियों का।

ती॰ सैनिक : उनका यह युद्ध है तो वे लड़ें, हम क्यों लड़ रहे हैं?

दू॰ सैनिक : हम लड़ कहाँ रहे हैं?

ती॰ सैनिक : लड़ाये जा रहे हैं।

प॰ सैनिक : क्यों?

दू॰ सैनिक : ताकि उनकी प्रतिज्ञा और प्रतिष्ठा बनी रह सके। उनका साम्राज्य विस्तृत हो जाये, ताकि उनका सिर न झुके।

ती॰ सैनिक : और ताकि वे इतिहास में स्थान पा लें।

दू॰ सैनिक : इस समय हमें युद्ध-क्षेत्र में होना चाहिए था। अपनी बूँद-बूँद देकर उनके गौरव को बढ़ाने के लिए। और हम इधर आ गये।

ती॰ सैनिक : क्या करते उन मुर्दों के बीच? पाण्डव सेना तो हमारे लोगों को संहार करते हुए हमसे आगे निकल चुकी थी। हम तो शवों के बीच निर्जीव-से पड़े हुए थे।

दू॰ सैनिक : लेकिन हमारा धर्म तो उस समय तक कुरुक्षेत्र में ही रहना था जब तक कि युद्ध-विराम की घोषणा न हो जाती।

प॰ सैनिक : लौट चलें क्या उन कराहते-चिल्लाते घायलों के बीच?

ती॰ सैनिक : नहीं, मैं उस नरक को नहीं लौट सकता। भागो-भागो, बचाओ-बचाओ।

दू॰ सैनिक : क्यों, क्या हुआ?

ती॰ सैनिक : वह देखो पश्चिम की ओर से अग्नि-बाण आ रहे हैं। भागो-भागो।

दू॰ सैनिक : तुम अब भी दोपहर वाले उस युद्ध की उस भीषणता को अपने मस्तिष्क में लिए हुए हो।

ती॰ सैनिक : देखो-देखो, घटोत्कच अपना भयानक अग्नि-अस्त्र चला रहा है।

दू॰ सैनिक : तुम चुप रहो। कायर कहीं के!

प॰ सैनिक : मुझे पानी चाहिए। प्यास लगी है।

दू॰ सैनिक : वहाँ होते तो सम्भवतः जल मिल जाता, यहाँ कौन देगा?

ती॰ सैनिक : वहाँ तो रक्त-ही-रक्त था। लहू-ही-लहू।

दू॰ सैनिक : मेरा अपना पैर शून्य होता जा रहा है। अभी तो सूरज डूबा नहीं। मुझे अपने चारों ओर यह अँधेरा क्यों दीखने लगा!

ती॰ सैनिक : वह देखो, सूरज डूब रहा है।

प॰ सैनिक : नहीं, सूरज डूब नहीं रहा होगा। घटोत्कच के शस्त्र से अँधेरा छा रहा होगा।

दू॰ सैनिक : देखो-देखो तो, क्षितिज की वह लालिमा।

ती॰ सैनिक : वह कुरुक्षेत्र की लाली है। रक्त की नदी की लाली है।

प॰ सैनिक : मुझे प्यास लगी है।

ती॰ सैनिक : रक्त की नदी पिओगे?

प॰ सैनिक : पानी!

[*तभी शंखनाद होता है*]

प॰ सैनिक : सुनी तुम लोगों ने युद्ध विराम की घोषणा?

ती॰ सैनिक : पानी मिलेगा। अब पानी मिलेगा।

दू॰ सैनिक : खाक मिलेगा पानी यहाँ? हम तो युद्धक्षेत्र से दूर आ गये हैं। यहाँ कौन पिलायेगा पानी?

प॰ सैनिक : अपनी छावनी लौटने का समय हो गया। मैं चलूँ कैसे? मेरे पैर?

ती॰ सैनिक : मुझे पानी चाहिए। प्यास लगी है ज़ोरों से।

[*लाठी के सहारे गोकुलवासी का झोली लटकाये प्रवेश*]

गो॰ वासी : किसे लगी है प्यास?

प॰ सैनिक : मुझे.........मुझे लगी है प्यास।

गो॰ वासी : बुझ जायेगी तुम्हारी प्यास।

प॰ सैनिक : आप कौन हैं?

गो॰ वासी : मैं संजय नहीं हूँ।

दू॰ सैनिक : यह तो हम भी जानते हैं कि आप महाराज संजय नहीं हैं।

गो॰ वासी : संजय तो धृतराष्ट्र और गांधारी को वह दिखा रहा है जो बीत रहा है। संजय तो समय है, मैं तो असमय हूँ। जो बीता नहीं अभी, जो बीतेगा आगे।

प॰ सैनिक : क्या?

दू॰ सैनिक : हार-संहार, नाश-विनाश।

ती॰ सैनिक : किसका?

गो॰ वासी : एक का नहीं, सभी का। दोनों पक्षों का। हार महाभारत की। पराजित एक नहीं दोनों पक्ष होंगे। मचते रहेंगे महाभारत। जय किसी की नहीं होगी.........लेखा-जोखा के बाद ही पराजय-ही-पराजय होगी।

प॰ सैनिक : आपकी झोली में पानी है?

गो॰ वासी : झोली में तो नहीं पर मेरी अँजुली में है पानी। तुम बढ़ाओ अपनी अँजुली।

[*पहला सैनिक आगे आकर घुटने के बल हो जाता है और अपनी अँजुली को अपने मुँह तक ले जाता है। वृद्ध गोकुलवासी पहले सैनिक की अँजुली में पानी पहुँचाने की मुद्रा में खड़ा हो जाता है।*]

दू॰ सैनिक : कहाँ है जल?

गो॰ वासी : तुम्हें जल देखना है या प्यास बुझाना है?

प॰ सैनिक : प्यास बुझाना है।

गो॰ वासी : तो फिर लो। पानी पीयो। (दूसरे क्षण बाद) क्यों तृप्ति मिली न?

प॰ सैनिक : (लम्बी साँस लेने के बाद) हाँ, प्यास बुझी।

गो॰ वासी : आओ तुम दोनों भी प्यास बुझा लो। यमुना के पानी से।

[*दोनों बाक़ी सैनिक उसी प्रक्रिया में अपनी-अपनी प्यास बुझाने के बाद*]

दू॰ सैनिक : यह तो चमत्कार है। कौन हैं आप?

गो॰ वासी : यह चमत्कार नहीं है। उसका वरदान है।

दू॰ सैनिक : किसका?

गो० वासी : कालिया नाग के वध के बाद जमुना से बाहर आने पर जिसके हाथ में मैंने अपना कमण्डल थमा दिया था।

दू० सैनिक : आप हैं कौन?

गो० वासी : कुरुक्षेत्र में वीरगति प्राप्त होने वाले उन सैंकड़ों की सामूहिक आख़िरी आह हूँ मैं।

दू० सैनिक : आपकी बातें समझ में नहीं आतीं।

गो० वासी : मैं अतीत की उत्पत्ति और भविष्य का संकेत हूँ। लो सुनो, किसी के इधर आने का पदचाप। (गौर से सुनने के बाद) अभिमन्यु आ रहा है। इधर अपनी नयी-नवेली उत्तरा के साथ। चलो प्रस्थान करो। छोड़ दो यह ठौर दोनों के लिए।

[*प्रस्थान*]

दूसरा : बड़ा विचित्र व्यक्ति रहा।

[*फिर से शंखनाद होता है*]

दूसरा : दोबारा हुआ शंखनाद। युद्ध हुआ समाप्त।

[*तीनों का प्रस्थान*]

[*अभिमन्यु और उत्तरा का प्रवेश*]

अभिमन्यु : कितना उदास, कितना सुनसान है यह स्थान। यहाँ तो सुबह-शाम पक्षियों का चहकना हुआ करता था। उस बगल के सरोवर में राजहंस भी आज दिखायी नहीं पड़ रहे। न कोई हिरण दीख रहा है, न कोई शावक। न वातावरण में संगीत है, न तरंगों की कलकल ध्वनि। युद्ध तो मनुष्य कर रहा है और ये पशु-पक्षी पीड़ित और भयभीत अपने बसेरे से दूर चले गये हैं। उनसे छीन लिया युद्ध ने उनका क्रीड़ा-स्थल।

उत्तरा : पाण्डव रत्न, यह स्थान न तो शिविर है और न ही युद्ध-स्थल। बहुत सुनते रहे हम युद्ध की चर्चा और उसके परिणामों को। इस शान्ति-स्थल पर कुछ क्षणों के लिए तो भूल जायें उस विभीषिका को। देखो तो कुरुक्षेत्र की उस विपरीत दिशा को। उधर अब भी राजहंस उड़ते दिखायी दे रहे हैं। भद्र! तुम उस क्षितिज की ओर तो देखो। सूर्यास्त होते ही क्षितिज पर लालिमा फैल गयी है। कितना सुन्दर दृश्य है। अभी देखना हमारे देखते-ही-देखते आकाश का प्रथम तारा झिलमिला उठेगा, फिर उसके बाद तो आकाश जगमगा उठेगा लाखों चमचमाते तारों से।

अभिमन्यु : मैं तो कुछ और ही देख रहा हूँ उत्तरे। उस तारे को जिसे कि निगल जाने के लिए काली बदलियाँ झपटने को हैं। और उसके ओझल होते ही उसके साथ लाखों तारे चमकने से पहले ग्रस्त कर लिये जायेंगे काली घटाओं के द्वारा। और उड़ रहे राजहंसों पर अपने शक्तिशाली पंजों और डैनों के साथ झपट पड़ेंगे बाजों के समूह।

उत्तरा : मैंने अपने स्वप्न में भी इसी तरह से काली बदलियों के बीच उस तारे को चमकते हुए देखा था जो एकाएक आकाश से टूटकर मेरे ऊपर आ गिरा था

और.......... ।

अभिमन्यु : तुम अब भी उस सपने से आतंकित लग रही हो।

उत्तरा : उस तारे की प्रज्ज्वलित ज्वाला ने मेरे सुहाग-वसन को जलाकर राख कर दिया था। उस भयानक स्वप्न से मैं चिल्ला उठी थी और........ ।

अभिमन्यु : युद्ध परिणाम सुनकर तुम बहुत भयभीत थीं। यही कारण है कि इतना भयावह सपना तुम्हें आया। (उत्तरा से अलग जाते हुए) युद्ध तो आज भी बड़ा प्रचण्ड रहा।

उत्तरा : तुम फिर ले आये न युद्ध की चर्चा। युद्ध! आख़िर यह युद्ध क्यों ? उधर भी तो अपने हैं, इधर भी अपने हैं। पाण्डव शिविर में अगर इसे मर्यादा का युद्ध कहा जा रहा है तो उस ओर कौरव शिविर में भी तो यही कहा जा रहा है। यह कैसी नैतिकता है ? मर्यादा और मर्यादा का टकराव ? सच मानो भद्र! मुझे तो लगता है कि यह विवेकहीनता का युद्ध है।

अभिमन्यु : युद्ध तो सभी विवेकहीनता के ही होते हैं। एक टुकड़ी धरती की लड़ाई के लिए कुरुक्षेत्र की भट्ठी में ढकेले जा रहे हैं लाखों लोग। लाखों महिलाएँ विधवा हो रही हैं, लाखों बच्चे अनाथ हो रहे हैं। बस, एक टुकड़ी धरती के लिए। युयुत्सु ने ठीक ही तो कहा था कि गुरुजन और ये सभी भद्रलोग अपने विवेक को खो चुके हैं। इतने सारे उत्पादन, विकास और उपलब्धियों के बाद तो शान्ति का साम्राज्य होना चाहिए था, बदले में हो रहा है संहार। मानवीय मूल्यों का संहार। युयुत्सु अपने पिता और अपने अग्रजों के आगे मामा श्रीकृष्ण के शब्दों में चिल्ला-चिल्लाकर कहता रहा कि युद्ध प्रेम की नहीं घृणा की उत्पत्ति है, शक्ति का नहीं, निर्बलता का द्योतक है।

उत्तरा : यह तो तुम भी मानते हो न भद्र ?

अभिमन्यु : यह मैं भी मानता हूँ उत्तरे।

उत्तरा : तो क्या कारण है कि तुम भी युद्ध को स्वीकारे बैठे हो ? और मामा श्रीकृष्ण भी ?

अभिमन्यु : मैं युद्ध को स्वीकारे बैठा नहीं हूँ। मेरा तो यह भी धर्म होता है कि मैं आदेशों का पालन करुँ। कर्त्तव्य को अपने बड़े जनों के परिप्रेक्ष्य में देखूँ। रही बात मामा की, सो उनके लिए तो कोई विकल्प छूटा ही नहीं था। और फिर मामा श्रीकृष्ण तो युद्ध को नहीं प्रकृति को स्वीकारे हुए हैं।

उत्तरा : इस सारी बातों को समझने में मैं तो अपने को असमर्थ पाती हूँ। न मामा श्रीकृष्ण का निर्णय समझ में आया और न ही तुम्हारी यह स्वीकृति। यह तो अन्धविश्वास और अन्धभक्ति हुई।

अभिमन्यु : युद्ध भी तो अन्धशक्ति का प्रतीक है।

उत्तरा : भद्र! यह युद्ध इतना अनिवार्य क्यों होता है ?

अभिमन्यु : नहीं उत्तरे, युद्ध इतना अनिवार्य तो नहीं होता लेकिन जब एक पक्ष को यह अभिमान जकड़ लेता है कि वह अत्यन्त शक्तिशाली है और वह जब चाहे किसी भी समस्या का समाधान आपसी सहयोग, समझौते या नम्रता के बिना

अपनी शक्ति के प्रदर्शन से कर सकता है तो बस यहीं से युद्ध का स्वरूप और उसकी रूपरेखा तैयार होने लगती है।

उत्तरा : यह तो ठीक है लेकिन जो अभिमान से जकड़ा हुआ न हो और जिसके पास सैन्य-शक्ति निर्बल हो और युद्ध के लिए सम्पत्ति का भी नितान्त अभाव हो, वह आत्मसमर्पण करके समस्या का हल पा सकता था। यह निराकरण युद्ध की चुनौती को बिना स्वीकारे क्यों नहीं स्वीकारा जाता?

अभिमन्यु : अहम् तो राजनीति की प्रथम विशेषता होती है। और फिर इसमें तो एक दूसरा पहलू भी है। निर्बल राजाओं और देशों को बड़ी शक्तियाँ सहायता का आश्वासन देकर उन्हें भड़का जाती हैं। परिणाम यह होता है कि निर्बल और भी निर्बल हो जाता है।

उत्तरा : यह कैसी विशेषता रही? एक से आत्मसमर्पण की इन्कारी और दूसरे से सहयोग को स्वीकार जाना।

अभिमन्यु : इसे युद्ध का संविधान समझ लो।

उत्तरा : और युद्ध का नरसंहार?

अभिमन्यु : वह तो नीति होती है।

उत्तरा : भद्र! लौट चलें नीति से प्यार की ओर। हम दोनों के परिणय के तो अभी कुछ ही दिन हुए हैं। और तुम सूर्योदय से सूर्यास्त तक मुझे छोड़कर कुरुक्षेत्र में प्रवेश कर जाते हो। यह कहाँ का न्याय है?

अभिमन्यु : उत्तरे! क्या तुम्हें यह भी बताना पड़ेगा कि एक क्षत्रिय का कर्त्तव्य केवल गृहस्थी का निर्वाह नहीं होता?

उत्तरा : तो क्या केवल स्वाभिमान और राजकीय नीति से प्रतिबद्ध हो जाना होता है एक क्षत्रिय का कर्त्तव्य?

अभिमन्यु : कहा न बड़ों की आज्ञा का पालन भी तो कर्त्तव्य होता है।

उत्तरा : अगर कल पाण्डवश्रेष्ठ तुम्हें यह आज्ञा दे बैठें कि ले आओ उत्तरा का सिर मेरे सामने तो क्या इसे भी कर्त्तव्य मान पूरा कर जाओगे?

अभिमन्यु : मैं ऐसा करता प्रतीत हो रहा हूँ क्या?

उत्तरा : पता नहीं। यह ख़्याल तो जब-जब आता है, सामने अँधेरा छा जाता है। देख नहीं पाती। तुम तो वीर शिरोमणि हो। प्रतिदिन बेशुमार कौरव सैनिकों को मृत्यु के घाट उतार देते हो। क्या उनमें से कई के घर उनकी उत्तरा नहीं होती होगी? उनके लिए तो पति की यह अचानक मृत्यु अपनी मृत्यु से भी दुःखदायी प्रमाणित होकर रहती होगी!

अभिमन्यु : उत्तरे! युद्ध को मैंने भी कभी अच्छा नहीं माना। वह निर्माण का नहीं विनाश का प्रतीक है लेकिन कभी युद्ध ही अधिकार को प्राप्त कराता है और आधिपत्य का विस्तार भी उसी से होता है।

उत्तरा : और विधवाओं और अनाथों का विस्तार भी उसी से होता होगा।

अभिमन्यु : पर क्या करें जब गुरुजन भी उसे अभिशाप नहीं वरदान माने बैठे हैं।

[*गोकुलवासी का प्रवेश*]

गो॰ वासी : नहीं अर्जुन पुत्र! वे उस अभिशाप को जानते हैं पर क्या करें, विवश हैं।

अभिमन्यु : कौन हैं आप?

गो॰ वासी : मैं कुरुक्षेत्र के वीरगति प्राप्त करने वालों को जल के अन्तिम ठोप प्रदान करने वाला हूँ। मैं कभी अतीत या कभी वर्तमान भी रहा, पर आज धुँधलका हूँ—भविष्य का, जिस पर किसी को विश्वास नहीं। मेरे नेत्रों में भविष्य तो है पर घटाटोप अँधेरे में डूबा हुआ भविष्य। मेरे निकट आकर तुम उसे देख सकते हो सौभद्र।

अभिमन्यु : (निकट आकर) मुझे तो आपके नेत्रों में कुहासे-सा दिखायी दे रहा है।

गो॰ वासी : उसी कुहासे में देखो। कुरुक्षेत्र का हाहाकार। युद्ध का तेरहवाँ दिवस। अर्जुन की अनुपस्थिति.........चक्रव्यूह की रचना और.........

अभिमन्यु : अभी तो बारहवाँ दिवस नहीं आया।

गो॰ वासी : वह दिवस नहीं षड्यन्त्रों की काली रात होगी जिसमें योजनाएँ बनेंगी तुम्हारी ....

अभिमन्यु : आप चुप क्यों हो गये?

उत्तरा : आप कुछ बताते-बताते एकाएक मौन क्यों साध गये?

गो॰ वासी : (प्रचण्ड मुद्रा में) उस बारहवीं रात के बाद युद्ध का तेरहवाँ दिन! जब सुमित्र का स्वर्ण रथ हवा से बातें करेगा और.........और अभिमन्यु कोटो-टोक कोटोक कोटोटोक.........अभिमन्यु के बाण—तलवार, भाला (हर संकेत का अभिनय मंच के इस छोर से उस छोर तक दौड़कर) कौरव सेना में हलचल......... ..द्रोण.........कृतवर्मा, अश्वत्थामा, कर्ण, शकुनि जैसे महारथियों का आक्रमण—अभिमन्यु का डटे रहना, आक्रमणों का व्यर्थ होते रहना—जयजयकार—तभी कौरव महारथियों के षड्यन्त्र से अभिमन्यु का व्यूह में फँस जाना—निहत्थेपन की स्थिति—रथ का पहिया—और एकाएक सिंधु देश का राजा जयद्रथ अपने हत्यारे पंजों से......... ।

उत्तरा : आप तो जैसे मेरे सपने में देखे हुए दृश्यों का वर्णन कर रहे हैं।

गो॰ वासी : वह सपना नहीं था उत्तरा, पूर्वाभास समझो उसे।

उत्तरा : तब तो मेरा इस तरह व्यग्र होना अस्वाभाविक नहीं हो सकता?

गो॰ वासी : मन की निर्मलता होने पर समय पर की परतें हट जाती है। तुमने जो देखा वह परतों के नीचे दबे हुए समय को देखा।

उत्तरा : वही होकर रहेगा?

गो॰ वासी : होकर रहेगा वह।

उत्तरा : पाण्डवरत्न! मैं आपको युद्ध में नहीं जाने दूँगी।

अभिमन्यु : पति को कर्त्तव्य से वंचित रखना पत्नी का धर्म नहीं होता।

उत्तरा : पति को किसी अज्ञात ख़तरे की ओर जाने देना यह भी तो पत्नी का धर्म नहीं है भद्र।

अभिमन्यु : वीरांगनाएँ सपनों के असत्य के आधार पर नहीं, बल्कि चेतन के यथार्थ के आधार पर अपने पति की प्रेरणा बनती हैं।

उत्तरा : मेरी प्रतिक्रिया मात्र सपनों का फल नहीं, वह पूर्वाभास की चेतावनी है जिसे मैं अनुरोध के रूप में (हाथ जोड़कर) तुम्हारे सामने रख रही हूँ। तुम मेरी बात मान लो।

अभिमन्यु : और अपने धर्म और कर्त्तव्य के आदेश को?

उत्तरा : क्या पत्नी भी पति का धर्म और कर्त्तव्य नहीं होती?

अभिमन्यु : क्यों नहीं होती!

उत्तरा : तो फिर?

गो॰ वासी : अभिमन्यु को तो नियति का दूत बनाकर भेजा गया है। और तुम्हें, पाण्डव वधू, नियति की चक्की की धुन।

अभिमन्यु : आप नाहक में उत्तरा को आशंकित कर रहे हैं, असत्य कहकर।

गो॰ वासी : नहीं, मैं असत्य नहीं कह रहा अभिमन्यु। भविष्य बता रहा हूँ। कुरुक्षेत्र के खूँखार पंजे तुमसे तुम्हारा सौहार्द, सौन्दर्य और सौम्यता सभी छीन लेंगे। और..........और उत्तरा को इस यौवन काल में..........

अभिमन्यु : आप चुप रहिये। भ्रमित हैं आप। भयभीत कर रहे हैं उत्तरा को। चलो उत्तरे, हम लौट चलें।

उत्तरा : लेकिन कुरुश्रेष्ठ, ये जो कह रहे हैं वह तो मेरे सपने का हूबहू वर्णन है। कैसे हुआ यह?

अभिमन्यु : तुम पाण्डव वधू हो उत्तरे। इस तरह के अन्धविश्वास के चक्कर में मत लाओ अपने को।

गो॰ वासी : अन्धविश्वास कह देने से होनी टल नहीं जाती।

अभिमन्यु : मैंने कहा न कि आप चुप रहें। चलो उत्तरे..........चलो, माँ प्रतीक्षा कर रही होंगी।

उत्तरा : कुछ और बताइये महात्मन्..........क्या सचमुच..........।

अभिमन्यु : उत्तरे! संशय से इतनी ग्रस्त मत हो जाओ। चलो चलें।

[*वह उत्तरा का हाथ थामे चला जाता है*]

गो॰ वासी : चले गये। विश्वास नहीं हुआ मेरी बातों का। चले गये दोनों।

[*वह हँसता हुआ मंच की दूसरी ओर से बाहर हो जाता है।*]

[*मंच का प्रकाश मिटकर उसी क्षण धीरे-धीरे फिर से फैलता है और उसी के साथ दुर्योधन और द्रोणाचार्य का प्रवेश*]

दुर्योधन : आप मुझे शान्त रहने को कहते हैं। आप जैसे महारथियों के होते हुए कल फिर हमारी सेना में भगदड़ मच गयी। दो सेनानायक मारे गये। सैंकड़ों वीरों के सिर गाजर-मूली की तरह काट गिराये गये और आप कहते हैं कि मैं शान्त रहूँ।

द्रोणाचार्य : दुर्योधन! आवेश में तुम सदा अनाप-शनाप बकते रहते हो! जिस दिन तुमने कृष्ण की नारायणी सेना स्वीकार कर कृष्ण को अर्जुन के लिए छोड़ दिया था उसी दिन मैंने तुम्हें कह दिया था कि यह युद्ध तुम्हारे लिये बहुत ही कठिन होगा।

दुर्योधन : मैं तो यह सोचने को विवश हो गया हूँ आचार्य कि उधर कृष्ण का होना आप

सभी के लिए भय और प्रकोप का कारण बन गया है। ऐसा ही था तो आप आरम्भ से ही उधर चले गये होते। आप तो हमेशा अर्जुन को अपना सबसे प्रिय मानते रहे हैं।

द्रोणाचार्य : अर्जुन के प्रति मेरी जो भावना है उसे यों ही नहीं बदला जा सकता। उसके कारण कौरव पक्ष के साथ ही मेरी राजभक्ति और मेरी प्रतिबद्धता झटके से मिट जाये, यह भी यों ही नहीं हो सकता। तुम यह जान लो कि मैने इस पक्षधरता को स्वीकार लिया है तो इसका निर्वाह मृत्यु की शय्या तक करूँगा क्योंकि इस अनचाहे को मैंने आदर्श बना लिया है।

दुर्योधन : अनचाहे को ?

द्रोणाचार्य : हाँ, अनचाहे को। प्रारम्भ से मैने चाहा तो कुछ और था।

दुर्योधन : क्या चाहा था आपने ?

द्रोणाचार्य : गान्धारी पुत्र, तुम्हें ज्ञात है कि मैंने क्या चाहा था। मैंने भाइयों का विभाजन नहीं चाहा था। चाहा था कि अपनेपन का नहीं सम्पत्ति का विभाजन हो जाये और भाई-भाई शत्रु न बनें।

दुर्योधन : और मैंने आपसे कहा था कि इस तरह के विचार को न तो तटस्थता कहते हैं और न ही न्यायप्रियता, बल्कि निर्णयहीनता और कपट कहते हैं।

द्रोणाचार्य : क्यों नहीं। तुम तो आज भी वही रहे। अपने गलत विचारों के दास। अपनी मिथ्या मान्यताओं के बन्दी।

दुर्योधन : आचार्य, मैं कभी नहीं भूलता कि आप मेरे गुरुवर हैं लेकिन आप भूल जाते हैं कि मैं शासक हूँ। राजा हूँ मैं।

द्रोणाचार्य : मैं तो यह भूल जाता हूँ दुर्योधन कि मैं द्रोणाचार्य हूँ। यह भी भूल जाता हूँ कि राजनीति कोई मन्दिर नहीं हुआ करती।

दुर्योधन : इससे क्या तात्पर्य ?

द्रोणाचार्य : यही कि समझौते को जीवन मान लेने की विवशता।

दुर्योधन : आप अपनी इस तरक की बातें बन्द कीजिये।

द्रोणाचार्य : तुम्हारा संकेत पाकर बातें कीं, अब तुम्हारा संकेत पाकर उन्हें बन्द किये देता हूँ। तुम्हारा अगला संकेत क्या है ?

दुर्योधन : मुझे पराजय नहीं चाहिए।

द्रोणाचार्य : यह तो पराक्रम से मिलती है।

दुर्योधन : तो फिर क्या भीष्म पितामह की मृत्यु के बाद ही कौरव पराक्रम का अन्त हो गया ? किस काम के हैं तब आप सब ? क्या रह जाती है आचार्य द्रोणाचार्य, महारथी कर्ण और बाक़ी पराक्रमियों की महत्ता ? क्या हैं आप ?

द्रोणाचार्य : तुम्हारे आश्रय में रहने वाला।

दुर्योधन : मैंने कहा न, आप इस तरह न बोलें।

द्रोणाचार्य : बुलवाते तो तुम हो कौरव शिरोमणि।

दुर्योधन : आप उस योजना के बारे में बोलिये जिसकी चर्चा हुई थी।

द्रोणाचार्य : तुम तो इधर इतनी व्यग्रता लिये होते हो कि औरों की सुनने की स्थिति में

कभी होते ही नहीं, उल्टे अपनी निरर्थक बातें करते हो।

दुर्योधन : ठीक है, ठीक है गुरुवर, मेरी क्षमायाचना है! पर आप उस व्यूह के बारे में तो बतायें।

[*प्रवेश अस्त्रपति का*]

अस्त्रपति : महाराज दुर्योधन की जय हो। जय हो महराज!

दुर्योधन : अस्त्रपति! क्या बात है? आप बड़े उत्तेजित दिख रहे हैं?

अस्त्रपति : आज मैं अपने जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि आपको देने आया हूँ महाराज।

दुर्योधन : क्या है वह?

अस्त्रपति : मैं उस अस्त्र को बनाने में सफल हो गया जिसके हवा में घूमते ही शत्रुओं को मूर्छा आ जायेगी। उससे आप पाण्डव सेना के बीच तहलका और भगदड़ मचा देंगे।

दुर्योधन : कब दे रहे हो हमें वह अस्त्र?

अस्त्रपति : कल शाम तक पहुँचा दिये जायेंगे सभी आपके शिविर में। लेकिन महाराज, इस पर खर्च बहुत अधिक आया है.........

दुर्योधन : तुम खर्च की चिन्ता क्यों करते हो? अस्त्र देख चुकने के बाद हम तुम्हें मुँहमाँगा दाम देंगे।

अस्त्रपति : महाराज की जय हो! जय हो महाराज!

दुर्योधन : पर याद रहे अस्त्रपति! यह अस्त्र तुम पाण्डवों को बेचने की मत सोचना।

अस्त्रपति : महाराज! यह आप क्या कह रहे हैं? इस शक्तिशाली अस्त्र को तो मैंने केवल आपके लिए तैयार किया है।

दुर्योधन : तो फिर ठीक है। तुम जा सकते हो। कल शाम अस्त्र को देकर मुद्राएँ ले जाना।

अस्त्रपति : जैसी आज्ञा महाराज की। महाराज दुर्योधन की जय हो!

[*प्रस्थान*]

दुर्योधन : देखा आपने। अब कल से हमारे पास इस युद्ध में उपयोग हो रहे अस्त्रों में सबसे आधुनिक अस्त्र होगा। ख़ैर, छोड़ो इसे। चक्र व्यूह के बारे में बताओ।

द्रोणाचार्य : चक्रव्यूह रचना को तुम पूरा समझो।

दुर्योधन : मुझे रचना से अधिक चिन्ता है उसकी सफलता की।

द्रोणाचार्य : मैं इस व्यूह रचना को असफलता के लिए नहीं कर रहा।

दुर्योधन : सफलता किसकी और असफलता किसकी?

द्रोणाचार्य : सफलता तुम्हारी, असफलता मेरी।

दुर्योधन : आपकी असफलता? मुझे आपकी नहीं, पाण्डवों की असफलता चाहिए। घमण्डी भीम और अर्जुन की असफलता चाहिए। द्रौपदी के अहंकार की असफलता चाहता हूँ। आपकी असफलता क्यों?

द्रोणाचार्य : मेरी असफलता इसलिए कि अपनी इतनी बड़ी रचना में मैं अर्जुन को नहीं घसीट पा रहा हूँ। मेरे चक्रव्यूह की प्रतिष्ठा पर यह एक..... ।

दुर्योधन : यह तो और भी अच्छा है कि चक्रव्यूह रचना के समय अर्जुन यहाँ से बहुत

दूर दक्षिण दिशा में त्रिगर्तों के साथ लड़ रहा है। उसकी अनुपस्थिति में तो हमारी जीत निश्चित है।

द्रोणाचार्य : इसीलिए तो कहा कि तुम्हारी सफलता है।

दुर्योधन : आपको विश्वास है कि आपके इस चक्रव्यूह को अर्जुन के अतिरिक्त कोई नहीं तोड़ सकता ?

द्रोणाचार्य : पाण्डव सेना में न तो किसी को उसके भीतर जाने की क्षमता है और न ही उसे तोड़कर उससे बाहर आने की किसी को जानकारी है। दिखाये देता हूँ तुम्हें उसकी जटिलता।

[वह धरती पर नक्शे द्वारा दुर्योधन को चक्रव्यूह की रचना समझाता है]

द्रोणाचार्य : यह रही व्यूह की रूपरेखा। आगे होगी हाथियों की कतार। हर सौ हाथियों के बाद चालीस-चालीस घोड़ों की चौदह पंक्तियाँ होंगी। चक्र के रूप में कौरव सेना की पहली पंक्ति तीन सेनानायकों के आदेश पर लौह दीवार बनी रहेगी। अब यह रेखा है शस्त्रवाहिनी की। यह है अश्वानीक व्यूह और इसके बाद आरम्भ होता है व्यूह किलाबन्दी। ये भूल-भुलैया पैदा कर देने वाले गलियारे होंगे। यहाँ तक अगर कोई पहुँच भी आया तो इससे आगे बढ़ना उसके लिए कठिन होगा। इस ठौर तक पहुँच आयी पाण्डव सेना निहत्थेपन की स्थिति में पहुँचकर लड़ने से असमर्थ हो जायेगी। यही है सेना भंग-व्यूह।

दुर्योधन : तब तो हमारी जीत निश्चित है।

द्रोणाचार्य : लेकिन अगर चक्रव्यूह की सातवीं घिरावट तक कोई पहुँच गया तो फिर हमारे महारथियों के लिए अपने को टिकाये रखना कठिन हो जायेगा।

दुर्योधन : आपका तो यह कहना है कि वहाँ तक अर्जुन के सिवाय कोई नहीं पहुँच सकता।

द्रोणाचार्य : यह कौशल केवल अर्जुन को ही आता है।

दुर्योधन : तब फिर मैं अभी दक्षिण दिशा को संदेश भिजवाये देता हूँ कि अर्जुन को त्रिगर्तों के बीच छूटने का अवसर ही न मिले।

[पदचाप सुनकर दोनों खड़े हो जाते हैं]

दुर्योधन : लगता है कोई इधर आ रहा है। युयुत्सु जैसा लग रहा है।

द्रोणाचार्य : युयुत्सु ही तो है।

[युयुत्सु सामने आकर द्रोणाचार्य के पैर छूता है]

दुर्योधन : सूर्य ऊपर आने को है, तुम अभी तक युद्ध-क्षेत्र को नहीं गये ?

युयुत्सु : अब तो कभी न जाने का निर्णय कर लिया है मैंने।

दुर्योधन : क्या ?

युयुत्सु : एक प्रश्न करने की आज्ञा आप देंगे मुझे ?

दुर्योधन : कैसा प्रश्न ?

युयुत्सु : यह तलवार जिससे मैंने कइयों को मृत्यु के घाट उतारा, यह शस्त्र मैं किसके लिए चलाता रहा ?

दुर्योधन : कैसा प्रश्न है यह ?

युयुत्सु : इसका उत्तर कोई नहीं दे पा रहा। आप बताइये भ्राता। गुरुदेव, आप बताइये किसके लिए मैं इस हथियार को रणभूमि में घुमाता रहा और इससे वीरों के रक्त की नदियाँ बहाता रहा? किसके लिए? अपने लिए?

द्रोणाचार्य : हाँ। यह तुम्हारा युद्ध है।

युयुत्सु : यह मेरा युद्ध है? या हर योद्धा का अपना-अपना युद्ध है? नहीं। यह युद्ध आपका है आचार्य जी! और आपका युद्ध है भ्राता दुर्योधन, जो आप हमें लड़ाते रहे। यह युद्ध मेरा होता तो मैं अपने सगे-सम्बन्धियों और मित्रों को क्यों गँवाता रहा? क्या केवल इसलिए कि वे उस शिविर के थे?

दुर्योधन : यह युद्ध कौरवों का युद्ध है।

युयुत्सु : या केवल आपका और आपके इन पथ-प्रदर्शकों का? बोलिये भ्राता, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के इस युद्ध को आप कौरवों का युद्ध क्यों बता रहे हैं?

दुर्योधन : तुम थके हुए लग रहे हो। विश्राम कर लो।

युयुत्सु : इन बारह दिनों में मैंने युद्ध की वीभत्सता देख ली। मैं उन बस्तियों को भी देख आया जहाँ विधवाएँ और अनाथ बच्चे हाहाकार कर रहे हैं। यह है वह तलवार जो आपकी भ्रातृ भक्ति से विवश आपके आदेश पर चलती रही। इस तलवार ने सैंकड़ों को विकलांग किया, सैकड़ों को मृत्यु के घाट उतारा। अनेकों को बेघर, विधवा और अनाथ बना दिया। इस शस्त्र की दग्धता अब केवल मेरी मुट्ठियों को ही नहीं मेरी आत्मा तक को भस्म करती प्रतीत हो रही है। अब तो मुझे इससे अपनी ही रक्षा करने की आवश्यकता आ पड़ी है। यह रही युयुत्सु की तलवार। अब यह निर्दोष जनों की गरदनों पर नहीं चल सकती क्योंकि इसकी धार का असर अब मेरी अपनी ही गरदन पर होने लगा है।

दुर्योधन : क्या हो गया तुम्हें?

युयुत्सु : भ्राता, आप मुझे क्षमा करें (**वह अपनी तलवार को दुर्योधन के चरणों पर रख देता है**), यह युद्ध नहीं, एक-दूसरे की हत्या के साथ अपने आप की भी हत्या है। मैं अब इसके लिए तैयार नहीं।

दुर्योधन : कायरता पर उतर रहे हो तुम मेरे अनुज।

युयुत्सु : आप इसे कोई भी शब्द दे सकते हैं।

दुर्योधन : युयुत्सु! कौरव पुत्र होकर तुम हथियार फेंक रहे हो! महाराज धृतराष्ट्र को तो तुम्हारी वीरता का बड़ा गर्व था।

युयुत्सु : उन्हें मेरी वीरता का नहीं हत्यारे होने का गर्व रहा होगा।

दुर्योधन : जब आमने-सामने के दो सैनिकों के हाथ में शस्त्र होते हैं तो उसे हत्या नहीं युद्ध कहते हैं। यही है युद्धभूमि का धर्म।

युयुत्सु : और जब पाँच-सात योद्धाओं के आक्रमण से एक सैनिक के हाथ का शस्त्र नीचे गिर जाता है और पाँच-सात शस्त्रों का प्रहार एक-साथ उस निहत्थे योद्धा पर होने लगता है तो उसे क्या नाम देंगे भ्राता? वीरता?

दुर्योधन : लेकिन इस धर्मयुद्ध में ऐसा नहीं हुआ। हुआ भी तो उसे युद्धनीति समझो।

युयुत्सु : या अनीति!

दुर्योधन : युद्ध में अनीति भी नीति होती है।

युयुत्सु : और अधर्म भी धर्म होता है?

दुर्योधन : मुझे लगता है तुम एक बार फिर पाण्डव शिविर से आ रहे हो।

युयुत्सु : नहीं। मैंने कहा न मैं उस बस्ती से आ रहा हूँ जहाँ की विधवाओं और अनाथों के बीच हाहाकार तो है ही, साथ-ही-साथ अनाज और जल का अभाव लोगों को वहाँ बेमौत मार रहा है। मैं पाण्डव शिविर से नहीं हस्तिनापुर के उन नरक बन गये इलाकों से आ रहा हूँ जहाँ वेदना-भरी गुहार सुनने के लिए राजा का कोई प्रतिनिधि नहीं है।

द्रोणाचार्य : युयुत्सु! तुम क्षत्रिय हो। योद्धा इतना भावुक नहीं होता। युयुत्सु। तुम्हारे भीतर का भय ही इस तरह बोल रहा है। तुम भयभीत हो।

युयुत्सु : भय ही तो बोल रहा है। अपने ही लोगों का डर। अपने कुकर्मों के पहाड़ के नीचे दब मरने का ही तो यह भय है। आप सही कह रहे हैं, मैं भयभीत हूँ इस युद्ध के परिणाम से। मुझे भय है उस विध्वंसात्मक भविष्य का जिसे कल की पीढ़ी अपना वर्तमान मानने से इन्कार कर देगी। यह अपने निजी शरीर का भय नहीं है पर उस मर्यादा के हनन हो जाने का भय है जिसकी रक्षा के ढकोसले को कवच बनाकर यह युद्ध लड़ा जा रहा है। आपका कहना ठीक है, मैं भयभीत हूँ। आपकी न्यायप्रियता और आदर्शों को विपरीत दिशा में चले जाते देख मेरा रक्त तो भय से ज़मा जा रहा है।

द्रोणाचार्य : तुम अपनी चेतना खो बैठे हो और विवश हो अपनी भलमनसी जताने वाले शत्रुओं के दिमाग से सोचने को।

युयुत्सु : क्षमा करें गुरुवर, मैंने अगर चेतना खो दी है तो आप लोग आँखें और कान सभी खो बैठे हैं। देख पा रहे हैं आप रक्त की नदी को? सुन पा रहे हैं धरती के क्रन्दन और बिलखती आत्माओं को?

द्रोणाचार्य : तुम वीरों की वाणी में नहीं बोल रहे हो।

युयुत्सु : तो? जल्लादों की बोली में बोल रहा हूँ क्या?

द्रोणाचार्य : भावुकता में बोल रहे हो।

युयुत्सु : तो फिर गुरुवर, जो भावुक होता है वह योद्धा नहीं होता। इसलिए तो हथियार रख दिया मैंने।

द्रोणाचार्य : मैं जानता हूँ कि तुम पराजय से कुण्ठित हो उठे हो। यह तुम्हारी पराजय बोल रही है। तुम अपने धैर्य और साहस को इस तरह मत त्यागो। यह देखा? (युयुत्सु को भूमि पर चक्रव्यूह का नक्शा दिखाते हुए।)

युयुत्सु : क्या है यह?

द्रोणाचार्य : वत्स, यह चक्रव्यूह है।

युयुत्सु : कोई दूसरा कुचक्र ?

दुर्योधन : इस व्यूह से पाण्डव सेना की सारी वीरता जाती रहेगी। पाण्डव सैनिक इसमें इस तरह घेरे जायेंगे कि.........

युयुत्सु : उनमें से एक का बच निकलना असम्भव हो जायेगा।

द्रोणाचार्य : और हमारे योद्धा अपने-अपने धनुष-बाण, तलवार, गदा और बरछियों से उन्हें छलनी करके रख देंगे।

दुर्योधन : हाँ।

युयुत्सु : और हमारी बहुत बड़ी जीत होकर रहेगी। कितना बड़ा षड्यन्त्र होगा यह?

द्रोणाचार्य : षड्यन्त्र? तो फिर जो उधर से होते रहे क्या वे षड्यन्त्र नहीं थे?

युयुत्सु : यही तो मैं कह रहा हूँ। इन दोनों पक्षों के षड्यन्त्रों से ऊब गया हूँ मैं।

दुर्योधन : कायर मत बनो।

युयुत्सु : कायर होना हत्यारे होने से अधिक बड़ा पाप है क्या? आप लोग अपनी वीरता का प्रदर्शन करते रहें। अपनी काल्पनिक विजय का ढिंढोरा पीटते रहें। मैं चला।

द्रोणाचार्य : तुम गलत समय पर मैदान छोड़ रहे हो।

युयुत्सु : गलत क्यों?

दुर्योधन : क्योंकि अब हमारी जीत निश्चित है।

युयुत्सु : जीत कौरवश्रेष्ठ! युद्ध में किसी की जीत नहीं होती। हाँ, इतना अवश्य होता है एक पक्ष अगर तेरह हज़ार हाथी, चौबीस हज़ार घोड़े और चालीस हज़ार योद्धाओं को गँवा बैठता है तो दूसरा उससे थोड़ा कम। और जो कम हारता है उसे युद्ध की भाषा में जीत कहते हैं। हार की जीत। आप जीतते रहिये इसी तरह की जीत और करते रहिये, अपनी वीरता का प्रदर्शन। मैं तो चला।

दुर्योधन : कहाँ?

युयुत्सु : कृष्ण के पास।

दुर्योधन : रुक जाओ। कृष्ण हमारे पक्ष में नहीं हैं।

युयुत्सु : वह हमारे पक्ष में हो ही कैसे सकते हैं? जो अपने ही बन्धुओं को सुई की नोक के बराबर भूमि का टुकड़ा देने से इन्कार कर दे उसके पक्ष में कृष्ण कैसे हो सकते हैं और फिर कृष्ण को अपने पक्ष में रखने के अवसर को तो आप स्वयं खो चुके हैं। धरती पर पैदा होने वाले हर व्यक्ति का धरती पर अधिकार होता है, फिर यह कैसा न्याय कि धरती एक की हो और दूसरे की न हो। और फिर आदमी का यह कौन-सा अधिकार होता है कि वह दूसरे को रहने-भर धरती से वंचित रखकर खुद अपनी आवश्यकता से अधिक का स्वामी बना रहे?

दुर्योधन : तुम सचमुच थके हुए हो। तुम आज युद्धक्षेत्र में मत जाओ। कल होगी तुम्हारी आवश्यकता.........चक्रव्यूह में। चलकर विश्राम करो।

युयुत्सु : जब-जब युद्ध विश्राम की घोषणा होती है इस अर्थ के साथ तो होती है कि हे वीर, तुम्हें आज नहीं कल मरना है, इसलिए आज की रात तुम विश्राम कर लो। इसीलिए मेरी भी आपको आज नहीं कल होगी आवश्यकता। हाँ, कल होगी मेरी आवश्यकता आपको.........आपके और आपके युद्ध को लड़ने के लिए.........एक भ्रातृ कलह को आप श्रेष्ठ लोग भ्रातृ कलह के रूप में

कैसे समाप्त कर सकते थे। कहाँ होती आपकी महानता और राज्य कुशलता और रणनीति का कौशल? इसलिए आप मुट्ठी-भर श्रेष्ठ जनों ने लाखों आम व्यक्तियों को एक-दूसरे से लड़ा देने के लिए छोटी-सी भ्रातृ-कलह को कुरुक्षेत्र का युद्ध बना दिया। (सिर पर हाथ रखकर) हद हो गयी। रोक दो ....अब भी समय है रोक दो इस नरसंहार को.........बन्द कर दो इस गिद्ध संस्कृति को।

द्रोणाचार्य : शान्त हो जाओ युयुत्सु.........शान्त हो जाओ।

युयुत्सु : शान्त कहने वाले के पास शान्ति शब्द की सही व्याख्या क्यों नहीं? आप तो भीतर से स्वयं अशान्त हैं गुरुवर। आपके अपने भीतर तो इस बाहरी युद्ध से भी भयावह युद्ध छिड़ा हुआ है। युद्ध! युद्ध! युद्ध! (पागल की तरह पूरे मंच पर दौड़कर), कहाँ है मेरे कल के सहपाठी आज के शत्रु। (तलवार को नीचे से उठाकर हवा में चलाते हुए।), ले आओ घटोत्कच को, नकुल को, सहदेव, सात्यकि, द्रुपद, काशिराज, सत्यजित, धृष्टद्युम्न, चेकितान, कुंतिभोज को, ले आओ सभी को। एक-एक को धराशायी करके छोड़ूँगा.........कहाँ हो तुम कल के मेरे मित्र, आज के मेरे शत्रु। मैं तुम्हें शत्रु और मित्र के बीच की समानता प्रमाणित करना चाहता हूँ। आओ मेरे सामने.........लेकिन.........गुरुवर, आपसे एक प्रश्न करूँ?

द्रोणाचार्य : क्या?

युयुत्सु : अगर मित्र मित्र नहीं रहा, भाई भाई नहीं रहा तो फिर शत्रु शत्रु क्यों?

द्रोणाचार्य : शरीर के साथ-साथ तुम्हें मानसिक थकान भी हो गयी है। तुम्हें विश्राम चाहिए।

युयुत्सु : या कि मैं पागल हो चला हूँ? हाँ, मैं पागल हो गया हूँ। मैं अपने ही आप को नोच लूँगा। (नोचने की प्रक्रिया)

द्रोणाचार्य : दुर्योधन! तुम इसे थामो। चलो इसे शिविर में ले चलते हैं। यह पागल होने को है। सचमुच पागल होने को है।

[दोनों उसे थामकर मंच छोड़ना चाहते हैं]

युयुत्सु : नहीं.........नहीं.........मैं युद्ध नहीं करूँगा।

द्रोणाचार्य : हम तुम्हें युद्ध को नहीं ले जा रहे। तुम्हें विश्राम के लिए ले जा रहे हैं।

युयुत्सु : विश्राम। एक रात का विश्राम (हँसी) ताकि एक रात के विश्राम के बाद मृत्यु भव्य हो सके। पर नहीं, मुझे भव्य मृत्यु नहीं चाहिए। छोड़ दो मुझे। मैं विश्राम नहीं चाहता। मुझे छोड़ दो।

[दोनों उसे पकड़े बाहर हो जाते हैं]

[प्रकाश फिर धूमिल होकर फैला है। प्रथम दृश्य के तीनों सैनिक बिना कुछ कहे बायीं ओर से दायीं ओर को जाते हैं]

[सुभद्रा का प्रवेश]

सुभद्रा : (एकटक क्षितिज की ओर ताकती हुई) माधव! तुम तो बोले थे कि जो कुछ भी हो रहा है उसे होना है और उसी में मानव-जाति का कल्याण है। आज जब

सुना कि आचार्य द्रोण ने चक्रव्यूह की रचना की है तो दहल उठी हूँ मैं। पहली बार मैं भय से ग्रस्त हुई हूँ। पहली बार ऐसा लग रहा है कि मेरे हृदय की धड़कनों के बीच कोई कंकड़ आ गया है जिससे मेरे श्वास उलझ गये हैं। अभिमन्यु जब पेट में था मेरा, तभी चक्रव्यूह की भयानकता और उसकी नृशंसता से अवगत हो गयी थी मैं। युद्ध नीति को इस चरम सीमा की क्या सचमुच आवश्यकता आ पड़ी? माधव, तुम तो बोले थे कि यह निबटारे का युद्ध है। शास्त्रों में समझौते की प्रक्रिया है। तो इस आपसी सुलझाव के लिए चक्रव्यूह की अनिवार्यता उचित कैसे हो गयी? वह भी उस समय जब चक्रव्यूह का भेदक यहाँ से बहुत दूरी पर हो। कान्हा, यह तुम्हारा कौन-सा रूप है?

सैनिक स्वर : ....मैं शान्ति-स्थल के लिए भटक रहा हूँ। बिछड़ गये मेरे मित्र मुझसे। कहाँ पहुँच आया मैं?

सुभद्रा : किसका स्वर है यह? आसपास तो कोई नहीं। कोई भी तो नहीं दीख रहा। कहाँ गये आर्यपुत्र भीम? धर्मराज भी तो नहीं दीख रहे।
[*तीनों घायल सैनिकों में से एक का अंधेपन की अवस्था में प्रवेश*]

प० सैनिक : कहाँ भटक आया मैं? कहाँ रह गये मेरे मित्र?

सुभद्रा : कौन हैं आप?

प० सैनिक : मैं..........मैं कौरव योद्धा हूँ। हारा हुआ। टूटा हुआ। देवव्रत के बाणों से अन्धा बना हुआ। आप कौन हैं?

सुभद्रा : मैं धर्मराज को ढूँढ रही हूँ। सुभद्रा हूँ।

प० सैनिक : वह तो कुरुक्षेत्र गये होंगे। कुरुक्षेत्र! (ठहाका) अच्छा हुआ मेरे नेत्रों की ज्योति चली गयी। कम-से-कम कुरुक्षेत्र की नरहत्या तो नहीं देख पाऊँगा। दो भाइयों के युद्ध में हम दो मित्र भी आपस में एक-दूसरे को विकलांग और अन्धा बना गये। इससे अच्छी तो मृत्यु होती।

सुभद्रा : मुझे तुम्हारी इस स्थिति पर सहानुभूति है वीर।

प० सैनिक : वीर! अब तो मैं अन्धा हूँ। महाराज धृतराष्ट्र की तरह अन्धा। जैसा राजा वैसी प्रजा। सम्बन्ध की इतनी बड़ी सार्थकता और क्या हो सकती है? इसीलिए भटक रहा हूँ। अन्धी गलियारों में अपनी पत्नी और बच्चों को ढूँढना हुआ। कोई नहीं मिल रहा। माँ सुभद्रा, आप बतायें मुझे, पूर्व दिशा किधर है? मैं अपने मित्रों से भटक गया हूँ। मुझे दिशा बता दें।

सुभद्रा : मैं बताये देती हूँ तुम्हें पूर्व की दिशा।
[*वह उसका हाथ थामकर उसे मंच के कोने तक छोड़ने पहुँचती है। विदाई से पहले सैनिक पूछता है*]

प० सैनिक : आप एक बात बतायेंगी।

सुभद्रा : पूछो।

पहला : क्यों होते रहते हैं युद्ध?

सुभद्रा : काश! मैं तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर दे सकती!

[सैनिक चला जाता है। दूसरी ओर से अभिमन्यु का योद्धा-वेश में प्रवेश]

अभिमन्यु : माँ! सुमित्र ने बताया कि तुम मुझे ढूँढ़ रही हो?

सुभद्रा : हाँ पुत्र, मैं तुम्हें भी ढूँढ़ रही हूँ।

अभिमन्यु : मुझे भी?

सुभद्रा : धर्मराज से भी यहीं मिलना तय हुआ था।

अभिमन्यु : मेरे लिए क्या आदेश है माँ?

सुभद्रा : तुम तो युद्ध की वेश-भूषा में आ गये?

अभिमन्यु : पहले ही ताड़ चुका हूँ तुम्हारे आदेश को।

सुभद्रा : फिर पूछ क्यों रहे हो?

अभिमन्यु : क्योंकि आदेश के साथ आर्शीवाद भी लेना है तुम्हारा ।

सुभद्रा : पालन कर पाओगे मेरी आज्ञा को?

अभिमन्यु : मैं चक्रव्यूह में प्रवेश होने के लिए तैयार हो चुका हूँ।

सुभद्रा : तुम्हें चक्रव्यूह की बात किसने बतायी?

अभिमन्यु : मुझे प्यार करने वाले महान भीम और धर्मराज बहुत चिन्तित हैं कि पिताजी की अनुपस्थिति में कौन तोड़ पायेगा आचार्य द्रोण की उस रचना को। मैं उन्हें आश्वस्त करके आ रहा हूँ कि मैं प्रवेश करूँगा उस व्यूह के भीतर।

सुभद्रा : नहीं अभिमन्यु, नहीं। ऐसा नहीं हो सकता। मैं तुम्हें आदेश नहीं दे पाऊँगी पुत्र।

अभिमन्यु : मेरी इच्छा के पूर्ण होने की आज्ञा तो दे सकोगी?

सुभद्रा : कैसे दूँ तुम्हें ऐसी आज्ञा?

अभिमन्यु : ऐसा क्यों नहीं हो सकता माँ। मैं तो तुम्हारे पेट से यह रण-कौशल सीखकर आया हूँ।

सुभद्रा : यह सही है लेकिन.......... ।

अभिमन्यु : लेकिन क्या?

सुभद्रा : तुम्हें उसमें प्रवेश कर जाने का कौशल तो आता है लेकिन उससे बाहर आने की जानकारी तुम्हें नहीं है। जब आर्यपुत्र मुझे व्यूह की रचना के बारे में बता रहे थे तो मुझे नींद आ गयी थी और आगे की बातें अनजानी रह गयीं। तुम्हें भेड़ियों के बीच प्रविष्ट होना तो आता है लेकिन उससे बाहर निकल आने का कौशल तुम में नहीं।

अभिमन्यु : तुम चिन्ता मत करो माँ। मैं पता लगाकर रहूँगा।

सुभद्रा : जहाँ द्वार ही न हो वहाँ द्वार कैसे ढूँढ़ पाओगे?

अभिमन्यु : ढूँढ़ न पाऊँ न सही, पर द्वार बना तो पाऊँगा।

सुभद्रा : नहीं बेटे मेरे।

अभिमन्यु : तुम चिन्ता मत करो माँ, मैं अर्जुन का पुत्र हूँ। कृष्ण का भांजा हूँ। तुम्हारा दूध पिया हुआ हूँ।

सुभद्रा : अभि तुम हठ मत करो, फँस जाओगे अभि।

अभिमन्यु : इस अभि का अभय ज्ञान देने वाली जननी आज तुम स्वयं मृत्यु से भयभीत

हो? मृत्यु तो तब से मेरे साथ-साथ है जब से जन्मा हूँ मैं। वह तो जीवन से भी बड़ा सत्य है माँ।

[*युधिष्ठिर का प्रवेश*]

युधिष्ठिर : मत रोको अभिमन्यु को।

सुभद्रा : आप भी चाहते हैं कि अभिमन्यु.........

युधिष्ठिर : पाण्डवों के पास इस समय कोई दूसरा चारा नहीं। हमारे बीच सौभद्र अकेला है जिसे व्यूह तोड़ना आता है।

सुभद्रा : पर उससे बाहर आना इसे नहीं आता।

युधिष्ठिर : इसकी चिन्ता तुम मत करो। भीम के साथ विमर्श करके ही मैंने निर्णय लिया—आत्मविश्वास के साथ। अभिमन्यु अकेला नहीं होगा। हम सभी उसके पीछे रहेंगे। भीम हर वक़्त इसकी बगल में होगा। हमारे वीर योद्धा कौरव सैनिकों द्वारा अभिमन्यु का बाल भी बाँका नहीं होने देंगे।

[*प्रवेश अस्त्रपति का*]

अस्त्रपति : महाराज युधिष्ठिर की जय हो। जय हो महाराज।

युधिष्ठिर : आओ अस्त्रपति! कहो, कैसे आना हुआ?

अस्त्रपति : शुभ-सन्देश ले आया हूँ महाराज!

युधिष्ठिर : सुनाओ तो सही।

अस्त्रपति : जिस अस्त्र का वचन आपको दिया था वह तैयार हो गया। कल उसे आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। उस अस्त्र से कौरव सेना को आपकी सेना विकलांग करके छोड़ देगी। उससे तो दिन-दहाड़े बिजली चमकती है और हर चमक में शत्रुओं की पराजय निहित है।

युधिष्ठिर : वाह! हमें तुमसे यही आशा थी।

अस्त्रपति : लेकिन महाराज युधिष्ठिर, इस अस्त्र के निर्माण में मुझे........

युधिष्ठिर : मैं जानता हूँ। तुम जो माँगोगे वही मिलेगा।

अस्त्रपति : यह अस्त्र मैंने केवल पाण्डव सेना के लिए निर्मित किया है इसलिए.........।

युधिष्ठिर : इसलिए इसका मूल्य भी विशेष होगा। यही न?

अस्त्रपति : आपको तो हमारा आशय ज्ञात हो गया महाराज!

युधिष्ठिर : ठीक है, तुम उसके बदले स्वर्ण मुद्राएँ ले जाना।

अस्त्रपति : महाराज की जय हो! जय हो महाराज!

[*प्रस्थान*]

युधिष्ठिर : पाण्डवों को इस युद्ध का सबसे आधुनिक अस्त्र मिल रहा है सुभद्रे। तुम भयभीत मत होओ।

सुभद्रा : मैं अभिमन्यु की बात कर रही हूँ।

युधिष्ठिर : तुम उसकी चिन्ता मत करो।

सुभद्रा : मुझसे स्वीकृति नहीं दी जा रही है धर्मराज।

युधिष्ठिर : क्यों सुभद्रा? तुम्हें हमारे महारथियों पर विश्वास नहीं?

सुभद्रा : मुझे कौरव महारथियों का भय है। अभिमन्यु उनके समक्ष कैसे टिक पायेगा?

अभिमन्यु : माँ! तुम्हें अपने पुत्र के बाहुबल पर विश्वास नहीं?

सुभद्रा : नहीं पुत्र, तुम्हारे बाहुबल पर मुझे पूरा विश्वास है। मैं तो युद्ध के षड्यन्त्रों से आशंकित हूँ। चक्रव्यूह युद्ध से कहीं अधिक कपट भावों की उत्पति है इसलिए वहाँ धर्म और नीति नाम की कोई मर्यादा तो होगी नहीं। मैं तुम्हें षड्यन्त्रों और कपट भावनाओं का शिकार होने के लिए कैसे छोड़ दूँ और वह भी तुम्हारे पिता की अनुपस्थिति में!

अभिमन्यु : उनकी दी हुई सीख मेरे साथ होगी और तुम्हारा आशीर्वाद। ये दोनों तो मेरे सबसे सशक्त अस्त्र होंगे। मेरा आत्मबल और विजयी ध्वज तो तुम हो माँ।

युधिष्ठिर : और फिर हम तुम्हें अपने से ओझल थोड़े ही होने देंगे।

अभिमन्यु : सुना न माँ। इस पर भी तुम्हें आपत्ति है?

सुभद्रा : धर्मराज का आदेश, भीम का अनुग्रह और तुम्हारे हठ के सामने मैं विवश हो सकती हूँ और सम्भवत: तुम्हें आज्ञा दे सकती हूँ लेकिन उत्तरा भी तुम्हें यह आज्ञा दे सकेगी, मुझे सन्देह है।

[*उत्तरा का प्रवेश*]

उत्तरा : नहीं-नहीं, मैं आत्महत्या करने की यह आज्ञा कभी नहीं दे सकती।

अभिमन्यु : आत्महत्या!

उत्तरा : आत्महत्या नहीं तो और क्या है? खूँखार शत्रुओं के बीच इस तरह प्रवेश पाने की बावली चाह को अगर आत्महत्या न कहूँ तो फिर? तब तो इसे अपने ही आत्मीय जनों के हाथों भक्षकों के बीच ढकेले जाने की तुम्हारी हत्या का षड्यन्त्र मानना पड़ेगा। मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी। माँ! (फिर युधिष्ठिर की ओर हाथ जोड़ती हुई) धर्मराज, यह अनर्थ आप न होने दें। मैं पहले ही बहुत बुरा सपना देख चुकी हूँ। आपको अपनी यह सन्तान प्यारी न हो तो कम-से-कम मेरे सुहाग को मिटाने की चेष्टा तो आप लोग न करें।

युधिष्ठिर : शान्त हो जाओ उत्तरे!

उत्तरा : पाण्डव सेना में योद्धाओं, सेनापतियों और महारथियों का अभाव तो नहीं। उनमें से किसी को चक्रव्यूह भेदने का आदेश दें। जिसके बदन से अभी ब्याह मँडप की सुगन्ध नहीं गयी है उसे क्यों झोंक रहे हैं रक्त के प्यासे शत्रुओं के बीच।

सुभद्रा : उत्तरे! मैं भी तो नहीं चाहती कि अभिमन्यु को चक्रव्यूह में झोंक दिया जाये लेकिन.........

उत्तरा : लेकिन क्या? कहीं आप भी इन लोगों की बात मान तो नहीं बैठीं?

सुभद्रा : कैसे न मानूँ? विवशता है।

उत्तरा : कैसी विवशता? अपने प्राण से प्यारे को मृत्यु की भट्टी में झोंक देने की विवशता? आप पुत्र के लिए ऐसा कर सकती हैं माँ, लेकिन मैं अपने सुहाग को.........

युधिष्ठिर : उत्तरे, तुम चाह रही हो कि भविष्य अभिमन्यु को कायर कहे?

उत्तरा : नहीं। मैं केवल यह चाह रही हूँ कि मुझ यौवना को कोई विधवा न कहे।

युधिष्ठिर : जो अभी हुआ नहीं उसे हुआ क्यों समझ रही हो?

उत्तरा : चक्रव्यूह की जिस सफलता का आप इतना विश्वास बनाये बैठे हैं, वह भी अभी हुई नहीं।

युधिष्ठिर : हमारी सेना कूच करने की प्रतीक्षा में है। उधर कौरव सेना हमें समय पर न आते देख उत्साहित हो रही होगी। उनकी मन:स्थिति को हौसला मिल रहा होगा।

[*तुरही और डंके की गूँज*]

अभिमन्यु : तुरही और डंके की गूँज। कूच करने का समय हो गया। सुमित्र रथ तैयार किये मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। आज्ञा दें। आप सभी। उत्तरे, मैं लौटकर आऊँगा विजय आरती के लिए। विश्वास करो।

उत्तरा : नहीं। मैं तुम्हें मृत्यु स्वीकारने की आज्ञा नहीं दे सकती। पिताश्री, धर्मराज और माँ सुभद्रा, तुम्हें चक्रव्यूह में जाने का महादण्ड दे सकते हैं, लेकिन मैं नहीं दे सकती तुम्हें कुरुक्षेत्र जाने की आज्ञा। शत्रुओं के षड्यन्त्र में फँसने की अनुमति नहीं दे सकती मैं.........तुम नहीं जाओगे।

सुभद्रा : (उसे थामकर) उत्तरे! मैं तुम्हारी भावना का आदर करती हूँ पर........पर तुम क्षत्रिय कुल की हो। वीर की वधू हो, वीर की पत्नी हो। अपने पति को युद्ध में जाने से रोकने का तुम्हारा अधिकार नहीं होता। मैं तो माँ होकर नहीं रोक पा रही।

उत्तरा : अधिकार चाहे न हो पर मेरा कर्त्तव्य तो होता है। वीरता और साहस की यह परिभाषा जो आप लोग देना चाह रहे हैं उसे मैं कैसे स्वीकार लूँ? कैसे भर लूँ अपने आँचल में जीवन-भर का अँधेरा?

सुभद्रा : तुम्हारा कर्त्तव्य अपने पति को कायर और रणभीरू बनाना भी तो नहीं हो सकता। कुलप्रथा को यों खंडित मत करो। मेरी प्रार्थना है तुमसे।

उत्तरा : नहीं.........नहीं......... (वह अपने कानों पर हाथ रख लेती है) आप लोग मुझे खोखले आदर्शों के बवण्डर में मत डालें।

युधिष्ठिर : तुम चाहती हो कि पाण्डव सेना पराजित हो जाये और पाण्डव कुल मटियामेट होकर रह जाये?

सुभद्रा : कुलवधू, त्याग दो अपने हठ को।

उत्तरा : पत्नी धर्म को भी त्याग दूँ?

सुभद्रा : तुम्हारा हठ पाण्डव कुलवधू के आदर्श के विरुद्ध है।

उत्तरा : और मेरे भीतर की पत्नी का?

सुभद्रा : क्या चाहती है तुम्हारे भीतर की पत्नी?

उत्तरा : लोग अपने सपनों को साकार होते देखना चाहते हैं, लेकिन मैंने जो स्वप्न देखा है वह साकार हो जाये यह मैं नहीं चाहती, बिल्कुल नहीं चाहती। माँ, आप अपने पुत्र का वध चाह रही हैं?

अभिमन्यु : नहीं उत्तरे। ये लोग नहीं। मैं स्वयं चक्रव्यूह तोड़ने को विवश हूँ। पिता की

अनुपस्थिति में उनके दायित्व का मुझे पालन करना है।

उत्तरा : आत्महत्या के लिए अपनी इस अधीरता को तज दो आर्यपुत्र। पाण्डव कुल अनाथ हो जायेगा। उत्तरा विधवा हो जायेगी। इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर अपने सौन्दर्य और वैभव को खो बैठेंगे।

युधिष्ठिर : पाण्डव वधू, तुम अपने स्वार्थ के आगे उस मर्यादा को भूल रही हो जिसके लिए आज हम कटिबद्ध हैं। तुम द्रौपदी के साथ हुए अन्याय और अपमान से अनभिज्ञ नहीं हो। तुम्हारे साथ-साथ इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर दोनों देशों की नारियों की मानरक्षा पाण्डवों की जीत में निहित है। यह युद्ध मात्र भूमि के टुकड़े का युद्ध नहीं है। इसमें नारी के अधिकार और सम्मान का भी प्रश्न है। अभिमन्यु को विदाई दो। समय व्यर्थ जा रहा है। हमें जाने दो।

उत्तरा : जाने दूँ। झूठे स्वाभिमान की वेदी पर बलिदान हो जाने दूँ?

युधिष्ठिर : विजयी होकर लौटने के लिए इसे जाने दो।

उत्तरा : पिताश्री, इस जय-विजय का क्या आश्वासन है आपके पास?

सुभद्रा : मैं माँ होकर उसके पराक्रम और वीरता पर आश्वस्त हूँ। उत्तरा, तुम कुलवधू हो, अपने विश्वास को खंडित न होने दो।

[*फिर से तुरही और डंके गरजते हैं*]

अभिमन्यु : विलम्ब हो रहा है। पाण्डव सेना धैर्य खो बैठेगी। जाने दो उत्तरे।

युधिष्ठिर : कुलवधू, जाने दो सौभद्र को।

सुभद्रा : (थाली सामने बढ़ाकर) लो उसे विजय तिलक के साथ विदा करो।

उत्तरा : माँ, यही आपका आदेश है?

सुभद्रा : यह मेरी प्रार्थना है उत्तरे।

उत्तरा : और पिताश्री, आपकी भी यही इच्छा है।

युधिष्ठिर : मेरा भी केवल अनुरोध है तुमसे।

उत्तरा : कैसे कर लूँ अपना अनर्थ? कैसे न मानूँ पाण्डवश्रेष्ठ की प्रार्थना और कैसे ठुकराऊँ पाण्डव मर्यादा का अनुरोध?

[*उत्तरा यांत्रिकता के साथ आगे बढ़ती है। अभिमन्यु को तिलक लगाती है। फिर सुभद्रा तिलक करती है*]

सुभद्रा : तुम विजयी होकर लौटो लाल मेरे।

[*उत्तरा अपनी गरदन से रक्षा-सूत्र उतारकर अभिमन्यु की बाँह में बाँधती है*]

उत्तरा : नहीं जान पा रही हूँ कि मैंने कर्त्तव्य का पालन किया है या धर्म का। तुम्हारे अधिकार की रक्षा की है या सम्मान की। नहीं जान पा रही यह स्वाभिमान है या मर्यादा। नियति मान स्वीकार रही हूँ। यह रक्षा-सूत्र तुम्हारी रक्षा करेगा।

[*अभिमन्यु सुभद्रा के पैरों का स्पर्श लेता है। वह उसे गले से लगाती है*]

युधिष्ठिर : तुम पाण्डवों का गौरव बनो सौभद्र। तुम चन्दन तिलक तैयार रखना सुभद्रा। हम विजयी लौटेंगे।

[*अभिमन्यु आगे बढ़ता है*]

उत्तरा : मुझे प्रतीक्षा रहेगी तुम्हारी। (वह अभिमन्यु के हाथ को कठिनाई से छोड़ती है)

[*युधिष्ठिर के पीछे अभिमन्यु का प्रस्थान। क्षण बाद उत्तरा और द्रौपदी का निकलना दूसरी ओर से। प्रवेश गोकुलवासी का*]

गो० वासी : निर्मोहियों ने झूठी मर्यादा, झूठे स्वाभिमान के अन्धेपन में भेज दिया अभिमन्यु को मृत्यु की बाँहों में। धिक्कार है, धिक्कार है। पाण्डवों और कौरवों—दोनों को धिक्कार है।

[*तभी धीरे-धीरे प्रकाश धूमिल होने लगता है*]

गो० वासी : अरे यह क्या ? अभी-अभी तो प्रात: हुआ है। अभी तो दिन चढ़ा भी नहीं तो फिर क्या कारण है कि अँधेरा छाने लगा ? यह एकाएक कैसा अँधेरा ? क्यों ? क्यों दिन-दहाड़े रात का-सा अँधेरा छाने लगा ? लगता है सुकुमार और निर्दोष अभिमन्यु को आत्महत्या के लिए विवश कर देने वाले दोनों पक्षों के कुकर्मों का ही परिणाम है यह। (ऊपर देखते हुए) क्या यह भी तुम्हारी लीला का स्वरूप है मुरलीधर, या समझ में न आने वाले तेरे दर्शन का ही कोई दर्शन है यह ?

[*गोकुलवासी धीरे-धीरे चलकर अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचता है और दोनों हथेलियों को कानों पर रख लेता है।*]

[*अँधेरा घना हो जाता है*]

पहला स्वर : महाभारत युद्ध का आज तेरहवाँ दिन आरम्भ हो गया। पशु-पक्षी अपने-अपने घोंसले और बिलों में दुबके रहे। बस्तियों के भूखे-प्यासे बच्चे रोना भूल चिपके रहे माताओं के अंक में।

दूसरा स्वर : पाण्डवों और कौरवों दोनों ओर की अक्षौहिणी सेना के योद्धाओं के बीच आ गयी प्रचण्ड घड़ी।

पहला स्वर : इस महायुद्ध में चल पड़े इक्कीस हज़ार आठ सौ सत्तर हाथी।

दूसरा स्वर : इस युद्ध में दौड़ पड़े लगभग उतने ही रथ। घोड़े दोड़ाये गये पैंसठ हज़ार से ऊपर।

पहला स्वर : और भिड़ उठे ग्यारह लाख योद्धा। समय से पहरे धरती पर प्रलय लाने की प्रक्रिया चल पड़ी। भूमण्डल गूँज उठा प्रलयंकर युद्ध घोषों से।

[*युद्ध के विभिन्न प्रलयंकर घोष। उनके समाप्त होने के बाद ही युयुत्सु का प्रवेश। गोकुलवासी उसी तरह सोपान पर सिर को हाथों में लिये होता है।*]

युयुत्सु : (अपने सामने की रिक्तता से बातें करते हुए) नर हत्या की भीषणता पहुँचकर रही पराकाष्ठा को ? अब कहाँ जाऊँ मैं ? इधर भी नरक है, उधर भी नरक है, कहाँ जाऊँ मैं ? मैं चिल्लाना चाहता हूँ, उस हद तक कि सूरज तिलमिला उठे, आकाश में विस्फोट हो जाये और धरती फट जाये। पर क्या होगा मेरे चिल्लाने से ? कौन सुनेगा मुझे युद्ध के इस कोलाहल में ? उधर बस्तियों में लोग रो रहे हैं अपने मृतजनों के लिए। केवल वे बच्चे हैं जो कुछ समझने के प्रयास में चुप दिखायी पड़े थे मुझे। वे क्या समझ पाते मेरे नारे को ? जब कहा मैंने माँ गांधारी से कि उन बच्चों का भविष्य नरक में बदला जा रहा है तो वह मौन रहीं। मौन रहीं वह। जननी होकर मौन रही।

गो॰ वासी : वंशीधर ने मुझे उसी दिन सारा कुछ बता दिया था।

युयुत्सु : किस दिन?

गो॰ वासी : जब वह शान्तिदूत के रूप में सात्यिक को साथ लिए सन्धि-प्रस्ताव करने हस्तिनापुर आये थे?

युयुत्सु : क्या कहा था उन्होंने?

गो॰ वासी : कि समय से पहले आयेगा महाप्रलय। अभिमन्यु की निर्मम हत्या कर दी जायेगी। युयत्सु न इधर का रहेगा न उधर का और उसका निष्पक्ष स्वर शस्त्रों की झंकारों से टकराकर चकनाचूर होता रहेगा।

युयुत्सु : आप हैं कौन?

गो॰ वासी : मैं कौन हूँ? अब तक तो अपने को अतीत और वर्तमान से अलग भविष्य मानता था, पर अब तो वह भी न रहा। अब तो भविष्य की भी हत्या हो गयी। अभिमन्यु था इस भूमि का भविष्य। अत्याचारी और निष्ठुर वर्तमान ने दबोच लिया उस भविष्य को।

युयुत्सु : लेकिन अभिमन्यु जीवित है।

गो॰ वासी : लेकिन घिरा जा चुका है कौरव महारथियों के बीच द्रोणाचार्य के रचे हुए चक्रव्यूह में। (शून्य में जैसे भविष्य के दृश्यों को देखते हुए) संध्या तक उसके हाथों में कोई भी शस्त्र नहीं बचेगा, बस बचेगा उसके हाथ में उसके रथ का टूटा हुआ पहिया। पर कब तक लड़ेगा वह टूटे हुए पहिए से······? तब तक जयद्रथ भी आगे आ जायेगा·········

युयुत्सु : आप तो इस तरह बोल रहे हैं जैसे कि युद्ध को अपनी आँखों के सामने देख रहे हैं! कौन हैं आप?

गो॰ वासी : मैं संजय नहीं हूँ, मैं संजय नहीं हूँ।

युयुत्सु : किस पक्ष के हैं आप?

गो॰ वासी : तुम्हारी तरह।

युयुत्सु : मेरी तरह?

गो॰ वासी : पाण्डव पक्ष का भी, कौरव पक्ष का भी।

युयुत्सु : अब न तो मैं कौरव पक्ष का हूँ, न पाण्डव पक्ष का।

गो॰ वासी : तुम कृष्ण से मिलना चाहते हो? उनसे पूछना चाहते हो कि उनके होते हुए यह अनर्थ क्यों हो रहा है? क्योंकि उन्होंने तुम्हीं से तो कहा था कि मान्यताएँ खाली चली जायेंगी तो धरती बाँझ हो जायेगी। उन्होंने यह भी कहा था कि मानव की यातनाओं के बीच से वह आयेंगे और····

युयुत्सु : आपको इसका ज्ञान कैसे हुआ?

गो॰ वासी : मधुसूदन ने मुझसे कहा था कि भविष्य होकर भी अपनी भविष्यवाणी का विश्वास किसी को नहीं करा पाऊँगा। प्रभु ने कहा था, लोगों को प्रभु की आगाही का भी विश्वास नहीं होगा और धरती के लोग बार-बार अपनी ही शक्ति से अपना सर्वनाश करेंगे। उन्होंने यह भी कहा था कि अभिमन्यु बार-बार जन्म लेगा और बार-बार चक्रव्यूह रचे जायेंगे।

युयुत्सु : और युयुत्सु ?

गो॰वासी : तुम युयुत्सु ! तुम हर बार राजनीति के सिद्धान्त, उसके न्याय और आदर्श पर द्विविधा में पड़ोगे। हर बार प्रश्न करोगे और प्रश्न करने तथा सत्य के पक्ष में होने के कारण हर बार दण्डित और बहिष्कृत होओगे। हर राजनीतिक व्यूह में हर राज्य में तुम्हारा विद्रोह खाली जायेगा और तुम न घर के रहोगे न घाट के।

युयुत्सु : आप सभी कुछ हारे हुए, हताश और निराश दीख रहे हैं। कुण्ठित प्रत[illegible]े रहे हैं आप।

गो॰ वासी : मैं निराश नहीं, हताश नहीं, कुण्ठित भी नहीं। हाँ, यह आवश्यक है कि अपने आस-पास की अमानवीयता और उसकी प्रचण्डता के बीच स्थिर रहने की एक सीमा होती है। उस असह्य पीड़ा के बाद व्यक्ति कुछ-से-कुछ हो सकता है। लोगों की हँसी का कारण बनकर रह जाता है। भगवान ने उस दिन विदुर के यहाँ से साग खाकर लौटते हुए यह भी कहा था कि लोग उस पर भी हँसेंगे जो प्यार और अहिंसा का प्रचार करेगा और उस पर भी जो युद्ध के विरुद्ध बोलेगा। (**हँसी के बाद**) मैं चलता हूँ। कुरुक्षेत्र के दम तोड़ रहे योद्धाओं को पानी पिलाना है। मैं चलता हूँ, शाम होने को है। युद्ध विश्राम की घोषणा के पहले ही जीत के उल्लास में दुर्योधन इधर को आ पहुँचेगा। मैं चलता हूँ।

युयुत्सु : ठहरिये।

गो॰ वासी : मैं नहीं ठहर सकता.........वह देखो दुर्योधन का रथ आकर रुका। वह अपना रथ छोड़कर इस ओर आ रहा है। मैं चलता हूँ।

युयुत्सु : ठहरिये तो सही। इतना तो बताते जाइये कि जिसकी आप दुहाई दे रहे हैं वह क्यों होने दे रहा है यह युद्ध ?

गो॰ वासी : ताकि इसके विकराल और विनाशकारी स्वरूप का हमें सही ज्ञान हो जाये।

युयुत्सु : या असमर्थ है इसे रोकने में ?

गो॰ वासी : हर धनुष-बाण में, हर अस्त्र में उसी की शक्ति की तीव्रता है। हर प्रहार के बाद हर घाव की पीड़ा को वही तो झेल रहा है। हर मृत्यु को आत्मसात कर रहा है वही। अंगीकार कर रहा है हर घृणा, हर पाप को। कुरुक्षेत्र वही है। उसकी प्रचण्डता वही है। युद्ध विश्राम में दोनों पक्षों के घायल योद्धाओं की यातना की विकराल रात भी तो वही है। साथ-ही-साथ हमारे भीतर के धैर्य और उसकी वह मौन पुकार भी वही है जिसमें शान्ति की अभिलाषा निहित है।

युयुत्सु : निरर्थक बातें हैं ये सब।

गो॰ वासी : नहीं.........यही अर्थवान है, यही सार्थक हैं।

[*प्रस्थान*]

युयुत्सु : (**अपने-आप से**) कौन था वह व्यक्ति ? क्या बोल गया वह ? (**कई कदम चलकर आगे-पीछे देखते हुए**) मैं अकेला रह गया। इन निर्जनता में मैं अकेला

रह गया। पर नहीं, प्रभु भी तो इसी निर्जनता में है। एकान्त भी तो वही है।

[दुर्योधन का प्रवेश]

दुर्योधन : अनुज! क्या कर रहे हो इस एकान्त में? सुना तुमने पाण्डव पराजित हुए? पाण्डव सेना को हमने तहस-नहस कर दिया। आचार्य द्रोण की चक्रव्यूह रचना सफल रही।

युयुत्सु : लेकिन अभी तो युद्ध समाप्त नहीं हुआ।

दुर्योधन : आज हम मान गये आचार्य के पराक्रम का लोहा। पर यह क्या? व्यूह रचना की इतनी बड़ी सफलता के बावजूद तुम उदास दीख रहे हो?

युयुत्सु : इस विजय में पराजय का बोध है।

दुर्योधन : पराजय का बोध?

युयुत्सु : अपनों की ही पराजय का। पर अभी तो युद्ध समाप्त नहीं हुआ आप कैसे आ गये?

दुर्योधन : प्रलय अवतार अभिमन्यु के द्वारा अपने पुत्र लक्ष्मण की हत्या को मैं सह न सका। आह!

युयुत्सु : इस लम्बी आह के बावजूद प्रसन्न हैं आप कौरवपुत्र दुर्योधन!

दुर्योधन : युयुत्सु! तुम तो मुझे आदरणीय अग्रज कहने के आदी हो।

युयत्सु : अग्रज तो बड़े और आदर के योग्य को कहते हैं।

दुर्योधन : तुम्हारा बड़ा भाई हूँ मैं।

युयुत्सु : मैंने भी सदा यही सोचा था।

[नेपथ्य से ही पुकारते हुए तीनों सैनिकों का प्रवेश]

दूसरा : सुनो। इधर है कोई सुनने वाला!

तीसरा : पाण्डव पराजित होंगे, कौरव सेना की जीत होगी।

पहला : हमारी जीत होगी। हमारी जीत निश्चित है।

युयुत्सु : क्या कह गये तुम?

दूसरा : अरे सुन लिया किसी ने! पाण्डवों की हार और हमारी जीत होगी।

तीनों : हमारी जीत होगी। हमारी जीत होकर रहेगी।

दुर्योधन : हाँ मेरे योद्धा, पाण्डव पराजित होकर रहेंगे इस बार।

दूसरा : आप कौन हैं?

दुर्योधन : मैं तुम्हारा राजा दुर्योधन हूँ।

[तीनों झुककर प्रणाम करते हैं]

युयुत्सु : आप तो केवल पाण्डव पराजय की बात कर रहे हैं, राजा दुर्योधन, अपनी जीत की चर्चा तो आपने की ही नहीं। शत्रु की पराजय सदैव अपनी जीत नहीं हुआ करती।

दुर्योधन : यह हमारी बहुत बड़ी जीत होगी।

तीसरा : यह हमारी बहुत बड़ी जीत होकर रहेगी, होकर रहेगी।

दूसरा : कौरव सेना की जीत होगी।

पहला : हमारी जीत होगी।

युयुत्सु : तुम्हारी जीत?

पहला : हाँ-हाँ, हमारी जीत।

युयुत्सु : जिसमें पहले ही मिल गया तुम्हें अन्धापन और तुम्हारे साथी को लंगड़ापन। अपनी बस्ती में जाकर देखा तुम तीनों ने? क्या मिला तुम्हारे अपने प्रियजनों को? सारे खेत मज़दूरों के अभाव में उजड़े पड़े हैं। गुरुकुल में कौवे बोल रहे हैं.........।

दुर्योधन : युयुत्सु।

युयुत्सु : चुप रहूँ। यही कहना चाहेंगे न आप?

दुर्योधन : (तीनों सैनिकों से) तुम लोग विश्राम करने शिविरों को चलो।
[*तीनों चल देते हैं*]

युयुत्सु : भ्राता! अभी भी समय है। आप पाण्डवों की माँग को मान लें और अपने साथ-साथ लाखों निर्दोष जीवों को इस भयानक खेल से हटा लें।

दुर्योधन : खेल? तुम अब भी यही सोच रहे हो कि यह युद्ध नहीं बल्कि शकुनि मामा की कोई चाल है।

युयुत्सु : हाँ, मैं अब भी यही मानता हूँ कि कुरुक्षेत्र शकुनि मामा का चौपड़ ही है, अन्तर इतना ही है कि इसमें लकड़ी की गोटियाँ नहीं हाड़-माँस के मानव की अभिलाषाओं को दाँव में रखा गया है।

दुर्योधन : युद्ध राजा और क्षत्रियों का धर्म होता है।

युयुत्सु : और प्रजा का क्या होता है?

दुर्योधन : उसका.........उसका कर्त्तव्य होता है।

युयुत्सु : राजा के हित आत्महत्या कर लेना। भ्राता! क्या आपने कभी यह आवश्यक समझा कि प्रजा से भी पूछकर देख लें कि युद्ध करें या नहीं? आपने कभी युद्ध के लिए राय ली उनसे?

दुर्योधन : युयुत्सु, तुम्हारे ऊपर से अभी भी उधर का प्रभाव मिटा नहीं। हम युद्ध अपने लिए नहीं करते हैं, प्रजा के लिए करते हैं। आज यह जीत केवल हमारी नहीं हस्तिनापुर की प्रजा की भी होगी।

युयुत्सु : और जब हारते हैं तो? राजा-महाराजा-सेनापति ये सब तो हार के केवल मोर्चा ही तो हारते हैं। युद्ध-महायुद्ध तो जनता हारती है, आप तो सैनिक और सम्पत्ति हारते हैं, जनता तो जीवन हार जाती है। आज आपकी जीत हो सकती है लेकिन क्या उन सैनिकों की भी वह जीत हो होगी जो अपने पीछे विधवाओं और अनाथों को छोड़ जायेंगे? उन विधवाओं और अनाथों के लिए तो यह केवल पराजय ही नहीं, प्रलय भी होगी। युद्ध-युद्ध-युद्ध। आख़िर यह युद्ध है क्या? अपनी शक्ति के अहम् और उसके नंगे प्रदर्शन के अलावा यह है ही क्या? विडम्बना तो यह है कौरवपति कि राजा और सेनापति जितना लड़ते नहीं उतना लड़ाते हैं। स्वयं लड़ते तो युद्ध की सही परिभाषा को जान लेते।

दुर्योधन : हाँ, अनुज, बोलना बड़ा सहज होता है।

युयुत्सु : इसलिए बोल रहा हूँ क्योंकि आपका अन्तःकरण आशंकित है।

दुर्योधन : अन्तःकरण मेरा है। उसकी चिन्ता तुम क्यों कर रहे हो ?

युयुत्सु : यही प्रश्न मैं भी कई बार अपने-आप से कर चुका हूँ। अब तो लगता है कि वैभव की इच्छा केवल अन्धा ही नहीं बनाती बल्कि..........

[दूसरे *और तीसरे सैनिक का घबराये हुए प्रवेश*]

दूसरा : महाराज दुर्योधन! महाराज! महाराज! महाराज!

दुर्योधन : क्यों क्या हुआ ?

दूसरा : हमारा वह साथी जिसने युद्ध के दौरान पाण्डवों के बाण से आँखें खो दी थीं ....।

तीसरा : वह हमसे खो गया। दोबारा खो गया वह।

दुर्योधन : तो इसमें राजा क्या करे!

दूसरा : अरे हाँ, महाराज क्या कर सकते हैं ?

तीसरा : हमारा साथी खोया है। हमें ही ढूँढना होगा।

दूसरा : अन्धा है, किसी कुएँ में गिर सकता है।

तीसरा : हाँ-हाँ, चलो। चलो ढूँढने नहीं तो गिर जायेगा किसी अन्धे कुएँ में।

दूसरा : खुद भी तो अन्धा है।

तीसरा : कौरव सेना आज युद्ध जीतकर रहेगी।

दूसरा : महाराज दुर्योधन की जय हो!

[*दोनों चल देते हैं*]

युयुत्सु : प्रजा के खोये हुए अन्धे मित्र को राजा क्यों ढूँढे ?

दुर्योधन : चले आते हैं वे, बिन बात की बातों के लिए भी।

युयुत्सु : प्रजा को तो राजा के लिए युद्ध करना चाहिए। प्राण देकर भी राज्य और राजा की रक्षा करनी चाहिए।

दुर्योधन : तुम सही कह रहे हो या व्यंग्य कर रहे हो ?

युयुत्सु : इतनी बड़ी धृष्टता का साहस कैसे कर सकता हूँ!

दुर्योधन : मैंने आचार्य द्रोण से कह दिया है, वह हमारी जीत का शुभ-सन्देश किसी संदेशवाहक से न भेजकर स्वयं यहाँ आ जायें।

युयुत्सु : आप तो युद्धक्षेत्र में डटे रहकर तत्काल पा सकते थे वह शुभ-सन्देश।

दुर्योधन : उस आँधी जैसी उड़ रही अभिमन्यु की गदा से जब अश्वत्थामा का सारथी और घोड़े दोनों मारे गये तो.........

युयुत्सु : तो आपने इधर आ जाना ही ठीक समझा।

दुर्योधन : तुम.........तुम.........तुम.........मैं तुम जैसा कायर नहीं।

युयुत्सु : आप आशंकित दीखने लगे है। यह तो अविश्वास का संकेत होता है। कहीं आज भी पाण्डव जीत गये तो ?

दुर्योधन : कायरों ने अभिमन्यु जैसे बालक को आगे भेजा है, स्वयं आये होते। अभिमन्यु की रक्षा के लिए भी धृष्टद्युम्न और सात्यकि को रखा। क्या टिक पायेंगे वे हमारी सेना के सामने ? हमारी जीत होकर रहेगी—हमारे हित के लिए, तुम देख लेना।

युयुत्सु : जब एक राजा हम शब्द का प्रयोग करता है तो पता नहीं चलता कि वह अपने राष्ट्र की चर्चा कर रहा है, अपने परिवार की या स्वयं अपनी।

दुर्योधन : युयुत्सु, तुम्हारे विचार दिन-ब-दिन अधिक विद्रोही होते जा रहे हैं। तुम कभी कौरव के विरुद्ध बोलते हो, कभी राज्य के। समझ में नहीं आता तुम्हारी यह देशद्रोही भावना।

युयुत्सु : नहीं महाराज, मेरे विचारों को आप देशद्रोही न समझें। मैं देशद्रोही नहीं राज्यद्रोही हो सकता हूँ—उस राज्य का जहाँ न्याय का नितान्त अभाव है। महात्मा विदुर ने कहा था कि राज्य से देश बड़ा होता है और देश से धरती। राज्य के विस्तार के लिए हिंसा, युद्ध, अन्याय, रक्त, हत्या सभी का सहारा लिया जा सकता है लेकिन देश के लिए न्याय और धरती को ख़ून नहीं पसीना चाहिए। पसीना बहता है तो देश उपजता है, विकास करता है। ख़ून बहता है तो देश रक्तहीन होकर निर्बल हो जाता है। आपने महात्मा विदुर की बातों की अवहेलना करके उन्हें पाण्डवों का पक्षधर कह दिया था! आपकी छोटी-मोटी भूलों का ही यह भीषण परिणाम सामने आ रहा है।

दुर्योधन : तुम बोल रहे हो, मेरा अपना अनुज? मेरे विरुद्ध बोल रहे हो तुम?

युयुत्सु : मैं मानवता के हित में बोल रहा हूँ। आपके विरुद्ध तो आप ही की प्रजा बोल रही है।

दुर्योधन : इसकी मुझे चिन्ता नहीं। हमारी जीत के बाद हमारी प्रजा ही क्या हमारे शत्रु भी हमारे स्वागत के लिए मालाएँ लिए दौड़ आयेंगे। तब तो भगवान भी हमारे पक्ष में होगा। जिसकी लाठी उसकी भैंस।

युयत्सु : अगर आपको मुहावरे इतने प्रिय हैं तो मेरी ओर से भी एक सुन लीजिये। विनाश काले विपरीत बुद्धि। यह तो बस मुहावरे के बदले एक मुहावरा था। सीधी बात तो एक अनुरोध है। आप विवेक से काम लें। महत्त्वाकांक्षा बाढ़ से भी अधिक घातक होती है। यों भी हम पहले ही से अन्धे की सन्तानें हैं। सिद्धान्त से चुक जाने का भयानक परिणाम हम देख चुके हैं।

दुर्योधन : राजनीति और युद्ध में सिद्धान्त का क्या स्थान है, यह मैं तुम्हें पहले भी कह चुका हूँ। राजनीति में सिद्धान्त और धर्म-आदर्श ये सब नहीं हुआ करते। और फिर तुम मेरे छोटे भाई होकर मुझसे इस तरह मत बोला करो।

युयुत्सु : यह आपका छोटा भाई नहीं बोल रहा, बल्कि देश की युवा पीढ़ी बोल रही है। और वह यह बोल रही है कि आप ज़िम्मेवार हैं, आज के विनाश और कल के नरक के लिए।

दुर्योधन : राज्य तुम नहीं मैं चला रहा हूँ!

युयुत्सु : कभी ऐसा भी होता है कि जो रथ चला रहा हो वह रास्ते के बीच से उठ रही धूलों के कुहासे में जान नहीं पाता कि रथ किधर जा रहा है?

दुर्योधन : बन्द करो अपनी निरर्थक बातें। तुम्हारे सारे तर्क तुम्हारी ही तरह आधे-अधूरे हैं।

युयुत्सु : कल के इतिहासकार को भी आप यही कहेंगे?

दुर्योधन : कल का इतिहासकार से क्या तात्पर्य ?

युयुत्सु : कल का इतिहासकार आपको एक अहंकारी, अत्याचारी और अन्यायी राजा के रूप में प्रस्तुत करेगा।

दुर्योधन : वह तो वही लिखेगा जो मैं चाहूँगा। वह अपने ज्ञान के बल पर इतिहास नहीं लिखेगा, बल्कि मेरे आदेश और शक्ति के बल लिखेगा।

युयुत्सु : आपकी शक्ति? आपके पास जो सबसे बड़ी शक्ति है और जो सबसे अधिक मात्रा में है वह तो आपकी इच्छाएँ हैं महाराज दुर्योधन, और इच्छाएँ वह मृगतृष्णा होती हैं जो पूरे सागर को पीकर भी तृप्ति नहीं पातीं।

दुर्योधन : मुझे तुमसे घृणा होने लगी है।

युयुत्सु : क्योंकि आप मात्र अपने-आप को प्यार करते हैं। आपकी यह घृणा मानव-जाति को जन्म-जन्मान्तर तक हृदय पर फफोले देती रहेगी। आप अपनी भूल को स्वीकार कर लें भैया और रोक लें इस नरसंहार को। इस विनाश को रोक लें।

दुर्योधन : (ठहाके के साथ) भूल और मेरी ? युयुत्सु, क्या भीष्म पितामह ने तुम्हें यह नहीं बताया कि राजा और भूल कभी सम्भव नहीं और अगर किसी भूल से राजा भूल कर भी दे तो वह उसका आदर्श बन जाती है।

युयुत्सु : उन्होंने यह अवश्य संकेत किया था कि जो भूल दंडित होती है वह प्रजा की होती है। मैंने तो सोचा था कि आपके भीतर जो मानवीय पक्ष सो गया है वह मेरे इस कोलाहल से जाग उठेगा, पर जब कृष्ण के शंखनाद से आप नहीं जागे तो मेरी चेष्टाएँ तो निरर्थक जायेंगी ही। हस्तिनापुर आज जीवित मृत्यु है भ्राता।

[*शंखनाद से युद्ध विश्राम की घोषणा होती है*]

दुर्योधन : युद्ध विश्राम की घोषणा हो गयी। अब आचार्य द्रोण आते ही होंगे शुभ-सन्देश लेकर।

युयुत्सु : अपने ही जनों पर विजय का सन्देश। कौरव पुत्र.........।

दुर्योधन : चुप रहो तुम ! विजय मेरा अपना प्रण है। वह दुर्योधन का भी है और हस्तिनापुर के महाराज का भी, उसे तोड़ने की चेष्टा तुम्हारी नादानी होगी।

युयुत्सु : आपका प्रण घरौंदा है। समय की हल्की लहर से वह टूटकर रहेगा।

दुर्योधन : तुम विश्वासघाती हो युयुत्सु।

युयुत्सु : और आप मानव की कोमल उमंगों पर विष छिड़कने वाले जीव हैं।

दुर्योधन : दुःशासन ने सही कहा था कि तुम कौरव सेना को भड़काते रहे हो।

युयुत्सु : नहीं, मैंने कौरव सेना को केवल दृष्टि देनी चाही, ताकि आपकी इस असम्भव अन्धी इच्छा के वे दास न बन जायें।

दुर्योधन : (रथ के रुकने की आहट) सम्भवतः द्रोणाचार्य आ गये। हाँ-हाँ, वही तो हैं, उनकी चाल में मस्ती है। मुखड़े पर मुस्कराहट है। वह आ रहे हैं कृष्ण की पक्षधरता प्राप्त पाण्डव सेना को पराजित करके।

युयुत्सु : युद्ध का परिणाम एक दिन के मोर्चे से तय नहीं हुआ करता।

दुर्योधन : मेरा आदेश है, तुम मौन साधे रहो। चुप हो जाओ।

युयुत्सु : आप यह चाह रहे हैं कि मैं अपने भीतर के ज्वारभाटे और ज्वालामुखी से उठ रहे स्वरों का गला घोंट दूँ?

[*द्रोणाचार्य का प्रवेश तनी हुई मुद्रा में*]

दुर्योधन : आइये आचार्य द्रोण! मैं अधीर हूँ जीत का सन्देश सुनने के लिए।

द्रोणाचार्य : हमारी विजय हुई है दुर्योधन। कौरव सेना उमंगों के साथ नाचती हुई शिविर को लौट रही है। हमारे योद्धाओं ने पाण्डव सेना के छक्के छुड़ा दिये। चक्रव्यूह की रचना सफल रही। बस, थोड़ा-सा पश्चाताप इस बात का है कि अर्जुन नहीं पहुँचा चक्रव्यूह तोड़ने, नहीं तो उसकी भी वही दशा होती जो उसके पुत्र अभिमन्यु की हुई। हमारे सात महारथियों से घिर जाने पर वह मारा गया जयद्रथ द्वारा।

युयुत्सु : हे प्रभु! वही हुआ जो वह गोकुलवासी कह गया। लानत है कौरव वंश में जनमने का मुझे। आचार्य, यह क्या किया आप जैसे न्याय और सत्य के पुजारी ने। बालक अभिमन्यु की हत्या करके अपनी वीरता की गरिमा दिखा रहे हैं! लानत है! हे प्रभु, यह तो अति हो गयी। सात महारथियों ने घेरकर अभिमन्यु की हत्या कर डाली।

दुर्योधन : जयद्रथ की जय हो। अर्जुन पुत्र और पाण्डवों के सबसे प्रिय रत्न का संहार करके मेरे प्रतिशोध की भावना को ठंडक दे दी तुमने। अपने पुत्र लक्ष्मण के वध पर मेरी वह क्रोधभरी प्रतिशोध की पुकार सार्थक हुई। द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा, कृप, जयद्रथ, बृहदबल और कृतवर्मा मेरे लक्ष्मण का प्रतिशोध लेकर रहे।

द्रोणाचार्य : लक्ष्मण की मृत्यु पर तुम्हारा वह ललकारना ही था कौरव पुत्र, जिससे हमारे वीर उफन पड़े थे।

युयुत्सु : (**ताली बजाते हुए**) आपकी वीरता की बधाई मैं भी तो आपको दे दूँ गुरु द्रोण। बहुत बड़ा कौशल दिखाया आपने और आपके महारथियों ने।

द्रोणाचार्य : बन्द करो अपना व्यंग्य। इस तरह बोल रहे हो जैसे पाण्डव पक्ष ने कोई भी अनीति नहीं की! पाण्डवों ने तो कृष्ण का सहारा लेकर कई अनीतियाँ कीं, तब तुम कहाँ थे?

युयुत्सु : राजनीति में अनीति भी कभी नीति बन जाया करती है, परन्तु अन्याय कभी न्याय नहीं होता। आप तो सीख देकर भूल जाते हैं गुरुवर।

दुर्योधन : तुम तो हर कृपा, हर उपकार को भूल बैठे हो।

युयुत्सु : यह तो आपके प्रति मेरी कृतघ्नता हुई भ्राता।

दुर्योधन : मेरे ही प्रति नहीं, अपने माता-पिता और कुल के प्रति भी।

युयुत्सु : लेकिन कौरव कुल के शिरोमणि, माता-पिता और कुल से भी अधिक महान कुछ दूसरे आदर्श भी तो होते हैं?

दुर्योधन : अब हमको पाठ देने का प्रयत्न कर रहे हो क्या? मेरे गुरु द्रोणाचार्य हैं, तुम नहीं। इसे रखे रहो पाण्डवों के लिए, तुम मेरे गुरु नहीं हो सकते।

युयुत्सु : मैं होना भी नहीं चाहता। मैं तो बस वह वैद्य हूँ जो आप जैसे गुरु-शिष्य के लिए एक अन्तिम बौद्धिक उपचार की आशा से बोल रहा हूँ। अभिमन्यु जैसे कोमल बालक की हत्या करके आप लोग अपनी वीरता का डंका बजा रहे हैं! चक्रव्यूह के नाम पर कपट का कुचक्र चलाकर गौरवान्वित हो रहे हैं!

द्रोणाचार्य : तुम जिसे बालक कह रहे हो, उसने चक्रव्यूह के भीतर प्रलय ला दी थी। और फिर युद्ध में छोटे-बड़े का प्रश्न नहीं उठता।

युयुत्सु : युद्ध ? बिना सिद्धान्तों का युद्ध है यह। जिसे आप जीत समझ रहे हैं वह मात्र अपमानों के प्रतिशोध की राहत है, जिसे मैं कौरवों की मानसिक पराजय मानता हूँ।

दुर्योधन : यह तो प्रारम्भ है। अब तो हम कृष्ण के द्वारा रक्षित पाण्डवों की हर उपलब्धि का सत्यानाश करके छोड़ेंगे।

युयुत्सु : तब तो आप वर्षों के निर्माण के भंजक कहलायेंगे। प्रजा द्वारा बनायी गयी नगरी को आप उजाड़ने वाले कहलायेंगे। क्या यही है आपकी श्रेष्ठता की परिणति ?

द्रोणाचार्य : आख़िर क्या अर्थ रखता है तुम्हारा यह विद्रोही स्वर ? क्या तुम यह चाहते हो कि धधकती हुई आग की लपटों से हम अपने को जल जाने दें ? क्या यही चाहते हो तुम ?

युयुत्सु : मैं चाहता हूँ कि अगर आप में आग बुझाने की शक्ति नहीं है तो कम-से-कम उसे भड़काने के लिए उसमें घी न उड़ेलें।

द्रोणाचार्य : तुम तो कभी भी इस तरह नहीं बोले!

युयुत्सु : मैं कभी बोला ही कहाँ ?

दुर्योधन : देखो युयुत्सु, तुम बहुत बोल चुके, अब मेरा अन्तिम सुझाव सुन लो। मैं तुम्हारा शत्रु नहीं, मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। जितना तुम्हारा हितैषी हूँ उतना ही हस्तिनापुर की प्रजा का भी, इसलिए तुम मुझे मेरा कर्त्तव्य सिखाने की चेष्टा छोड़ दो।

युयुत्सु : मुझे तो लगता है हस्तिनापुर की प्रजा का न तो कोई सम्बन्धी है और न ही कोई हितैषी। आप मेरे महाराज! अगर किसी के हितैषी आप हैं तो युद्ध के बाद कुरुक्षेत्र के आकाश पर मंडरा रहे उन गिद्धों के हैं जिनके लिये आप बहुत बड़ी संख्या में नरमांस की व्यवस्था किये बैठे हैं। रणक्षेत्र सम्भवत: कभी वीरता का स्थान रहा, लेकिन आपके सलाहकारों और सेनापतियों के कुचक्रों से अब वह श्मशान से अधिक कुछ है ही नहीं। हद हो गयी इस युद्ध की। राजा तो प्रजा का पालक होता है। आप तो गिद्धों और लाशों के भक्षकों के रक्षक और पालक हैं। युद्ध के प्रवर्तक हैं आप और लाशों के व्यापारी।

दुर्योधन : तुम भूल रहे हो। जो शान्ति काल में युद्ध की तैयारी कर सकता है वह युद्ध काल और उसके बाद शान्ति की स्थापना भी कर सकता है। हमारी यह प्रक्रिया शान्ति की प्रक्रिया है।

युयुत्सु : नहीं कौरव श्रेष्ठ! नहीं। एक सुबह हस्तिनापुर जागेगा और पायेगा कि उसके

आकाश पर सूरज है ही नहीं। यह आपकी प्रक्रिया प्रकाश के लिए नहीं अंधकार के लिए है। मैं तो बस महात्मा विदुर के शब्दों में इतना ही कहकर जा रहा हूँ कि युद्ध देश के हित में नहीं वह तो इतिहासकार और सम्भवत: संग्रहालयों के हित में होता रहेगा और सबसे अधिक उनके हित में जो अस्त्र और शस्त्रों का व्यापार करेंगे।

[*जाने लगता है*]

दुर्योधन : कहाँ जाने लगे?

युयुत्सु : कुछ भी निर्धारित नहीं।

दुर्योधन : कृष्ण छलिया है।

युयुत्सु : मेरा तो उसके प्रति विश्वास भी डगमगा उठा है।

[*प्रस्थान*]

दुर्योधन : ठहरो! युयुत्सु, रुक जाओ। यह युयुत्सु तो अपने को तटस्थ बताने की प्रक्रिया में अपने ही भाई का शत्रु प्रतीत हो रहा है।

द्रोणाचार्य : अबोध है।

दुर्योधन : विद्रोही है।

द्रोणाचार्य : भावुक है।

दुर्योधन : पाण्डवों का गुप्तचर है। (थमकर) पर मुझे विश्वास है, युद्ध समाप्ति के बाद हमारी विजय होने पर वह लौट आयेगा। (थमकर) इस बीच माँ गान्धारी को क्या उत्तर दूँगा?

द्रोणाचार्य : यह समय चिन्ता करने का नहीं है। चलो, कौरव सेना तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। सुना विजय घोष। हमारे हाथी, अश्व सभी प्रसन्नता से चिंघाड़ और हिनहिना रहे हैं।

दुर्योधन : चलिये, मैं अपने हाथों जयद्रथ को जयमाला पहनाऊँगा। पर काश! मेरे लक्ष्मण की मृत्यु न हुई होती!

[*उनके प्रस्थान के साथ गोकुलवासी का प्रवेश*]

गो॰ वासी : यह विधि का विधान नहीं। यह विधि और विधान को चुनौती है। भगवान ने शिशुपाल को सचेत किया था कि वह अपने पाप की गागर को भर जाने से रोक ले। प्रभु ने कौरवों को भी सचेत किया था। आज कुरुक्षेत्र का यह तेरहवाँ दिन कौरव की जीत का नहीं उसके विनाश का पूर्व संकेत है, परन्तु जीत किसकी होगी? प्रभु ने तो कहा था कि जुए में एक की जीत और दूसरे की हार होती है लेकिन युद्ध में किसी की जीत नहीं होती।

[*युधिष्ठिर का प्रवेश टूटी हुई स्थिति में*]

धर्मराज आप?

युधिष्ठिर : मुझे धर्मराज मत कहो। आज मैं अधर्मी हो गया।

गो॰ वासी : ऐसा मत कहें धर्मराज।

युधिष्ठिर : इन हाथों को देखो, इनमें इतनी भी शक्ति नहीं रही कि ये अभिमन्यु की रक्षा कर सकें। रक्षा न कर पाने वाला, धर्मराज कैसे हो सकता है? मैं सुभद्रा,

अर्जुन और उत्तरा को कैसे मुँह दिखा पाऊँगा ?

गो॰ वासी : नियति! नियति!

युधिष्ठिर : मेरी नपुंसकता का दोष नियति पर मत लादो। आज मुझे अहसास हो रहा है कि हमने भी कौरवों को इतनी ही असह्य यातना दी होगी।

[तीनों कौरव सैनिकों का प्रवेश]

दूसरा : हम पहुँच आये उस तटस्थ स्थान को।

पहला : सच।

तीसरा : हाँ।

पहला : तो अब हम यहाँ से आगे नहीं बढ़ेंगे।

दूसरा : हाँ, अब हम आगे नहीं बढ़ेंगे। अब हम भी तटस्थ हैं। न कौरवों के हैं, न पाण्डवों के।

[तीनों सबसे ऊपरी सीढ़ियों पर पहुँचकर इस तरह बैठ जाते हैं जैसे इन्हें अपने सामने के युधिष्ठिर और गोकुलवासी की उपस्थिति का ज्ञान ही न हो।]

युधिष्ठिर : बड़े छल और कपट से कौरव योद्धाओं ने अभिमन्यु की हत्या की।

गो॰ वासी : श्रीकृष्ण ने तो पहले ही कहा था कि युद्ध का दूसरा नाम निर्दयता और कपट है। इसीलिए तो उन्होंने बाँसुरी ली थी अपने हाथों में।

युधिष्ठिर : हमने तो उनकी बातों की अवहेलना नहीं की थी।

गो॰ वासी : आपने नहीं की थी पर हुई थी उनकी बातों की अवहेलना। अनजाने आपसे भी हो गयी थी।

युधिष्ठिर : मैंने तो सुभद्रा और उत्तरा दोनों की बातों की अवहेलना की।

गो॰ वासी : अनर्थ को तो होने से पहले रोक देने में बुद्धिमत्ता होती है। अब उसके हो जाने पर व्याकुल होने से क्या लाभ ? उन्होंने तो कहा था, कभी धर्म की भी सतही और क्षणिक पराजय होती है और सत्य की भी।

युधिष्ठिर : इस युद्ध के तेरहवें दिवस पर आज पहली बार मुझे ऐसा लग रहा है कि मेरे सिर के ऊपर न तो आकाश है और न ही मेरे पाँव के नीचे धरती। कौन किसे माने इन सारे अनर्थों की जड़। (लम्बी साँस को ऊपर छोड़कर) अब तो ऐसा लगता है कि मैं शून्य में स्वयं शून्य हूँ। भावनाहीनों में भावनाहीन हूँ मैं। विवेक, आदर्श और धर्म—ये मेरी अन्तिम पूँजी थे, वे भी बाक़ी नहीं रहे। कौरवों के बीच जाते कभी नहीं डरा, परन्तु आज तो अपनों के बीच जाते भय भी लग रहा है, शर्म भी आ रही है। पाण्डवों को क्या मुँह दिखाऊँ। आज की पराजय केवल धर्म और सत्य की पराजय नहीं है। आज तो निर्दोषिता की भी हार हो गयी। दण्डित हो गयी कोमलता और निर्दोषिता आज। (नेत्र भर आते हैं)

गो॰ वासी : उन्होंने कहा था। अन्तिम जीत धर्म और सत्य की होगी।

युधिष्ठिर : निर्दोषिता की मृत्यु के बाद धर्म और सत्य की जीत किस काम की ?

गो॰ वासी : धैर्य रखें धर्मराज, धैर्य रखें।

[*युयुत्सु का प्रवेश*]

युयुत्सु : धैर्य रखें धर्मराज! महात्मा विदुर ने कहा था आपसे कि यह युद्ध जितना रक्त बहायेगा उतने आँसू भी।

युधिष्ठिर : युयुत्सु तुम? (भर आये नेत्रों को पोंछते हुए)

युयुत्सु : और आपने कहा था कि क्षत्रियों के नेत्रों से आँसू नहीं बहते। और मेरे बड़े भाई दुर्योधन ने कहा था कि क्षत्रियों की आँखों से अंगारे फूटते हैं। दोनों ने गलत कहा था धर्मराज। आज वह भी जीत के बावजूद अपने पुत्र लक्ष्मण की याद में आँसू बहा रहे हैं। और आप अभिमन्यु की याद में। कितनी बड़ी विडम्बना है यह धर्मराज, कि ख़ून को पानी समझने वाले आज अपने ख़ून के बहने पर आँसू बहा रहे हैं। जिसका आप लोगों के बीच कोई विशेष मूल्य नहीं रहा, उसके लिए अपने अनमोल आँसू क्यों बहा रहे हैं आप?

युधिष्ठिर : युयुत्सु! सम्भवत: तुम्हारी तटस्थता ही वह सही रास्ता था जिससे हम बहुत दूर निकल आये।

युयुत्सु : अब तो जहाँ पहुँचना हो गया है वह न तो मंजिल है और न ही वहाँ से पीछे लौट जाना ही सम्भव है।

[*अस्त्रपति का प्रवेश*]

अस्त्रपति : (अपने हाथों में ख़ून से सने कपड़े लिये हुए) महाराज! यह क्या हो गया महाराज! यह देखिए ख़ून से सने हुए इस कपड़े को। यह मेरे अपने बेटे का कपड़ा है। एक ही तो बेटा था मेरा। अस्त्रों ने उसके शरीर को छलनी कर दिया। महाराज, यह क्या हो गया महाराज! (रोना)

युधिष्ठिर : शान्त हो जाओ अस्त्रपति!

अस्त्रपति : मुझे तो अपनी एकमात्र सन्तान के शरीर का एक टुकड़ा भी नहीं मिला उसकी दाह-क्रिया के लिए। उसकी माँ ने तो यह सुनते ही प्राण त्याग दिये। मैं क्या करूँ।

युधिष्ठिर : धैर्य धरो। हम सभी की पीड़ा एक-सी है।

अस्त्रपति : मेरा लाल! अब मैं जी कर क्या करूँ? क्या करूँ?

युयुत्सु : अस्त्रपति! अस्त्रों को बनाने वाले और उसका व्यवसाय करने वाले यह भूल जाते हैं कि अस्त्र किसी का मित्र नहीं होता। आप के अस्त्रों ने आपके पुत्र को आपसे छीन लिया।

अस्त्रपति : तब तो मेरा बनाया अस्त्र ही मुझे इस पीड़ा से मुक्त कर सकेगा। मैं मुक्त होना चाहता हूँ इस पीड़ा से—मुझे अस्त्र दो, मुझे अस्त्र दो।

[*पागल की तरह प्रस्थान*]

युयुत्सु : इसने सोचा होगा कि इसके बनाये अस्त्र इसे केवल धन और वैभव देंगे। कभी नहीं सोचा था कि वह कभी उसे इतना बड़ा दण्ड भी दे सकेंगे।

युधिष्ठिर : इस क्षण की बात करो युयुत्सु। सुभद्रा और उत्तरा दोनों यहाँ पहुँच कर पूछेंगी कि कहाँ है अभिमन्यु, तो क्या उत्तर दूँगा मैं?

[*सुभद्रा का प्रवेश*]

सुभद्रा : धर्मराज, कहाँ है मेरा अभिमन्यु.........आप इस तरह मौन क्यों हैं? उत्तर दीजिये, कहाँ है मेरा अभिमन्यु?

गो॰ वासी : युद्ध में पाण्डव सेना की पराजय हो गयी।

सुभद्रा : धर्मराज आप भी तो कुछ कहें।

गो॰ वासी : उत्तरा का सपना सच हो गया।

सुभद्रा : नहीं ऐसा नहीं हो सकता। धर्मराज, आपके और भीम के होते ऐसा नहीं हो सकता। कहाँ है, पाण्डवकुल का रत्न, मेरा अभिमन्यु?

युधिष्ठिर : निरुत्तर है युधिष्ठिर आज।

सुभद्रा : कोमलता और सुन्दरता का प्रतीक मेरा अभिमन्यु कहाँ है, कहाँ है?

युयुत्सु : अभिमन्यु केवल कोमलता और सुन्दरता का ही नहीं, वह तो वीरता का भी प्रतीक था।

सुभद्रा : प्रतीक था? क्या कहना चाह रहे हो युयुत्सु?

गो॰ वासी : सुभद्रे! इतने विह्वल मत हो जाओ कि सत्य का अंगीकार तुमसे न हो सके।

सुभद्रा : मेरे इतने सरल प्रश्न का आप इतना जटिल उत्तर मत दें।

गो॰ वासी : धैर्य रखो।

सुभद्रा : युयुत्सु! कहाँ है अभिमन्यु?

[*युयुत्सु कुछ न कहकर सिर झुका लेता है*]

गो॰ वासी : सुभद्रा! गर्व करो कि आज तक तुम्हारे पुत्र की तरह कोई भी योद्धा नहीं लड़ा। इतनी वीरता इस कुरुक्षेत्र में किसी ने नहीं दिखायी। अद्भुत वीरता के साथ पायी उसने वीरगति।

सुभद्रा : उत्तरा का स्वप्न सच हो गया? मेरा अभिमन्यु मुझसे छीन लिया गया?

[*उत्तरा का प्रवेश*]

उत्तरा : माँ सुभद्रा! लौटे वे?

[*सुभद्रा उत्तर नहीं देती है*]

(**युधिष्ठिर से**) कहाँ रह गये पाण्डवरत्न?

[*युधिष्ठिर बिना कुछ कहे उसके हाथों में वह रक्षा-सूत्र थमा देता है जो उत्तरा ने अभिमन्यु को बाँधा था*]

सुभद्रा : उत्तरे, अभिमन्यु नहीं लौटा। वह नहीं लौटेगा उत्तरे।

[*उत्तरा कुछ नहीं बोलती। शून्य को ताकती रहती है और लुढ़क जाती है नीचे। गोकुलवासी आगे आकर उसे थाम लेता है*]

स्वर : (**बाँसुरी वादन के साथ**)

य एंनवेत्ति हन्तारं यशचैन मन्यते हतम् अभीतो न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते न जायते म्रियते व कदाचि न्यायभूत्वां वा न भूय: अजो नित्य: शाश्वतो यं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

जो यह सोचता है कि वह मरता है, और जो यह मानता है कि वह मर जाता है, वे दोनों ही सत्य से अनभिज्ञ हैं। आत्मा कभी नहीं मरती न कभी मारी जाती है। वह कभी जन्म भी नहीं लेती और न कभी मरती है! एक बार

अस्तित्व पाकर यह अस्तित्व कभी नहीं मिटेगा। वह अजन्मा है, अन्ततः शाश्वत और प्राचीन है, नित्य है। शरीर के मारे जाने पर भी वह नहीं मरती!

सुभद्रा : माधव! यह तुम्हारा स्वर था। कहाँ हो तुम? कहाँ है मेरा अभिमन्यु? (अपने दोनों हाथों को रोकने की मुद्रा में करके वह आगे आती है और चिल्ला उठती है) मधुसूदन! बन्द करवा दो इस युद्ध को।

[तीनों सैनिक अलग-अलग सीढ़ियों पर खड़े होकर दोहराते हैं। उसी सुभद्रा वाली मुद्रा में]

ती० सैनिक : (बारी-बारी से प्रतिध्वनि के साथ) रोक दो कान्हा! रोक दो कान्हा!

[बाँसुरी वादन के साथ परदा]



आत्मकथा

(एक)
पाँच सेंट में बिका था मैं

मेरे जन्म से पहले मेरे परिवार के अच्छे दिन थे। जब मेरा बाप पतिसिंह नहीं, बल्कि बाबू पतिसिंह कहलाता था। ज़मीन जायदाद थी। गाँव में वे पहले आदमी थे जिसके पास घोड़ा गाड़ी के साथ मोटर कार भी थी। उस मोटरकार ही ने मेरे बाप को बेकार बनाया, पर यह तो अलग कहानी है। मैं अपनी बेकारी की बात तो कर लूँ। मेरा जन्म भी मेरे परिवार के अच्छे दिनों में ही हुआ। मेरे बचपन का पहला भाग बड़े ठाठ का रहा होगा, जैसा कि मेरी बहनें मुझे बताती रही थीं। बचपन में मेरा स्वास्थ्य बड़ा ही कमज़ोर था और पैसे को पानी की तरह बहाकर मुझे उस समय के हर छोटे-मोटे रोगों से बचाया जाता रहा था। यह बात मेरी देखभाल के लिए रखी गयी परिचारिका मादाम लेबों भी मुझे बताती रहती थी। मैं एकदम वहीं जन्मा था जहाँ रहता हूँ। देश के सबसे बड़े गाँव के एकदम ऊपरी छोर पर जहाँ से देश का सबसे बड़ा मन्दिर दो मिनट के रास्ते पर है और समन्दर मील भर की दूरी पर। फिर भी न तो मैं पूजा-पाठ में प्रथम आ सका और न ही तैरने में। समन्दर का किनारा और शिवालय का प्रांगण ये ही वे दो स्थल हैं, जहाँ मेरे बचपन के सबसे अधिक क्षण बीते हैं और जहाँ बैठकर मैंने अपनी पहली रचनाएँ लिखीं थीं।

मैं अपनी माँ का नौवाँ बच्चा था। परिवार-नियोजन के जन्म से पहले मेरा जन्म हो गया था। अगर उलटा हुआ होता तो मेरे जन्मने की नौबत ही नहीं आती। इससे पहले मेरी माँ के पाँच बच्चे मर चुके थे। लोगों की यह धारणा थी कि मेरी माँ को लड़का नहीं सहता था। मेरे जन्म के दूसरे ही घण्टे बाद ही मेरी माँ ने मुझे अपने अन्य लड़कों की तरह खो देने से बचाने के लिए हमारे पड़ोस की एक भौजी को बुलाया था। दोनों के बीच मेरे बच जाने के प्रश्न को लेकर बातें हुईं और दूसरे ही क्षण बाद मेरी उस रामजी भौजी ने मुझे माँ की गोद से ले लिया था। फिर मुझ से बोली थी, "आज से तुम मेरे बच्चे हो। मैंने तुम्हें खरीद लिया। अब मैं तुम्हारी भौजी नहीं तुम्हारी माँ हूँ।" मुझे यह भी बताया गया कि पहला दूध मैंने उसी की छाती से पिया था और मेरी माँ को अंतिम घड़ी तक यह विश्वास रहा कि अगर मैं बच गया था तो बस इसीलिए कि मैं देवकी की गोद से निकल कर यशोदा की गोद में चला गया था।

मेरी माँ का अपना विश्वास बड़ा अटल था। जिन दिनों मैं जन्मा था, मेरी माँ 'महाभारत' पढ़ रही थी। पढ़ने में मेरी माँ बहुत ही खबोर प्रवृत्ति की थी। पढ़ने की आदत मुझे उसी से मिली थी। मेरे जन्म के बाद जब मेरे नामकरण की बात सामने आयी तो मेरी माँ ने पंडित जी के प्रस्ताव को सुन चुकने के बाद अपनी ओर से नाम प्रस्तावित किया था, "मैं तो इसका नाम अभिमन्यु रखना चाहती हूँ।"

पंडित जी ने आपत्ति की थी, "यह ठीक नहीं रहेगा।"

"क्यों?"

"आप तो जानती ही हैं, अभिमन्यु अल्प आयु का था। यह नाम आपके बच्चे के लिए अच्छा नहीं रहेगा।"

पिताजी और परिवार के दूसरे लोगों ने भी माँ से कहा था कि वह मेरे लिए दूसरा नाम पसन्द करे, पर मेरी माँ अपनी पसन्द पर अड़ी रही। उसने कहा था, "मेरा बेटा लम्बी आयु का होगा। मैं इसका नाम अभिमन्यु ही रखूँगी।"

मेरा नाम अभिमन्यु ही पड़ा, फिर भी मेरे बाप ने मुझे आशंका के कारण मुझे कभी भी इस नाम से नहीं पुकारा। मेरे बारे में आचार्य धर्मेन्द्र का, जो कि कभी हमारे देश के प्रथम प्रधानमन्त्री के सांस्कृतिक परामर्शदाता थे, यह कहना कभी सत्य नहीं हो सका कि अभि का अर्थ होता है श्रेष्ठ और मन्यु का क्रोध, इसलिए मेरा हर क्रोध महान् होना चाहिए। खैर! मेरा बाप मुझे 'महाभारत' के अभिमन्यु वाली मौत से बचाने के लिए मुझे 'उमाकान्त' नाम से पुकारता था, जिसे पास-पड़ोस वाले सही उच्चारण के अभाव में 'माकन' कह कर बुलाते रहे। मैक-केन कहे होते तो मुझे अपने पूर्वजों को ढूँढने के लिए स्कॉटलैंड जाना पड़ जाता।

आज अगर फिर से बहुत बड़े दाम में भी मैं बिक नहीं पाया तो शायद इसीलिए कि मैं तो पहले ही से बिका हुआ था।

(दो)
पहला विरोध

लोगों का दावा है कि आदमी का विरोध उसी क्षण शुरू हो जाता है जब वह जन्मने वाला होता है। जन्मते ही बच्चे के रोदन को इस बात की दलील मान ली गयी है कि वह धरती पर आने की इन्कारी पर रोता है। मैं अपने जन्मने पर रोया था या नहीं, इसका मुझे कोई ज्ञान नहीं। मेरी माँ कहती थी कि मैं रोया था और मेरी धाई कहती रही थी कि मैं नहीं रोया था। दोनों में किसी एक पर भी अविश्वास करके मैं पाप का भागी बनना नहीं चाहता, इसलिये अपने उस विरोध को मैं डाक में खो गयी चिट्ठी की तरह अपंजीकृत विरोध मान लेता हूँ।

अपने ज़ेहन में पूरा ज़ोर देने के बाद मुझे अपना पहला विरोध वह लगता है जब मैं ने उस काल्पनिक सोने के कटोरे में दूध-भात खाने से इन्कार किया होगा या दिन में सो कर रात में उस चन्दन के पलने पर सोना नहीं चाहा होगा और मेरी माँ को लोरियाँ गानी पड़ गयी होंगी। पर पता नहीं ऐसी नौबत आयी होगी या नहीं। हाँ, एक बात अलबत्ता जो मुझे आज भी याद है और यकीनन वही मेरा पहला विरोध रहा होगा जो आज से कोई तैंतालीस वर्ष पहले मेरी ओर से प्रदर्शित हुआ था। तब मैं नौ साल का रहा हूँगा। मेरी बहनों में सबसे छोटी बहन सावित्री, जिसे हम लोग 'चीफी' कह कर पुकारते थे, का ब्याह था। इस सावित्री की यह त्रासदी रही कि सत्यवान को यम से बचाने के लिये उसे स्वयं को पति की जगह यम के हवाले करना पड़ा था।

मेरी बहन के विवाह-मंडप को बड़े ही साधारण ढंग से सजाया गया था, क्योंकि उन दिनों मेरे परिवार का रईसी ठाठ ख़त्म हो चुका था। हल्दी की रस्म-रिवाज़ों के बाद दूसरे दिन फिर से मुझे जनेऊ की रस्म के लिये गद्दी पर बिठा दिया गया था। पुरोहित द्वारा कानों में महामन्त्र सुनने तथा कंधे पर झोली लटका कर ज्ञानार्जन के लिये काशी जाने की विधि की बारी थी। पंडाल की पूरी परिक्रमा के बाद लौट कर लोगों के बीच 'भिक्षाम् देहि' कहकर अपने गुरु-पुरोहित के लिये धन इकट्ठा भी करना था। उनके चरणों पर रखने से पहले मुझे जिस बात के लिए विवश

किया गया था, उसे ख़ामोशी के साथ स्वीकार पाने की स्थिति में मैंने अपने को नहीं पाया था।

मैं सोचता ही नहीं बल्कि पूरे विश्वास के साथ मानता हूँ कि यही मेरे बचपन का पहला विरोध रहा होगा। उन तमाम रस्मों के बीच जब एक रस्म की बात मेरे सामने रखी गयी तो मैंने विरोध किया था, फिर माँ ने और अन्त में डाँटते हुए मेरे बाप ने कहा कि यज्ञोपवीत के समय वैसा करने पर आपत्ति करना उस धार्मिक रस्म का अपमान होगा। नाई अपने चमकीले और पैने उस्तरे को हाथ में थामे दूसरी हथेली पर घिस-घिस कर धार देते हुए सामने आ गया था। अपने बाप की पकड़ से अपने को छुड़ा कर मैं माड़ो से बाहर जा खड़ा हुआ था। रिश्तेदार एक स्वर में मुझे मनाने लगे थे।

"मान जाओ बेटा! जनेऊ के समय सर के सारे बाल मुंडवाना बड़ा आवश्यक होता है। इसके बिना यह संस्कार पूरा नहीं माना जायेगा।"

यह तो मैंने बताया ही नहीं कि मेरे परिवार का गोत्र 'इक्ष्वाकु' था, इसलिए पुरोहित ने मेरे पास पहुँच कर मुझे यह बताया कि भगवान राम का भी सिर मुंडन हुआ था। कहने का मतलब यह था कि जब भगवान अपना सिर सभी के सामने मुंडवा सकते हैं तो फिर मेरा सिर किस पेड़ का नारियल था। मैं नौ साल का ज़रूर था, पर अपने कद्दू भर के मस्तिष्क में इतना तर्क तो ज़रूर रखता था कि 'कोको रोंग' हो जाने पर याने के एकदम चंडूला हो जाने पर मेरी भी वही दशा होती जो गाँव के चंडू की होती रहती है। गाँव के सभी लड़के उससे बड़े और छोटे भी उसे चारों ओर से घेर लेते थे। जो सबसे लम्बा होता था, वह उसके पीछे से हाथ बढ़ा कर उसकी आँखों को बन्द कर लेता था और बाक़ी लोग उसकी बिन बालों की खोपड़ी पर 'खोटोक' यानि कि हथेली की हड्डियों से दस्तक शुरू कर देते थे। लोग तब तक नहीं रुकते थे जब तक या तो गाँव का कोई अधेड़ बीच में न आ जाता था या चंडू खूद दर्द से कराह कर रोने नहीं लग जाता था। मैं चंडू की, जिसका दूसरा नाम पींगो था, जगह होना नहीं चाहता था। और फिर मुंडे हुए सिर के साथ मैं किसी भी हालत में स्कूल नहीं जा सकता था। इसलिये जब लोग मुझे समझाने-बुझाने लगे तो मैंने ठुनकना शुरू कर दिया था। अपने सिर पर बालों को दोनों हथेलियों से घेरे मैं लोगों के बीच खड़ा रहा। कोई आधे घंटे बाद मेरी बहन सामने आयी। उसने पंडित जी से पूछा कि क्या सिर मुंडन के अलावा कोई दूसरा विकल्प नहीं था। पंडित जी ने मेरे माँ-बाप से बात की। जो दूसरे बुजूर्ग वहाँ बैठे थे, उन से भी परामर्श के बाद पुरोहित ने नाई से कहा, "देखो भाई, तुम ऐसा करो कि मैं मन्त्र पढ़ता हूँ और तुम सिर के सात अलग भागों से बस थोड़े-थोड़े बाल काट लो।" नाई ने वैसा ही किया और मेरा सिर मुंडे जाने से बच गया। वह विरोध अगर मेरा एकदम सफल विरोध न भी रहा हो तो भी मेरा पहला विरोध अवश्य था। यह दूसरी बात है कि मेरी माँ जीवन भर उसे मेरा हठ मानती रही।

(तीन)

आज भी शूद्र हूँ

गुरु ने जनेऊ की रस्मों के दौरान मेरे कानों में ज्ञान का महामन्त्र फूँका था, उससे तो मैं कोई ज्ञानार्जन कर ही नहीं पाया था। नौ-दस वर्ष का रहा होऊँगा। न मन्त्र समझ में आये थे

और न माड़ों का चक्कर काटकर काशी से क्षण भर में पढ़ आने की वह प्रक्रिया मेरी समझ में आयी थी। लेकिन गुरु शंकरनाथ चौबे के मन्त्र नहीं सही, गुरु के घर पर एक दिन मुझे एक बहुत बड़ी सीख मिली थी।

बहुत ही सुन्दर थी मेरी गुरु-बहन! मेरे शिक्षा पाने के कोई तीन-चार महीने बाद ही गुरु की उस सुन्दर बेटी मानता देवी का ब्याह था। तब ब्याह रात में हुआ करते थे और सप्ताह के किसी भी दिन लगन के आधार पर हुआ करते थे। आज तो वह पण्डितों की सहूलियत के लिए केवल दिन में और वह भी रविवार को ही होते हैं। रात में कभी मुहूर्त अच्छा हो पाता ही नहीं और रविवार के अलावा कोई भी दूसरा दिन 'लगन' का दिन होता ही नहीं! ख़ैर........ ..मुझे तो अपनी उस दिन की ज्ञान-प्राप्ति की बात आपको बतानी है।

मानता के विवाह का आयोजन बड़ा ही भव्य था। अपनी उस दस वर्ष की उम्र में पहली बार मैंने ब्याह के लिए उतनी शानदार तैयारियाँ देखी थीं। पंडाल से सट कर एक अलग छावनी तैयार की गयी थी, जिसमें शाम के पाँच ही बजे से निमन्त्रित लोगों को भोजन के लिए बैठाना शुरू हुआ था। छह-सात मित्रों की जो हमारी टोली थी, उसका मुखिया था विद्यानन्द। छह बजे से गानों की महफिल शुरू होनेवाली थी, इसलिए विद्यानन्द का यह सुझाव था कि हम पहले बैठाये जानेवालों के साथ ही खाना खा लें। जवाहर हमें पहले ही बता चुका था कि सात तरह की तरकारियाँ पकी हैं। ऊपर से इमली का टक्कर और अमड़ा का अचार भी था। मुँह में उसी वक़्त पानी आ गया था। इन सभी ने विद्यानन्द की बात मान ली। दो व्यक्ति पंडाल से लोगों को चुन-चुनकर छावनी में भोजन पर बैठाने के लिए उठा रहे थे। हम सातों व्यक्ति बिन उठाये खुद उठकर छावनी में पहुँच गये। एक बार में कोई तीस-पैंतीस व्यक्तियों को बैठाने की व्यवस्था थी। हम सभी पहले से चटाई पर बैठे बीस-पच्चीस जनों के बीच जा बैठे। सोनित का बाप हम सभी के सामने केले के पत्ते और लोटे रख गया। एक मोटा-सा आदमी आया और मुझे तथा सुनुआ को उसने बाँह पकड़कर उठा दिया। बोला कि हम लोगों की बारी आयेगी, तब हम लोग खायेंगे! विद्यानन्द और जवाहर ने कहना चाहा कि हमें खा लेने दिया जाये, पर उस मोटे आदमी ने किसी की कुछ नहीं सुनी। उसने कहा, "यह ब्राह्मणों के खाने की बारी है!"

बाहर आकर मैं सोचता रहा कि हमारे वे बाक़ी पाँच दोस्त कैसे ब्राह्मण समझ लिये गये और हम दोनों क्यों नहीं समझे गये थे? मेरा ध्यान पहले सुनुआ के कपड़ों पर गया, फिर अपने कपड़ों पर। हम दोनों के शरीर पर ऐसे कपड़े नहीं थे, जिनसे हम ब्राह्मण समझे जा सकते।

कोई घण्टे बाद जब तीसरी टोली बैठी तो हम और सुनुआ जा बैठे। इस बार भी उस मोटे आदमी ने यह कहकर उठा दिया कि क्षत्रियों को हमसे पहले खाना है। मैंने कहा, "मैं पतिसिंह का बेटा हूँ—क्षत्रिय हूँ!"

मगर वह आदमी हमारी बाँहें पकड़े हमें बाहर करके ही रहा।

क्षत्रियों के बाद वैश्यों को चुन-चुनकर बैठाया गया। फिर कोई दो घण्टे बाद जब बचे-खुचे लोगों की बारी आयी तो हम पहुँचे, उस मोटे आदमी ने हमें देखते ही कहा, "हाँ, अब बैठो! और भर पेट खाना खाओ!"

उस दिन अपने गुरु द्वारा अपने कानों में पढ़ गये मन्त्रों का सही ज्ञान अपने उस गुरु के द्वार

पर ही पा सका। और वह यह था—कि फटे-पुराने कपड़े पहने ग़रीब को ब्राह्मण या क्षत्रिय होने का अधिकार नहीं होता!

कई वर्षों बाद, जब मैं महात्मा गाँधी संस्थान में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर था, तो संस्थान के निदेशक ने एक दिन मुझे अपने दफ्तर में बुलाकर कहा, "सभी हेड ऑफ द डिपार्टमेंट्स कोट और टाई में होते हैं, तुम्हें भी ढंग के कपड़ों में होना चाहिए!"

मैंने मुस्कराकर कहा था,

"गाँधी जी की दुनिया में तो शूद्रों को भी जगह नसीब है।"

(चार)
पैसों का पेड़

जिस दिन मैंने अपनी माँ के मुँह से पैसों के पेड़ की बात पहली बार सुनी थी तब उन दिनों मैं छोटा ही था। हमारे घर के ठीक सामने आम सड़क के उस पार इलाके का सबसे सुन्दर घर था। उस की टीन की छत और तराशे हुए पत्थर की दीवारें दोनों क्रिओली शैली की थीं। दो तरफ़ और छत के ऊपर की खिड़कियों की सजावटों की डिज़ाईन भी टीन की थी। आगे जो विस्तृत बरामदा था, वह लकड़ी का था जिसमें शीशे लगे हुए थे। वह घर शामलाल लोहार का था, जिसे आसपास के लोग 'शतो' कहा करते थे। एक दिन मैं जब माँ से पूछ बैठा था कि आख़िर हमारा घर गन्ने के पत्तों के छाजन का क्यों था और शामलाल भैया का घर उतना भव्य क्यों था, तो वह मेरी बहन पर किसी बात के लिये रूठी होने के कारण तपाक से बोल पड़ी थी, "हमारे पास पैसों का पेड़ होता तो हमारा घर भी उतना ही भव्य होता।"

यह पैसों को पेड़ की बात सुन कर मैं दिन-रात उसी के बारे में सोचता रह गया था। मैंने अपनी बहन से पूछा कि क्या सचमुच पैसों के पेड़ हुआ करते हैं तो वह मेरे दोनों गालों पर चिकोटी लेती हुई एक-एक शब्द पर ज़ोर लगा कर बोली थी, "हाँ। पर उसे उगाने वाले को बहुत मेहनत करनी पड़ती है।"

"और अगर मेहतन करने के बाद पेड़ उग कर बड़ा हो गया और उसमें पैसे फलने लगे तो?"

"तो बस पेड़ हिलाओ और आँगन पैसों से भर जायेगा।"

"मैंने देखा तो नहीं है, पर सुना है कि ये शक्कर कोठी वाले के आँगन में पैसों के कई पेड़ हैं।"

"पर इस प्रेमवा के आँगन में तो ऐसा कोई पेड़ है ही नहीं तो इसके बाप के पास इतना बड़ा घर बनाने के लिए पैसा कहाँ से आया?"

"यह तो मैं नहीं जानता।"

"तुम्हें मालूम है कि पैसों को पेड़ कैसे बोया जाता है?"

"जैसे सभी पेड़ उगते होंगे।"

"पर सभी पेड़ तो बीजों से उगते हैं। क्या पैसे के भी बीज होते होंगे?"

"पैसा शायद बोने से उगता होगा।"

यह बात मुझे जँच गयी। संयोग से दूसरे ही दिन मेरी कॉटेज वाली मौसी हमारे यहाँ आ

गयी। शाम को जब वह लौटने लगी तो वह हमेशा की तरह मेरे हाथ में पाँच सेंट के दो सिक्के थमा गयी। पहले जब भी मेरे हाथ में पैसे आये थे, मैं मिशेल की दुकान की ओर मूल्कू या सीक्रदोर्ज़ के लिये दौड़ जाता था। यह पहला अवसर था कि उन दोनों सिक्कों को अपनी हथेली में लिये उन्हें ग़ौर से देखता रहा। मैं यह चाहता था कि ये दोनों जम कर पेड़ बन जायें और उनकी डालियाँ पैसों से लद जायें।

चाहे हमारा घर मिट्टी और रावेनाल की दीवार का था, पर मेरी छोटी बहन उसकी अगल-बगल में फूल के पौधे उगाती रहती थी। हमारी आगे की ओरियानी के नीचे मिट्टी के चार-पाँच गमले थे जिनमें मेरी बहन 'चीफी' ने अपनी पसन्द के विशेष पौधे बो रखे थे। उनमें से दो गमलों में लकड़ी के एक टुकड़े से मैंने अँगुली भर गहरे छिद्र बनाये और दोनों में एक-एक सिक्के रख कर ऊपर से माटी चढ़ा दी। दो दिन बाद मैंने अपनी बहने से आँखें बचाकर दोनों गमलों के ऊपर से थोड़ी-थोड़ी माटी हटा कर देखना चाहा कि सिक्कों में अंकुर आने लगे थे या नहीं। सप्ताह भर ऐसा ही करता रहा, पर उन्हें अंकुरित न पा कर मैं दु:खी था। दूसरे दिन मैंने अपनी बहन से पूछा, "अगर कोई बीज ज़मीन में बोओ तो कितने दिन बाद वह जम जाता है?"

"कुछ बीज कोई तीन-चार दिन में भी जम सकते हैं और कुछ जमने में दस-पन्द्रह दिन भी ले सकते हैं।"

यह जानकर मेरा हौसला फिर से बढ़ गया। इतना समझ पाने की बुद्धि तो थी ही मेरे दिमाग में कि सिक्के कठोर होने के कारण सप्ताह भर में तो अंकुरित हो ही नहीं सकते थे। पिछवाड़े में मेरा बाप जो थोड़ी बहुत बोआई करता था, उनके बीच वह दो रंग की झंडियाँ गाड़ देता था। एक बार पूछने पर वह बोला था, "यह सफ़ेद झंडी पक्षियों को दूर रखने के लिये है और लाल झंडी लोगों की बुरी नज़र बचाने के लिये।"

यह बात याद आते ही मैंने दोनों गमलों में एक-एक छोटी-छोटी लाल झंडी गाड़ दी। दूसरे दिन सुबह जब मेरी बहन की नज़र झंडियों पर पड़ी तो उसने मुझ से पूछा, "ये झंडियाँ क्यों गाड़ रखी हैं इन गमलों में?"

और मेरे कुछ कहने से पहले ही उसने उन्हें उखाड़ कर फेंक दिया और कहा, "आईन्दा इन गमलों में हाथ मत डालना। मेरा ज़ेरान्यम का यह पौधा मुर्झाने लगा है।"

देर तक मैं उन दोनों गमलों के बीच खड़ा उन्हें दु:खी मन से देख रहा था कि सामने से सूनू आकर मेरे पास खड़ा हो गया। मुझे एकटक गमलों की ओर देखते पाकर उसने पूछा, "क्या देख रहे हो? आज चोर-पुलिस नहीं खेलने चलोगे क्या? सभी खेल शुरू कर चुके।"

"पता नहीं ये सिक्के कब जमेंगे?"

"कैसे सिक्के?"

"मैंने इन दो गमलों के पौधों के बीच पाँच-पाँच सेंट के दो सिक्के बोये हैं। अभी तक एक भी नहीं जम पाया।"

सूनू ने मेरी ओर देखा, मैंने उसकी ओर और फिर उसने पूछा, "कितने दिन हुए?"

"सात दिन से ज्यादा होने को हैं।"

सूनू कुछ क्षण चुपचाप रहा, फिर पूछा, "इसमें रोज़ पानी डालते हो?"

"मेरी बहन कभी-कभी डालती है।"

"अरे जब तक इनमें रोज़ पानी नहीं पड़ेगा तब तक ये जमने वाले नहीं और चूँकि सिक्के तुमने बोये हैं इसलिये सिंचाई भी तुम्हें अपने ही हाथों करनी होगी। अगर सुबह-शाम इसकी सिंचाई करोगे तो तीन दिन के भीतर अंकुर ज़मीन के ऊपर आ जायेंगे। जाओ, जाकर एक फव्वारे में पानी ले आओ।"

उसकी यह बात सुनते ही मैं पानी लाने दौड़ गया। मेरी बहन बरतन माँजवे पर जूठे बरतन माँज रही थी। उसकी नज़रें चुरा कर मैंने फव्वारे को उसके पीछे से उठा लिया। उसमें पहले ही से आधा फव्वारा पानी था। सूनू एकदम गमलों के पास खड़ा था, थोड़ा-सा पीछे हट गया, ताकि मैं सिंचाई कर सकूँ। दोनों गमलों को पानी देने के बाद मैंने फव्वारे को नीचे रखते हुए सूनू से कहा, "चलो अब खेलने चलते हैं।"

"तुम चलो, मैं थोड़ी देर में आता हूँ।"

यह कह कर वह मिशेल की दुकान की ओर बढ़ गया। कोई पन्द्रह मिनट बाद जब मैं चोर-पुलिस के खेल में अपने बाक़ी दोस्तों के साथ मशगूल था तो रास्ते में सूनू को अपने घर की ओर सीक्रदोर्ज़ चूसते-चबाते जाते हुए देखा।

बेवकूफ़ों को भी कभी सोचने का मौक़ा मिल जाता है। मैंने कुछ सोचा और झट दौड़ गया आँगन के उस भाग को जहाँ दोनों गमले थे। मैंने पहले गमले से माटी हटा कर देखा और सन्न रह गया। कुछ और माटी हटाता रहा पर सिक्का वहाँ होता तब तो दिखायी पड़ता। मैंने दूसरे गमले में भी वैसा ही किया। वहाँ भी सिक्का नहीं था। दौड़ कर जब सूनू के घर पहुँचा तो वह भी घर पर नहीं था। सूनू कभी स्कूल नहीं गया था, पर मैं रोज़ जाता था फिर भी वह मुझसे अधिक होशियार निकला।

(पाँच)
डॉक्टरों का मुर्दा

तब मैं बारह-तेरह का रहा होऊँगा, जब घर के पिछवाड़े के आम के पेड़ से आम तोड़ते हुए मैं कोई पन्द्रह फीट की ऊँचाई से नीचे गिरा था। गुलैची की एक सूखी हुई खूँटी से मेरी छाती टकरायी थी। अस्पताल में मैं दो दिनों तक बेहोश रहा था। उसी क्षण से मुझे खून की जो उल्टी शुरू हुई थी, वह समय-समय पर होती रही। मेरे माँ-बाप डॉक्टरों और दवाइयों से थक गये थे। डॉक्टर तक तंग आकर कह गया था कि उस दौरे को रोकने के लिए ओझाई ही आख़िरी उपाय बचा था। मनौतियाँ, पूजा, सभी से थक चुके थे घर के लोग। हर छह महीने या दस महीने बाद वह दौरा शुरू होकर रहता था।

मेरी शादी का वह तीसरा महीना था। बहुत दिनों के बाद मुझे फिर से एकाएक हीमोपटीजिस का दौरा शुरू हो गया था। सबसे भयंकर दौरा था वह। खून की इतनी अधिक उल्टी पहले कभी नहीं हुई थी। बहाव नाक से भी होता रहा। चार दिनों के भीतर तीन डॉक्टर अन्दरूनी हेमारेज को रोकने के लिए विटामिन के और ओड्रोनोक्जील के इन्जेक्शन देकर थक चुके थे। डॉक्टर शिवसागर रामगुलाम के आदेश पर मुझे कांदोस के अस्पताल में दाख़िल कराया गया।

वहाँ भी तीन डॉक्टरों ने मेरा मुआइना किया। एक्स-रे के दूसरे ही दिन बाद मेरी ब्राकोस्कोपी भी हुई। कहीं किसी को बीमारी नज़र नहीं आयी। खून की उल्टी ज़ारी रही। मेरे साथ लगे हुए तीन डॉक्टरों में दो थे डॉक्टर मालेक और डॉक्टर एंगलन। दोनों में से एक ने मेरी माँ और पत्नी से कहा कि बड़ी रहस्यमयी बीमारी थी और ऑपरेशन के बाद ही उसका पता चल सकता था। दोनों ने जब जानना चाहा कि ऑपरेशन के बाद मेरे अच्छे हो जाने की कितनी सम्भावना थी, तो दोनों डॉक्टरों ने कोई उत्तर नहीं दिया।

उसी शाम वे डॉक्टर शिवसागर रामगुलाम से मिलीं। उन्हीं के सुझाव पर वे दोनों मेरे डॉक्टरों से दोबारा मिलीं। मैं बहुत कमज़ोर था, लेकिन बेहोशी इतनी नहीं थी कि सामने की बातों से अनजान रहता। मैंने जब माँ और सरिता से कहा कि ऑपरेशन की इजाजत दे दें, तो दोनों ने यही कहा कि वे मेडिकल प्रयोग के लिए मुझे डॉक्टरों के हवाले नहीं कर सकतीं।

दोनों डॉक्टरों में से एक ने यह कह दिया कि ऐसी स्थिति में मैं बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता। मुझे तीसरे दिन बाद घर लौटा लिया गया। घर पर तो रोना-पीटना शुरू हो चुका था। मुझे सभी कुछ बड़ा विचित्र-सा लगा। मगर तीन ही चार दिन बाद मेरी हालत सुधरने लगी।

तब से आज तक, डॉक्टरों की भविष्यवाणी के बावजूद मैं जीवित हूँ। इन बीस सालों में वे दौरे भी कभी-कभार पड़ते रहते हैं, और मैंने हर बार खून की उस उल्टी को रोकने के लिए कभी न तो डॉक्टर देखा और न दवा ली। दौरे पड़ते हैं, दो-तीन दिन बाद अपने आप समाप्त भी हो जाते हैं।

(छ:)

जन्म-बधाई

यह तो मुझे याद नहीं कि वह किसके जन्मदिन के अवसर पर मेरे बाप ने हम सभी को खरी-खोटी सुनायी थी; लेकिन किसलिए सुनायी थी, यह मुझे याद है। उस रस्म के दौरान जब हम लोगों ने बर्थ-डे केक पर के जलाये प्रकाश को एक ही फूँक में बुझाकर जन्म-दिन की शुभकामनाएँ अर्पित की थीं, तब मेरे बाप ने हम सभी को डाँटकर कहा था, "तुम लोग जन्मदिन की शुभकामनाएँ दे रहे हो या मृत्यु की आकांक्षा व्यक्त कर रहे हो? हमारे धर्म में दीये जलाकर शुभ की कामना की जाती है, न कि दीये बुझाकर! दीये बुझाने का मतलब आरम्भ नहीं, अन्त होता है। उजाला नहीं, अंधकार होता है!"

और शायद तभी से हमारे घर में जन्मदिन मनाना बन्द-सा हो चला था। इसके बावजूद अगर हमारे घर में कभी-कभार जन्मदिन मनाने की नौबत आयी भी तो एक ही व्यक्ति के कारण और वह व्यक्ति है साहिबा। मैं खुद तो इतना भुलक्कड़ हूँ कि अपने घर का फोन नम्बर कई अवसरों पर मुझे मित्रों से पूछना पड़ा है। ऐसी हालत में मुझे अपना जन्मदिन याद रह पाना बड़ा ही कठिन था। और जब अपना ही जन्मदिन याद न रहे, तो फिर घर के दूसरे लोगों का जन्मदिन याद रखना तो और भी कठिन था!

इधर कुछ वर्षों से, जन्मदिन की तिथि याद न रहने पर भी अगर हमारे यहाँ घर के सभी

लोगों के जन्मदिन मना लिये जाते हैं तो केवल इसलिए कि उनकी याद कोई तीन-चार दिन पहले साहेबा के द्वारा दिला दी जाती है। उसे ये तिथि कैसे मालूम है, यह कह पाना बड़ा कठिन है; पर वह अपने पास जो डायरी रखती है, उसमें शायद मेरे परिवार के सभी सदस्यों के जन्मदिन की तारीखें अंकित रहती हैं।

वह पहली हैरानी मुझे उस समय हुई थी, जब एक बार उसने मेरे जन्मदिन की याद दिलाकर मेरे हाथों पर तोहफ़ा रखा था। लेकिन वह हैरानी उस वक़्त अपने आप मिट गयी थी, जब यह पता चला था कि साहेबा का अपना जन्मदिन मेरे जन्मदिन से दो दिन पहले ही आता था। वह सात अगस्त को जन्मी थी, मैं अपनी जन्मपत्री के अनुसार नौ अगस्त को। मैं उससे कोई सोलह साल पहले पैदा हुआ था, यह दूसरी बात थी। अपने जन्मदिन के साथ उसे मेरे जन्मदिन की याद आ जाना तो शायद स्वाभाविक था, लेकिन.........

लेकिन वह थी कि मेरे घर के सभी सदस्यों के जन्मदिन की याद रखे रहती थी। मैंने उसे उन सभी जन्मदिनों के बारे में कब बताया था, यह तो दिमाग पर लाख जोर देकर भी नहीं याद कर पाता हूँ। उसे यह तिथियाँ कैसे मालूम हुईं, यह बताना तो और भी कठिन है।

सबसे बड़ा आश्चर्य तो मुझे उस समय हुआ था, जब एक दिन रोशन्वार के दहाड़ते समुद्र के किनारे उसने मेरे सामने चॉकलेट और तोहफ़े का एक बंडल रख कर कहा था, "कल तरुण का जन्मदिन है। तुम मेरी ओर से यह तोहफा देकर उसे शुभकामनाएँ भेंट कर देना!"

मेरे आश्चर्यचकित रह जाने का वह पहला अवसर नहीं था। वह तो मेरे घर के सभी बच्चों और मेरी माँ तक के जन्मदिन की याद दिलाकर मुझे वे रस्में पूरी करने को हर बार मज़बूर करती रही है।

वह रस्म उस दिन मुझे एक अजीब उधेड़बुन में डाल गयी, जब अपनी सालगिरह के अवसर पर आठ वर्षीय तरुण यह सवाल कर बैठा, "पापा, यह कैसा जन्मदिन है?"

"क्यों, क्या बात है?"

"फिल्मों में तो बच्चे मोमबत्तियों को एक ही फूँक से बुझाते हैं, फिर सभी लोग कहते हैं–हैप्पी बर्थ डे टु यू!"

और तब से, बम्बई की हिन्दी फिल्मों की कृपा से मेरे अपने घर, मेरे बाप के उस उसूल के ख़िलाफ़, जन्मदिन की शुभकामनाएँ चिराग जलाकर नहीं, बल्कि चिराग बुझाकर दी जाती हैं।

(सात)
कारण प्रमाण-पत्रों के अभाव का

नगीने का न तो मैं कभी मूल्य समझ पाया और न उसके प्रति कभी आकर्षित रहा। एक चीज़ हमेशा मेरे लिए नगीने से भी अधिक आकर्षण की वस्तु रही है–वह है पुस्तक! और जब उसे नगीना समझकर अपनाने की चेष्टा की थी तो आठ-नौ वर्ष का रहा होऊँगा। आज भी उसे नगीना ही समझकर संस्थाओं को बाँटता रहता हूँ। द्वीप-भर की संस्थाओं को हर तीसरे-चौथे महीने पचास-साठ पुस्तकें भेंट करके यही सोचता हूँ कि उन लोगों को मैंने

पचास-साठ नगीने भेंट किये.........लेकिन पुस्तकें बाँटने की इस प्रक्रिया में प्रायश्चित का बोध भी उतना ही गहरा है। यह नियमित प्रायश्चित है, उसी आठ-नौ वर्ष की उम्र में कर गयी एक करनी का।

हमारे घर के पास ही मेरे बाप की एक छोटी-सी सिगरेट की ताबाज़ी थी। बहुत ही कम आमदनी की दुकान थी वह, जिसके बारे में मेरी माँ कहती थी—इससे तो घर का आटा भी गीला हो जाता है! वास्तव में, आमदनी उतनी बुरी तो नहीं थी, लेकिन मेरे बाप को उधार खानेवालों से उधार के पैसे माँगने में बड़ी झिझक होती थी।

ख़ैर! सड़क के उस पार गुलमोहर के दो पेड़ थे, जिनके नीचे गर्मी के मौसम में लाल पंखुड़ियाँ घनी बिछी रहती थीं। ऊपर डालियों पर सूरज की किरणों से दीपित पंखुड़ियाँ अंगारे-सी प्रतीत होती थीं, लेकिन नीचे शीतलता होती थी। वहीं की चट्टानों पर गाँव के तीस-चालीस लोग बैठ कर, मेरे बाप से अख़बारों के समाचार सुनते थे।

उस दिन मैं भी वहाँ था। मेरा बाप जब लोगों के लिए अख़बार पढ़ता होता था, तो मैं दुकान की रखवाली करता था। उस समय यातायात का कोई भय तो होता नहीं था, इसलिए मैं कभी सड़क के उस पार होता, कभी इस पार। मेरा बाप लड़ाई की जो ख़बरें फ्रेंच से पढ़कर भोजपुरी में सुना रहा था, उसके प्रति मेरी भी दिलचस्पी बढ़ आयी थी। मैं भी भूमि पर पसरकर बैठ गया था।

एक आदमी सिर पर गठरी लिये बीच में आ खड़ा हुआ था। वह आदमी हर महीने पुस्तकों की अपनी मोटी गठरी के साथ गाँव में पहुँचता था। सभी पुस्तकों को अपने साथ की चादर पर बिछा देता था। मेरे बाप की उपस्थिति उस आदमी के लिए बड़े लाभ की होती थी, क्योंकि हिन्दी की उन बिखरी हुई पुस्तकों के बीच से सबसे पहले तो मेरा बाप ही पुस्तकें चुनकर खरीदता था, लेकिन साथ ही देखा-देखी और भी लोग छोटी-मोटी पुस्तकें खरीद ही लेते थे।

उस दिन मेरे बाप ने जो पुस्तक पसंद की, वह किसी इतिहास-प्रेमी द्वारा लिखा हुआ भारत का इतिहास था। पुस्तक मोटी थी और उसका दाम ढाई रुपये था। पुस्तक के पैसे चुकाकर मेरे बाप ने वह पुस्तक मेरे हाथों में थमा दी थी। तब तक और भी कई लोग उन पुस्तकों के चारों ओर आकर इकट्ठे हो गये थे। मेरा बाप कोई दूसरी मोटी-सी पुस्तक देखने में लगा हुआ था और कई दूसरे लोग भी अपने-अपने हाथों की छोटी-मोटी पुस्तकों में खोये हुए थे। मैं भी उन पुस्तकों के बीच से बाल-कथाओं की एक छोटी-सी पुस्तक उठाकर उसके भीतर की तस्वीरों को देख रहा था। अपने बाप से मैंने उसे अपने लिए खरीद देने का अनुरोध किया। मेरे बाप ने यह कहकर बात टाल दी कि अगली बारे उसे मेरे लिए खरीद देगा।

लोग उस पुस्तक वाले से दाम-दुकानी करते रहे। मैंने अपने हाथ की उस पुस्तिका के पन्नों को उलटते हुए कनखी से चारों ओर देखा और धीरे से उसे इतिहास की बड़ी पुस्तक के भीतर रख लिया।

वह व्यक्ति जब अपनी गठरी बाँधने लगा तो मैं इतिहास की पुस्तक और उसके भीतर चुराकर रखी हुई बाल-पुस्तिका को दोनों हाथों से दबाये घर को दौड़ गया। मैं बहुत खुश था। वह खुशी चोरी की नहीं थी, एक नगीना पा लेने की थी।

रात के खाने के बाद मेरे बाप की नज़र उस पुस्तिका पर पड़ गयी। उसने मेरी कलाई

पकड़कर अपने पास खींचा और डाँटकर कहा, "तो तुम चुरा लाये इस पुस्तक को!"

मुझे निरुत्तर पाकर मेरे बाप ने मेरे गालों पर दो थप्पड़ जड़ दिये। मुझे चुप कराती हुई माँ बोली थी, "चोरी नहीं करनी चाहिए! पुस्तक चुरानेवाला बच्चा तो परीक्षाओं में असफल रह जाता है।"

शायद यही कारण रहा हो, मेरे पास परीक्षा के प्रमाण-पत्रों के अभाव का! ख़ैर······ अभी तो उस एक पुस्तक के बदले न जाने कितनी पुस्तकें भेंट करनी हैं और कितनी लिखनी हैं!

(आठ)
मैं जब 'चरित्रहीन' पढ़ रहा था

वर्तमान अतीत को मारकर जीता है और भविष्य के लिए वर्तमान की मृत्यु ज़रूरी होती है। उन दिनों मैं ऐसा ही सोचने को विवश था। मैं सोलह पार कर चुका था। घर में अभाव और मोहताजी इस क़दर बढ़ आये थे कि मेरी माँ मुझे पढ़ा-लिखाकर कुछ बनाने के अपने प्रण को भी तिलांजलि दे देने को विवश हो चली थी। आस-पास के सारे जंगल खेतों में परिवर्तित हो जाने के बाद गाय पालकर परिवार का पालन-पोषण एकदम कठिन हो चला था। ऊपर से कर्ज़ा·········गुलामी! मेरा बाप भी चारपाई पर बीमार पड़ा हुआ था।

रात देर तक यह सोचते रह जाने कि मैं किस तरह घर के छह सदस्यों का पेट पालने में माँ की मदद कर सकता था। सुबह जब सूरज के उग आने तक भी खाट पर पड़ा रहता तो माँ मेरे ऊपर बरस पड़ती थी, "जांगरचोर अभी तक सो रहा है! मैं कब तक तुम्हारी उम्र के लड़के के लिए खुरी घांसती रहूँगी।"

वह पास-पड़ोस के मेरी उम्र के लड़कों के नाम गिनती हुई कहती जाती, "तुमसे छोटे हैं ये लोग! कमा रहे हैं। तुम कब तक घर में महाराजा बने बैठे रहोगे?"

घर की ग़रीबी और मेरी परित्यक्ता बहन, उसका बच्चा और मेरे छोटे भाई की दयनीयता को देखकर माँ मेरे प्रति इतनी कड़वी हो जाती थी। छह महीने से मैं लगातार इन उलाहनों को सुनता आ रहा था, और उन्हें भी पचा लेता रूखे-सूखे भोजन के साथ। शाम को भी माँ की खीझ! रूखा-सूखा खाने से पहले भी अपनी बेकारी के लिए मैं कोसा जाता। माँ को हक़ था कोसने का। आधा पेट खाने वाली एक गाय और दो-तीन बकरियों के बल पर वह कब तक मुझे घर पर बैठाये खिलाती रह सकती थी! और फिर मैं अकेला मुँह थोड़े ही था!

उस वर्तमान से मैं अकुला उठा था। वह जब तक रहता, मेरा कोई भविष्य नहीं हो सकता था; पर उस वर्तमान को मार सकना भी तो उतना आसान नहीं था! मैं उसे गिंजता रह जाता। साधन के अभाव में मेरी पढ़ाई अधूरी थी। अपने कमज़ोर शरीर से बगन कोठी के गन्ने के खेतों से जो काम शुरू किया था, उसे तो कुछ दिन पहले ही छोड़ दिया था। कोठी के मालिक की उस गाली के उत्तर में उस पर गंडासा चला देने के बाद।

मेरे कई मित्र अच्छे खाते-पहनते दिखते थे। मैं भी उनकी तरह होना चाहता था। कोशिशों से चूकता नहीं था। उस दोपहर को मैं अपनी माँ और बहन से तीन बार खाना माँगकर भी पेट को शरत् बाबू के 'चरित्रहीन' से दबाये रह गया था। भूख को भुला देने के लिए मैंने फिर से उपन्यास

में अपने को डुबो दिया। मेरी बहन न जाने कब मेरी बगल में खाना रखकर चली गयी थी।

कुछ देर बाद जब मेरी माँ ने थाली को उसी तरह पड़े पाया और मुझे पुस्तक में डूबा हुआ देखा तो बोल उठी, "दाल और सहजन की भुंजड़ी है! अब और कौन तरकारी लाऊँ तुम्हारे लिए ?"

माँ की उस बात में कोई ऐसी चोट पहुँचा जाने वाला भाव तो था नहीं, फिर भी न जाने क्यों, मेरी आँखों से टप्-टप् कई बूँदें पुस्तक के पन्ने पर टपक पड़ी थीं।

उधर दूसरे कमरे से माँ की वह कोसाई जारी थी—

"न काम न धंधा, पढ़वा बना बैठा है! ....बाल्मीकि बनकर दिखाना है न!"

मेरे आँसू फिर बह आये थे। वे सावित्री की व्यथा पर नहीं बहे थे। मैंने पुस्तक बन्द करके उन आँसुओं को पन्नों के बीच संजो लिया।

पुस्तक जिस पुस्तकालय से ली गयी थी, वहीं लौटा दी गयी; लेकिन वे आँसू जहाँ से टपके थे, वहाँ नहीं लौटाये जा सके!

उस मानसिक यातना के कई वर्ष बाद शहर की उस इंस्टीट्यूट-लाइब्रेरी में जाने का अवसर मिला। वहाँ हिन्दी की इनी-गिनी पुस्तकों के बीच 'चरित्रहीन' की वह प्रति महीनों से अनपढ़ी रखी हुई थी। मैंने पन्ने उलटे और वर्षों पहले उसके भीतर टपक आये मेरे आँसू के पीले दाग, बेकारी की उन यातनाओं को संजोये हुए थे। मन में आया था, उस पुस्तक को चुरा लूँ! फिर उसे छोड़ दिया, संस्थान की सम्पत्ति के रूप में।

वर्तमान की हत्या करके मैंने उसकी लाश पर आँसू बहाये थे, उस भविष्य के लिए जो आज मेरी वर्तमान है, जो कल मेरा अतीत नहीं होगा—मेरा वर्तमान ही रहेगा।

(नौ)

ईंट की रोटी

आप भूख से तड़प रहे हों। रोटी की तलाश में गाँव-बस्ती-शहर छान चुकने के बाद आँतों-से-आँतों के चिपक जाने की यातना को भुगतते हुए, अचानक आप को कोई ऐसा आदमी मिल जाये जो आपके हाथों में ईंट की एक रोटी रख दे। उस भूख की छटपटाहट में आप उसे सचमुच की रोटी समझकर जल्दी से मुँह तक पहुँचा लें, और तब उस आदमी का ठहाका गूँज उठे।

कुछ लोग इस तरह के मज़ाक तक कर जाने की हिम्मत रखते हैं। मैं अपने घर के सभी सदस्यों की भूख को अपने में लिये नौकरी तलाशता रह गया था। द्वीप के इस छोर से उस छोर तक लोगों से यह रिआयत माँगता फिरता था कि मुझे नौकरी करके अपने परिवार का पेट भरने का अवसर दे दिया जाये। तीन महीने पहले बस-कंडक्टर की जो नौकरी हासिल कर सका था, उसे एक भिखारी को दस सेंट कम का टिकट काटने के कारण गँवा बैठा था। सिर पर सब्जियों की टोकरी लिये पूरे गाँव की खाक भी छान मारी थी। अपने बलबूते पर कई तरह के छोटे-मोटे काम शुरू करके भी दो पैसे कमा पाने में असफल, इधर-से-उधर भटक रहा था कि गाँव के परशतमवा नामक व्यक्ति ने कालीमाई के सामने रोककर कहा था, "सुना

है, तुम नौकरी के लिए मारे-मारे फिर रहे हो.........अरे मुझसे कहा होता!"

"आप मुझे नौकरी दिला सकते हो?"

"मैं तुम्हें नौकरी दे सकता हूँ, इसी वक़्त! क्यों दर्शन भैया, इसको हम वह नौकरी दे दें?"

उसी गम्भीरता के साथ वह दर्शनवा नाम का मोटे पेटवाला अपने जनाने अंदाज में कह गया, "अरे हाँ, यह तो होशियार लड़का है, कर सकता है.........दे दो!"

जिस इमारत में हम लोगों की कभी सिगरेट की छोटी-सी दुकान थी, उसके दूसरे भाग में हबीब नाई की दूकान थी। राजकपूर, दिलीप कुमार को लेकर खड़े होने वाले हंगामे के कारण वह अपनी दुकान छोड़ गया था। इधर दो-तीन सप्ताह से वह कमरा खाली पड़ा था। परशतमवा मेरे कंधे पर हाथ रखे, मुझे उस इमारत तक ले गया। उसके मालिक से कहा, "चिंगरू बहनोई, ले आओ इसकी चाबी!"

उस कमरे को खोला गया। परशतमवा अपनी उसी गम्भीरता के साथ बौखला गया, "शहर में मज़दूरों के यूनियन का जो दफ़्तर है, उसकी एक शाखा मैं और दर्शन भैया मिलकर यहाँ खोलने जा रहे हैं। इसकी जिम्मेदारी हम तुम्हीं को सौंपना चाहते हैं। एक-दो सप्ताह के भीतर यहाँ टाइपिस्ट भी आ जायेगी—फोन भी लग जायेगा। और ख़ैर, तुम सम्भाल सकोगे.........कर सकोगे यह काम?"

"मुझे जो कुछ करना होगा, बस आप लोग एक बार बता देंगे फिर तो मैं कर लूँगा!"

"सबसे पहले यहाँ पर एक मेज़-कुर्सी की ज़रूरत पड़ेगी। उधर से सारे सामान के आने में दो-तीन सप्ताह तो लग ही जायेंगे! हम चाहते हैं कि दफ़्तर का काम आज ही से शुरू हो जाये। आज मंगल का दिन है, पहली तारीख़ भी है।"

मैं दौड़ गया था अपने घर को। अपनी बहन से इतना बोलकर कि मुझे नौकरी मिल गयी है, मैं घर की पुरानी मेज़ को सिर पर उठाये चला आया था। दूसरी बार मैं कुर्सी भी उठा लाया।

परशतमवा ने कहा, "पर देखो, शुरू-शुरू में हम तुम्हें सौ रुपये से ज्यादा नहीं दे पायेंगे। तीन-चार महीने बाद हम तुम्हारी तनख़्वाह बढ़ायेंगे। मंजूर है?"

मन माँगी मुराद के लिए 'नहीं' कैसे कहता! मैं तो पच्चीस-पचास की नौकरी के लिए फिर रहा था। सौ की बात तो मैंने कभी सोची ही नहीं थी!

मैं तो मन-ही-मन खुशी से मरा जा रहा था।

"कल तुम्हें काग़ज़-क़लम सभी कुछ मिल जायेंगे।"

कोई आध घंटे तक दर्शनवा की गवाही में परशतमवा अपनी सभी योजनाओं के बारे में बोलता रहा, और दोनों जब मुझे कुर्सी पर बैठाकर बाहर हुए तो सन्नाटा परशतमवा के ठहाके से झनझना उठा।

मैं सपने बुनता रहा। सोचा—भगवान जब देता है तो छप्पर फाड़कर देता है! कहाँ मैं गली-गली नौकरी के लिए भटक रहा था और कहाँ ओरियानी में ही नौकरी थी मेरे लिए.........!

कोई पाँच-दस मिनट बाद करीम मामू मेरे पास पहुँचकर बोला, "सलाम साहब! यह तो बहुत अच्छी नौकरी मिल गयी तुम्हें.........।"

"परशतम और दर्शन भैया की कृपा है, मामू!"

"तुम पढ़े-लिखे होकर भी मूर्ख हो! पति बहनोई का बेटा इतना बुद्धू? अरे, तुम्हें परशतमवा और दर्शनवा ने बेवकूफ़ बनाया है। यहाँ कोई दफ़्तर-अफ़्तर खुलने का नहीं!"

मैं स्तब्ध रह गया।

"लेकिन मामू, यह कमरा तो चिंगरू.........."

"यह कमरा चिंगरू से किराये पर इसलिए लिया गया है, ताकि परशतमवा अपने तम्बाकू के पत्ते यहाँ सुखा सके।"

मैं अपने हाथ की ईंट की रोटी को हाथों में जकड़े रहा। सोचा—इस मज़ाक से परशतमवा और दर्शनवा को क्या मिला होगा.......... ?

ख़ैर, उन्हें कितना आनन्द मिला होगा—कह नहीं सकता, लेकिन मुझे उससे कुछ-न-कुछ ज़रूर मिला था!

उसी परशतमवा को जिस दिन अपने बेटे को हिन्दी अध्यापक की नौकरी दिलाने के लिए मेरे सहयोग की आवश्यकता पड़ी थी, उस दिन मैंने उसकी ख़्वाहिश पूरी हो जाने के बाद केवल इतना कहा था, "यह लम्बे जीवन भर की नौकरी होगी, केवल घण्टे भर की नहीं!"

(दस)

जब चीफी मुझे बुलाने आयी थी

तब मैं अध्यापक था। पिताजी की रहमदिली और हरिश्चन्द्री स्वभाव के कारण घर के अच्छे दिन गायब हो चुके थे। यहाँ तक कि जिस ज़मीन पर हम रह रहे थे, वह भी घर के सभी हक़दारों की न रहकर बड़े भाई की जायदाद बन गयी थी। शहर जा बसे मेरे भाई से मोहलत पाकर हम लोग वहीं पर टिके हुए थे, कि 180 मील प्रति घंटे की रफ़्तार से आया हुआ तूफ़ान पूर्वजों के उस भव्य घर को भी धराशायी कर गया था। वक़्त की उस प्रथम चुनौती को स्वीकारते हुए, किसी तरह मैं अपने ही बाप की ज़मीन को अपने बड़े भाई से खरीद सकने में सफल रहा। फिर उसी ज़मीन को गिरवी रखकर छह व्यक्तियों के लिए दो कमरों का एक घर बना पाया था। माँ-बाप और मेरे छोटे भाई के साथ तब मेरी एक टुअर भांजी भी साथ रहती थी, और तभी सरिता घर में नयी-नयी आयी थी।

उस तंगी में भी रीति-रिवाजों को परिवार में बरकरार रखना पड़ता था। पिताजी से कहीं अधिक माँ को परम्पराओं आदि की चिंता रहती थी। अच्छे दिनों में मेरी बहनों के सभी बच्चे हमारे घर में पैदा हुए थे। माँ के लिए यह हमारे परिवार की मर्यादा थी, जिसे बुरे दिनों में भी बनाये रखना था। चीफी मेरी बहनों में सबसे छोटी होती हुई भी मुझसे तीन-चार साल बड़ी थी। अपने पाँचवें बच्चे को जन्म देने के लिए वह नैहर आयी हुई थी। उस छोटे से घर में दिक़्क़त तो थी, पर किसी तरह पार पा लेते थे। थोड़ी-सी असुविधा हमें उस समय महसूस हुई, जब मेरी बहन के अधिक बीमार हो जाने की ख़बर पाकर मेरे बहनोई भी आ गये। माँ ने दोपहर में ही, रात काटने के लिए एक कमरे में मर्दों के बिछौने लगवा दिये और औरतों के लिए एक दूसरे कमरे में। शाम होते-होते मेरी बहन की स्थिति अधिक नाजुक होती गयी। मैंने जब डॉक्टर से बात की तो माँ ने मुझे डाँट दिया। फिर थोड़ी देर बाद बड़े कोमल स्वर

में बोली कि चिन्ता की कोई बात नहीं, थोड़ी देर के बाद सब कुछ ठीक हो जायेगा! पर न जाने क्यों, माँ की वह सांत्वना मुझे खोखली प्रतीत हुई थी। अँधेरा छाते ही मेरी बहन दर्द से चिल्लाने लगी। माँ और दाई की बातों से पता चला कि रात तक बच्चे का जनम हो जाना चाहिए।

मेरी बहन का क्रंदन बढ़ता ही गया। माँ उधर से आ-आकर हमें धीरज बँधाती रही। मेरे बहनोई की हालत बड़ी दयनीय थी। दो दिन पहले मैंने हेमिंग्वे की वह कहानी पढ़ी थी, जिसमें एक रेड-इंडियन महिला को बच्चा जनमने वाला है। डॉक्टर उसकी बगल में ही है, पर तंबू से बाहर उस महिला का पति उस प्रसव-पीड़ा से व्याकुल होकर आत्महत्या कर लेता है।

मैंने अपने जीजाजी से कहा, 'चलिए, थोड़ा घूम आते हैं!"

हम लोग घूमने निकल गये। एक मील के फ़ासले पर था 'आनन्द सिनेमा' भवन, जिसमें दो फ्रेंच फिल्में चल रही थीं। फिल्म शुरू हो चुकी थी, फिर भी समय काटने के इरादे से मैंने दो टिकट लिये और बहनोई के साथ भीतर चला गया। पहली फिल्म स्पेंसर ट्रेसी की थी। वह उसमें लूला था। मेरा बहनोई उस फिल्म में अपने को रमा सका था या नहीं—यह तो मैं नहीं जान सका, पर मैं स्पेंसर ट्रेसी के अभिनय से मुग्ध था। कुछ ही देर बाद फिल्म अपने सस्पेंस की चरम सीमा पर पहुँच आयी। उसका लूला नायक अपने शत्रु आक्रमणकारियों को डटकर सामना कर रहा था। अपने एक हाथ से रेल के डिब्बे की बगल में वह कॉक्टेल-मोलोटोव तैयार कर चुका था। और फिल्म अपनी चरम सीमा पर आ गयी थी, तभी एकाएक मेरे भीतर एक झटका-सा लगा। लगा कि मेरी बहन मेरे कान में कुछ कह गयी हो। सिनेमा हाल के उस अँधेरे में मैंने जीजाजी की ओर देखा और मेरे मुँह से निकल पड़ा, "..........चलिए, घर चलें!"

मेरी बात उनकी समझ में नहीं आयी। अभी तो पहली ही फिल्म चल रही थी। कठिनाई से घंटा भर ही हुआ होगा! फिल्म अपनी पराकाष्ठा पर थी। उन्होंने मुझसे पूछा कि कहीं मुझे नींद तो नहीं आ रही थी। दूसरे क्षण फिर मुझे अपनी बहन की आवाज़ सुनने का वहम-सा हुआ। मैंने फिर बहनोई साहब को घर चलने को कहा। फिल्म में खोये होने के कारण उन्होंने अनसुनी कर दी। दो मिनट बाद फिल्म को उसके हिचकॉकी सस्पेंस पर छोड़कर मैं खड़ा हो गया। अपने बहनोई के कंधे को झकझोरा और बाहर आ गया। मज़बूरन मेरे पीछे-पीछे आकर मेरे बहनोई ने पूछा, "क्यों क्या बात है?"

"हमें घर चलना चाहिए!"

बाहर झीसी शुरू हो गयी थी। हम दोनों घर की ओर झपट पड़े।

मेरी चार बहनों में चीफी ही मुझे सबसे ज्यादा प्यार करती थी। उसकी शादी द्वीप के दूसरे छोर पर हुई थी। उसकी ससुराल समुद्र के किनारे थी, इसलिए मैं अपनी प्रायः सभी छुट्टियाँ उसी के यहाँ बिताता था। उसके हाथों का खाना मैं खबोर की तरह खाता था।

वह चीफी ही थी, जिससे पहली बार मैंने नाजमा के बारे में बताया था, और घर की वही एक थी जो मुझे समझ पाती थी।

पंद्रह मिनट लगे होंगे हमें रास्ता तय करने में। अधभीगी हालत में हम दोनों घर पहुँचे। भीतर पहुँचते ही पता चला कि कोई पंद्रह-बीस मिनट से मेरी बहन लगातार मुझे ढूँढ रही थी।

मैं उसे सभी की सुनासुनी चीफी की कहकर पुकारता था। उसके एकदम क़रीब जाकर मैंने पूछा, "क्या बात है, चीफी ?"

वह बच्चे को जनम दे चुकी थी। दाई उसके हैमरेज को रोकने की कोशिश कर रही थी। दर्द से कराहती-चीत्कारती चीफी ने—जिसका नाम सावित्री था, पर जिसे उस नाम से कभी किसी ने नहीं पुकारा—मेरी बाँह पकड़ ली। पकड़े रही, फिर काफी प्रयत्न के बाद टूटे-फूटे शब्दों में बोली, "तुम सुनील को अपने जिम्मे ले लेना........."

मेरे 'हाँ' कहते ही वह बोली, "अब मैं चलती हूँ!"

और दूसरे ही क्षण उसने मेरी बाँहों में दम तोड़ दिया। मैंने अपनी बहन की उस मौत को अपने सीने से टकराकर आते हुए महसूसा था।

दो घंटे बाद जब लोग सिनेमा से लौट रहे थे, सावित्री की देह बर्फ़ की तरह ठंडी थी और एक वर्षीय सुनील मेरी बाँहों में था।

(ग्यारह)
हिन्दी जगत का वह पहला उपहार

रूसी कहावत है कि जो क़लम से लिखा गया है, वह कुल्हाड़ी से नहीं काटा जा सकता! लेकिन यह बात कहने वाले को शायद यह मालूम नहीं कि हिन्दी जगत में ईर्ष्या की धार इतनी पैनी होती है कि जिसे कुल्हाड़ी नहीं काट सकती, उस वह काट जाती है।

उन दिनों मैं हिन्दी का अध्यापक था। लिख लेता था और भारत की पत्र-पत्रिकाओं में छप जाता था, जिसके कारण मैं बड़ा विवादास्पद चरित्र था। हिन्दी वाले यह मानने को तैयार नहीं थे कि वे चीज़ें मेरी ही लिखी हुई होती थीं। अगर मैं किसी की हत्या कर देता या किसी बैंक में दिन-दहाड़े डाका डाल आता, तो भी लोग मेरे ख़िलाफ़ उतना कुछ नहीं बोलते! लगा था कि साहित्य-सृजन बहुत बड़ा अपराध और बहुत बड़ा पाप था। मगर मैं उसे करता रहा।

मेरी पहली पुस्तक 'और नदी बहती रही' राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित होकर आयी थी। भारत से प्रकाशित होने वाला वह मॉरिशस का पहला उपन्यास था। इसकी चर्चा ग़ैर-हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में हुई और शाम को मेरे दो मित्र जो गाँव के ही एक दूसरे स्कूल में काम करते थे, मेरे घर आ गये। अंग्रेज़ी-फ्रेंच के उन दोनों शिक्षकों ने मुझे बधाई दी, फिर उपन्यास पर हम तीनों की लम्बी चर्चा हुई। दोनों ने चाहा कि मैं उनको पुस्तक की तीस प्रतियाँ सौंप दूँ, ताकि वे उन्हें अपने स्कूल के अध्यापकों के बीच बेच सकें।

मैंने उन्हें तीस पुस्तकें, पन्द्रह-पन्द्रह की गठरियों में बाँधकर थमा दीं।

दूसरे ही दिन स्कूल के बाद वे फिर घर आये। मैं उस दिन स्कूल नहीं गया था। सुबह से हल्के बुखार में अपना नया उपन्यास पूरा करने में लगा हुआ था। उनका इस तरह टपक पड़ना मुझे थोड़ा-सा खटका ज़रूर, लेकिन एक दिन पहले जो लोग इतनी आत्मीयता के साथ बधाई देने पहुँचे थे, उनके लिए उठना ही पड़ा। हम लोग घर के भीतर नहीं बैठे, आँगन में आम का जो पुराना पेड़ था, उसी के नीचे चले गये। तब आम के पेड़ से सटकर आज वाली दीवार नहीं थी। उसकी बगल में दो बड़े-बड़े पत्थर थे, कमर तक ऊँचे। हम तीनों उन्हीं पर बैठ

गये। बैठते ही आनन्द ने चार रुपये के हिसाब से तीस पुस्तकों के एक सौ बीस रुपये मेरे हाथों पर रख दिये। उनके इतनी जल्दी पुस्तकें बेचकर पैसे ला देने पर मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। लगा कि हिन्दी की अब क़दर होने लगी थी, कि तभी आनन्द ने कहा, "अभि! तुम जानते हो, हमारे स्कूल में तीस अध्यापक हैं, जिनमें हिन्दी पढ़ाने वाले भी हैं........."

"जानता हूँ।"

"एक बात नहीं जानते?"

"बताओ!"

"हमारे स्कूल के अंग्रेज़ी-फ्रेंच पढ़ाने वाले हर एक अध्यापक ने तुम्हारी पुस्तक खरीदी।"

"तुम लोग पीछे पड़ गये होगे!"

"नहीं, सभी ने खुशी से खरीदी। ! इसके अलावा स्कूल के तीनों चपरासियों ने भी एक-एक प्रति ली। हमारे यहाँ की अंग्रेज़ी-फ्रेंच पढ़ाने वाली एक चीनी अध्यापिका ने तो आठ रुपये देकर दो पुस्तकें ले लीं—उसकी एक सहेली है हिन्दी जानने वाली, एक उसके लिए और एक अपने लिए। हमारे यह कहने पर कि वह खुद तो हिन्दी नहीं जानती, तो फिर अपने लिए भी एक प्रति क्यों ली? उसने कहा, "मॉरिशस का साहित्य है, अपने संग्रह में काम तो आयेगा!"

यह कहकर आनन्द ने 'और नदी बहती रही' की एक प्रति मेरे सामने कर दी थी—

"हमारे लिए बाद में करना। यह उसी चीनी लड़की की प्रति है—उसने इस पर तुम्हारे हस्ताक्षर की माँग की है, हिन्दी-अंग्रेज़ी दोनों में!"

मेरे हस्ताक्षर के बाद मेरे उस दूसरे साथी ने कहा, "अब एक बात कहनी है, जिससे शायद तुम्हें दुःख हो! हमारी पाठशाला के चारों हिन्दी अध्यापकों में से किसी एक ने भी तुम्हारी पुस्तक नहीं खरीदी। चारों ने पुस्तक देखते ही नाक सिकोड़ ली थी।"

और वह थी मेरे हिन्दी लेखक होने की पहली पीड़ा!

वह आख़िरी नहीं थी।

मैं भी गाँव के ही महेश्वरनाथ स्कूल में काम करता था। दो मंजिला भवन था, जिसमें रविवार के दिन गाँव की एक हिन्दी संस्था की ओर से छात्रों को माध्यमिक हिन्दी-शिक्षा दी जाती थी। वह सोमवार का दिन था। मैं छठी कक्षा में पढ़ाने पहुँचा। पढ़ाई शुरू करता कि तभी कक्षा की सबसे मेधावी लड़की ने खड़े होकर कहा, "गुरुजी, आप उस खिड़की के उस पार देखिये न!"

"क्यों, क्या है?"

"आप देखिये न!"

"मैंने खिड़की के पास पहुँचकर बाहर की ओर देखा—किसी हिन्दी पत्रिका के बेशुमार छोटे-छोटे टुकड़े ज़मीन पर, रात की झीसी की वजह से धूल के साथ चिपके हुए पड़े थे। ग़ौर से देखा तो कुछ ही दूरी पर मेरे चित्र के दो टुकड़े भी दिखायी पड़े.........और फिर समझते देर नहीं लगी कि वह 'आजकल' पत्रिका का वह अंक था, जिसमें मेरे उपन्यास 'चौथा प्राणी' की पहली किस्त छपी थी।

मैंने अपनी उस छात्रा से पूछा, "किसने फाड़ा?"

"यह पत्रिका मैं अपने यहाँ से ले आयी थी और बड़े गुरुजी को बताकर बोली थी कि

देखिये, इसमें हमारे अनत गुरुजी की कहानी छपी है। बड़े गुरुजी ने वह पत्रिका मेरे हाथ से ले ली थी और यह कहकर उसे टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे कि छात्रों को केवल अच्छा साहित्य ही पढ़ना चाहिए!"

'आजकल' के उस अंक में सोहनलाल द्विवेदी के साथ-साथ माइकेल शोलोक़ोव, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अंचल और सावित्री देवी वर्मा की रचनाएँ थीं, जो उस दिन मेरे कारण घटिया साहित्य की कोटि में आ गयी थीं।

ख़ैर, कुछ यातनाएँ ऐसी भी होती हैं जो बाँटी नहीं जाती।



भेंट-वार्ता

आईने के सामने

अभिमन्यु का अभिमन्यु से साक्षात्कार

अभि : लेखन तुम्हारे लिए क्या है?

मन्यु : बिजली के तार पर चलना।

अभि : बस?

मन्यु : विचारों के संसार में विचरते हुए अस्तित्व को ज़ीना भी है।

अभि : यह तो लेखक के लिए हुआ। तुम्हारा लेखन पाठक के लिए क्या है, समाज के लिए क्या है?

मन्यु : एक तन्द्रा, यात्रा के दौरान अपने कन्धे पर किसी के हाथ का स्पर्श अनुभव करके क्षण भर के लिए ठिठक जाना।

अभि : तब तो साहित्य जीवन को अवरोध देता है, गति नहीं?

मन्यु : नहीं, वह सामने की खाई की आगाही करता है। अंधाधुंध को रोकता है, चेतना को गति देता है।

अभि : तुम्हारे अपने साहित्य में भी यह होता है?

मन्यु : प्रयास तो यही करता हूँ!

अभि : तुम अपनी रचनाओं की सार्थकता किसमें मानते हो?

मन्यु : बस, यह जीवन को बेहतर बनाने का संकेत दे दे!

अभि : क्या बदतर को मिटाने का उपाय भी उसका दायित्व नहीं होता?

मन्यु : हर आदमी को अपना उपाय खुद ढूँढना है।

अभि : तो फिर लेखक?

मन्यु : शोषित मानव शोषण का आदी होकर उसे जीवन की स्वाभाविकता मान लेता है और उस लिजलिजेपन को सन्तोष के साथ जीता रहता है। लेखक उसके कानों में सिर्फ़ इतना ही कहता है कि जिसे वह भाग्य का लेख समझता है, उसे तोड़ना है। यह ईश्वरीय व्यवस्था नहीं है। यह चेतना वह देना चाहता है। इसके बाद उपाय और सक्रियता आदमी की अपनी ज़िम्मेदारी होती है। लेखक तो केवल इतना कहेगा कि भाई, तुमने जूते उल्टे पहन रखे हैं। वह जूते पहनायेगा तो नहीं!

अभि : लेकिन लेखन तो इससे आगे का दावा करता है।

मन्यु : साहित्य दावा नहीं करता।

अभि : साहित्यकार कल्पना तो करता है!

मन्यु : साहित्यकार ईजाद करता है, अपने ढंग से एक बेहतर संसार का आविष्कार करता है। वह सपना नहीं देखता, कल्पना नहीं करता। जो कुछ जीता है, जो कुछ भोगता

है, उसी के बल पर आविष्कार करता है।

अभि : तुम्हारे साहित्य में कला का क्या स्थान है?

मन्यु : साहित्य तो खुद कला है, उसमें कला का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

अभि : अगर कला कला के लिए, तो फिर साहित्य?

मन्यु : कला कला के लिए नहीं जीवन-मूल्यों के लिए और साहित्य भी उन्हीं जीवन-मूल्यों की सार्थकता और महानता के लिए!

अभि : तुम तो मसीहाई पर उतर आये! ख़ैर, हर लेखक का अपना नरक होता है। तुम्हारा नरक क्या है?

मन्यु : एक तो जब मैं भारत में होता हूँ तो भारतीयों की अंग्रेज़ी सुनना मेरे लिए नरक होता है, और मेरा दूसरा नरक तब होता है जब मैं किसी सांस्कृतिक मंच पर किसी राजनीतिक की बगल में बैठा हुआ होता हूँ।

अभि : तुम राजनीति से इस क़दर नाक क्यों सिकोड़ते हो, जबकि उसी से समूचा देश चलता है?

मन्यु : राजनीति से देश चलता है, इससे मैं नाक नहीं सिकोड़ता। मैं तो नाक तब सिकोड़ता हूँ, जब उसके लिए और उसकी वजह से देश रेंगने लगता है और आदमी घुटने टेक देता है।

अभि : तुम्हारा देश तो एक अत्यन्त सुन्दर देश है, पर क्या कारण है कि तुम्हारी रचनाओं में उसके सौन्दर्य का विशेष वर्णन नहीं होता? तुम सुन्दरता से चिढ़ते तो नहीं?

मन्यु : यह ज़रूरी नहीं कि जो तुम्हें सुन्दर लगे, वह मुझे सुन्दर लगे? तुम्हें अगर शाम के वक़्त क्षितिज पर डूबता हुआ सूरज सुन्दर लगता है तो मुझे दोपहर की धूप में मज़दूर के माथे पर की चमकती हुई पसीने की बूँदें सुन्दर लगती हैं। एक दूसरी बात यह भी तो है कि मेरे अपने भीतर का कलाकार पहले इस देश के पीड़न, उदासीनता, अभाव, आक्र ोश—इन सारी चीज़ों से समय पा ले, फिर उसे इन गूँगी प्राकृतिक सुषमाओं के वर्णन से कोई आपत्ति थोड़े ही होगी।

अभि : पर तुम्हारी पुस्तकों में कुदरती मन्जरों के चरचे जहाँ-तहाँ तो आ ही जाते हैं!

मन्यु : जहाँ वह चर्चा आयी है, मानवीय भावनाओं के साथ-साथ पात्रों और स्थितियों की मानसिकता के साथ।

अभि : तुम्हारे कई पात्र टाई से घृणा करते हैं, जबकि तुम्हारे चित्रों में टाई दिखायी है! और टाई के प्रति तुम्हारा यह रुख तुम्हारी दो या तीन रचनाओं में आ गया है। अनजाने में ऐसा हुआ है या……… ?

मन्यु : नहीं, अनजाने में तो नहीं हुआ है! बात यह है कि जीवन में मैंने शायद कुल तीन-चार बार टाई बाँधी है, और उसी तीन-चार बार के विरोध, विद्रोह, घुटन और यातना को एक ही बार में व्यक्त करना मेरे लिए बड़ा कठिन था; यही वजह है कि उसकी चर्चा एक बार से अधिक हुई है। फिर भी लगता है कि उस बुर्जुआ और औपनिवेशिक बन्धन से आज भी मेरी गर्दन जकड़ी हुई है। शायद एकाध और उल्लेख के बाद ही उससे मुक्ति पा सकूँगा! ज़िन्दगी की और भी एक-दो बातें हैं, जो कहीं-न-कहीं मेरे भीतर इतनी गहरी हैं कि उन्हें अपने उपन्यासों-कहानियों में दोहराने को विवश हो गया हूँ।

अभि : जब टाई के प्रति तुम्हारे ये भाव थे और हैं, तो फिर खुद क्यों बाँधी?

मन्यु : बाँधी तभी तो उस यातना को भुगत पाया। कड़वाहट को हलक के नीचे उतारे बिना

उसकी कड़वाहट का बयान, ईमानदारी से नहीं हो सकता।

अभि : साहित्य की इस ईमानदारी की बहुत दुहाई दी जाती है। इस ईमानदारी के प्रतिमान क्या हैं?

मन्यु : कला में जिस तरह दावा नहीं चलता, उसी तरह दुहाई भी नहीं चलती! रहा ईमानदारी का प्रतिमान, इसके उत्तर में एक प्रश्न है। 'रॉबिन्सन क्रूसो' के विश्वविख्यात लेखक दानियल डीफ्रो ने अपने जीवन में कभी समन्दर नहीं देखा था, पर उसकी पुस्तक के समुद्री तूफ़ान के वर्णन को अद्वितीय माना जाता है। इसी तरह के और भी प्रमाण हैं। सूरदास को ले लें......... ?

अभि : पर इससे प्रमाणित क्या होता है?

मन्यु : यही कि ईमानदारी की व्याख्या क्या है? कला के बहुत सारे सत्यों को मानसिक स्तर पर भी तो भोगा जाता है। पिकासो की ईमानदारी पर शक करने से पहले ईमान का मूल्यांकन हो जाना ज़रूरी हो जाता है। हाँ, अलबत्ता यह दूसरी बात हो जाती है कि बारहवीं मंजिल के एअरकन्डिशन कमरे में रहने वाला लेखक मिट्टी की सोंधी गन्ध और धूप की अकुलाहट पर महाकाव्य लिखने बैठ जाये।

अभि : अभी-अभी तो तुम मानसिक स्तर पर स्थिति को झेलने की बात कर रहे थे। दानियल डीफ्रो......... ।

मन्यु : मैं यही तो कह रहा हूँ कि यहाँ ये दो अलग चीजें हो जाती हैं। समुद्र को बिना देखे एक प्रतिभाशाली कलाकार समुद्री आँधी का आविष्कार तो कर सकता है; पर पार्टियों में ज़िन्दगी गुजारने वाला जिस भूख का वर्णन करेगा, वह बेईमानी होगी।

अभि : विरोधाभास!

मन्यु : उससे जीवन्तता का ही तो आभास मिलता है।

अभि : तुम पार्टी की बात कर गये, इसलिए अब तो पूछना ही पड़ेगा कि पार्टियों में तुम्हें क्यों नहीं देखा जाता? कहीं-कहीं तो तुम्हारे मित्रों को बाज़ी लगाते भी देखा गया है कि उस आत्मीय के घर की पार्टी में अगर अभिमन्यु पहुँच गया तो हज़ार की हार भी मंजूर!

मन्यु : पार्टियों से मुझे चिढ़ है।

अभि : क्यों?

मन्यु : पहला कारण तो यह है कि उसे फ़िज़ूलखर्ची मानता हूँ। हर पार्टी के उन हज़ारों रुपयों के व्यंजन और शराब को मैं मज़दूरों का खून बहना मानता हूँ। सामन्तों के उस मनोरंजन और ऐय्याशी के वक्त बाहर हज़ारों भूखे तड़पते हैं। दूसरा कारण यह है कि वह भोज उन लोगों को दिया जाता है, जिनके पास पहले ही खाने-पीने का भण्डार होता है। मैं उस पार्टी में जाने को तैयार हूँ और वह भी टाई बाँधकर, जहाँ वर्ष में चाहे एक ही बार, देश को निर्मित करने वाले मज़दूरों को दावत दी गयी हो।

अभि : तुम्हें कभी भी पार्टी में नहीं देखा जा सकता?

मन्यु : कभी अपने देश से बाहर शिष्टाचार निभाने की विवशता भी तो हुआ करती है।

अभि : लेखन-प्रक्रिया में तुम्हारे लिए आनन्द के क्षण कब होते हैं?

मन्यु : तीन ही क्षण होते हैं। एक तो जब कोई विचार ज़ेहन के भीतर कौंधता है। दूसरा तब जबकि एक सन्तोषजनक पृष्ठ पूरा करने के बाद लम्बी साँस लेता हूँ, और तीसरा

आनन्ददायक क्षण वह होता है, जब रचना का अन्तिम वाक्य पूरा होता है।

अभि : प्राय: यह कहा जाता है कि यह आख़िरी क्षण प्रसव-पीड़ा के बाद का-सा आनन्द होता है?

मन्यु : हाँ, वह एक मानसिक प्रसव ही तो होता है। जिस तरह माँ अपने नवजात शिशु को बगल में देखकर प्रसव की उस पीड़ा को भूल जाती है, ठीक उसी तरह लेखन के दौरान की सारी यातनाओं को रचना के पूरा होते ही लेखक भूल जाता है। और फिर तो खुश होना स्वाभाविक हो जाता है।

अभि : तुम अब तक की अपनी रचनाओं में सबसे अच्छी रचना किसे मानते हो?

मन्यु : पहली बात तो यह है कि पुस्तक के छपकर पाठकों के हाथ पहुँच जाने पर वह लेखक की अपनी एकमात्र चीज़ तो रहती नहीं, जिसकी वजह से वह उसके आगे-पीछे विशेषण जोड़ता फिरे। दूसरी बात यह भी है कि मैं अपनी किसी रचना को अच्छा या बहुत अच्छा कहकर पाठक के उसकी परख के अधिकार को क्यों छीनूँ? रचना को आँककर, महसूसकर प्रतिमानित करके अच्छा-ख़राब कहने का हक़ लेखक को नहीं, पाठक को होता है।

अभि : तुम्हारी यह हम्बलनेस ऊपर से चिपकायी हुई प्रतीत होती है, क्योंकि कई अवसरों पर तुम्हें आत्मप्रशंसा करते भी सुना गया है।

मन्यु : ऊपर की अपनी बातों में से मैं अपनी कोई नम्रता या इस तरह की कोई चीज़ जाहिर करना नहीं चाहता हूँ। वह एक सत्य है जो मैंने तुम्हारे सामने रख दिया। रही वह आत्मप्रशंसा की बात, सो वह दूसरी बात होती है। लेखक अपने को घटिया नहीं समझ सकता। अगर वह अपने को घटिया लेखक मानता है तो फिर या तो वह कपटी हुआ, या सचमुच वह यही मानकर चलता है कि वह घटिया है—उसकी रचना भी घटिया है। ऐसी हालत में लेखक को लिखना बन्द कर देना चाहिए। जिस आत्मप्रशंसा की बात तुम कर रहे हो, वह आत्मविश्वास हुआ करता है। कलाकार के भीतर अपनी पहचान और अपने विराट् होने के भाव का अभाव रहा तो फिर वह कभी भी उस विराट् रचना का सृजन नहीं कर सकता, जो उसका अपना धर्म होता है।

अभि : कभी तुम्हारी रचनाओं के पात्र दो मुक़ामों पर मिलते-जुलते से लगते हैं।

मन्यु : अधूरेपन को कहीं तो पूरा करना ही पड़ता है। 'आन्दोलन' की सलमा, 'कल हड़ताल होगी' की जेनी के रूप में भी जब सम्पूर्णता नहीं पा सकी तो 'अपनी ही तलाश में' रूना के रूप में सामने आयी।

अभि : तुम अपने साहित्य में प्राय: चिल्लाते-चीत्कारते प्रतीत होते हो।

मन्यु : चीत्कारना इसलिए पड़ जाता है, क्योंकि हर पीड़ा को ख़ामोशी से नहीं सहा जा सकता। चिल्लाता इसलिए भी हूँ कि बहरों से वास्ता पड़ता है।

अभि : एक लेखक को दूसरे शब्दों में तुम क्या कहोगे?

मन्यु : लेखक को तो बहुत सारे दूसरे शब्द दिये जा चुके हैं। श्रद्धा कहा गया है उसे। सोल्जेनी ने उसे एक देश की दूसरी सरकार भी कहा है।

अभि : तुम क्या कहते हो?

मन्यु : मैं उसे मानव मस्तिष्क का इंजीनियर मानना पसन्द करूँगा।

अभि : यह पहली बार कहा जा रहा है?

मन्यु : हो सकता है, यह पहले भी कहा गया हो।

अभि : लेखक को तुम भी मानव मस्तिष्क का इंजीनियर क्यों मानते हो?

मन्यु : इंजीनियर का काम पुल बनाना होता है। और लेखक भी पुल बनाता है पर लोहे-पत्थर और सीमेंट का नहीं, बल्कि विचारों और रिश्तों का। वह आदमी-आदमी के बीच रिश्तों का पुल बनाता है। वह छोटे-बड़े, गरीब-धनी, मज़दूर-मालिक, वेश्या-सती, पुजारी और पापी, इन सारे अन्तर्विरोधों के बीच की खाई को पाटने के लिए सेतु तैयार करता है।

अभि : लगता है, अब तुम फतवे गढ़ने लगे। कहीं लेखक को मसीहा साबित करने की कोशिश तो तुम नहीं कर रहे?

मन्यु : बिल्कुल नहीं।

अभि : तुम्हारा 'नहीं' विश्वसनीय नहीं लगता।

मन्यु : यहाँ तक पहुँच आये! ख़ैर, मैं फ़रिश्ता नहीं हूँ। यह उत्तर पर्याप्त है या विस्तार चाहते हो?

अभि : ज़रूरी है कि मैं तुमसे शृंखलाबद्ध प्रश्न ही करूँ?

मन्यु : तुम अपनी ज़रूरत को मेरी ज़रूरत से मत जोड़ो।

अभि : तुम आदमीयत की दुहाई देते रहते हो—आदमी और आदमी के बीच के भेदभाव, अन्तर, फ़ासले को नकारते हुए भी तुम अपने को भारतीयता और हिन्दुत्व से जोड़े प्रतीत होते हो!

मन्यु : प्रतीत होना सत्य भी हुआ तो इसमें अनर्थ क्या है?

अभि : तुम तो उलटे मुझसे प्रश्न करने लगे।

मन्यु : तुम्हारा यह कहना गलत नहीं है कि मैं अपने को भारतीयता और हिन्दुत्व से जोड़े हुए प्रतीत होता हूँ। गलत यह है कि मैं अपने को कोई कट्टर हिन्दू मानता हूँ। भारतीयता मेरी अपनी धमनियों में है, पर इसका यह अर्थ तो नहीं हो जाता कि मॉरिशस मेरी धमनियों में नहीं है। अलबत्ता मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो अपनी पहचान पर हीन भावना महसूस करके अपने को उससे काट लेते हों। अपने भारतीय वंशज होने और हिन्दू-धर्म की परम्परा से सम्बद्ध होने का मुझे गर्व है। ये दोनों पहचान और विशेषताएँ अपनी सही परिभाषा में आदमीयत तक ही पहुँचती हैं। दिग्भ्रान्ति का दोष आदमी के अपने उसूल के कारण होता है, पहचान और परम्परा से नहीं। आदमी अपने को एक पेड़ ही मानकर चले तो बहुत है।

अभि : तुम भटक तो नहीं गये?

मन्यु : नहीं, मैं अभी एकदम उसी पटरी पर हूँ जिस पर तुमने मुझे चढ़ा दिया है। यूँ तो पटरी पर चलना मुझे गवारा नहीं है, इसलिए उतर भी सकता हूँ। मैं कह रहा था कि आदमी अपने को पेड़ ही मानकर चले तो बहुत है। पेड़ क्या कुछ नहीं देता! लेने की चाह उसमें होती ही नहीं। उसके फल-फूल-छाँव को छोड़ दो तो वह वातावरण के सारे कार्बनडाईआक्साइड को लेकर पूरे वातावरण को ऑक्सीजन देता है; पर इसके लिए उसे भी एक बात की आवश्यकता होती है......... ।

अभि : किस बात की?

मन्यु : अपनी पहचान की—अपनी परम्परा की, अपनी शक्ति की, अपनी जड़ की। जड़

के बिना पेड़ की न तो अस्मिता होती है न अस्तित्व। मैं भी अपनी जड़ को छोड़कर त्रिशंकु वाली आधुनिकता पर विश्वास नहीं करता, कम-से-कम मेरे भीतर का लेखक ऐसा नहीं कर सकता।

अभि : यानी जड़ परम्परा से चिपके रहना और रूढ़ि के प्रति मोह बरकरार रखना ही सही लेखन है।

मन्यु : मैंने ऐसा कहा?

अभि : तुम्हारे कहने का तात्पर्य शायद यही रहा हो।

मन्यु : तुम अपने समझने के तरीके को मेरे कहने का तात्पर्य मत मान लो। क्या तुम अपने बाप के बेटे और अपनी बहन के भाई होने के साथ-साथ मेरे अच्छे दोस्त और अपनी प्रेयसी के प्रेमी नहीं बन सकते? या ये सब कुछ होते हुए तुम कोई वैज्ञानिक या डॉक्टर कभी बन ही नहीं सकते?

अभि : तुम व्यवस्था के विरुद्ध चिल्लाते रहते हो..........

मन्यु : मैं आम आदमी के पक्ष में चिल्लाता हूँ।

अभि : तुम सिर्फ़ आम आदमी के लिए ही लिखते हो क्या?

मन्यु : मैं सिर्फ़ आम आदमी के लिए नहीं लिखता। मज़दूर से यह कहते रहना कि आन्दोलन करो, क्रान्ति करो—कोई मतलब नहीं रखता। मज़दूर तुम्हारे कह देने से आन्दोलन या क्रान्ति थोड़े ही कर लेंगे। इसलिए मज़दूर के हित में मालिकों और पूँजीपतियों के लिए भी लिखता हूँ। मैं इन लोगों से कहता रहता हूँ कि वे जो कर रहे हैं, उसमें आदमीयत का भाव कम है। मैं उनको यह दर्शाता हूँ कि मज़दूरों के प्रति उनका रवैया सही नहीं है। मैं जुल्म के ख़िलाफ़ बगावत से कहीं अधिक जुल्म के अपने आप घटने की प्रक्रिया पर विश्वास करता हूँ।

अभि : तुम धर्म पर विश्वास नहीं करते-से लगते हो! क्या यह सच है?

मन्यु : शायद!

अभि : कन्नी मत काटो। सही उत्तर क्यों नहीं देते?

मन्यु : तुम जिस धर्म की बात करते हो, उस धर्म पर विश्वास करने का मतलब होता है—अपने आप पर विश्वास कम होना। मैं एक बार परीक्षा देने को था। मेरी तैयारी अच्छी नहीं थी। दौड़ गया था मन्दिर को। भगवान से कह आया था कि अगर मैं पास हो गया तो प्रसाद चढ़ाऊँगा। मैं धर्म पर विश्वास करता हूँ।

अभि : यह क्या ऊटपटाँग बातें करने लगे?

मन्यु : मैं विशेष लोगों द्वारा आयोजित धर्म पर विश्वास नहीं करता।

अभि : लेखक हो, वकीली पैंतरे क्यों लेने लगे हो?

मन्यु : ज़रूरी नहीं कि वकील लेखक भी हो, लेकिन लेखक का वकील होना ज़रूरी होता है। उसका सभी कुछ होना ज़रूरी होता है।

अभि : बस करते हैं!

मन्यु : क्यों?

अभि : तुम बकवास पर उतर आये।

मन्यु : मैं बकवास करने लगा या तुम्हारे प्रश्न समाप्त हो गये?

अभि : अगर यह बात है तो लो, प्रश्नों का दूसरा भाग भी शुरू किये देता हूँ। तुम्हारे विचार हमेशा निगेटिव लगते हैं, ऐसा क्यों?

मन्यु : तुम्हें मेरे सभी उत्तर भी निगेटिव लगे क्या?

अभि : अब तो तुम प्रश्न करने बैठ गये।

मन्यु : तो तुम जानना चाहते हो कि मेरे विचार हमेशा निगेटिव क्यों होते हैं? तुम्हें एक शर्त पर इसका जवाब दे सकता हूँ.........।

अभि : कौन-सी शर्त?

मन्यु : इस 'हमेशा' शब्द को अगर हटा लो।

अभि : ठीक है। तुम्हारे विचार निगेटिव क्यों होते हैं?

मन्यु : इसलिए कि मुझे समाज को उसकी सही तस्वीर देनी होती है। फोटोप्रॉसेस के तकाजे को तो तुम जानते हो! तस्वीर पॉज़िटिव से नहीं निगेटिव से बनती है।

अभि : शब्दों से खेलने लगे। ख़ैर, तुम्हारी रचनाओं में क्रम की शिकायत कर सकता हूँ?

मन्यु : तुम तो कुछ भी कर सकते हो—यों भी मैं जीवन में कभी भी क्रमबद्ध नहीं रहा हूँ। मेरी तो मृत्यु भी चक्रव्यूह में जन्म से पहले हो गयी थी।

अभि : तुम ऊटपटाँग उत्तर न देकर सही उत्तर दोगे तो मैं अगले सवाल करूँगा, वरना बन्द करते हैं इसे। लगता है तुम्हें दिमागी थकान हो चली है।

मन्यु : नया प्रश्न क्या है?

अभि : तुम्हारी रचनाओं में तुम्हारा सबसे प्रिय पात्र?

मन्यु : मीरा!

अभि : 'लाल पसीना' वाली?

मन्यु : 'लाल पसीना' और 'गाँधी जी बोले थे' वाली।

अभि : क्यों?

मन्यु : इसका उत्तर दोनों सम्बद्ध उपन्यासों में ही तुम्हें मिल सकता है, उनसे बाहर नहीं।

अभि : शराब से तुम्हारा रिश्ता?

मन्यु : कभी बहुत अच्छा रहा है। लेकिन पीकर मैंने नहीं लिखा। हर दूसरे-तीसरे अध्याय के पूरे होने पर उस सन्तोष का जश्न मनाया है। पर तुम इन बेबात की बातों के बदले मेरे साहित्य पर प्रश्न क्यों नहीं कर रहे?

अभि : तुम कहाँ तक अपने उपन्यास को आधुनिक या नया उपन्यास मानने की स्थिति में हो?

मन्यु : आधुनिक उपन्यास या नुवो रोमाँ—नया उपन्यास—आज से बहुत पहले लिखा भी गया है। जिस नयेपन का दावा आज रोब्रग्रिये नाताली सारोत या मिशेल बीतोर करते हैं, उसे 1890 में फ्लॉबेर ने भी किया था। 1910 में प्रस्त ने भी उस नयेपन को प्रस्तुत किया था। प्रेमचंद ने भी अपने समय का नूवो रोमां लिखा था और रेणु ने भी अपने समय का नया उपन्यास! मैं भी अपने समय का उपन्यास लिखता हूँ; कहाँ तक वह आधुनिक है, कहाँ तक नया—यह तो मैं नहीं कह सकता। तुम मेरे ऊपर झट अपनी ही पीठ ठोंकने का आरोप लगा बैठोगे। पर हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि हर नया कल अपने बीते हुए कल से नया होता है और आने वाले कल का पुराना कल बन जाता है।

अभि : तो तुम साहित्य के शाश्वत रूप को नहीं मानते?

मन्यु : जो शाश्वत होता है, उसके लिए नये और पुरानेपन का सवाल ही नहीं पैदा होता!

अभि : अच्छा, तुम्हारा टेलीविजन का साहित्यिक कार्यक्रम 'आयाम' कभी बहुत अधिक चर्चित था, और तुम फूलकर ठेकवा न हो जाओ तो यह भी कह सकता हूँ कि वह एक कलात्मक कार्यक्रम भी माना जाता था। उसके एकाएक बन्द हो जाने का क्या कारण रहा?

मन्यु : उसके एकाएक बन्द हो जाने का इतना ही कारण था कि एक राजनीतिक हस्ती, जो आदी थी झूठ और खुशामद का शोरबा पीकर जीवित रहने की, वह पचा नहीं पाया 'आयाम' के उस कसैले सत्य को—बस!

अभि : इससे साहित्य और साहित्यकारों को तथा पाठकों और दर्शकों को भी सदमा तो पहुँचा होगा! ख़ास कर तुम्हें?

मन्यु : यार, लेखक अगर सियासत की बन्दूक से मरता तो आज शायद ही कोई लेखक जीवित रह पाता! लेखकों की बात कर रहा हूँ—चिलमभरूओं, चारणों और प्रशस्ति-गान करने वालों की नहीं। यह वर्ग तो उस समय तक जीवित रहेगा, जब तक उसके आकाओं के तलुओं से शहद की बूँदें टपकती रहेंगी। लेखक शहद पीकर नहीं जहर पीकर ज़िन्दा रहता है।

अभि : साहित्य में तुम समय-बोध को कहाँ तक महत्त्व देते हो?

मन्यु : 'बहुत देता हूँ, लेकिन उसी हद तक, जहाँ वह मात्र कुएँ के सीमित दायरे के बीच से मुंडेर के भीतर की प्रतिध्वनि बनकर न रह जाता हो! साहित्य को तो समय-बोध कराते हुए भी समय के आगे रहना पड़ता है, अन्यथा वह सामयिक लेखन से आगे नहीं बढ़ पाता। चन्द रचनाओं पर, प्रकाशन के बाद कुछ दिनों तक शोर तो बहुत होता है; लेकिन फिर उनकी चर्चा कभी होती ही नहीं। साहित्य की इस सीमित सामयिकता से मैं घबड़ाता बहुत हूँ।

अभि : लेखक और पत्रकार में तुम क्या अन्तर कर पाते हो?

मन्यु : पत्रकार को पैसे दिये जाते हैं कहने के लिए; जबकि लेखक जब लिखकर कहता है तब पैसा मिलता है, और नहीं भी मिलता।

अभि : अब तक तुम्हारा कोई भी उत्तर सन्तोषजनक नहीं रहा।

मन्यु : उत्तर तो वैसा ही रहेगा, जैसा प्रश्न! ख़ैर, अब मैं एक प्रश्न करूँ?

अभि : करते तो रहे हो।

मन्यु : वे तो प्रश्नों के रूप में तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर थे।

अभि : पूछो, क्या पूछना है?

मन्यु : तुम पीते हो?

अभि : नहीं।

मन्यु : तो फिर आज्ञा दो मुझे! सूरज ढल चुका है और मेरे पीने का वक़्त हो रहा है।

अभि : बिना कोई अध्याय पूरा किये?

मन्यु : इस पाप के भागी तुम रहे!

लघु कथा

(एक)

नन्हे मछुए का भाग्य

उसकी नाव प्रवाल-रेखा की चट्टानों से टकरा कर कंदुल-क्रीड़ा करने लगी थी। फेनिल ज्वार-भाटे प्रलयंकर नाद के साथ उसे निगल जाने के प्रयास में थे कि तभी एक काली चट्टान पर उसे वह अधखुली सीपी दिखायी पड़ी थी। मटर के बराबर एक दाना था उस में जिसकी चमक से उसकी आँखें चकाचौंध हो गयी थीं। डूबते सूरज की किरणों का समाप्त होता प्रकाश उसी में समा गया-सा प्रतीत हुआ था। अपने प्राणों को हथेली पर लेकर उसने सीपी को उठा लिया। उसे हथेली में रखकर उसे आभास हुआ, गोया उसके हाथ में लक्ष्मी आ गयी हो।

अपूर्व साहस के साथ अपनी नाव को खेते हुए वह किनारे पर पहुँचा था। उस दिन की फँसी हुई मछलियों को छोड़ कर वह मुट्ठी में सीपी बन्द किये घर को दौड़ पड़ा था। अपने बाप के सामने पहुँच कर हाँफते हुए उसने हथेली आगे बढ़ा दी थी। उसके बाप ने विस्फारित नेत्रों से उस चीज़ को देखा था पर उसे विश्वास नहीं हुआ कि उसके बेटे के हाथ में जो चीज़ थी वह मोती हो सकता था। उसने सुना अवश्य था कि ओस की बूँद जब समुद्र के खारे पानी को भेदती हुई अथाह गहराई में पहुँचती है, उस समय मौक़े की ताक में खुली हुई सीपी उसे निगलकर बन्द हो जाती है और फिर कुछ दिनों के बाद शबनम की वह बूँद मोती में बदल जाती है। इस सुनी हुई बात पर उसे विश्वास नहीं हुआ था। जब वह अपने बेटे को उस आश्चर्यजनक चीज़ के बारे सही-सही बता न सका तो उसका बेटा दौड़ता हुआ एक ऐसे व्यक्ति के पास पहुँचा जो गाँव का सबसे होशियार समझा जाता था।

वहाँ से भी निराश होकर मछुए का बेटा एक जौहरी के पास पहुँचा। जौहरी ने सीपी को उलट-पुलट कर देखा। वह भीतर के दाने को भी ग़ौर से देखता रहा, पर उसे एक नन्हे से मछुए के भाग्य पर विश्वास नहीं हुआ। वह यह मानने को तैयार नहीं हुआ कि एक ग़रीब मछुए के हाथ मोती आ सकता था। अत: उसका निर्णय यही रहा कि वह मोती नहीं था। मछुए के बेटे को इस बात का विश्वास नहीं हुआ। वह दौड़ता रहा। कोई तीन-चार व्यक्तियों के बाद उसे एक ऐसे व्यक्ति का नाम बताया गया जो सचमुच ही हीरे का विशेषज्ञ था। रात भर दौड़ते रहने के बाद सूरज की प्रथम रश्मियों के साथ वह उस व्यक्ति के सामने पहुँचा। विशेषज्ञ ने कहा, "देखूँ तो क्या चीज़ है!"

नन्हे मछुए ने जेब में हाथ पहुँचाया और अवाक् रह गया। यात्रा के दौरान सीपी उसकी जेब से छूटकर जाने कहाँ गिर गया थी।

(दो)

अपने लोग

शहर में पहुँचे उसका सातवाँ दिन था।

"गाँव में बसे ज़िन्दगी भर ईख ही काटते रह जाओगे।"

किसी की इसी बात पर वह गाँव छोड़ आया था। वहाँ अगर गन्ने काटने का काम भी उसे मिल जाता तो वह इधर नहीं आता।

सात दिन से उसने कोई सात सौ दरवाज़े खटखटाये। नौकरी कहीं नहीं थी।

जिस पन्द्रह रुपये के साथ वह शहर पहुँचा था वह तो चार ही दिन बाद समाप्त हो गये थे। अपनी कलाई घड़ी बेच कर उसने जो 30 रुपये पाये थे उसी के पन्द्रह रुपये उसकी जेब में थे।

गलियों के चक्कर काटने के बाद वह उसी बाग़ की एक बैंच पर जा बैठा जहाँ उसकी रातें बीती थीं। बैंच पर पहले से एक आदमी बैठा हुआ था। कुछ दूरी पर की दूसरी पत्थर की बैंच पर कॉलेज के दो विद्यार्थी बैठे हुए थे। लड़की का फ्राक ठीक सामने के फूल के रंग का था।

वह औरत आज भी उसी तरह सैलानियों की तलाश में सामने से गुजर गयी। कुछ देर बाद उसकी बगल में बैठे हुए आदमी ने उसकी ओर देखकर उससे पूछा, "गाँव से आये हो न?"

"हाँ।"

"नौकरी की तलाश में?"

"हाँ।"

"नौकरी तुम्हे मिल सकती है।"

उसे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। आदमी ने आगे कहा, "पच्चीस रुपये चाहिए।"

"मेरे पास केवल पन्द्रह हैं।"

सौदा तय होकर रहा। उसने आदमी को पन्द्रह रुपये दे दिये। आदमी ने जेब से एक अधमैला लिफ़ाफ़ा निकाल कर उसकी ओर बढ़ा दिया।

"इस पते पर पहुँचकर तुम चिट्ठी मैनेज़र को दे देना। उसी वक्त नौकरी मिल जायेगी।"

चिट्ठी लेकर वह दौड़ गया। कई गलियों के चक्कर काटने के बाद उसे मालूम हुआ कि लिफ़ाफ़े पर जो पता था उस नाम की न तो गली थी शहर में और न ही कोई कारख़ाना। लेकिन लिफ़ाफ़ा खाली नहीं था। उसके भीतर कुछ था ज़रूर। उसने लिफ़ाफ़े को फाड़ा। छोटे से कागज का टुकड़ा था जिस पर लिखा हुआ था, "यार मुझे माफ़ करना। घर पर बीमार पत्नी और तीन बच्चे हैं जिनके लिए यह धंधा करना पड़ता है। इस धंधे के अलावा मैं भी तुम्हारी तरह बेकार हूँ।"

उसे ज़ोरों की भूख लगी थी पर उससे बचने के लिए कुछ नहीं था।

(तीन)

भय की खोज

"भय? भय क्या है? कैसा होता है?"

यह प्रश्न वह अपने आप से पूछता और लोगों से भी। कुछ लोग सममुच ही उसे भोला जान उसके हाथों में वेम्पायर ड्राकूला फ्रांकेस्टाईन की पुस्तकें रख देते। वह उन्हें पढ़ता और उनमें कहीं भी भय नामक चीज़ पाकर वह उसे ढूँढने आधी-आधी रात खण्डहरों और श्मशानों की ओर दौड जाता। वही निराशा उन स्थानों पर भी होती। एक दिन वह पो के शब्दों

में खोकर भूत और डर को अपने ही मस्तिष्क के अँधेरे कमरे में ढूँढता रहा, पर कहीं भी भय का नामोनिशान न मिला।

वह चित्रकार था। वह प्राय: क्रिया-प्रक्रियाओं को अपने कैनवास पर ला चुका था। कमी थी तो केवल भय की। वह इस कमी की पूर्ति के लिए बावला था। मुड़िया पहाड़ के नीचे की एक बस्ती में एक छोटा-सा घर था। उस घर के कारण लोग पूरी जगह को भूतिया-खाड़ी कहते थे। बहुत से लोग उस बस्ती को छोड़कर चले गये थे और बहुत से लोग वहाँ की चीज़ों के आदी होकर अब भी वहाँ रह रहे थे। सभी घरों से अलग उस घर में अठारह वर्ष की एक जवान लड़की ने फाँसी लगाकर आत्महत्या कर ली थी। लोग यह भी कहते थे कि उस घर में भय का निवास है। यही कारण था कि वह अपनी चित्रपटी और रंग-तूलिकाएँ लिये उस वीरान घर में पहुँचा था।

उसे यह भी सुनने को मिला था कि इस घर से लोग आधी रात को उठ भागे हैं। किरोसिन लैंप की क्षीण ज्योति में वह अपने हाथ में तूलिका और रंगों का पालेत लिये इज़ल के सामने खड़ा रहा। वह जानता था कि इस घर की चारदीवारी में वह भय को देख सकेगा और आज वह उसका चित्र बना कर ही रहेगा। दीया धूमिल प्रकाश के साथ जलता रहा। बाहर से साँय-साँय की आवाज़ आती थी। बाहर शायद वर्षा भी हो रही थी। वह इज़ल के सामने खड़ा भय के आने की प्रतीक्षा करता रहा। ठीक सामने दीवार पर धूमिल शीशा था। रात बीतती गयी।

रात बीतती गयी और बीत कर रही।

सुबह कुछ लोगों ने दरवाज़ा खोलकर भीतर प्रवेश किया।

फ़र्श पर कलाकार का शव था और कैनवास पर था उनका अपना ही चेहरा—भय की अमर-कृति।

(चार)

चुसी हुई ईख

कटनी की वह कड़कती धूप थी।

सूरज निकलने से पहले ही खेतों में चहल-पहल शुरू हो गयी थी। ईख काटी और लादी जा रही थी। औरतें अगौरे की पुलियाँ बटोरती हुई मैना की तरह चाँव-चाँव करती जा रही थीं। वातावरण में कोलाहलमय रौनक थी। बिसेसर के हाथ मशीन की तरह चल रहे थे। पसीना भी उसके माथे से होकर शरीर पर उसी तेज़ी से दौड़ा जा रहा था।

ईख घनी थी। मालिक को खुशी थी। कटनी पिछले वर्ष से अच्छी होगी। बिसेसर कुछ और ही सोच रहा था। भगवान् ने उसकी सुन ली थी। इस वर्ष अपने घर को गिरवी से छुड़ा लेगा। अपनी ही सरकार से उसने बारह प्रतिशत पर कर्ज लिया था। इधर ब्याज और कर्ज बराबर हो गये थे। पिछले वर्ष अपनी बैलगाड़ी भी बेचकर वह गिरवी न तोड़ सका। सात बच्चों को जनने के बाद भी उनकी सुखिया इस कड़ी दोपहरी में उसका हाथ बटाती रहती है। इस वक़्त भी बगल से ईखों को उठा-उठा कर वह रास्ते से निकाल रही थी। अभी तो दो

सप्ताह भी नहीं हुए वह सातवें बच्चे के लिए बीमार थी।

बिसेसर सोचता इस में उसका दोष क्या है। बच्चों को तो आना था इसलिए वे आये हैं। उसे जोरों की प्यास लगी थी। लछला अभी तक पानी लेकर नहीं आया था। इधर उसकी कमर भी टूटी जा रही थी। उसने कटी हुई ईखों की ओर देखा। उनका जामुनी रंग कह रहा था कि वे कितनी मीठी होंगीं। वह मुंडेर पर बैठ गया था। एक मोटी-सी ईख उठाकर उसे घुटने के बल तोड़ा। मुँह तक पहुँचाने ही वाला था कि सामने से साहूकार आ गया। उसकी नज़र सुखिया पर थी। बिसेसर के पास पहुँच कर उसने उसके हाथ से ईख का टुकड़ा ले लिया। उसे घुमा-घुमा कर देखते हुए बोला—इस बार की ईख में बस चीनी-ही-चीनी है।

अपनी जगह से उठा और बिसेसर ने छिलके लौटाकर आगे को बढ़ गया। जाते-जाते भी उसकी नज़र सुखिया पर थी। बिसेसर ने छिलके उतार कर ईख को चूसा और आश्चर्यचकित रह गया। ईख पनछोछर थी। उसमें तनिक भी मिठास नहीं थी। बगल में गुरुवा काम कर रहा था। उसने हँसकर कहा, "अरे जिस सोने को बेरहम सरदार छू ले वह मिट्टी हो जाता है।"

(पाँच)
अख़बार

वह अख़बार मंत्रीजी के पैसों से निकलता था। खपत कम होने के कारण हर महीने मंत्रीजी को कुछ पैसे जेब से निकालने ही पड़ते थे। इस बात का उन्हें दु:ख नहीं होता था, क्योंकि 'स्वराज्य' मंत्री के लिए अपनी प्रतिष्ठा थी। वह तो जेब से कुछ और खर्च करके पत्र को चलाता। पाठशालाओं के वार्षिकोत्सवों और गाँवों की मीटिंगों में वह चिल्ला-चिल्लाकर कहता कि बहुत भारी हानि होने के बावजूद वह 'स्वराज्य' को बंद नहीं होने दे रहा है। वह खुद पूछता—क्यों ? और खुद उत्तर देता—क्योंकि हिन्दी हम सभी की भाषा है। इस भाषा के पत्र को घर का आटा गीला करके भी चलाना ही मर्दानगी है। लोग गद्गद होकर ताली बजा उठते। मंत्री का स्वर और भी ऊँचा हो जाता, "स्वराज्य' के माध्यम से हमें मानव अधिकारों को सुरक्षित रखना है। मज़दूरों के हक़ के लिए आवाज़ लगानी है……… ।"

उस दिन गाँव के चार-पाँच युवक मंत्री से मिलने के लिए तीन घंटों से आँगन में खड़े थे। आधा घंटा तो उन चारों को चपरासी को यह विश्वास दिलाने में लगा था कि पिछले चुनाव में उन्होंने मंत्री के लिए ख़ून-पसीना एक कर दिया था।

उस युवक को ज़ोर की प्यास लगी और वह डरते हुए फुलवारी की ओर बढ़ा, जहाँ नल के पानी से कैक्टस सींचे जा रहे थे। उनका वहाँ तक पहुँचना था कि मंत्री का वह अल्शेसियन कुत्ता उस पर झपट पड़ा। इससे पहले कि वह युवक पीछे को हटता, कुत्ते ने अपनी बत्तीसी को उसकी जाँघ में धँसा ही दिया। दर्द से चिल्लाकर युवक ने अपने पैर को इस तरह झकझोरा कि कुत्ता सामने के कैक्टस में जा गिरा। इधर युवक की जांघ से खून की धारा बह चली, उधर कुत्ते की आँख में कैक्टस का एक कांटा चुभ गया।

'स्वराज्य' का एक संवाददाता मंत्रीजी से इण्टरव्यू के लिए वहीं उपस्थित था। उसने झट कुत्ते की तस्वीर ले ली। दूसरे दिन 'स्वराज्य' के प्रथम पृष्ठ पर वह तस्वीर आयी और उसके

साथ के लेख का सार कुछ इस तरह था—

"मंत्री के भोले-भाले कुत्ते को गाँव के एक जंगली युवक ने बेरहमी के साथ लात मारकर उसकी एक आँख फोड़ डाली।"

उस लेख की बगल में था मंत्रीजी का चित्र और इन्टरव्यू का मोटा-सा शीर्षक—पानी की समस्या हल होकर रहेगी!

(छः)

मशीन की मृत्यु

ईख की कटाई के वक़्त खेतों की रमणीयता पराकाष्ठा पर होती है।

इस समय भी वही बात थी। कोलाहल में अंगारे की पुलियाँ बटोरने वाली औरतों की आवाज़ें अधिक तेज़ थीं। सोनालाल को हमेशा बहुत अच्छा लगने वाला कोलाहल आज तनिक भी नहीं भा रहा था। पसीने की मोटी बूँदें उसके माथे पर चमक-चमककर गाल के रास्ते बही जा रही थीं। पसीने का नमकीन स्वाद उसकी प्यास को बढ़ाये जा रहा था। कल वह अपनी पत्नी को अस्पताल में दाख़िल करवा आया था। डॉक्टर ने सोनालाल को भी अनेमियाग्रस्त बताया था। इस पर सोनालाल हँसकर रह गया था। उसे कैसे अनेमिया हो सकता था! इस बार तो खेतों में इस छोर से उस छोर तक हरियाली छायी हुई थी। ईखों का रंग हद से ज्यादा रस के कारण अधिक जामुनी दीख रहा था। भला सोनालाल को अनेमिया कैसे हो सकता था! पिछले वर्ष जब पूरे खेत में अनेमिया था, जब गन्ने के पत्ते पीले थे, गन्ने रसहीन, दुबले-पतले थे, उस वक़्त जब सोनालाल को अनेमिया नहीं हुआ तो इस बार की हरियाली में उसे ऐसा क्यों होने लगा! उसने मन-ही-मन सोचा डॉक्टर की आँखों में ही पीलापन होगा·········!

सभी इस वर्ष को समृद्धि का वर्ष बता रहे थे। दो दिन पहले खेत के मज़दूरों की एक बैठक में यह बात चल पड़ी थी कि मालिकों और पूरे देश की समृद्धि हमारे लिए भी समृद्धि क्यों नहीं बन पाती? हमारे लिए गहन हरियाली भी सुखारी होती है, ऐसा क्यों? उनका जो पारिश्रमिक सुखारी में कम हो जाता है, वह हरियाली में बढ़ क्यों नहीं पाता? इन प्रश्नों का उत्तर कहीं-न-कहीं ज़रूर होगा, पर उनको वहाँ उठाये तो कौन! पन्द्रह मिनट पहले सरदार के बाद कोठी का मालिक भी स्टेरियो-टाइप खरी-खोटी सुनाने के बाद सामने से निकल गया था। आज की उसकी एक बात सोनालाल को लग गयी थी।

सूरज सिर के ऊपर आ चुका था। थकान कोलाहल को शिथिल कर दिया था। ईख की कटाई की रफ़्तार बराबर चल रही थी। हड्डियों तक को चुभ जाने वाली गर्मी थी। सोनालाल का पूरा शरीर पसीने से लथपथ था जो उसके शरीर को कुछ ठंडक पहुँचा रहा था। उस कड़ाके की धूप में अकुलाहट पैदा कर देनेवाली गर्मी में सोनालाल को अनायास ही ठण्ड लगने लगी। उसके हाथ की स्फूर्ति कम होती गयी। ईख काटने वाले बाक़ी मज़दूर आगे निकल चुके थे। निस्तब्धता छाने लगी थी। सोनालाल को अपनी अनेमिया से पीड़ित राधिका की याद आयी फिर तीन महीने पहले मरे हुए उसके बच्चे की भी याद आयी·········उसे कई यादें आयीं।

लोगों को सोनालाल का ख़्याल नहीं रहा। ईख के घने खेतों के बीच वह कटे हुए जामुनी गन्नों पर पड़ा रहा।

(सात)
जीवित मुर्दा

यमराज को आश्चर्य हुआ। मंत्री के उसकी कुर्सी के साथ पहुँचने पर उसे आश्चर्य नहीं हुआ था, बल्कि मंत्री के साथ-साथ एक चपरासी को भी यमलोक में देख उसने दूत से प्रश्न किया, "यह क्या अनर्थ कर दिया तुमने! मन्त्री अपनी मृत्यु के बाद भी अपनी कुर्सी को न छोड़ना चाहता हो, इस बात को तो मैं समझ रहा हूँ। हालाँकि यमलोक का यह क़ानून नहीं है कि मरनेवाला अपने आसन को भी लिये यहाँ पहुँचे; पर मन्त्री के साथ यह रिआयत हो जाती है, कोई हर्ज़ नहीं! लेकिन..........

"लेकिन क्या, महाराज?" दूत ने घबराये हुए स्वर में पूछा।

"बेबसी थी, महाराज!"

"बेबसी कैसी? इस चपरासी के आयु-पत्र के अनुसार तो अभी इसे और तीन वर्ष धरती पर रहना है।"

"मैं जानता हूँ, यमराज!"

"तो फिर जानकर भी इतनी बड़ी भूल तुमने कैसे की?"

"बात यह है यमराज कि अगर आप आयु-पत्र को नीचे तक पढ़ेंगे तो बात साफ़ हो जायेगी।"

"तुम बताओ, बात क्या है?"

"बात यह है यमराज कि इस चपरासी की मृत्यु मन्त्रीजी की कुर्सी के उस पर गिर जाने से लिखी हुई है। मंत्रीजी की कुर्सी तो यहाँ आ गयी। लाख चाहकर भी हम उसे वहाँ नहीं छोड़ सके। अब आप ही बताइये, अगर कुर्सी यहाँ और चपरासी वहाँ रहता है तो विधि का लिखा झूठ नहीं हो जायेगा! जब चपरासी को मरना ही है तो यहाँ भी मर सकता है।"

"तुम्हारा मतलब है कि मंत्री और उनकी कुर्सी के कारण इस ग़रीब को तीन वर्ष जीवित मुर्दा रहना होगा?"

"धरती पर तो ऐसा ही होता है, महाराज!"

यमराज से कोई उत्तर नहीं बन पड़ा।

(आठ)
एकलव्य का अँगूठा

यह पढ़कर हैरानी ज़रूर हुई होगी कि एक जंगली लड़के ने किसी की मूर्ति से धनुष-विद्या का ज्ञान पा लिया था और फिर खुशी-खुशी उसने अपना अँगूठा उस गुरु को भेंट कर दिया था। आपकी हैरानी सही है, क्योंकि कथा के सही रूप को आपसे छिपा लिया गया है,

इसलिए कि बेचारा एकलव्य एक राजनीतिक षड्यन्त्र का शिकार हो गया था। सही कहानी इस प्रकार से है–

एक दिन युद्ध-प्रशिक्षण के दौरान अर्जुन का अँगूठा कट गया। पाण्डवों के बीच खलबली मच गयी, क्योंकि दूसरे दिन धनुष-विद्या की प्रतियोगिता होनेवाली थी। द्रोणाचार्य के सामने अँधेरा छा गया.........अगर अर्जुन प्रतियोगिता में प्रथम नहीं आया तो प्रश्न मानहानि का था। इमरजेन्सी बैठक लगी। तय हुआ कि दस घण्टे के भीतर अर्जुन के हाथ पर कहीं से अँगूठा लाकर जोड़ देना चाहिए। अँगूठा एकदम उसी तरह का और सही नाप का होना चाहिए था। घण्टे भर की दौड़धूप के बाद तीन अँगूठे मिले जो सही उतरे। एक तो खुद द्रोणाचार्य का था, दूसरा दुर्योधन का अँगूठा और तीसरा था एक जंगली लड़के का, जिसका नाम एकलव्य था। प्रश्न खड़ा हुआ–द्रोणाचार्य की पोजीशन और पाण्डवों की इज़्ज़त के लिए कौन अपना अँगूठा देने को तैयार था? दुर्योधन ने तो साफ़ कह दिया कि उसका अँगूठा इतना सस्ता नहीं कि वह दूसरे के लिए उसे कटवा ले। द्रोणाचार्य ने कहा, "मैं तो बूढ़ा हो चला हूँ। अँगूठा देने को तैयार हूँ, परन्तु मुझे इस अँगूठे से आगे चलकर बहुत बड़ा काम करना है। इसी अँगूठे से मतदान देकर मुझे राजनीतिक पलड़े को संतुलित रखना है।"

बस, अब तो एक ही अँगूठा रह गया था सामने–एकलव्य का। काफ़ी देर तक सोचते रहने के बाद द्रोणाचार्य ने दलील पेश की, "अशिक्षित लोगों के पास अँगूठे का होना राज्य के लिए बहुत बड़ा ख़तरा होता है। मतदान के वक़्त वे इससे अनर्थ कर जाते हैं!"

लोग तुरन्त जंगल पहुँचे। द्रोणाचार्य ने आगे बढ़कर एकलव्य से कहा, "राज्य के नाम पर हमें तुम्हारा अँगूठा चाहिए।"

"मैं अपना अँगूठा क्यों देने लगा?"

"तुम्हारे अँगूठे पर राज्य का पूरा अधिकार है!"

दो आदमी आगे बढ़े और देखते-ही-देखते एकलव्य का अँगूठा काट लिया गया।

(नौ)
उद्घाटन

रावण ने आदेश देकर मेघनाद और कुम्भकर्ण को अपने पास बुलवाया। आँखों से अँगारे बरसाते हुए उसने चिल्लाकर कहा, "किस काम के लिए तुममें से एक मेरा बेटा, दूसरा मेरा भाई होते हुए भी मेरे सेनापति बनाये गए हो?"

दोनों सिर झुकाये खड़े रहे।

"तुम्हारे होते हुए वानरों ने सागर पर कन्याकुमारी से लेकर लंका तक सेतु बना डाला। अब राम को यहाँ पहुँचने से कौन रोक सकेगा? तुम उन्हें रोक न सके तो क्या सेबोटाज़ भी नहीं आता तुम्हें? मैं चाहता हूँ कि इसी वक़्त उस बाँध को उड़ा दिया जाए। इसके लिए अगर लंका के सभी डाइनामाइट का उपयोग करना पड़ जाये तो भी कोई हर्ज़ नहीं, बशर्ते के बाँध उड़ा दिया जाये!"

आदेश पाकर मेघनाद और कुम्भकर्ण सेना सहित बाँध की ओर दौड़ पड़े। तीन दिन के

भगीरथ प्रयत्न के बाद हाँफते हुए दोनों रावण के दरबार में पहुँचे।

"बाँध क्यों नहीं उड़ा?" रावण ने कड़ककर पूछा।

"यह नितान्त असम्भव है, महाराज!" मेघनाद ने सहमकर कहा।

"असम्भव क्यों?"

"यह बाँध कुम्भकर्ण के कॉन्ट्रेक्टर ने नहीं बनाया, बल्कि नल और नील ने अपनी देखरेख में बनवाया है। और फिर इसमें जिस सीमेंट का प्रयोग हुआ है, उसमें किसी तरह की मिलावट नहीं।"

यह सुनकर रावण और भी आग-बबूला हो गया। अपने पैरों को ज़मीन पर पटकते हुए उसने पूछा, "तो फिर किसी भी हालत में इस बाँध को चकनाचूर नहीं किया जा सकता?"

"बस एक ही उपाय था.........."

"वह क्या?"

"अगर सुग्रीव का कोई मंत्री उसका उद्घाटन कर देता, तब तो वह एक ही विस्फोट के धमाके के साथ सागर में मिल जाता।"

"तो फिर यह उद्घाटन कब हो रहा है?"

"राम के कह देने पर कि प्रजा के सिर किसी भी तरह की फ़िजूलखर्ची अन्याय है, यह प्रश्न उठता ही नहीं!"

"उद्घाटन नहीं होगा?"

"अब क्या होगा, जबकि राम वानर-सेना के साथ उस पर चल पड़ा है।"

रावण चिल्लाता हुआ खड़ा हो जाता है और दोनों महारथी सहमकर सिर झुका लेते हैं।

(दस)

दूध

उसका नाम धनिया था, पर वह ग़रीबों में भी ग़रीब थी। जिस बड़े घर में उसे नौकरी मिल पायी थी, वह इलाके का सबसे धनी ज़मींदार था। नौकरी उसे इस शर्त पर मिली थी कि वह उसी घर में रहकर काम करे और महीने में केवल एक बार अपने घर जाये। उसे शर्त माननी ही पड़ गयी थी, क्योंकि अपने छोटे-से परिवार को भूख से बचाने के लिए उसके सामने कोई दूसरा चारा था ही नहीं। उसके पति की अकस्मात् बीमारी ने उसके परिवार को कहीं का नहीं छोड़ा था।

उस बड़े-से घर में उसे छोटा-सा जो काम करना था, वह कुछ अजीब-सा था। ज़मींदार के बड़े बेटे की पत्नी शारीरिक लावण्य में बेमिसाल थी। उसका पति, जिसका सारा समय सेक्स सम्बन्धी पुस्तकें पढ़कर बीतता था, अपनी पत्नी को उन सभी औरतों से कुछ अधिक ही प्यार करता था, जिनके साथ खेतों की तन्हाई में वह मनमानी करने और उनकी बेबसी का नाजायज फ़ायदा उठाने का आदी था। अपनी खूबसूरत पत्नी को कुछ अधिक चाहने के कारण वह यह नहीं चाहता था कि किसी हालत में उसका शारीरिक लावण्य घट जाये। वह तो यह भी नहीं चाहता था कि उसका कोई बच्चा पैदा हो; पर होनी को कौन टाल सकता है!

चाँद पर पहुँचनेवाले और हृदय का प्रतिरोपण करनेवाले भी ऐसा नहीं कर पाते। बच्चे के जन्म जाने पर भी उसे अपनी पत्नी के शरीर और उसकी सुन्दरता का ख़्याल बना रहा। उसे यह तनिक भी गवारा नहीं था कि बच्चे को दूध पिलाकर उसकी पत्नी अपने गोल-सख्त उरोजों को बिगाड़ डाले, इसीलिए धनिया को नौकरी पर रख लिया गया था। धनिया के उरोज दूध से भरपूर थे। उसका काम बच्चे को पाँच वक़्त का दूध पिलाना था—अपना दूध, क्योंकि ज़मींदार के बेटे को डिब्बे के दूध पर कभी विश्वास नहीं था।

ज़मींदार के बच्चे को दूध पिलाते समय उसे हर वक़्त अपने बच्चे की याद तड़पा जाती, जिसे वह अपनी सास की गोद में छोड़ आयी थी। उसे केवल बच्चे को प्यार न कर पाने का दु:ख था, उसको दूध न पिला पाने का नहीं। क्योंकि वह जानती थी कि उसका बच्चा तो ग़रीब घर का जन्मा है और ग़रीब बच्चे तो साबूदाने और इधर-उधर के पानी से भी पेट भर लेते हैं। जिस ग़ैर बच्चे को तीस रुपये माहवार के लिए वह दूध पिलाती थी, वह दिन-ब-दिन स्वस्थ डील-डौल और गुलाबी रंग का होता गया था। वह सोचती—उसका अपना बच्चा भी, जोकि इसी बच्चे का हमउम्र था, इसी तरह का हो गया होगा……… !

महीने बाद वह घर लौटी। अपनी बावली ममता को न रोक पाने के कारण उसने किसी पागल की तरह अपने बच्चे को सीने से चिपका लिया। उस गर्मी का आदी न होने के कारण बच्चा रो पड़ा। धनिया ने अपने चूसे हुए स्तन को उसके मुँह में पहुँचाया, पर उस स्वाद से अनभिज्ञ बच्चे ने मुँह हटा लिया। धनिया अपने बच्चे को साँवला छोड़ गयी थी। उसके चेहरे पर पीलेपन को गोरापन समझ वह अगाध प्यार के साथ उसे देखती रही—कल जो अनहोनी होनेवाली थी, उससे एकदम अनभिज्ञ!

(ग्यारह)
नचिकेता

मंत्री को सोफे पर झपकियाँ आ रही थीं कि तभी दरवाज़े पर ज़ोरों की खटखटाहट हुई। उसने सँभलकर बैठते हुए पूछा, "कौन है……… ?"

कोई उत्तर न पाकर वह सोफे से उठा, दरवाज़े तक पहुँचा। उसके खुलने पर उसने अपने सामने एक नवयुवक को खड़े पाया। झुझलाहट के साथ उसने पूछा, "कौन हो तुम ?"

"आपकी प्रजा।"

"क्या नाम है तुम्हारा ?"

"नचिकेता !"

"क्या चाहिए ?"

"मैं आपसे मृत्यु का रहस्य पूछने आया हूँ।"

"तुमने मुझे यमराज समझा है ?"

यह कहकर मन्त्री ने दरवाज़ा बन्द कर लिया।

खटखटाहट फिर से हुई। उसने उसी झुँझलाहट के साथ दोबारा दरवाज़ा खोला। सामने नचिकेता उसी तरह दीन हालत में खड़ा था।

"कहा न, मैं यमराज नहीं! मृत्यु के बारे में कुछ नहीं बता सकता।"

"तो फिर जीवन के बारे में ही कुछ बता दीजिए।"

मंत्री ने नचिकेता को ध्यान से देखा—

"ठीक है, भीतर आ जाओ!"

एक मिनट बाद।

"तुम करते क्या हो?"

"मैं कुछ भी नहीं करता, बस पढ़ता हूँ।"

"इस समय क्या पढ़ रहे हो?"

"कठोपनिषद् के बाद सॉमरसेट मॉम का 'रेजर्ज एज' पढ़ रहा था। दोनों की कथाएँ एक हैं।"

"दुनिया की सभी कथाएँ एक हैं। हाँ, तो तुम जीवन के बारे में जानना चाहते हो?"

"बड़ी कृपा होगी!"

"जीवन का मतलब है आगे बढ़ना—मतदाता से उम्मीदवार, फिर नेता, फिर मंत्री·······प्रधानमंत्री·········फिर·········जीवन का मतलब है उससे प्यार, पूरी घनिष्ठता के साथ·········जैसे कि अगर कोई सामने की कुर्सी को चाहने लगे तो आख़िरी दम तक साथ-साथ अपने लोगों का हित·········दामादों का·········भाई-भतीजों का·········जीवन का मतलब है·········।"

नचिकेता जोकि सात दिन से मंत्री के यहाँ प्रवेश पाने के लिए दरवाज़े पर बिन खाये-पिये खड़ा था, जीवन के तात्पर्य की सम्पूर्णता को नहीं सुन सका। उसके पैर जवाब दे चुके थे। वह मरकर ज़मीन पर लुढ़क चुका था।

■

संस्मरण एवं यात्रा-वृत्तांत

(एक)
प्रधानमंत्री का वह उत्तर

यूँ तो मॉरिशस के स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी और प्रथम प्रधानमंत्री शिवसागर रामगुलाम हमारे फ़ैमिली डॉक्टर रह चुके थे, इस नाते हमारे घर से उनका आत्मीय सम्बन्ध तो था ही! हमारे घर का सांस्कृतिक माहौल जहाँ पं. वासुदेव विष्णुदयाल से प्रभावित था, वहाँ राजनीतिक झुकाव डॉ. रामगुलाम की ओर था। लेखक की हैसियत से मेरा अपना राजनीतिक रुझान व्यवस्था के साथ नहीं हो सकता था, इसलिए डॉ. रामगुलाम के प्रति आदर के उपरान्त भी मैं हमेशा अपने को सत्ता के साथ न जोड़कर समाज के साथ जोड़े रखने की कोशिश करता। इस प्रक्रिया के दौरान मुझे जन-जीवन के हित में जब भी देश के प्रधानमन्त्री और उसकी व्यवस्था के ख़िलाफ़ बोलना पड़ा, मैं ख़तरों की परवाह किये बिना बोलता रहा।

एक दिन आंस-ला-रे के सुहाने समुद्र-तट पर तीन दिनों के राइटर्ज वर्कशॉप के उद्घाटन समारोह के दौरान स्वागत-भाषण के लिए मुझे खड़ा होना पड़ा था। मैंने इन शब्दों से अपनी तकरीर शुरू की थी कि हिन्दी-उर्दू लेखकों की उस शिल्पशाला में हमें न तो भारत सरकार का सहयोग मिल पाया था और न ही मॉरिशस सरकार की ओर से कोई विशेष मदद मिली थी। जिस फ्रांसीसी तन्त्र के साथ हमारा सांस्कृतिक संघर्ष था, अगर वह नहीं होता तो देश के पचहत्तर लेखकों के बीच की वह शिल्पशाला सम्भव नहीं हो पाती। फ्रेंच एजेन्सी.........ए० सी० सी० टी० और यूनेस्को के सहयोग से ही हम भारत से राजेन्द्र यादव, डॉ० विनय और मजरूह सुल्तानपुरी को उस आयोजन के लिए बुला पाये थे। उन्हीं दोनों संस्थाओं ने आयोजन का सभी खर्च भी वहन किया था।

मेरी बातों से घायल होकर प्रधानमन्त्री ने उत्तर में कहा था कि अभिमन्यु तो हमेशा की तरह इस वक़्त भी शिकायत की रौ में है। कुछ दिन पहले बम्बई की अंग्रेज़ी पत्रिका 'कॉमर्स' के सम्पादक के अनुरोध पर मैंने 'मॉरिशस में हिन्दी के लिए संघर्ष' विषय पर एक लेख लिखा था, जिससे यहाँ के माध्यमिक स्कूल के कुछ हिन्दी अध्यापक मेरे ख़िलाफ़ जेहाद छेड़े हुए थे। मेरा यह कहना उन्हें पच नहीं पाया था कि हिन्दी की दयनीय स्थिति का एक कारण उनकी ग़ैर-ज़िम्मेदारी और अयोग्यता थी। प्रधानमंत्री को मेरे ख़िलाफ़ बोलते पाकर उनकी पुरानी प्रतिशोध की भावना बढ़ आयी। उद्घाटन समारोह के बाद चाय-पानी के वक़्त चार अध्यापक उनके साथ चिपक गये और पन्द्रह-बीस मिनट तक उनको मेरी अयोग्यता और मेरे लेखों तथा अन्य रचनाओं के सरकार विरोधी तत्त्वों की सूचना देते रहे।

मैं राजेन्द्र यादव और भारतीय उच्चायुक्त से बातें कर रहा था, जब प्रधानमंत्री ने किसी को भेजकर मुझे अपने पास बुलवाया। अपने को घेरे हुए चारों विद्वानों को लक्ष्य करके उन्होंने कहा, "इनकी शिकायत है कि तुम हमारे ख़िलाफ़ ज्यादा लिख रहे हो?"

मेरे मुँह से निकल पड़ा, "शिकार ही करना है तो चूहे और नेवले का क्यों किया जाये!"

मेरे इस उत्तर पर डॉ. रामगुलाम के ठहाके से वातावरण गूँज उठा। सभी लोग हमारी ओर

ताकने लगे। मेरे चारों विद्वान मित्रों के चेहरे की रंगत जाती रही। तभी डॉक्टर रामगुलाम ने उन चारों में से दो के कन्धों पर अपनी बाँहें डाल कर उन्हें आश्वस्त किया, "तुम लोग चिन्ता मत करो! अभिमन्यु अनत के पूरे परिवार को तो मैं मुद्दत से जानता हूँ। यह तो मेरे और सरकार के ख़िलाफ़ जो कुछ लिखता है, वह तो एक चौथाई ही होता है। इसके साथ पाबन्दी करेंगे या रोकने की कोशिश करेंगे तो यह हमारे ख़िलाफ़ चार-पर-चार लिखेगा।"

यह संस्मरण यहाँ पर इसलिए देना पड़ा कि मुझे बहुत बेबाक जाननेवाले यह जान लें कि मैं अपने इर्द-गिर्द की सच्चाई को सम्पूर्ण रूप से कभी नहीं दे पाया। लेखक के इस अधूरेपन का अहसास ही मुझे लिखते रहने को विवश करता है। डॉ. रामगुलाम की उस बात में मेरे उन मित्रों ने, मेरे प्रति प्रशंसा का कसैलापन महसूसा था, लेकिन मैं आज भी मानता हूँ कि उस बात से डॉ० रामगुलाम ने अनचाहे मेरे बौनेपन की ओर संकेत किया था।

(दो)
लमही गाँव में प्रेमचंद की जय

3 जनवरी की ठंडी सुबह थी। वाराणसी काँप रही थी और विजय राय भी उसी तरह काँपता हुआ हमारे होटल को पहुँच आया था। प्रेमचंद के ही किसी आत्मीय के साथ प्रेमचंद का वह निवास स्थान देखने जाने की चाह में रात भर अच्छी तरह सो नहीं पाया था। पता नहीं इस लम्ही के प्रति ताजमहल, अजंता और खजुराहो देखने से अधिक छटपटाहट मेरे भीतर क्यों थी? सरिता भी साथ में थी और वह भी अधीर थी उस लेखक के उस जन्म-स्थल को देखने के लिए जिस की चर्चाएँ हमारे यहाँ प्राय: होती रहती थीं।

विजय राय अपने दो साथियों के साथ आया हुआ था। हमने जल्दी चाय ली और बिना नाश्ता लिए निकल पड़े। हमारी वह अधीरता और भी विस्तार पा चुकी अज पता चला कि लमही पहुँचने से पहले हमें कबीर चौरा के 'आज' कार्यालय में अपने मित्र राममोहन पाठक से मिलना था। उसके बाद सारनाथ का कार्यालय था, फिर रेडियो पर इन्टरव्यू की व्यवस्था हुई थी और इसके बाद ही कहीं लमही पहुँचना था। सारा कार्यक्रम रात भर में विजय ने तैयार कर लिया था इसलिए हम लोग कार में बैठे और 'आज' कार्यालय के लेखक बन्धुओं से मिलते हुए सारनाथ पहुँचे। वहाँ से फिर रेडियो स्टेशन आये। इन्टरव्यू के बाद कुछ भोजपुरी गीतों की रिकार्डिंग हुई और वहाँ से लम्ही को निकल पड़े। कुछ क्षण पाण्डेपुर में ठहर कर हम ने वहाँ के रसगुल्ले और गुलाबजामुन का लुत्फ़ लिया।

दोपहर होने को थी जब हम लमही पहुँचे। धूप के बावजूद भी ठंड अपने अस्तित्व को बनाये हुए थी। जिस ठौर पर हम रुके वह बाँसों का एक झुरमुट था। बहुत पुराना कुआँ और जीर्ण अवस्था को पहुँची एक इमारत। विजय ने कहा, "यही लमही है।"

और सरिता के मुँह से निकल पड़ा, "इस अवस्था में!"

वह एक अँधेरी दोपहर थी। सर्दी की धूप का वह उजाला भी उस अँधेरे को मिटा नहीं पा रहा था। मैं अपने सामने के उस दृश्य को हतप्रभ देखता रहा। दो-तीन क़दम पर प्रेमचंद जी की छोटी-सी मूर्ति थी जिस पर घास और काइयाँ उग आयी थीं। मेरे दोनों हाथ अपने आप जुड़ गये थे और मेरी आँखों से अनायास ही आँसू बह आये थे। भारत का यह दूसरा दृश्य था

जहाँ मेरी आँखों से आँसू टपके थे। अपनी पहली भारत-यात्रा के दौरान नेता जी सुभाषचन्द्र बोस का वह घर था जिस के सामने मैं अपनी भावुकता को नहीं रोक पाया था और वही वह स्थान था जहाँ मैंने अपने भीतर बरछी के प्रहार को महसूसा था। लमही वहीं थी, वैसी ही थी जैसे सौ साल पहले। जंगल पड़ी हुई। तिरस्कृत, दयनीयता लिये हुए। मैंने आकाश की ओर देखा—परिवर्तन देखने के लिए। प्रेमचंद का कोई स्मारक नज़र नहीं आया उस धुँधलके में।

सरिता बोली थी, "अजीब है। जिस देश में कूड़े करकटों के लिए बड़े-बड़े अजायबघर हैं, वहाँ अपने देश के श्रेष्ठ लेखक के लिए एक सही स्मारक नहीं।"

कुछ लोग कहते हैं कि लेखक मर कर मान्यता पाता है। मुझे तो लगा कि यह भी झूठ है, और इस झूठ का गवाह है लमही। आज जब कि 'प्रेमचंद-शताब्दी' मनायी जा रही है शायद लमही के भाग्य में दो रोशनी भरे दिन भी नसीब हों। शायद वहाँ कोई दो फूल चढ़ा आये और शहरों में प्रेमचंद के नाम पर राजनेताओं के लम्बे चौड़े भाषण हो जायें और श्रद्धांजलियों की बौछार भी हो जाये और दो-तीन लोग चिल्ला भी उठेंगे—प्रेमचन्द की जय। उपन्यास सम्राट की जय। बस।

(तीन)
भीख का वह आधुनिक तरीका

1974 में मॉरिशस के सांस्कृतिक प्रतिनिधि के रूप में जिस फ्रेंच-भाषी युवा समारोह में भाग लेने कनाडा के क्यूबेक में पहुँचा था, वहाँ के कई संस्मरण मेरे जेहन के भीतर से अपने ताजेपन को कभी भी मिटा नहीं पाते। यहाँ पर उन सभी अविस्मरणीय क्षणों में से एक याद आपके सामने रख रहा हूँ। क्यूबेक के 'ग्रांद तेआत्र' में मेरे संगीत-रूपक की रिहर्सल हो रही थी। उस लम्बे रियाज़ से थकान महसूस कर मैं कैम्पस को लौट आया। हम 'लावाल विश्वविद्यालय' के जिस कैम्पस में ठहरे हुए थे, वहाँ हमें पहले ही बता दिया गया था कि क्यूबेक में ग़रीब और भिखारी नहीं मिलते। हमें यह मान लेने में कठिनाई हुई थी, लेकिन अपने सामने की भव्यता को देखते हुए हम लोग चुप रह गये थे।

कैफेटेरिया के प्रांगण में घूमता हुआ में एक बेंच पर कुछ मित्रों के बीच बैठ गया। होटल का रईसी खाना मेरे भीतर पचने में समय ले रहा था। उस बोझिलता को भुगत रहा था कि एक आदमी हमारे बीच आ कर खड़ा हो गया। मेरे हाथ में एक कार्ड थमा दिया उसने।

यह वही कार्ड था जो दो दिन बाद पावियों पोलाक के सामने दोबारा मुझे देखने को मिला। एक रेड-इंडियन लड़की के साथ मैं टहल रहा था, जब दो अत्यन्त सुन्दर लड़कियाँ हमारे सामने आ कर खड़ी हो गयी थीं। मेरी बगल की रेड-इंडियन लड़की की अवहेलना-सी करके वे दोनों मुझसे इस तरह बातें करने लगीं, गोया में अकेला था।

दो ही तीन मिनट की बातचीत के बाद, दोनों में कम बोलने वाली लड़की ने एक कार्ड मेरी ओर बढ़ा दिया। मैंने कार्ड देखा। उस दो दिन पहले वाले व्यक्ति के कार्ड से थोड़ा छोटा, पर उससे अधिक साफ़ और स्पष्ट अक्षरों वाला था। शिष्टाचार से भरे फ्रेंच के वे वाक्य भी लगभग वे ही थे—"मैं ग़रीब, बेघर, बेकार हूँ। अगर यह कार्ड आप मुझसे खरीद लेंगे तो मुझे एक जून की रोटी मिल जायेगी।"

नीचे कार्ड का मूल्य लिखा हुआ था—'एक डालर।'

इसके अलावा आइडेंटिटी कार्ड के बराबर के उस गत्ते के टुकड़े पर कुछ भी नहीं था। मैं अभी उस कार्ड को निरख ही रहा था कि दूसरी लड़की ने भी मेरे हाथ पर वैसा ही कार्ड रख दिया।

एक डालर और!

मैंने दोनों की मुस्कानें देखीं। दो डालर बहुत अधिक महंगे नहीं प्रतीत हुए। मैंने एक-एक डालर दोनों की हथेलियों पर रख दिया।

दोनों ने एक ही साथ कहा, "मेरसी मेस्ये! वू ज़ेत त्रे ज़ाचि!"

मुझे धन्यवाद और नेक कह कर दोनों एक-एक हाथ में एक-एक डालर का नोट और दूसरे में एक-एक नया कार्ड थामे, दूसरे नेक आदमी की तलाश में चल पड़ीं।

मेरी बगल में खड़ी वह दोस्त ज़ोर से हँस पड़ी। उसने मुझसे पूछा, "क्यों, तुम्हारे देश में भी इतनी ही शिष्टता और आधुनिक तरीके से भीख माँगी जाती है?"

उसी दिन की वह दूसरी अजीब घटना का भी मैं साक्षी रहा था।

'स्पेंसर एण्ड स्पेंसर सुपर मार्केट' से निकल कर हम दोनों 'लावाल विश्वविद्यालय' को लौट रहे थे कि एक दुकान के सामने एक लम्बी कतार दिखायी पड़ी थी। मेरे साथिन से प्रश्न करने पर कि आख़िर वह कैसी कतार थी, उत्तर में एक हँसी मिली। इसके बाद उस रेड इंडियन लड़की ने कहा था, "चलो स्वयं देख लो।"

हम एकदम उस ठौर पर जा खड़े हुए जहाँ कतार का पहला व्यक्ति भीतर पहुँचे व्यक्ति के बाहर आने की ताक में था। पंक्ति में कोई ग्यारह-बारह लोग बेसब्री के साथ खड़े थे और सभी के हाथ में एक-एक पार्सल था। दुकान का नामपट्ट देखने पर पता चला कि वह दर्ज़ी की दुकान थी। भीतर जो दो-तीन व्यक्ति थे उनमें से एक अपने हाथ की जीन-पतलून को ग़ौर से देखता हुआ बाहर आ गया और कतार में जो आगे था, वह अपने हाथ के पार्सल से कागज़ उतारकर बगल की रद्दी की टोकरी में डाल कर भीतर चला गया। उसके हाथ में सिली-सिलाई नयी पतलून थी जब कि जो भीतर से बाहर आया था उसके हाथ की पतलून में दो पैबन्द लगे हुए थे। मेरी साथिन ने मेरी ओर देखा था और बोली थी, "ग्लेमर आफ़ पॉवर्टी।"

मेरी समझ में बात आ गयी थी। ये लोग दुकान से नयी पतलून खरीद कर लाये थे और नये फैशन की सनक में उस पर पैबन्द लगवा कर ग़रीब दिखने का गर्व अनुभव करना चाहते थे।

(चार)

कवियों और राजनेताओं के बीच

राजनेताओं के साथ एक मंच पर बैठने की अलर्जी मुझे हमेशा से रही है। इसके लिये मैं अपने को दोष दे ही नहीं सकता। यह तो बड़ा ही प्राकृतिक रोग है जिसमें आदमी यह जानते हुए भी कि फूलों के बीच रहने से फेफड़े के रोगी को उसका पराग उसे सताने लग जाता है, बेचारे को कई बार जाने-अनजाने में फूलों के बीच आ जाना ही पड़ता है। ठीक उसी तरह राजनेताओं के साथ एक ही मंच पर बैठ कर किसी सांस्कृतिक या साहित्यिक आयोजन में बोलते हुए मुझे हमेशा बड़ा कष्टदायक लगा है। फिर भी आयोजकों के अनुरोधों को ठुकरा देना हमेशा आसान नहीं होता। ऐसे समझौते मैंने अपने जीवन में बहुत कम ही किये हैं और

उनमें एक है क्यूर्पिप के टाऊन हाल की वह घटना जो मैं यहाँ बताने जा रहा हूँ। बात शायद 1980, दिसम्बर महीने की है।

'हिन्दी लेखक संघ' और 'हिन्दी छात्र-संघ' की ओर से आयोजित एक कवि-सम्मेलन में भाग लेने की दावत देने के लिये मेरे पास दोनों संघों के लोग पहुँचे थे। हमेशा की तरह मैं उनके सामने अपनी पुरानी ज़िद को रखे रहा कि अगर इस आयोजन में राजनेता आ रहे हैं तो मैं नहीं आ सकता। पर आयोजकों की हठ मेरी ज़िद्द से बड़ी थी, इसलिए मैंने एक शर्त पर बात मान ली कि मैं दो शब्द तो बोल दूँगा, पर राजनेताओं के बीच अपनी कविता नहीं सुनाऊँगा। अनुरोध मान लेने का सबसे बड़ा कारण था आयोजकों का वह साहस जिसके सामने में नतमस्तक था। हिन्दी कविता को गाँवों से ले जाकर वे लोग उसे क्यूर्पिप की नगरपालिका तक ले जाने में सफल हुए थे। आयोजन बड़ा भव्य था। जब मैं वहाँ पहुँचा तो टाऊन हाल खचाखच भरा हुआ था। लोग बड़ी बेसब्री के साथ प्रधान-मंत्री, शिक्षा-मंत्री और न जाने किन-किन मंत्रियों के पहुँचने की प्रतीक्षा कर रहे थे। आयोजकों में पंडित धर्मवीर घूरा भी थे। मैं अभी प्रांगण में कुछ मित्रों के साथ बातें कर ही रहा था कि अपने दो साथियों के साथ वह मेरे पास पहुँचे और कुछ अलग ले जाते हुए पंडित घूरा ने मुझे सलाह और अनुरोध भरे भाव में धीरे से कहा, "भैया, तुम से करजोर अनुरोध है कि तुम राजनीति और राजनेताओं की ख़बर कम-से-कम आज तो मत लेना।" उनकी इस बात और चेहरे के भाव दोनों पर मुझे हँसी आ गयी। मैंने मुस्करा कर अपने उस भोले मित्र के कंधे पर हाथ रख दिया और कहा, "तुम चिंता मत करो। तुम लोगों की तरक्की में मैं बाधक नहीं बनूँगा।"

बारी-बारी से मंत्री लोग आते गये और उन्हें बड़े आदर के साथ मंच पर बैठाया जाता रहा। सबसे बाद में कवि-सम्मेलन के नियत समय से पाँच मिनट पहले ही प्रधान-मंत्री डॉ. शिवसागर रामगुलाम पहुँचे।

आदत के अनुसार सीधे मंच पर न पहुँचकर रास्ते के सभी जाने-अनजाने से बातें करते हुए वे आगे बढ़े और पूरे पाँच मिनट बाद एकदम निर्धारित समय पर मंच पर पहुँचे। मेरी जगह उनकी बगल में थी। आयोजकों की ओर से कार्य-संचालन करने वाला जब डॉ. रामगुलाम जी को कार्यक्रम बता रहा था तब मैंने मंच के सामने नीचे बैठे लोगों की ओर देखा, फिर मंच पर के कोई दस प्रतिष्ठित लोगों की ओर जिनमें प्राय: राजनेता थे। कवि-सम्मेलन में भाग लेने वाले कोई दस कवि नीचे पहली कतार में बैठे खुश दिख रहे थे कि उन्हें सबसे आगे बिठाया गया था।

कार्य-संचालक ने लम्बे भाषण के साथ कार्यक्रम को शुरू करते हुए बताया कि भाषण केवल चार ही होंगे और उसके तुरन्त बाद कविता-पाठ शुरू होगा। इसके बाद कोई बीस मिनट लग गये मंत्रियों को मालाएँ पहनाने में। मैंने शुरू में आयोजकों को समझाना चाहा था कि वे क्यों न प्रधान-मंत्री से दो शब्द कहलाकर सीधे कवि-सम्मेलन शुरू कर दें। पर उनकी बातों से पता चला कि उन्हें शिक्षा-मंत्री तथा एक दूसरे महारथी को भी खुश करना था। कवि-सम्मेलन के भाषणों के श्रीगणेश की धृष्टता मुझसे ही करवायी गयी। सभी कवियों को नीचे बैठे पाकर मेरे भीतर जो अजीब-सा भाव पैदा हो रहा था उसे तो व्यक्त करने से मैं अपने को रोक नहीं सकता था पर.......... । पर अपने उन मित्रों के अनुरोध का भी तो मुझे ख़्याल रखना था। वे किसी भी हालत में नहीं चाहते थे कि सम्मेलन में उपस्थित कोई भी मंत्री

नाराज़ या नाखुश हो। मेरे ठीक सामने बैठे थे पंडित घूरा जो कि अपनी ख़ामोशी के बावजूद मुझे सचेत करते-से लग रहे थे कि मैं कोई भी ऐसी बात न कर जाऊँ जिससे आयोजकों के उद्देश्यों में किसी तरह की अड़चन पैदा हो जाये।

कार्य-संचालक के द्वारा बोलने का आमन्त्रण पाकर मैं अपनी जगह से उठा और माईक के सामने पहुँचा। मुझे औपचारिक भाषण के अलावा एक बात कहनी थी, पर कैसे कहूँ यही सोचने में लगा हुआ था। मेरे सामने यह उधेड़बुन थी कि कहूँ या न कहूँ। कहना आयोजकों के हित में नहीं था और न कहने का मतलब था अपने भीतर एक नासूर को बढ़ते रहने के लिये छोड़ देना। हम लोग कवि-सम्मेलन में पहुँचे थे और मंच पर एक भी कवि को स्थान नहीं दिया गया था। कार्यक्रम के तहत उन्हें एक-एक करके बुलाने की बात थी। वे बारी-बारी से मंच पर आकर अपनी कविता सुना कर अपनी जगह को लौट जाते। मैं न तो आयोजकों की स्थिति को नाजुक करना चाहता था, न ही अपने कवि दोस्तों को उस तरह अपमानित देखने को तैयार था। इसलिये माईक के सामने पहुँचने से पूर्व ही मैंने तय कर लिया था कि बात तो मुझे करनी थी, पर कैसे अभी सोच नहीं पाया था। पन्द्रह मिनट के छोटे से भाषण के बाद मैंने अपने सामने के लोगों को ग़ौर से देखा, फिर मंच पर के लोगों को। जो लोग मुझे सुनने के आदी थे, वे कुछ निराश से लगे। वे जो कुछ मुझ से सुनने का बेताबी से इंतजार कर रहे थे, वह सुनने को मिला ही नहीं। पर मेरा भाषण अभी समाप्त नहीं हुआ था और उसके दो वाक्य बाक़ी थे, इसलिए मैंने पहले अपने सामने के कवियों और सुनने वालों की ओर देखा, फिर प्रधान-मंत्री की ओर और तब कहा, " इस आयोजन में एक ही बात का दु:ख है मुझे। यहाँ राजनेताओं के स्थानों पर कवियों को बैठाया गया है और कवियों की जगहों पर राजनेताओं को।"

तालियाँ बजीं और तालियाँ नहीं भी बजीं। अपने स्थान को लौटते हुए मैंने प्रधान-मंत्री को शिक्षा-मंत्री से बातें करते पाया। दूसरे ही क्षण बाद शिक्षा-मंत्री ने कार्यसंचालक के कान में कुछ कहा और फिर देखते-ही-देखते मंच पर कोई दस कुर्सियाँ आ गयीं। कार्यसंचालक इस बार अधिक न बोलते हुए माईक के सामने इतना कहकर अपनी जगह पर बैठ गया, "अब आप के सामने उपस्थित हो रहे हैं हमारे शिक्षा-मंत्री जी।" माईक के सामने आते ही शिक्षा-मंत्री ने लोगों को सम्बोधित के बाद कहा, "मेरा यह अनुरोध है कि सामने बैठे सभी कवि मंच पर आ जायें। वे पहले अपनी जगह ले लें, उसके बाद ही मैं आपके सामने दो शब्द रखूँगा।"

कवि-सम्मेलन में कविता सुनाने वाले वे सभी कवि मंच पर आ गये। भाषणों के बाद कवियों ने अपनी-अपनी कविताएँ सुनायीं। उसके बाद जलपान की व्यवस्था थी, जिसके दौरान कुछ लोग जो कुछ हुआ था उस पर चर्चा करते हुए खुशी व्यक्त कर रहे थे। कुछ लोग मुझे इस तरह देख रहे थे कि जैसे कि मैं कोई विजेता था और कुछ लोग इस तरह देखे जा रहे थे, गोया मैंने उनके लिये कोई बहुत बड़ी समस्या खड़ी कर दी थी। मैंने किसी को यह कहते भी सुना, "अभिमन्यु को माला नहीं पहनाई गयी, इसलिए नाखुश होकर उसने ऐसा किया।"

(पाँच)
'आयाम' की एक गोष्ठी

उन दिनों मेरे द्वारा स्थापित 'आयाम' की साहित्यिक गतिविधियाँ अपनी पराकाष्ठा पर

थीं। हमारी गोष्ठियाँ कभी पहाड़ी के बीच होतीं तो कभी समन्दर के किनारे। कभी जंगल के बीच तो कभी नगरपालिका भवन में। वह सक्रियता के दिन थे और नये रचनाकारों की सक्रियता ही का परिणाम रहा कि 'आयाम' ही के नाम से मैंने टेलीविजन पर भी उन साहित्यिक परिचर्चाओं को पाक्षिक रूप से प्रस्तुत करना शुरू किया। उस दौरान मॉरिशस के स्थापित और नवोदित रचनाकारों की अभिनीत प्रस्तुति के लिये हम कभी ऐतिहासिक खंडहरों के बीच होते तो कभी पॉम्पलेमूस के हरे-भरे बाग में। पर इसका सबसे आत्मीय रूप तब सामने आया जब हमारा मिलना लेखकों के घरों में शुरू हुआ। वह कभी मेरा घर होता तो कभी सोमदत्त बखोरी जी का, कभी मुकेश जीबोध के यहाँ तो कभी पूजानन्द के घर पर।

इन्हीं साहित्यिक गोष्ठियों के दौरान सुमति सिन्धू, हेमराज सुन्दर तथा रामदेव धुरन्धर जैसे प्रतिभाशाली रचनाकार सामने आये। उन्हीं दिनों मॉरिशस के लेखकों और लेखिकाओं की कृतियों के विशेषांक 'सारिका', 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' तथा और भी कई भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहे। जैनेन्द्र जी उस समय डॉ. कमल किशोर गोयनका जी के साथ 'प्रेमचंद समारोह' के दौरान मॉरिशस में थे। उन्होंने जब अपने प्रकाशन-गृह 'पूर्वोदय प्रकाशन' के लिये मेरे एक उपन्यास की माँग की तो मैं एक धृष्टता कर बैठा था, जिसका परिणाम यह रहा कि वे मेरी धृष्टता भरी शर्त को मान बैठे और मेरे उपन्यास के साथ रामदेव धुरन्धर के प्रथम उपन्यास को भी प्रकाशित करने को तैयार हो गये।

इस साहित्यिक यात्रा के तहत हम देश के इस छोर से उस छोर तक जाते रहे और प्रतिभाओं को प्रकाश में आते देखते रहे। मुकेश जीबोध से पहली बार मेरी भेंट इन्हीं गोष्ठियों के दौरान मोंताई ब्लांश के सामाजिक सुरक्षा केन्द्र में हुई थी। अगर मुकेश मेरी रचनाओं से प्रभावित था तो आगे चल कर मैं उस की बागवानी से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। ठीक इसी तरह पूजानन्द भी मेरे सम्पर्क में मेरी रचनाओं के ज़रिये पहुँचा तो मैं भी, चाहे मैं बहुत पहले ही से फोटाग्राफी के साथ जुड़ा हुआ था, पूजानन्द की फोटोग्राफी से काफ़ी प्रेरित हुआ। पर त्रासदी यह हुई कि उसने फोटोग्राफी छोड़ दी, जबकि वह मुझसे बेहतर फोटोग्राफर था और मैंने अपने इस खर्चीले शौक को बनाये रखा। ख़ैर, यह यादगार पूजानन्द के घर हुई 'आयाम' की साहित्यिक गोष्ठी की है।

'लाफ्लोरा' जो कि मेरे अपने गाँव से एकदम द्वीप के दूसरे छोर पर स्थित है, त्रिओले से एकदम भिन्न मौसम लिए होता है। उस दिन भी ठंड ज़ोरों की थी। उस ठंड-भरे मौसम में पूजानन्द ने हमारे सामने ठंडी बीयर की बोतलें और ग्लास रख दिये। साहित्यिक चर्चा और बीयर का दौर एक साथ शुरू हुआ और वह एक ही रफ़्तार के साथ चलता रहा। पूजानन्द की पत्नी माया ने पकौड़े इतने अच्छे तैयार किये थे कि उसके साथ बीयर की बारियाँ भी बढ़ती गयीं। दो-तीन मित्रों की तरह मुझे भी बीयर चढ़ गयी-सी प्रतीत होने लगी और मैंने अपने ग्लास को धीरे से मेज़ के नीचे रख दिया। साहित्यिक चर्चा, बहस और कोलाहल का रूप ले चुकी थी और मुझे उसका रूख बदलने के लिए कहना पड़ा।

"पूजानन्द, तुम अपनी कोई नयी कविता तो सुनाओ।"

वह शायद हमारा दोस्त दयाल था जो बोल उठा कि पूजानन्द की कविताएँ तो हम हमेशा सुनते रहे हैं, क्यों न वह हमें अपनी कोई कहानी सुनाये। उसके इस अनुरोध पर ज़ोर देते हुए मैं भी कह उठा, "हाँ यार! आज तुम अपनी कोई नयी कहानी सुनाओ।"

पूजानन्द को जैसे इसी अनुरोध का इन्तज़ार था। वह झट उठा और दूसरे कमरे में चला गया। दूसरे ही क्षण बाद वह अपनी नयी कहानी के साथ हमारे बीच आ गया। वह कहानी शुरू करने को ही था कि उसकी पत्नी माया अपनी हल्की मुस्कान के साथ सामने आ गयी और बोली, "खाना तैयार है।" और जब मैंने कहा कि कहानी सुनने के बाद हम लोग खाना खायेंगे तो वह बोली, "इस ठंड के मौसम में आप लोग ठंडा खाना खायेंगे क्या?"

पूजानन्द को अपनी कहानी को फिर से फाइल में रखते हुए जो हल्का-फुल्का दु:ख हुआ उसकी झलक मैंने उसके चेहरे पर ज़रूर देख ली। एक मेज़ के साथ दूसरी मेज़ जोड़ी गयी। बारी-बारी से विशेष तैयारियाँ मेज़ पर आती गयीं। पहले सब्जियाँ आयीं, फिर मसालेदार मुर्गी, इसके बाद टमाटर शोश में झींगे। गरम चावल, गरम पराठे और खाना शुरू हुआ। सचमुच सारे पकवान एक-से-एक बढ़कर थे। हम सभी ने जी भरकर खाया। खाते समय सबसे ज़्यादा और सबसे ऊँचे स्वर में रघुनाथ दयाल ही बोलता रहा था।

कोई घण्टे-भर बाद ही पूजानन्द नेमा को फिर से अपनी कहानियों वाली फाईल खोलकर अपनी नयी कहानी बाहर निकालने का वह दूसरा अवसर मिला।

मैंने पन्नों की संख्या का अनुमान लगाया और यह जानते देर नहीं लगी कि वह कहानी काफ़ी लम्बी थी। कहानी पहले ही पन्ने पर थी जब पता चला गया कि वह हिरण के शिकार के दौरान की कहानी थी। शुरू में कहानी जो रोचकता लिए हुए थी, वह तीसरे पन्ने के उलटने के बाद से कुछ कम होने लगी थी या यह भी हो सकता था कि बीयर की हल्की खुमारी के कारण मैं उसे सुनने में पूरा ध्यान नहीं लगा पा रहा था। कहानी ने जब पाँचवें पृष्ठ को पार किया तो मेरी बगल का साथी ऊँघने लगा। मैंने उसे धीरे से झकझोर कर स्वयं को फिर से कहानी में ध्यान देने के लिए सचेत किया। दो-तीन दोस्त आँखें मूँदे कहानी सुन रहे थे जिससे यह पता लगाना कठिन था कि वे ऊब कर सो रहे थे या सचमुच कहानी का सच्चा आनन्द ले रहे थे। जब पूजानन्द सातवें पृष्ठ को पलट रहा था तो मुकेश जीबोध ने धीरे से मेरे कान में कहा, "लो भुगतो!"

दूसरी ओर से शायद रामदेव की आवाज़ रही होगी वह।

"इससे बेहतर तो यही होता कि हम इसकी दस-बारह कविताएँ ही सुन लेते।"

ख़ैर, कहानी को तो समाप्त होना ही था, वह तो होकर रही। कहानी समाप्त करके पूजानन्द ने बारी-बारी से सभी की ओर देखा। उसका अनपूछा सवाल स्पष्ट था। पहला जवाब दयाल का रहा, "अतीव रोचक।"

मुकेश बोला, "इसे तो 'सारिका' में छपने के लिए भेजना चाहिए।"

सभी ने मेरी ओर देखा।

मैं जानता था कि अंतिम प्रतिक्रिया मेरी ही माँगी जायेगी। बीयर की उस खुमारी में मैं पूरी कहानी तो नहीं सुन पाया था, पर प्रतिक्रिया तो देनी थी। सोचने लगा—पूजानन्द ने हमें बीयर पिलायी, इतना स्वादिष्ट भोजन खिलाया। रसोई से कॉफी की सोंधी गंध आने लगी थी। इन सभी बातों को ध्यान में तो रखना ही था। आधी सुनी कहानी पर आधी प्रतिक्रिया से तो काम नहीं चलने का, इसलिए मुझे कहना ही पड़ा, "यार! यह तुम्हारी अब तक की सबसे बेहतरीन कहानी है।"

यह तो बहुत बाद में पता चला कि मैं उस धर्म-संकट के क्षण में झूठ न बोलकर सच ही बोल गया था।

(छः)

अज्ञेय जी का वह प्रश्न

उस सुबह दिल्ली में ज़ोरों की ठंड थी।

अज्ञेय जी के सम्पर्क में आने के कई अवसर मिले थे। पहली बार दिल्ली की एक गोष्ठी में मिलने का सौभाग्य रहा जिसका आयोजन मेरे प्रकाशक सुरेन्द्र मलिक की ओर से हुआ था। एक तरह से गोष्ठी न होकर एक क्रॉस एक्ज़ामिनेशन जैसा था। मैं जिन विभूतियों से घिरा हुआ था उन सभी के भीतर मेरे छोटे-से द्वीप के प्रति जो जिज्ञासाएँ थीं वे तो उसी क्षण जानने को मिल गयी थीं जब हमारे बैठने से पहले मैं उन लोगों के आपस में एक-दूसरे से प्रश्न करते सुनता रहा। कोई चालीस-पचास लेखकों, पत्रकारों और विद्वानों के बीच अपने को तो पहले ही से मैं बोना पा रहा था और जब मॉरिशस के भारतीय वंशजों, उनके जीवन मूल्यों, संस्कृति, भाषा, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों पर जब प्रश्नों की बौछार शुरू हुई भी तो अपनी औकात का और भी लाघव अहसास हुआ था। उपस्थित हस्तियों में से कई लोगों से काफ़ी हाऊस में पहली बार मिल चुका था। उनमें से कुछ लेखकों से शीला जी के घर और राजकमल प्रकाशन के दफ़्तर में भी मिलने के अवसर मिले थे। कुछ लोगों से अक्षर प्रकाशन के राजेन्द्र यादव के दफ़्तर में भी मिलता रहा था। जो तीन लेखक पहली मुलाकात से ही अपनापन का अहसास दिये बैठे हुए थे, वे थे विष्णु प्रभाकर जी, हरिवंशराय बच्चन जी और अज्ञेय जी। विष्णु जी से तो उनके घर कुण्डेवालान जाकर मिलता रहा था। बच्चन जी से तो भारत की पहली ही यात्रा के दौरान दिल्ली के उनके निवास पर एक अविस्मरणीय शाम बिताने का मेरा सौभाग्य रहा था। उसी रात डॉ. कर्णसिंह से उनके घर पर उनसे पहली बार मिला था और उनके और उनकी पत्नी के उस आतिथ्य के माधुर्य को जाना था, पर अज्ञेय जी से वह मेरी पहली भेंट थी। उस पहले अवसर पर अज्ञेय जी के साथ व्यक्तिगत रूप से बात हो ही नहीं पायी थी। 'नेशलन पब्लिशिंग हाउस' की उस गोष्ठी के बाद और भी कई अवसरों पर अज्ञेय जी से मिलता रहा, पर उन सभी अवसरों में जो सबसे अधिक माने रखता है वह तब की मुलाकात है जब उनके घर पर उनसे मिला। उस दिन भी सुरेन्द्र मलिक के साथ ही वहाँ जाना हुआ था। उनके श्वेत भवन के पार्श्व के पेड़ पर उनका वह हवामहल निवास के लिए तैयार था। उसी की सीढ़ियों के नीचे मैंने यायावर सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय के मधुर स्वर की वह प्रतिध्वनि सुनी—'मैंने कहीं हवाओं को बाँधकर एक घर बनाया है।'

अज्ञेय जी लेखकों के एक शिविर से लौटे थे। सुरेन्द्र मलिक के हाथों से 'नया प्रतीक' के नये अंक के पन्नों को उलट-पलट कर देखने के बाद उन्होंने वह प्रति मुझे थमा दी। इस बीच इला जी भी सामने आ गयी थीं जिनसे एक दिन पहले ही मैं 'इंडिया इंटरनेशनल सेन्टर' में मिल चुका था। हमारी बातचीत के दौरान स्वयं इला जी ने चाय के साथ हमें गाजर का हलवा परोसा जो कि एकदम नये प्रकार का था। अज्ञेय जी ने खुद बताया कि वह गाजर के हलवे को इस तरह दूध के साथ तरल रूप में अधिक पसन्द करते हैं। दो दिन पहले लोदी होटल में मछली खाने के कारण मुझे एक हल्का-सा फूड पाइज़निंग-सा हो गया था जिसके कारण पेट की खराबी बनी हुई थी। फिर भी मैंने उस हलवे को बड़े चाव से खाया।

बातें होती रहीं। 'शेखर' के अप्रकाशित भाग से लेकर '[illegible]' तक और उसके बाद

मैंने अपने जेबी सोनी टेपरिकार्डर उनके सामने रख कर उनसे अपनी पत्रिका 'वसन्त' के लिए भेंट-वार्ता की माँग की। वह हँसे और अपने सोफे से उठते हुए बोले, "चलो, दूसरे कमरे में चलते हैं।"

पर चूँकि बाहर अचानक धूप निकल आयी थी, इसलिए मैंने अपना निकोन कैमरा इला जी को थमा कर कहा कि हम दोनों की एक-दो तस्वीरें ले ही लें। सौभाग्य से मैं भी एक बहुत अच्छा क्लोज़ अप अज्ञेय जी का लेने में सफल रहा। इसके बाद हम दोनों अज्ञेय जी के अध्ययन-कक्ष में पहुँचे जहाँ कोई घण्टे भर बड़े ही आत्मीय रूप से हमारे बीच बातें होती रहीं। मैंने जब उनसे कविता की वापसी पर प्रश्न छेड़ा तो वे हँस पड़े और बोले, "वापसी की बात तब संगत होती जब कविता कहीं चली गयी होती। असल में, यह तो एक तरह से भ्रांति पैदा करने वाली बात है। ....कविता की वापसी के नाम से जो आंकड़े प्रस्तुत किये जा रहे हैं उसका आधार तो इतना ही है कि अधिक पुस्तकें छप गयी हैं.........मैं तो इसे कविता की नहीं सिर्फ़ संरक्षण की वापसी मान रहा हूँ।"

बाहर धूप फिर से ओझल हो गयी थी और घर के भीतर भी ठंड का अहसास और भी बढ़ गया था। उस ठंड का अहसास मुझ तब और भी अधिक हुआ जब अज्ञेय जी स्वयं मुझसे प्रश्न कर बैठे, "अब आपसे एक प्रश्न मैं करना चाहता हूँ।"

मैंने उनकी ओर देखा। टैप ऑफ़ था क्योंकि रील दम तोड़ चुकी थी। एक क्षण चुप रहकर अज्ञेय जी ने कहा, "आपकी कुछ रचनाएँ यहाँ के पत्र-पत्रिकाओं में देखता रहा हूँ। आप अपनी रचनाओं में आधुनिक मुद्दों को उठाते रहे हैं। आप अपने समय और अपनी और अपने आस-पास की समस्याओं को सही ढंग से सामने रखते रहे हैं।"

वह फिर चुप होकर मेरी और देखने लगे। उनका मेरे प्रति 'आप-आप' का सम्बोधन मुझे कुछ लज्जित-सा कर रहा था। और अब तक जिस प्रश्न की बेताबी मेरे भीतर थी वह सामने आया ही नहीं था, इसलिए मैं अधीरता के साथ उनको देखता रहा। उनके चेहरे और आँखों पर फिर एक बार मुस्कान थिरकी और वे पूछ बैठे, "तुम्हारा 'लाल पसीना' पढ़ा। अच्छा लगा पर क्या कारण है कि जिस सत्य को जीया नहीं, खुद देखा नहीं, उसकी यातना को स्वर देने की सोची?"

मैं तो पहले ही से सहमा हुआ था। इस अप्रत्याशित प्रश्न ने तो मुझे फिर से अपने बौनेपन का अहसास दिला दिया। अज्ञेय जी ने मेरी स्थिति को समझकर अपने प्रश्न को और भी सरल करके आगे कहा, "जिस यातना को आपने नहीं झेला, जो कोड़े आप पर नहीं बरसे, उसकी अभिव्यक्ति आप कैसे कर पाये?"

इसी बीच मैंने अपने को उत्तर के लिए तैयार कर लिया और बस बोल गया, "मैंने उन क्षणों को शारीरिक रूप से तो नहीं जीया, पर जब अपने माँ-बाप से राजा-रानियों और परियों की कहानियाँ सुनने से इन्कार करके उनसे उनके अपने और अपने दादा-दादी और नाना-नानियों की कहानियाँ सुनता रहा तो उनके आँसुओं के साथ मेरे भी आँसू बहे। यातना-शिविर में रहे वृद्ध लोगों से मैंने बातें करके भारतीय आप्रवासी मज़दूरों की यातनाओं को सुना और, उनके एक-एक क्षणों को मानसिक रूप से जीता भी रहा, गन्ने के खेतों के उन भीगे कोड़ों की बौछारों का असर अपने ज़ेहन में महसूसता रहा और......... ।"

तभी एकाएक अज्ञेय जी ने मेरे दोनों हाथों को अपने हाथों में कस लिया।

वह मुझे देखते रहे और मैं उन्हें देखता रहा। मेरे जीवन में ख़ामोशी शायद ही कभी इतनी ऊँचाइयों तक पहुँची हो।

(सात)
वाराणसी का तीसरा दिन

मेरी तीसरी बनारस यात्रा का वह तीसरा दिन था। दो पिछले दिनों में मैं अपनी पत्नी के साथ सारनाथ और प्रेमचंद के जन्म-स्थान लमही हो आया था। सारनाथ ने मन को जितनी गहरी शान्ति दी थी, लमही में प्रेमचंद-स्मारक की दयनीयता ने उतना ही गहरा दुःख दिया था। देश के इस महान लेखक का वह ऐतिहासिक स्थल उजड़ा पड़ा था। दूसरे दिन जब मेरी भेंट आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी से हुई तो भी लमही की याद मेरे जेहन में चिपकी हुई-सी थी। अपनी पत्रिका 'वसन्त' के लिए उनसे बातचीत करते समय मैं उनसे यह पूछे बिना नहीं रह सका कि आख़िर क्या कारण है कि भारत सरकार लमही को एक ऐतिहासिक महत्त्व के स्थल की तरह रखने में असफल है। आचार्य द्विवेदी जी की ख़ामोशी ऐसा उत्तर था जो कि अपने में एक भारी पीड़ा लिये हुए था। इस बात का अनुभव मेरे साथ वहाँ उपस्थित सरिता, प्रेमचंद के पौत्र विजय राय और मॉरिशस के मेरे मित्र लोचन बिदेशी ने भी किया जो कि उन दिनों बनारस विश्वविद्यालय में पढ़ रहे थे। ख़ैर, डॉ॰ द्विवेदी जी के साथ की लम्बी बातचीत और स्नेह से उस लज्जाजनक ख़्याल से अपने को मुक्त कर सका।

दूसरे दिन हम दोनों को वाराणसी छोड़कर दिल्ली पहुँचना था। इसलिए इंडियन एअर लाइन्स के टिकट का रिकन्फ़र्मेशन ज़रूरी था। हमारे होटल से एअर लाइन्स का दफ़्तर बहुत अधिक दूरी पर नहीं था। वाराणसी की मेरी तीसरी यात्रा होने के कारण मुझे जगह की जानकारी अच्छी तरह थी। लेकिन इससे पहले सरिता को अपनी खरीददारी पूरी करनी थी। कोई नौ बजे नाश्ते के बाद हमें विजय राय और लोचन के साथ विश्वनाथ मन्दिर जाना था। फिर वहाँ से गोदोलिया और पीली कोठी में कुछ खरीदारी करनी थी। सुबह भारी ठंड लिये हुई थी, इसलिए हम दोनों धूप में बैठे इन्तज़ार करते रहे। टैक्सी समय पर पहुँच गयी थी और कोई पन्द्रह मिनट बाद लोचन और विजय भी चन्द मिनटों के अन्तराल के बाद आ गये। विजय ने आते ही मेरे हाथ में 'आज' की प्रति थमा दी। एक दिन पहले आज के सम्पादक राम मोहन पाठक के साथ मेरी जो भेंटवार्ता हुई थी, वह अख़बार में चित्र के साथ छपी थी। उस पर एक सरसरी नज़र दौड़ाकर हम लोग विश्वनाथ मन्दिर की ओर निकल पड़े। विश्वनाथ मन्दिर, मानस-मन्दिर और हिन्दी-प्रचारिणी सभा तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का दौरा हम लोग पहले ही दिन कर चुके थे। गोदोलिया से कुछ दूरी पर ही वहाँ की भारी भीड़ के कारण हमें टैक्सी से रूखसत लेनी पड़ी। वहाँ से पैदल चलकर हम लोग उन संकरी गलियों में पहुँचे जहाँ की विविध दुकानें अपनी एक अलग ही ख़ासियत रखे हुई थी। चूड़ियों, कंगनों और शृंगार के विभिन्न प्रसाधनों का उतना बड़ा बाज़ार शायद ही कहीं और देखने को मिले। लोचन ने हमारी मुलाकात मॉरिशस के सामी नामक एक व्यक्ति से करवायी जिसने हमसे क्रियोली और भोजपुरी में बातें की। वह व्यक्ति कोई तीस वर्ष से बनारस में बसा हुआ वहीं अपनी चूड़ियों की दुकान चला रहा था। जिन चूड़ियों के दाम हम लोगों को दूसरी दुकानों में दस से पन्द्रह रुपये दर्जन बताये गये थे सामी के यहाँ हमें सात रुपये में मिलीं। विश्वनाथ मन्दिर के इलाके में कोई दो घण्टे बिताने के बाद हम लोग पीली कोठी पहुँचे और लोचन जी कि विजय से अधिक जानकारी रखता था, हम तंग और कीचड़ से भरी

गलियों से ले जाते हुए जुलाहों की बस्ती में ले गया। वहाँ हमने सुखद आश्चर्य के साथ रेशमी धागों के कलाकारों को अपनी जादुई अँगुलियों से साड़ियाँ बुनते देखा। उनके उस कला-कौशल से हम मुग्ध थे। कुछ आगे कुछ ही दूरी पर लोचन के परिचित अयूब की रेशम की साड़ियों की दुकान थी। लोचन की अयूब से अच्छी दोस्ती थी। अपनी बातों के दौरान अयूव फ्रेंच शब्दों का हिन्दी उच्चारण के साथ प्रयोग कर रहा था। उसने बताया कि बनारस में पढ़ रहे मॉरिशस के सभी विद्यार्थी अयूब की दुकान से ही साड़ियाँ खरीदने के आदी थे और यही कारण था कि उसे क्रियोली और फ्रेंच के कई शब्द आते थे और हर नयी साड़ी दिखाते हुए वह अपने तक़ियाकलाम को भूलता नहीं था—सा ब्यें ज़ोली, याने कि बहुत सुन्दर है। दो दिन पहले जब हम लोग गंगा में सुबह नाव-विहार करते हुए सुनहली किरणों वाले सूर्योदय देख रहे थे उस समय भी जो गाईड हमारे नाव में था, अपने साथ के फ्रांसीसी सैलानियों से यही कहे जा रहा था—त्रे ज़ोली। वैसे तो देखने में अयूब बीस बाईस साल से अधिक का नहीं था, पर बोलता था बूढ़ों की तरह। उसने हमारे लिए मलाई वाली कॉफी मँगवाई और अपने पुरखों की कहानी सुनाने लगा जो जुलाहे थे। उस की दुकान से हमने जो चार साड़ियाँ खरीदीं उनका शायद उस क़ीमत पर कहीं मिलना सम्भव नहीं था।

चार बजे के क़रीब हम लोग वापस आये। लोचन और विजय ने रास्ते ही में यह कहकर हमसे विदाई ले ली थी कि सुबह वे लोग नौ बजे हमारे पास पहुँच जायेंगे। साढ़े नौ बजे हमें काशीनाथसिंह जी से मिलना था। घण्टे भर आराम के बाद मैं और सरिता होटल से बाहर आये। सरिता ने अब तक रिक्शे से यात्रा नहीं की थी, इसलिए मैंने एक रिक्शे वाले को रोका और कहा, "हमें इंडियन एअर लाइन्स ले चलो।"

हम दोनों रिक्शे पर सवार हो गये। भीड़ से अलग एक धूल-धूसरित रास्ते से रिक्शे को निकालते हुए रिक्शे वाले ने बिन हमारी ओर देखकर कहा, "आप अभिमन्यु अनत जी हैं।"

मुझे और सरिता दोनों को हैरानी हुई और मैंने झट पूछा, "तुम्हें कैसे मालूम।"

"अख़बार में आप दोनों की तस्वीरें हैं।"

इस बीच हम लोग फिर से भीड़ वाली सड़क पर आ गये थे। आगे ट्रेफिक जाम होने के कारण रिक्शे को रुक जाना पड़ा। दो अधनंगे बच्चे हाथ फैलाये हमारे सामने आ गये। रिक्शे वाले ने उन्हें भगाना चाहा, पर तब तक सरिता उनके हाथों पर सिक्के रख चुकी थी। रिक्शे को आगे बढ़ाते हुए रिक्शे वाले ने कहा, "मैंने आपका 'लाल पसीना' पढ़ा है।"

पहले तो मुझे विश्वास नहीं हुआ। सोचा कि इसने आज के अख़बार से 'लाल पसीना' की चर्चा पढ़ी होगी, लेकिन तभी उसने आगे कहा, "मज़दूरों पर हुए अत्याचारों के बारे में पढ़ते हुए हृदय कराह उठता है। क्या अब भी मॉरिशस में गोरे ही लोगों का राज है?"

"लगता है, तुमने सचमुच 'लाल पसीना' पढा है।"

"क्यों बाबू, आपको विश्वास नहीं हो रहा इसलिए कि मैं रिक्शा चलाने वाला हूँ।"

उसकी इस बात से मैं शर्मिन्दा हो गया, "मेरा मतलब......... ।"

मैं अपना वाक्य पूरा नहीं कर सका। वह बोला, "मैंने 'लाल पसीना' सारिका में पढ़ा था धारावाहिक रूप में और बाद में पुस्तक रूप में भी। संयोग से मेरा नाम भी किसनवा है। मैं आपकी कई चीज़ें पढ़ता रहा हूँ।"

इससे पहले भी मैं अपने पाठकों से मिलता रहा था। कई से बातें भी की थीं, पर इस तरह

की खुशी कभी नहीं हुई थी। कभी भी सोचा नहीं था कि एक रिक्शे चलाने वाले से मुझे 'लाल पसीना' की चर्चा सुनने को मिलेगी। मैं उससे और भी बातें करना चाहता था, पर हम लोग इंडियन एअर लाइन्स के विस्तृत आँगन में पहुँच गये थे। रिक्शे से उतर कर मैं 'लाल पसीना' के उस पाठक को देखता रहा। पच्चीस-तीस से ज्यादा की उम्र का नहीं था। चेहरे पर चार-पाँच दिन की बढ़ी हुई दाढ़ी थी जिसके कारण थकान का रंग और भी उभर आया था, लेकिन उसकी आँखों में एक चमक थी जो मुझे बहुत अच्छी लगी, पर मैं उसको उसकी रोजी से रोकने का साहस नहीं कर सका।

एक आख़िरी मुस्कान के साथ उस के चले जाने के बाद मैंने सरिता से कहा, "मुझे उससे और भी बातें करनी चाहिए थीं। कम-से-कम उससे उसका पता तो पूछ लेना चाहिए था।"

जब तक वाराणसी नहीं छोड़ी तब तक उम्मीद बनी रही कि शायद वह रिक्शे वाला एक बार फिर मिल जाये।

(आठ)
डॉ. धर्मवीर भारती के साथ की दो यादें

डॉ. धर्मवीर भारती जी से मेरी पहली मुलाक़ात उस समय हुई थी जब मेरा पहला उपन्यास 'और नदी बहती रही' राजकमल प्रकाशन प्रेस में दे चुका था लेकिन उससे पहले पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हम दोनों एक दूसरे से परिचित थे। मेरी रचनाएँ भी 'धर्मयुग' में छपनी शुरू हो गयी थीं। यह पहली भेंट मेरी पहली भारत-यात्रा के दौरान कमलेश्वर जी के घर हुई थी। इसके बाद मेरी कोई भी ऐसी भारत-यात्रा नहीं रही जब मैं उनसे न मिला हूँ। ये मुलाकातें कभी उनके घर होती रहीं, कभी मित्रों के यहाँ। मॉरिशस के हिन्दी रचनाकारों के प्रति उनका प्रेम बहुत ही गहरा था। उनके साथ के बहुत सारे अविस्मरणीय क्षणों में उनकी दोनों मॉरिशस यात्रा की यादें अधिक महत्त्व रखती हैं। पहले वाले 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' में तो उनका बस भीड़ में आना और भीड़ में जाना हुआ था। 'द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन' तो तमाशा ही अधिक था, इसलिये तमाशों के आनन्द लेने में मॉरिशस को यह जानने-समझने का समय ही नहीं मिला कि उस भूमि पर पहली बार गंगा ने हिलारें ली थीं। सौ से अधिक भारतीय लेखक, उपन्यासकार, कवि, नाटककार, पत्रकार, समीक्षक तथा अन्य विद्वान बस आये और चले गये और जब चले गये तब मॉरिशस को यह पछतावे भरा अहसास हुआ कि गंगा आयी और चली गयी, कोई डुबकी भी नहीं ले पाया। ख़ैर! मैं यहाँ डॉ. भारती जी की उस यात्रा की एक याद प्रस्तुत करने जा रहा हूँ जिसे भुला पाना असम्भव है।

डॉ. भारती और पुष्पा भाभी मॉरिशस की संस्था 'त्रिवेणी' के मेहमान थे। खेर जगतसिंह तब शिक्षा-मंत्री थे और उन्हीं के यहाँ ये दोनों ठहरे हुए थे। उन पन्द्रह दिनों में कोई भी ऐसा दिन नहीं रहा जब उनके सामीप्य से दूर रहना पड़ा हो। 'गंगावतरण' में (यह जगतसिंह के घर का मेरी दिया हुआ नाम था) हम लोग चाय पी रहे थे तब तक डॉ. भारती मॉरिशस को काफ़ी देख चुके थे। गाँवों और लोगों से मिल चुके थे और उन मुलाक़ातों का ही परिणाम था कि उस तोहफ़े को वे हमारे सामने रख पाये। चाय के प्याले को मेज पर रखने के बाद उन्होंने अपनी

बगल में पड़ी हुई राईटिंग पैड के बीच से उस पन्ने को निकाला और कहा, "अभिमन्यु ! यह कविता मैंने रात में लिखी। कल दिन में तुमने इतिहास के जिस साक्षी से मुझे मिलाया उसी की प्रेरणा है यह।"

कमरे में दस-बारह लोग थे जिनमें मोहन महर्षि और अंजला भी थी। एक दिन पहले भारती जी हमें बता चुके थे कि भारत लौटते ही वे 'धर्मयुग' का एक मॉरिशस विशेषांक निकालेंगे। कविता पढ़ने से पहले उन्होंने फिर एक बार मुझसे ही बात की। वे बोले, "यह प्रति मैं तुम्हें छोड़ जाऊँगा। तुम इसकी कॉपी बना कर मुझे दे देना, ताकि इसे 'धर्मयुग' में दे सकूँ।" उन्होंने मॉरिशस पर लिखी अपनी कविता 'खोनारू चाचा' पढ़ी। हम सभी सुनने वाले घसीट लिये गये इतिहास के उस धुँधलके से आ रहे प्रकाश-पुंज की ओर। सचमुच वह बहुत प्यारी कविता थी और मॉरिशस की उस बैठक में उपस्थित चन्द लोगों के लिये एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। भारतीय जनता, विशेषकर 'धर्मयुग' के पाठकों से बहुत पहले हमें 'सोनारू चाचा' की आवाज़ सुनने को मिली थी।

पढ़ने के बाद भारती जी ने वह कविता मेरे हाथों पर रख दी और मैंने उसे माथे से लगा लिया। दु:ख है कि वह 'खज़ाना' आज मेरे पास नहीं है। मोहन महर्षि, जो यहाँ के रंगकर्मियों के बीच अपने नाट्य-प्रशिक्षण को पूरा करके लौटने लगे थे, यह माँग कर बैठे थे, "सोनारू चाचा' की पांडुलिपि तुम मुझे दे दो।"

"क्यों ?"

"तुम्हारे पास तो भारती जी की कई हस्तलिखित चिट्ठियाँ पहले ही से हैं।"

मुझसे इंकार नहीं किया जा सका। न चाह कर भी मैंने वह निशानी मोहन को भेंट कर दी।

दूसरी अविस्मरणीय घटना तब की है जब हम लोग भारती जी और पुष्पा भाभी को छोड़ने प्लेजांस के हवाई अड्डे पहुँचे। गुमसुम मौसम था, उस विदाई की उदासी लिये। हम लोग वी. आई.पी. लाऊंज में थे। भारती जी ने उस दिन तीसरी बार मुझसे कहा कि मैं 'धर्मयुग' के मॉरिशस विशेषांक के लिये अपना लेख भेजना न भुलूँ। दो दिन पहले समुद्र किनारे जो तस्वीरें ली गयी थीं उन्हें भेजने की भी उन्होंने याद दिलाई। जगतसिंह अपने विधानसभा का सत्र छोड़ कर विदाई के लिये आ गये थे। उन्हीं के साथ मैं, मोहन महर्षि तथा दो अन्य लोग भारती जी और पुष्पा भाभी को जहाज़ तक छोड़ने गये। हम सभी से गले मिल कर जब वे जाने लगे तो लगा कि उनकी आँखों में आँसुओं की झालर थी। सुबह हम लोगों ने नाश्ता एक साथ लिया था, उस दौरान उन्होंने कहा था, "इतनी आत्मीयता ? कैसे बिछड़ेंगे अपने जनों से ? लगता है कि अपना देश छोड़ अब विदेश को जा रहा हूँ।"

इस पर जगतसिंह जी ने कहा था, "आप तो आने के लिए जा रहे हैं।"

हम लोग हवाई जहाज़ से कोई चालीस-पच्चास फुट पर खड़े रहे और भारती जी अलसाई क़दमों से हम से दूर होते गये। उन्होंने अपना पहला क़दम जहाज़ की सीढ़ी पर रखा। हमारी ओर देखा, फिर दूसरे क़दम को ऊपर रखा और फिर एकाएक लौट आये हमारे बीच। जगतसिंह जी से एक बार फिर गले मिलकर उन्होंने मेरी ओर देखा। मेरे दोनों हाथों को अपने दोनों हाथों में ले कर धीरे से कहा, "अभिमन्यु ! 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के दफ़्तर में बैठे-बैठे मैं तुम्हारे यहाँ के संघर्षों के बारे में सोचता रहा था। आज यहाँ के लोगों को जानने और यहाँ के हिन्दी-जगत की मानसिकता को समझने के बाद यह जान सका कि तुम यहाँ

कितनी बड़ी लड़ाई लड़ रहे हो। बस लड़ते रहना है तुम्हें भारत के राजदूत।" इसके बाद वे जहाज़ की ओर बढ़े और एक ही बार मुड़ कर उन्होंने हमारी ओर देखा और भीतर चले गये। बस, उनका वह आख़िरी वाक्य मेरा शक्ति-मंत्र रहा और आज तक लड़ाई ज़ारी है।

(नौ)

नैरोबी : एक दु:खद यादगार

बम्बई से मॉरिशस का मेरा टिकट ओ.के. था, फिर भी सांताक्रुज़ हवाई अड्डे के डिपार्चर काउंटर पर एअर इण्डिया के कर्मचारी ने मुझे बताया कि जहाज़ खचाखच भरा हुआ था और फ्लाईट में सीट पाना मेरे लिये सम्भव नहीं था। यही हालत चेक-इन पंक्ति में खड़े मेरे दो दूसरे देशवासियों की भी थी। इस से पहले उन दोनों में से किसी को भी मैं नहीं जानता था। उस मुसीबत में फँस कर ही हम लोगों ने एक दूसरे का परिचय पाया। पहला व्यक्ति 'महात्मा गांधी संस्थान' के निदेशक का भतीजा था जो विद्यालय की छुट्टियों में अपने देश छुट्टियाँ बिताने जा रहा था और दूसरा हमारे देश के योजना-मंत्री खेर जगतसिंह का भाई था। उन दिनों बम्बई और प्लेजाँस के बीच सप्ताह में एक ही फ्लाईट हुआ करती थी। दिल्ली से लौटने के बाद मैं पैडर रोड के हुसैन मेन्सन में 'नवभारत टाइम्स' के प्रमुख सम्पादक डॉ. महावीर अधिकारी जी के साथ ठहरा हुआ था। वे ही मुझे हवाई अड्डे पर छोड़ने आये थे। हम तीनों व्यक्तियों के टिकट ओ.के. और रीकन्फर्म्ड थे फिर भी जहाज़ में हमारे लिये जगह नहीं थी। काफ़ी लम्बी बहस के बाद पता चला कि अगले सप्ताह के हवाई जहाज़ में भी हमारे लिये जगह की कोई सम्भावना नहीं थी। हम तीनों के काफ़ी संघर्ष के बाद एअर इण्डिया के एक प्रमुख कर्मचारी ने एक रास्ता ढूँढ निकाला जिससे हम लोग चौथे दिन अपने देश को लौट सकते थे। दूसरा कोई उपाय नहीं था इसलिए हम पाकिस्तान से होते हुए नैरोबी में दो दिन ठहर कर वहाँ से मॉरिशस की फ्लाईट पकड़ने के लिए राज़ी हो गये।

मेरे यहाँ घर पर सभी को पता था कि मैं रात में लौटने वाला था। मैंने बहुत कोशिश की कि घर पर फोन करके सरिता को बता दूँ कि जहाज़ में जगह न मिल पाने के कारण अब मैं चार दिन बाद ही मॉरिशस पहुँच रहा था पर लाइन नहीं मिली। अधिकारी जी ने आख़िरी वक़्त तक अपने ढंग से कोशिश की कि मुझे बम्बई-प्लेजांस की फ्लाईट में जगह मिल जाये पर सम्भव नहीं हो पाया। मैंने उन्हें क्रोध में आकर एअर इण्डिया के एक अफ़सर को कोसते हुए सुना, "आप लोग जहाज़ की जगह रिक्शा क्यों नहीं चलाते।"

सेंटूर होटल में जो आठ घण्टे बिताने पड़े उससे भी एअर इण्डिया की प्रबन्ध-संस्कृति की उदासीनता का ही अहसास हुआ। यात्रा की यह एक दु:खद यादगार तो थी लेकिन इससे आगे खुशियों के बीच की जो एक यादगार ज़ेहन में आज भी चिपकी हुई है वह इससे भी दु:खद रही। प्लेन के टेक-ऑफ से पहले ही परिचारिका की अंग्रेज़ी लहजे की हिन्दी में हमें यह सूचना दी गयी कि पाकिस्तान में आधा घण्टा रुक कर जहाज सीधे नैरोबी के लिये चल पड़ेगा। लेकिन न जाने क्यों वह आधा घण्टा डेढ़ घण्टा होकर रहा और भीतर की गरमी के कारण जब कुछ अन्य यात्रियों की तरह हम भी ट्रांज़िट लाउंज और ड्यूटी फ्री दुकानों पर

जाना चाहा तो हमें जहाज़ छोड़ने की इज़ाजत नहीं दी गयी। ख़ैर, एक लम्बी और ऊब भरी उड़ान के बाद हम लोग नैरोबी पहुँचे। जिस होटल में दो रातें बिताने की व्यवस्था थी उसकी दीवारों के ऊपर ठौर-ठौर पर ठहरने वालों के लिये यह चेतावनी थी कि वे अपनी मूल्यवान वस्तुओं को अपने साथ सम्भाल कर रखें और यह भी हिदायत थी कि गलियों में सावधानी बरतनी अति ज़रूरी है।

जगतसिंह जी का भाई हमारे साथ था। उसकी जान-पहचान का एक व्यक्ति दूसरे दिन सुबह हमें लेने पहुँचा। उसका परिचय मुझसे केवल मिस्टर सिंह कह कर करवाया गया था। वैसे भी अपनी दाढ़ी और पगड़ी से उसका श्रीमान सिंह होना बड़ा स्वाभाविक था। पच्चीस साल से वह नैरोबी में रह रहा था और दो कारख़ानों का मालिक था। हम लोग दिन-भर उसकी सफ़ारी गाड़ी में सैर करते रहे। आधा दिन तो नेशनल पार्क ही देखते रहने में बीता। इसके बाद हम लोगों ने शहर की कुछ दुकानों के भी दौरे किये। मुझे और हजारीसिंह के भतीजे को कुछ खरीदना तो था नहीं, पर जगतसिंह के भाई ने कई चीज़ें खरीदीं। मैंने पोस्ट ऑफिस से घर पर तार भेज कर सूचना दी कि मैं दो दिन बाद लौटूँगा।

जिस दिन हमें नैरोबी छोड़नी थी उससे एक दिन पहले मिस्टर सिंह ने हमें भोजन के लिये अपने घर ले गये। घर क्या था किसी निजाम की हवेली थी। जीवन में पहली बार लागर पीने की नौबत आयी और फिर उसे कभी न पीने का प्रण भी किया। खाना बहुत बढ़िया था और घर वालों का स्नेह भी मुग्ध कर देने वाला था। एक पारिवारिक माहौल में भारत और मॉरिशस पर देर तक बातें होती रहीं। श्रीमती सिंह की एक जिज्ञासा पर मैं उन्हें अपने उपन्यास 'लाल पसीना' की पृष्ठभूमि बताने लगा तो उन्हें बहुत गम्भीर और व्यग्र पाया। लगा कि मॉरिशस के आप्रवासी भारतीय मज़दूरों की यातना-कथा और शक्कर कोठियों के पूँजीपतियों की क्रूरता की संक्षिप्त कहानी से वह द्रवित हो गयी थी। हम लोग जब विदाई लेने लगे तो श्रीमती सिंह ने दिल छू देने वाला एक वाक्य कहा, "उस छोटे-से भारत के बड़े लोगों से मिलने एक दिन अवश्य आयेंगे।" कई क्षणों तक मेरे हाथ जुड़े रह गये थे।

दो विस्तृत कमरों और एक लम्बे गलियारे को पार करके जब हम सीढ़ियाँ उतरने लगे तो मिस्टर सिंह हम तीनों सहयात्रियों से कुछ आगे आ गये। सामने एक अश्वेत औरत अपनी छोटी-सी बच्ची को कांख से जकड़े दूसरे हाथ से सीढ़ियों की सफ़ाई कर रही थी। मिस्टर सिंह ने उसे स्वालिही में कुछ कहा पर हमें लगा कि अपनी धुन में उस औरत ने सुना नहीं। वैसे भी वह झुकी हुई थी, उसका मुँह नीचे की ओर था और उसकी बच्ची रो रही थी। मिस्टर सिंह ने इस बार चिल्ला कर उसे नये सिरे से कुछ कहा। भाषा न समझते हुए भी यह तो मालूम हो गया था कि उस नौकरानी को रास्ते से हटने को कहा जा रहा था। उस औरत ने सिर उठा कर हमारी ओर देखा और अपनी बच्ची के साथ जल्दी से उठने की प्रक्रिया में फिसल कर बीच ही में लुढक गयी। हम लोग पाँच-छह सोपान ऊपर थे। अचानक मिस्टर सिंह के मुँह से निकला, "यू बास्टर्ड!"

और अपने जूते वाले पाँव को उस अश्वेत औरत की पेट के नीचे पहुँचा कर उसने उसे उछाल दिया। बच्ची तो जहाँ थी वहीं रही, पर वह औरत तीन-चार सोपानों से होती हुई नीचे जा गिरी। मैं स्तब्ध रहा। अभी कुछ क्षण पहले मैं श्रीमती सिंह को शक्कर-कोठियों के गोरे मालिकों के शोषण का इतिहास बता रहा था और एकाएक मैंने अपने सामने एकदम उसी तरह के एक काले

गोरे को एक मज़दूर को लात मारते देखा। लगा कि इतिहास रंग बदल कर भी वहीं का वहीं था। मॉरिशस में जो कुछ गोरों ने भारतीयों के साथ किया था उसी को मैं एक भारतीय को दोहराते हुए देख कर आदमी और उसकी आदमीयत को समझने में असफल रह गया। आज भी जब नैरोबी की याद आती है तो साथ में यह दु:खद यादगार टीस लिये होती है।

(दस)
'लहरों की बेटी' की सूरीनाम यात्रा

हॉलैण्ड के अपने मित्र डॉक्टर गौतम से मैंने वायदा किया था कि मैं उसके लिये अपने नये उपन्यास की एक प्रति लेते आऊँगा। इसलिए त्रिनिडॉड में हो रहे 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' के लिए निकलते हुए बैग में वहाँ भेंट करने के लिए कुछ पुस्तकों के बीच मैंने 'लहरों की बेटी' की एक प्रति भी रख ली थी। त्रिनिडॉड के 'हिल्टन होटल' में पहले ही दिन डॉक्टर गंगा प्रसाद विमल के साथ पंडित विद्यानिवास मिश्र से भेंट हो गयी। हम लोग एक ही गलियारे के कमरों में ठहरे हुए थे। पंडित जी ने जब मुझे बताया कि भारत से त्रिनिडॉड की यात्रा उन्होंने हवाई जहाज़ में 'लहरों की बेटी' को पूरा पढ़ कर पूरी की तो मुझे खुशी हुई। पुस्तक उन्हें बेहद पसन्द आयी थी और उनके यह कह जाने से मेरा हौसला और भी बढ़ा कि समुद्री जीवन पर वैसा उपन्यास शायद ही हिन्दी में लिखा गया हो।

डॉक्टर गौतम किसी दूसरी जगह ठहरा हुआ था इसलिए दूसरे दिन उससे जब मुलाकात हुई तो उसको देने वाली पुस्तक मेरे साथ नहीं थी। उससे मेरा वायदा रहा कि सम्मेलन के उद्घाटन के बाद के कार्यक्रमों के दौरान पुस्तक अपने साथ लेते आऊँगा। मॉरिशस के संस्कृति-मंत्री ज्ञान नाथ, उसकी पत्नी तथा मुझे और हमारे यहाँ के सरकारी हिन्दी अध्यापक यूनियन के सचिव सत्यानंद टेंगर को अलग से एक कार मिली हुई थी, इसलिए हम चार व्यक्ति जहाँ भी जाते थे साथ जाते थे। हम लोग 'त्रिनिडॉड विश्वविद्यालय' के प्रथम सत्र के लिए जा रहे थे जब कार में एकाएक ज्ञान नाथ, जो कि मेरे ही गाँव का और मेरा दोस्त रह चुका था, एक सवाल कर बैठा, "परसों तुम्हें सम्मानित किया जायेगा और तुम हो कि न ही टाई लाये हो और न ही कोट। क्या इसी लिबास में जाओगे?"

"क्यों इस लिबास में अभिमन्यु अनत नहीं हूँ क्या?"

"यार, तुम विश्व के उन सभी विद्वानों में सबसे पहले सम्मानित किये जाओगे और इस तरह गुंडे की तरह देश का प्रतिनिधित्व करोगे।"

उसे मालूम था कि मैं कोट और टाई से दूर भागने वालों में था, इसलिए तय हुआ कि कुर्ते पाजामे से काम चल सकता है। हमने पहले दिन के कार्यक्रम के बाद त्रिनिडॉड की दुकानों की खाक छाननी शुरू की और कोई डेढ़ घण्टे बाद एक दुकान मिली जहाँ कुर्ते-पाजामे देखने को मिले। उस गुजराती दुकान से हमने जो कुर्ता-पाजामा खरीदा उसकी क़ीमत मॉरिशस रुपये में सोलह सौ रुपये थी। मॉरिशस में उस पैसे से चार और भारत में छह-सात कुर्ते-पाजामे मिल सकते थे।

ख़ैर, विश्व के चौदह हिन्दी विद्वानों के सम्मान का वह आयोजन सचमुच ही भव्य था।

त्रिनिडॉड के प्रधानमन्त्री वासुदेव पांडेय जी के द्वारा वह कार्य सम्पन्न हुआ और मॉरिशस को प्रथम सम्मान का गौरव प्राप्त हुआ। वह रात अगर मेरे जीवन की एक अविस्मरणीय रात रही तो उसके बाद का दिन भी आसानी से भुला देना वाला दिन नहीं था।

सम्मेलन के कार्यक्रमों का आख़िरी दिन था। मैं अपने साथ अपनी कविताओं के कुछ पोस्टर और किताबों के साथ सम्मेलन-स्थल पर पहुँचा। उस दिन का पहला सत्र शुरू हो चुका था। हम लोग जब पहुँचे तो लंदन के भारतीय उच्चायुक्त डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी माईक के सामने थे। मैंने शेष पोस्टर और किताबें कार में छोड़ दी थीं। साथ में पाँच किताबें ले रखी थीं जिन्हें हॉल के प्रवेश-द्वार की मेज़ पर रख कर मैं भीतर चला गया। उनमें से दो किताबें डॉ. गौतम को देनी थीं और तीन में से एक चीन से आये प्रतिनिध, दूसरी डॉ. रूपर्ट स्नेल और तीसरी डॉ. सिंघवी जी को। प्रथम सत्र के समाप्त होने के बाद मैं डॉ. गौतम के साथ बाहर आया तो मेज़ पर से किताबें गायब थीं। मैं हैरत में पड़ा रहा और डॉ. गौतम आयोजकों से पूछते रहे कि यहाँ पर पाँच किताबें रखी गयी थीं, वे कहाँ गयीं।

दूसरे सत्र के शुरू होने पर डॉ. गौतम, जो कि उस सत्र के स्वयं अध्यक्ष थे, सत्र के उद्‌घाटन से पहले अपने सामने के सभी प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुए बोले, "दरवाज़े के पास की मेज़ पर छः पुस्तकें अभिमन्यु अपने कुछ मित्रों को भेंट करने के लिए लाये हैं। अनुरोध है, उन्हें वहीं रख दिया जाये जहाँ से उठायी गयी हैं। पुस्तकों के शीर्षक इस तरह हैं।"

अपने हाथ के पर्चे पर नज़र दौड़ाकर उसने आगे कहा, 'लहरों की बेटी' की दो प्रतियाँ, 'और पसीना बहता रहा', 'गाँधी जी बोले थे', 'मॉरिशस की हिन्दी कहानियाँ' और 'वसन्त चयनिका'।"

सत्र के बीच यह एलान और दो-तीन बार किया गया, पर पुस्तकें अपनी जगह पर नहीं लौटीं। मेरे पास 'लहरों की बेटी' की दूसरी प्रति भी नहीं थी, इसलिए अपने मित्र के सामने लज्जित होता रहा।

दूसरे दिन मैं 'हिल्टन होटल' के लाऊंज में नाश्ते के बाद अपने देश के सत्यानन्द के साथ बैठा ज्ञाननाथ और उसकी पत्नी के आने का इन्तज़ार कर रहा था कि दो लड़कियाँ रीशेपशन पर बातें करके लिफ़्ट की ओर बढ़ीं। एक प्रतिनिधि जो अपने कमरे से आ रहा था, उसके सामने रुक कर दोनों लड़कियों मे से एक ने पूछा, "गोविन्द मिश्र जी का कमरा किस ओर है?"

जब वह आदमी ठीक-ठीक नहीं बता पाया तो दोनों लड़कियों ने हमारी ओर देखा। उनमें जो साँवली और लम्बे बालों वाली थी, झपटकर हम तक आ गयी और मेरे पावों पर झुकने को हुई कि मैंने रोक लिया और कहा, "आप को गलतफ़हमी हो गयी। मैं गोविन्द मिश्र नहीं हूँ।"

वह लड़की झट बोल उठी, "मैं जानती हूँ।"

"तो फिर?"

"मैं कल आपके भाषण से बहुत प्रभावित हुई। मैं आपसे एक बात के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।"

"किस बात के लिए!"

"मैं सूरीनाम की हूँ। जिन लोगों ने कल आपकी पुस्तकें मेज़ पर से उठा ली थीं, उनमें मैं भी एक हूँ। उसने अपने कन्धे से बस्ते को आगे किया और 'वसन्त चयनिका' की प्रति मेरे सामने करके बोली, "मैंने जीवन में पहली बार पुस्तक चुराई है।"

"नहीं, यह चोरी नहीं हुई। वैसे मैं भी बचपन में पुस्तक चुरा चुका हूँ।"

"आप मुझे शर्मिन्दा करने लगे।"

"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं। तुम इस पुस्तक को अपने पास रखे रहो।"

"वैसे भी मैं आपको यह पुस्तक लौटाने नहीं आयी हूँ। आपसे माफ़ी माँगने और इस पर आपका हस्ताक्षर लेने आयी हूँ।"

मैंने उसके हाथ से मॉरिशसीय हिन्दी साहित्य के उस संग्रह को लेकर उस पर अपना हस्ताक्षर करने के बाद उसके साथ की दूसरी लड़की की ओर देखा और कहा, "तुम्हारे पास कौन-सी पुस्तक है।"

उसने मुस्करा कर कहा, "ये लोग मुझसे तेज निकले। मेरी नज़र तो उस सबसे मोटी पुस्तक पर थी, पर इससे पहले कि मेरा हाथ उस तक पहुँचता कि मेरे मामा उसे अपने अधिकार में ले चुके थे।"

मैंने मन-ही-मन कहा—लगता है कि 'लहरों की बेटी' को हॉलैण्ड नहीं, बल्कि सूरीनाम जाने की इच्छा थी।

वैसे भी ज्ञान नाथ और उसकी पत्नी के साथ त्रिनिडॉड से सूरीनाम जाने का हमारा कार्यक्रम बन रहा था, पर समय पर चार्टेड फ्लाईट की व्यवस्था न हो पाने के कारण इच्छा पूरी न हो पायी थी। बस, इतना सन्तोष तो अवश्य हुआ कि ख़ैर, मैं सूरीनाम नहीं पहुँच सका लेकिन 'लहरों की बेटी' तो पहुँच ही जायेगी।

(ग्यारह)
मॉरिशस बन्धु : डॉ॰ कमल किशोर गोयनका

भारत से कई विद्वान, कलाकार तथा लेखक मॉरिशस आते रहे, पर मॉरिशस में श्रीमती इन्दिरा गाँधी जी की पहली यात्रा और फिर द्वीप में दूसरे 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' के बाद से यह सिलसिला ज़ोर पकड़ता गया। प्राय: सभी भारतीय जो यहाँ पहुँचते रहे, वे मॉरिशस की सुन्दरता, यहाँ के भारतीय वँशजों की सफलता की कहानी, यहाँ की भारतीय संस्कृति तथा भारतीय भाषाओं की जीवन्तता से मुग्ध हुए और मॉरिशस की अपनी दूसरी यात्रा के सपने देखते रहे। बहुत कम ऐसे लेखक यहाँ पहुँचे जिन्होंने मॉरिशस और भारत को एक दूसरे के और भी क़रीब लाकर दोनों देशों के बीच के सांस्कृतिक रिश्ते को और भी प्रगाढ़ बनाने की कोशिश की। मॉरिशस के 'द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन' के दौरान तो देश के प्रधान-मंत्री डॉ. सर शिवसागर रामगुलाम तथा मंत्री खेर जगतसिंह के सहयोग से सौ से अधिक भारतीय लेखकों, सम्पादकों और प्रकाशकों को मॉरिशस पधारने का एक सुनहला अवसर पैदा किया गया। पहली बार मॉरिशस की धरती पर बुद्धिजीवियों की इतनी बड़ी संख्या पहुँच पायी थी जिनमें ऐसी महान हस्तियाँ भी थीं—डॉ. कर्णसिंह, डॉ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. धर्मवीर भारती, श्री अमृतलाल नागर, श्री कमलेश्वर, श्री राजेन्द्र यादव, सुश्री अमृता प्रीतम, विमल मित्र, और श्रीमती शीला सन्धु, इत्यादि। लेकिन इस सम्मेलन से पहले भी लोगों का यहाँ आना शुरू हो चुका था और श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', डॉ. शिवमंगलसिंह

'सुमन', और श्री यशपाल जैसी विभूतियाँ यहाँ पहले ही पहुँच चुकी थीं। इनमें केवल यशपाल जी मॉरिशस पर एक पुस्तक लिख पाये। इस पुस्तक के बाद कुछ ऐसे लेखक-सम्पादक हुए, जिन्होंने मॉरिशस के सांस्कृतिक सम्बन्ध को और भी घनिष्ठता प्रदान करने की प्रतिबद्धता दिखायी। भारती जी ने 'धर्मयुग' के माध्यम से और कमलेश्वर जी ने 'सारिका' के ज़रिये भारत के पाठकों के सामने मॉरिशस को उभारना शुरू किया। मॉरिशस पर विशेषांक निकाल कर भारतवासियों का ध्यान द्वीप की ओर आकृष्ट किया। इस कार्य में श्री महावीर अधिकारी तथा कुछ अन्य लेखकों ने भी अपना-अपना सहयोग दिया। मॉरिशस-भारत के इस सांस्कृतिक पुल को और भी सशक्त बनाने की इस प्रक्रिया में सन् 1980 में एक नाम और जुड़ा और वह था कमलकिशोर गोयनका का।

डॉ. कमलकिशोर गोयनका जी से मेरी मुलाकात अगस्त, 1980 में पहली बार मॉरिशस के 'महात्मा गाँधी संस्थान' में हुई थी। जैनेन्द्र जी के साथ वे 'प्रेमचंद शताब्दी समारोह' के दौरान मॉरिशस पहुँचे थे। उस पहली ही मुलाकात से मुझे इस व्यक्ति में मॉरिशस के प्रति विशेष रूझान दिखायी पड़ा। फिर भी मैं उसी वक़्त यह नहीं सोच पाया था कि डॉ॰ गोयनका जी के साथ आगे जाकर मेरी इतनी घनिष्ठता बढ़ सकती है। दिल्ली में जब पहली बार उनके परिवार के साथ ठहरने का अवसर मिला तब लगा कि मैं अपने किसी क़रीब के परिवार के यहाँ ठहरा हुआ था। अगर कभी सरकारी अतिथि के रूप में अच्छे होटलों में ठहरने का अवसर मिला तो भी गोयनका-परिवार ने मुझे उन स्थानों पर रहने नहीं दिया। गोयनका जी की पत्नी कुसुम जी तथा उनके दो बेटों—संजय और राहुल भी इतने अपने लगे कि कभी लगा ही नहीं कि मैं मॉरिशस के अपने त्रिओले निवास से दूर था। उस घर में मेरा इस तरह ख़्याल रखा जाता रहा, गोया कि मैं कोई बच्चा था। और जब उस घर में रूपाली आयी और फिर अस्मिता का प्रवेश हुआ तो वह घर और भी मनभावन बन गया।

कमलकिशोर गोयनका परिवार का यह स्नेह केवल मेरे और मेरे परिवार के प्रति नहीं रहा, पर वक़्त के साथ वह घर मॉरिशस के बेशुमार छात्रों और हिन्दी-प्रेमियों का भी अपना घर-सा बनता गया। यही कारण है कि अशोक विहार के उस घर को मैं 'मॉरिशस-भवन' कहता रहता हूँ। मैंने कमल किशोर जी को अपने यहाँ भी काम करते देखा और उनके अपने घर पर भी और हर बार मैं अपने से यही कहता रहा—काश! मैं भी उनकी तरह अनुशासित होता और इतनी देर तक बिना विश्राम के काम कर पाता। मैंने अपने को उनके सामने बार-बार इस बात के लिए शर्मिंदा पाया कि उनके नियमित और लम्बे पत्रों का मैंने कभी भी ढंग से उत्तर दिया ही नहीं और इस बात को लेकर उनकी शिकायत आज भी बनी हुई है।

डॉ. कमल किशोर गोयनका मॉरिशस के हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों के साथ जो सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हुए उसे शायद कोई दूसरा भारतीय नहीं कर पाया। मॉरिशस के छात्रों को डॉ. गोयनका में एक ऐसा स्नेही मददगार मिला, जिसने पग-पग पर लोगों के छात्र-जीवन की कठिनाइयाँ और समस्याएँ आसानी से सुलझायीं। मॉरिशस के कई लेखकों की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपवाने और उन्हें लिखने का प्रोत्साहन वे सदा देते रहे। यही नहीं, मॉरिशस में यहाँ की संस्थाओं, हिन्दी जगत तथा आम जनों के बीच भी वे इतने प्रसिद्ध हुए कि कई बार मुझे उनसे कहना पड़ा कि यार, तुम तो मेरे देश में मुझसे भी अधिक मशहूर हो। प्रेमचंद के इस विशेषज्ञ से जहाँ मेरी जम कर पटती रही है, वहीं उनकी साहित्यिक

प्रतिबद्धता को लेकर हमारे बीच लम्बी बहसें भी होती रहीं और इसके बावजूद उन्होंने मेरे विचारों का कभी अनादर नहीं किया, उसी तरह मैंने भी उनके प्रतिमानों को उनके अपने विश्वास, उनके अपने प्रतिमान मान कर उनकी क़द्र की। मेरा यह घनिष्ठ दोस्त जब मॉरिशस में रहा, मैंने उसका सहायक रह कर खुशी हासिल की और मेरे दिल्ली में होने पर कमल किशोर अपनी सारी गतिविधियों को पीछे रख कर मेरी दोस्ती को प्राथमिकता देते रहे।

इस आपसी सहयोग और आपसी दोस्ती में मैं हमेशा पीछे ही रहा, क्योंकि गोयनका जी दिल्ली में मेरे लिए जितना समय निकाल पाते थे और जितना कुछ मेरे लिए कर पाते थे, उस मुकाबले में मैं उनका आधा भी नहीं कर पाया। इस आदमी की यह अपनी ख़ासियत थी कि बीमारी की हालत में भी वे क़दम-क़दम पर मेरे सहयोगी बने रहे। कभी इस हद तक कि मुझे कहना पड़ता कि भैया अपने को मित्र ही बनाये रखो, सेक्रटरी तक मत उतरो। अपने इस मित्र के बारे में बोलते हुए मैं उनकी पत्नी के बारे में अगर न बोलूँ तो कमलकिशोर के प्रति मेरी आत्मीयता अधूरी रहेगी। जितना ख़्याल वह मेरा रखने के आदी थे, उतना ही ख़्याल कुसुम ने मेरे और मेरे परिवार के सदस्यों को साथ रखने में किया और कुछ भी बाक़ी नहीं रखा। पहली ही भेंट से कुसुम को मैंने अपनी छोटी बहन मान लिया था और वह मुझे अपना बड़ा भाई मान कर राखी बाँधती रहीं।

डॉ. गोयनका के भीतर का दोस्ताना पक्ष और आदमियत भरे भाग ने मुझे उनके विद्वत पक्ष और साहित्यिक पहुँच से कहीं अधिक प्रभावित किया है। यह उनकी एक ऐसी ख़ासियत है, जिसके कारण मॉरिशस में लोग उन्हें अगाध स्नेह और सम्मान देने से कभी नहीं चूके। उनके साथ के मेरे बेशुमार संस्मरणों में दो का मैं यहाँ ज़िक्र करना चाहूँगा।

पहली घटना तब की है जब भारत सरकार के आमन्त्रण पर मैं दिल्ली के 'जनपथ होटल' में ठहरा हुआ था। दिल्ली में मेरा दो सप्ताह का कार्यक्रम था। बम्बई से दिल्ली आते समय हवाई जहाज़ ही में मुझे बुखार शुरू हो गया था। होटल पहुँचते-पहुँचते तो मैं और भी अधिक बीमार पड़ गया और मौसम के एकाएक परिवर्तन के कारण मुझे ब्रोंकाइटिस हो गया था। श्रीमती बनर्जी के साथ, जो कि शिक्षा मन्त्रालय से मुझे लेने आयी थीं और जो मेरे दिल्ली के सारे कार्यक्रमों की ज़िम्मेदार थीं, डॉ० गोयनका ने बात की और कहा वे वैसी हालत में मुझे होटल में रहने नहीं देंगे। उधर श्रीमती बनर्जी इस बात पर अड़ी हुई थी कि उस बीमार हालत में वह मुझे किसी के घर नहीं भेज सकती। उनकी स्थिति को मैंने समझाते हुए मैंने अपने दोस्त से कहा कि राजकीय अतिथि होने के कारण मेरा श्रीमती बनर्जी की देख-रेख में रहना ही उचित होगा। पति-पत्नी कुछ भी मानने को तैयार नहीं थे। इस पर श्रीमती बनर्जी ने अपनी ओर से रियायत की और कहा कि मैं पहले अच्छा हो जाऊँ फिर वे लोग मुझे अपने घर ले जा सकते हैं, लेकिन डॉ. गोयनका और उनकी पत्नी यही चाहते रहे कि मेरी देखभाल उनके घर पर हो। सरकारी पक्ष और दोस्ती पक्ष की इस रस्साकशी में आख़िर जीत दोस्ती पक्ष की हो कर रही और श्रीमती बनर्जी मुझे दोस्त के हवाले करते हुए बोली, "इस आत्मीयता के सामने मैं अपने फ़र्ज़ से हट रही हूँ, पर सुबह शाम आप लोगों को तंग करने पहुँचती रहूँगी।"

यह घटना जहाँ दोस्ती की पहचान देती है, वहीं यह घटना डॉ. गोयनका के भीतर के इन्सानी पक्ष को रेखांकित करती है। हमें डॉ. सुरेश ऋतुपर्ण जी के यहाँ रात को खाने पर जाना था। मेरे परिवार के लोग तो डॉ. गोयनका की गाडी से जा चुके थे। मैं और डॉ. गोयनका को

एक थ्री-व्हीलर लेना पड़ा। हमें कुछ देर हो गयी थी, इसलिये कमलकिशोर जी ने चालक को यह हिदायत दे रखी थी कि वह कुछ तेज चलाये। हम जिस सड़क से जा रहे थे, वह ट्रेफिक जाम से खचाखच भरी थी और चालक पूरी सावधानी के साथ रास्ता निकालता हुआ आगे बढ़ रहा था कि एकाएक एक मोटर साईकिल हमारी थ्री-व्हीलर को पार करके एकाएक हमारे आगे खड़ी हो गयी। पीछे बैठी एक पुलिस महिला, जो वर्दी में नहीं थी, उतरी और अचानक हमारे थ्री-व्हीलर के ड्राईवर को अंधाधुंध कई थप्पड़ जड़ दिये। हम अवाक् देखते रहे। इसके बाद मोटर साईकिल चलाने वाले पुलिस अफ़सर, जो कि इस महिला का जूनियर लग रहा था, आकर चालक को डॉट-फटकार लगाने लगा कि हमारी गाड़ी ने गलत ढंग से उसका ओवर टेक किया था। जब हमारे चालक ने अपनी सफ़ाई देने की कोशिश की तो उस महिला ने उसकी बाँह जकड़ कर उसको गाड़ी से बाहर कर लिया और चुनींदी गालियाँ देती हुई उस पर लात-मुक्के से प्रहार कर बैठी।

मैं हैरत में पड़ा सभी कुछ इस तरह देख रहा था, जैसे कि कुछ भी समझ में नहीं आ रहा हो। इस तरह का कांड मेरे अपने देश में कल्पना से बाहर का था। औरत का उस तरह गाली देना और अपने अधिकार का इतना ग़लत उपयोग सचमुच ही हैरत में डाल देने वाली बात थी। पर अभी मैं अपने दोस्त से कुछ कहता कि वह सवारी से झट उतर कर पुलिस और चालके के बीच खड़ा हो गया। भीड़ इकट्ठी हो गयी थी। शुरू-शुरू में तो लोग उस महिला और उसके साथी को कोस रहे थे, पर जब उन्हें पता चला कि वे दोनों पुलिस अफ़सर थे तो भीड़ ने चैकव की कहानी 'कामलेवेन' की भीड़ वाला रूख कर लिया और रंग बदल कर बेचारे थ्री-व्हीलर के चालक को ही कोस बैठे। उस भीड़ में केवल डॉ. गोयनका ने ही उस चालक के पक्ष में खड़े होकर दोनों पुलिस अफ़सरों को उनकी गलती की ओर संकेत करने की कोशिश की। समझाने-बुझाने की वह प्रक्रिया देखते-ही-देखते झगड़े का रूप लेने लगी, फिर भी डॉ गोयनका उस चालक को उन दो आपे-से बाहर और अपने अधिकार के नशे में चूर अफ़सरों के क्रूर पंजे से बचा कर ही रहे।

प्रेमचंद के जीवन और प्रेमचंद के साहित्य के मेहनतकश अध्येता ने अपने व्यक्तित्व की इस एक झलक से उस रात मुझे यह अहसास दे दिया कि डॉ. गोयनका ने प्रेमचंद पर केवल गहरा अध्ययन ही नहीं किया, बल्कि प्रेमचंद से उसने सीखा भी है। और एक दिन जब राजेन्द्र यादव ने बड़े ही दोस्ताने ढंग से कहा कि अभिमन्यु हमें कमलकिशोर से दो आदमियों को मुक्त करना है—एक प्रेमचंद को और एक तुम्हें। तो मुझे लगा था कि हम दोनों की मित्रता की इस से बड़ी और अच्छी परिभाषा एवं शुभकामना क्या हो सकती है?



व्याख्यान, लेख, सम्पादकीय

(एक)
हिन्दी की अन्तर्राष्ट्रीयता में मॉरिशस की भूमिका

दुनिया भर के विश्वविद्यालयों में जिस रुचि के साथ आज हिन्दी पढ़ी व पढ़ायी जा रही है और विश्व की भाषाओं में जिस तरह इसके शब्दों को सम्मिलित किया जा रहा है, उससे इसकी अन्तर्राष्ट्रीयता प्रमाणित होती है। यही नहीं हिन्दी 'संयुक्त राष्ट्र संघ' में भी बोली गयी और अंतरिक्ष में भी इसका प्रसारण हुआ। कल जो भाषा, भारत के कुछ क्षेत्रों की भाषा ही समझी जाती थी, आज वह विश्व में धीरे-धीरे अपनी पहचान बनाने में समर्थ हुई है। कई देशों में हिन्दी में साहित्य की रचना भी हुई है और कई देशों में विश्व हिन्दी सम्मेलन भी होते रहे हैं, चाहे ज्यादातर वे राजनीतिक और व्यक्ति केन्द्रित ही रहे। तमाशा अधिक होकर भी, कम-से-कम ये सम्मेलन यह घोषणा तो कर सके कि चालीस के लगभग देश हिन्दी के साथ जुड़े हुए हैं।

हिन्दी को यह अन्तर्राष्ट्रीय रूप प्रदान करने में विश्व के कई विद्वानों, संस्थाओं और रचनाकारों का योगदान रहा है। लेकिन इस अन्तर्राष्ट्रीय प्रक्रिया में मॉरिशस की जो भूमिका रही है, वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। केवल इसलिए नहीं कि इस छोटे से द्वीप में विश्व हिन्दी सम्मेलन दो-दो बार हुए, एक बार चाहे अवैध रूप में सही।

यहाँ के राष्ट्रपिता से लेकर प्रधानमंत्री तक हिन्दी बड़े गर्व के साथ बोलते रहे हैं और शिवसागर रामगुलाम के दिनों में जगतसिंह और वसंत राय जैसे मंत्री हुए, जिनकी धमनियों में हिन्दी बहती थी। मॉरिशस हिन्दी को विश्व-मंच पर खड़ा करने में उन सभी हिन्दी-प्रेमी देशों में ऐसा अकेला देश है, जहाँ भोजपुरी तो बोली ही जाती रही, लेकिन हिन्दी लोगों की अस्मिता, शक्ति और संगठन की भाषा रही है। इस अस्मिता, शक्ति, संचारण और संगठन को बनाये रखने के लिए जो संघर्ष हुए, जो दारुण-दण्ड झेलने पड़े, उसकी संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत है।

आमतौर से मॉरिशस में भारतीयों के आगमन को गिरमिटिया मज़दूरों के रूप में माना जाता है, जो कि 1830 में आरम्भ हुआ था। लेकिन इससे पहले 1810 में जब अंग्रेज़ों ने फ्रांसीसियों के ख़िलाफ़ मॉरिशस पर आक्रमण किया, उस समय ब्रिटिश सेना में लगभग दस हज़ार भारतीय सिपाही थे। अत: यह बात स्पष्ट है कि मॉरिशस की भूमि पर 1810 से ही हिन्दी में बातचीत शुरू हो गयी थी। 1815 में अंग्रेज़ों ने भारतीय विद्रोहियों को बन्दी बनाकर मॉरिशस में भेजना शुरू कर दिया था। कुछ भारतीय कारीगर और व्यापारी भी वहाँ पहुँचने लगे थे।

हिन्दी का सही स्वरूप 1830 से आरम्भ हुआ, जब दास-प्रथा का अन्त हो जाने पर गन्ने के खेतों में मज़दूरों की आवश्यकता हुई। ये ही वे लोग थे, जो अपनी झोलियों में भविष्य के सपनों के साथ 'रामायण', 'महाभारत', 'हनुमान चालीसा' और 'आल्हा' जैसी पुस्तकें लेकर पहुँचते रहे। मुख्यत: ये भारत के विभिन्न प्रान्तों के थे, पर बिहार से पहुँचे लोगों की संख्या अधिक थी। इन जहाज़ी भाइयों ने भोजपुरी, हिन्दी बोलते हुए समुद्र की विकट यात्रा पूरी की और मॉरिशस की धरती पर भी अपनी ये ही दो भाषाएँ बोलते रहे। इन पर जब कोड़े और

बाँसों के प्रहार होते, तो इनकी आहें भी भोजपुरी और हिन्दी में होती थीं। यातना-शिविरों में ये एक-दूसरे को अपनी-अपनी राम कहानियाँ हिन्दी और भोजपुरी में ही सुनाया करते, चाहे वे भारत के किसी प्रान्त के रहे हों। उन दिनों हिन्दी मेल-मिलाप की भाषा थी। हिन्दी में एक-दूसरे के क़रीब पहुँचने और एक-दूसरे से जुड़कर एक शक्ति बनने की आकांक्षा थी। दिन-भर की सारी थकान और सज़ाओं को बिरहे और कजरी गा कर भुला देते थे। वे चोरी-चुपके अपने बच्चों को 'रामायण', 'महाभारत' की कथाएँ सुनाकर उनमें निर्भीकता लाते। खुले आम हिन्दी या कोई दूसरी भारतीय भाषा बोलने पर पाबन्दी थी।

भारतीय आप्रवासी आते रहे। सन् 1900 के आसपास देश की लगभग साढ़े तीन लाख की आबादी में क़रीब ढाई लाख भारतीय थे, जिनकी आपस की बोली भोजपुरी थी। वैसे कुछ बस्तियाँ ऐसी भी थीं जहाँ मराठी, तमिल और तेलुगु बोलने वाले लोग भी थे, पर एक-दूसरे से मिलने पर हिन्दी इनकी सम्पर्क भाषा होती थी।

इतनी विषमताओं के बाद भी हिन्दी की व्यापकता बढ़ती ही गयी। देश की साम्राज्यवादी शिक्षण नीति के कारण अभी कुछ दिन पहले तक यहाँ के हिन्दी-जगत में एक निराशा-सी छाई हुई थी। सरकारी स्तर पर हो रही हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की परीक्षा में जब भी समान अधिकार की माँग की गयी, उन्हें बड़ी खूबी के साथ ठुकराया जाता रहा। बच्चों की प्रारम्भिक पढ़ाई की अन्तिम परीक्षा में हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के अंकों की गिनती नहीं हो रही थी। इस सांस्कृतिक संघर्ष के कारण वर्षों तक देश के नामी कॉलेजों में केवल गोरे, अधगोरे और चीनियों के बच्चे ही प्रवेश पाते रहे। भारतीय वंशजों के वे ही चन्द बच्चे उस योग्य हो पाते थे, जो या तो धर्म-परिवर्तन किये हुए थे या जिनके पास अपने बच्चों को कॉन्वेंट स्कूल में पढ़ा पाने की आर्थिक क्षमता थी।

इस प्रथा का विरोध डॉ० शिवसागर रामगुलाम के समय में उनके शिक्षा-मंत्री खेर जगतसिंह ने जमकर किया। पहले तो उन विशेष स्तर के कॉलेजों का मोह भंग हुआ। फिर, गाँवों में उन स्तरों के कॉलेज निर्मित हुए, जहाँ हिन्दी के साथ अन्य भारतीय भाषाओं की पढ़ायी को उचित स्थान मिला। परीक्षा में मान्यता प्राप्ति के अभियान को देश में चौदह वर्षों तक लगातार चलाना पड़ा। तब कहीं जाकर सभी बच्चों को समान अधिकार प्राप्त हुए, जिससे वह अच्छे कॉलेजों में प्रवेश पा सकें। लेकिन हिन्दी को गाँवों की बैठकाओं और स्कूलों से निकालकर कॉलेजों और विश्वविद्यालय तक पहुँचाने में बहुत लम्बी और कठिन यात्रा तय करनी पड़ी है। सांस्कृतिक साम्राज्य बनाये रखने वाले तथा भाषा-विशेष का वर्चस्व रखने के लिए पहले तो हिन्दी को सरकारी स्तर की पढ़ायी के योग्य ही नहीं समझा गया था, लेकिन हिन्दी वालों के संकल्प के आगे उस समय के उपनिवेशवादी शक्ति को विवश होकर झुकना पड़ा।

आडोल्फ डीप्लेविथ नामक एक जर्मन मज़दूर नेता ने भारतीय मज़दूरों पर हो रहे अन्याय के विरुद्ध एक अर्जी तैयार की और उसका अनुवाद हिन्दी में मज़दूरों तक पहुँचा कर उनके हस्ताक्षर लिये। तक कहीं जाकर राजकीय आयोग ने उन मुद्दों पर ध्यान दिया। उन दिनों मॉरिशस की पूरी आबादी चार लाख की रही होगी, जिसमें तीन लाख भारतीय थे, पर उन के दस प्रतिशत बच्चे ही स्कूल में दाख़िला पा सके थे।

1901 में गांधी जी ने मॉरिशस की यात्रा के दौरान दो बातों की माँग की थी। एक तो

भारतीयों की राजनीति में सक्रियता और दूसरी उनके बच्चों के लिए शिक्षा की पूरी व्यवस्था। उसी के फलस्वरूप डॉ. मणिलाल द्वारा देश का पहला हिन्दी पत्र 'हिन्दुस्तानी' नाम से 1909 में सामने आया। इसके बाद 1925 में जब कुँवर महाराजसिंह का मॉरिशस आगमन हुआ, तो उन्होंने मज़दूरों के सुधार के साथ-साथ बच्चों के लिए स्कूल में प्रवेश का तकाज़ा किया।

मॉरिशस में हिन्दी का यह संघर्ष साहस, यातना और बलिदान की गाथा रही है। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के दमन के लिए पूँजीपतियों ने कुछ भी बाक़ी नही छोड़ा था। यातना और बलिदान भी उतने ही ज़रूरी थे, क्योंकि आगे चलकर हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीय स्थापन के मूल में वे ही थे। दुनिया के बहुत कम देश ऐसे होंगे, जहाँ एक भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए इतना कुछ भुगतना पड़ा हो। फिर भी उन शोषित मज़दूरों ने उस वर्चस्व को धर्म-निष्ठा के साथ पूरा किया। वह एक भारी सांस्कृतिक निष्ठा, भाषा के प्रति गौरव का भाव था, जिससे सुबह-शाम गन्ने के खेतों में तपते सूरज को सहते हुए गोरे मालिक के कोड़ों की बौछारों को झेलने के बाद भी वे अपनी बस्ती में हिन्दी के पठन-पाठन में लग जाते। कोई सौ वर्षों तक इस द्वीप में हिन्दी निःशुल्क पढ़ायी जाती रही।

पहले तो अपनी ही कुटिया में सारे अवरोधों और प्रतिबन्धों के बीच वे हिन्दी की कथाएँ चलाते रहे और बाद में बैठकाएँ भी सामने आनी शुरू हो गयीं। हर गाँव में बैठकाओं की नींव डाले जाने के बाद शाम के समय चार से सात बजे तक हिन्दी की निःशुल्क पढ़ायी ज़ोर पकड़ती गयी। पूरे देश में आर्य समाज, विष्णुदयाल आन्दोलन तथा हिन्दू महासभा और हिन्दी प्रचारिणी सभा की ओर से हज़ारों अध्यापक स्वेच्छा से इस आन्दोलन के साथ जुड़ गये। ऐसा नहीं हुआ होता तो हिन्दी न तो अस्मिता, धर्म और संस्कृति की रक्षक बन पाती और न ही समाज की अंदरूनी ताकत बनकर देश की आज़ादी का आह्वान कर पाती। अत्याचारों, दमन और यातनाओं की पराकाष्ठा को जी-जान से झेलकर ही मॉरिशस की हिन्दी सृजनात्मक प्रेरणा तथा शक्ति पा सकी।

मॉरिशस की हिन्दी अपनी माटी की सोंधी गन्ध को आत्मसात करके ही अपनी एक निजी पहचान बना सकी है और हिन्दी के शब्द-सरोवर में अपने हिस्से की दो-चार बूँदें जोड़ पायी है। आज इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि मॉरिशस में साहित्य को समृद्ध करने में उसने बहुत बड़ी भूमिका निबाही है। साथ-ही-साथ उस साहित्य में भारत और अन्य देशों में मॉरिशस के स्वर को बुलन्द किया है। फ्रेंच भाषा यहाँ सभी सुविधाओं के बाद भी साहित्य के क्षेत्र में वह स्थान नहीं बना पायी है, जो चन्द वर्षों में हिन्दी भाषा ने बनाया है। अंग्रेज़ी, फ्रेंच और क्रियोल में मिलाकर भी उतने उपन्यास, कविता-संग्रह, नाटक, कहानी-संग्रह तथा अन्य साहित्यिक विषयों पर पुस्तकें नहीं लिखी जा सकीं जितनी हिन्दी में लिखी गयी हैं।

देश की आज़ादी के बाद से अब तक कोई तीन सौ हिन्दी पुस्तकें मॉरिशस और भारत में प्रकाशित हुईं, जिनसे वहाँ का हिन्दी साहित्य भारत में अपने लिए जो स्थान बना पाया, वह डेढ़ सौ साल से लिखा जा रहा मॉरिशस का फ्रेंच साहित्य फ्रांस में नहीं बना पाया है। मॉरिशस का हिन्दी साहित्य भारत के प्रतिष्ठित प्रकाशन-गृहों से छपता और चर्चित होता रहा है। उनके लेखकों को जितना स्नेह भारतीय पाठकों से मिला है उतना किसी भी फ्रेंच लेखक को फ्रांस के पाठकों से नहीं मिला।

हाँ, यह दूसरी बात है कि सरकारी मान्यता, धन, लाभ और पुरस्कार उन पर बरसाये जाते रहे हैं। हिन्दी लेखक की कहानियों के फ्रेंच अनुवाद पर लेखक को जो सम्मान और राशि

प्राप्त होती है, उसके सामने उसकी हिन्दी की सारी पुस्तकों की रायल्टी भी कुछ नहीं। साथ-ही-साथ फ्रंकोफोन के पैंतालीस देशों में उस पुस्तक का जो वितरण होता है, वह समूचे हिन्दी साहित्य के लिए एक बड़ी उपलब्धि बन जाता है। ऐसा करके फ्रांस तो फ्रेंच भाषा को ही समृद्ध करता है, पर साथ-ही-साथ उससे हिन्दी के लेखक और हिन्दी साहित्य को अपनी सीमित दुनिया से बाहर जाने का अवसर भी मिल जाता है।

मॉरिशस के हिन्दी लेखक भारत के कोई डेढ़ सौ पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहे हैं। साथ-ही-साथ अन्य देशों तक भी उनकी रचनाएँ पहुँचती रही हैं। हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा को अन्तर्राष्ट्रीयता प्रदान करने की भूमिका मॉरिशस को कई बार भारत से पहले मिली है। विश्व कहानियों के तहत फ्रांस की प्रतिष्ठित पत्रिका 'एरोप' में मॉरिशस की हिन्दी कहानी में अखिल कहानी का प्रतिनिधित्व किया। कनाडा के कनेडियन इंस्टिट्यूट में मॉरिशस के हिन्दी कवि को ही हिन्दी कविता की अगवानी करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वहाँ के बुद्धिजीवियों ने उन कविताओं को पहले मूल हिन्दी में सुनने की इच्छा ज़ाहिर की और बाद में उसका अनुवाद।

जर्मनी, रूस, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड तथा और भी कई स्थानों पर मॉरिशस के द्वारा हिन्दी साहित्य की झलक वहाँ के लोगों को मिलती रही है। क्यूबेक के ग्रांतेआत्र में हिन्दी के माध्यम से ही वहाँ के फ्रंकोफोनी सम्मेलन के दौरान जुटे कोई पचास देशों के प्रतिनिधियों ने पहली बार मॉरिशस में भारतीय मज़दूरों की संघर्ष गाथा की रंग-नाटिका देखी। पहली बार उनके कानों में हिन्दी की गूँज पहुँची।

पिछले दिनों फ्रांस के प्रसिद्ध प्रकाशन गृह 'स्टाक' का प्रकाशक सीधे द्वीप के हिन्दी लेखक के घर जा पहुँचा और उसने उसके उपन्यास के प्रकाशन की अनुमति माँगी। दो सप्ताह बाद फ्रांस त्रुआ रेडियो चैनल उस विषय पर लेखक की भेंटवार्ता लेने सीधे फ्रांस से वहाँ आया और उस भेंटवार्ता का पूरी फ्रेंच दुनिया में प्रसारण हुआ। कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड से होने वाली हिन्दी परीक्षाओं के लिए मॉरिशस के दो उपन्यासों को इन दिनों इंग्लैंड के विश्वविद्यालयों ने पाठयक्रम में रखा है। दिल्ली विश्वविद्यालय ने भी 'शब्द-भंग' उपन्यास चुना है और बी. ए. के पाठयक्रम में पढ़ाया जा रहा है।

दो फ्रांसीसी संग्रहों में मॉरिशस की हिन्दी कविताओं के द्वारा हिन्दी कविता का प्रतिनिधित्व हुआ है। फ्रांस की पत्रिकाओं में मॉरिशस की हिन्दी कहानियाँ फ्रेंच अनुवाद के साथ-साथ मौलिक हिन्दी में आती रही हैं। लेकिन जो भी सम्भव योगदान हिन्दी के प्रचार-प्रसार और उसके अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को मॉरिशस दे सका है वह बहुत ही सीमित सुविधाओं और अवसरों के बीच दिया है।

ये सारे विवरण देकर किसी व्यक्ति-विशेष के बारे में संकेत नहीं किया जा रहा है, बल्कि हिन्दी साहित्य की उस मान्यता और अन्तर्राष्ट्रीयता को रेखांकित किया जा रहा है, जो उस साहित्य को खुद अपनी भूमि पर नहीं मिल पाया है। और भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनसें हिन्दी को अन्तर्राष्ट्रीय महत्व देने में सोमदत्त बखोरी, रामदेव धुरंधर, पूजानन्द नेमा, ब्रजेन्द्र भगत जैसे लेखकों की भूमिकाएँ साधारण नहीं मानी जा सकतीं।

हिन्दी इस द्वीप के गाँवों की भाषा रही है। उन ग़रीब मज़दूरों की भाषा रही है जिन्होंने अपने घोर परिश्रम और दु:ख-दर्दों के बीच अपनी भाषा को परायी भाषा के हाथों नीलाम नहीं किया। दूसरों की भाषाओं का आदर किया पर अपनी भाषा के लिए हर वक्त जान देने

को तैयार रहे, लेकिन आज हिन्दी के लिए वे सारे निर्णय, सारे हौंसले और सारी सक्रियता खुशी के साथ उदासी का रूप भी लेने लगी है।

मॉरिशस के उन तमाम गाँवों में जहाँ हिन्दी का वातावरण अपनी पराकाष्ठा पर था, अब फ्रांसीसी सरकार की सक्रियता के कारण वह नज़रें उठाकर उस देश की ओर देखने लगी है जिस देश से उसे बहुत उम्मीद बँधी हुई थी। लेकिन वहाँ हिन्दी की दयनीयता देखकर उसे और भी निराशा होती है। नयी पीढ़ी के सामने जो प्रलोभन है, वह इतना बड़ा है कि उसका सामना निहत्थेपन की-सी स्थिति में कर पाना कठिन है। फ्रेंच पुस्तकों, पत्रिकाओं और सांस्कृतिक, साहित्यिक गतिविधियों की बाढ़ में डेढ़ सौ साल से अधिक की संजोयी धरोहर हाथों से फिसलती-सी लग रही है। एक देश पूरी ताकत और जागरूकता के साथ सक्रिय है तो दूसरा शिथिलता की तन्द्रा में दिखायी पड़ता है।

कोई भी भाषा और संस्कृति प्रेमी फ्रांस सरकार के भाषा और संस्कृति प्रेम और निर्भीक उत्साह को देखकर दाद दिये बिना नहीं रह सकता। दु:ख तो सिर्फ़ इस बात का होता है कि काश! भारतीय संस्कृति और भाषा के लिए भी इतना समर्पण और दिलेरी देखने को मिलती। वहाँ तो भारत सरकार के प्रकाशन 'आजकल' और 'बाल भारती' जैसी पत्रिकाओं के वितरण का जो सिलसिला था, वह वर्षों से बन्द हो चला है। कोई पाँच वर्ष बाद एक हिन्दी अफ़सर वहाँ पहुँचा है, पर न तो अब तक उसकी आवाज़ सुनने को मिली है और न ही उसका चेहरा दिखायी पड़ा है।

मॉरिशस की हिन्दी और साहित्य इससे भी अधिक विस्तृत क्षितिज पा सकता, अगर मॉरिशस में भारतीय उच्चायोग इस दिशा में अपनी भूमिका को उतना ही महत्त्व दे पाता, जितना कि वे व्यवसाय और राजनीति के मामले में देता आ रहा है। पर हिन्दी जगत से जुड़ने का तात्पर्य तो उनके लिए खुद हिन्दी बोलने की विवशता भी ला सकती है।

'विश्व हिन्दी सम्मेलन' को ही लें, उसको राजनेताओं के हाथ की कठपुतली बन जाने पर विवश होना पड़ा। बार-बार हिन्दी को ही क्यों चुना जाता है अपनी खोई हुई छवि सुधारने के लिए? क्या विश्व हिन्दी के हितार्थ, 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' को फिर से उसे नागपुर वाला स्वरूप नहीं दिया जा सकता?

मॉरिशस तो वह देश है जहाँ अस्मिता के प्रतीक भाषाई अभियान चाहे चक्रव्यूह से अभेद्य क्यों न रहे, उन्हें आत्मविश्वास के साथ जीता गया। तभी तो गिरजाघर के द्वारा संचालित स्कूलों और कॉलेजों में भी हिन्दी पढ़ायी जा रही है। जहाँ भारत पर विदेशी आक्रमण होता है तो यहाँ के लोग दु:खी हो जाते हैं। प्राकृतिक प्रकोप की ख़बर पाकर लोग भारत के हित में प्रार्थनाएँ शुरू कर देते हैं, लेकिन जब मॉरिशस के लोग पत्र-पत्रिकाओं में यह पढ़ते हैं कि भारत में कॉन्वेंट स्कूल में पढ़ने वाले दो बच्चे आत्मीय रूप से हिन्दी में बातें करने के कारण निर्दयता के साथ पीटे जाते हैं, तो उनके दिल दहल जाते हैं।

मॉरिशस जैसे देश में विभिन्न संस्कृतियों के मसीहा इस लोलुपता के साथ इस ताक में हैं कि वहाँ उनकी भाषा और संस्कृति अधिक सशक्त न हो। ऐसी स्थिति में मॉरिशस में भारतीय भाषाओं को अधिक प्रोत्साहन देने की ज़रूरत है। हमारे यहाँ एक 'धर्मयुग' की क़ीमत बाईस रुपये है, यानी कि चालीस भारतीय रुपये। बच्चों के हाथों में जिस तेजी के साथ पाश्चात्य देशों के (ख़ास कर फ्रेंच) कॉमिक्स पहुँचते रहते हैं, वहाँ पहचान और संस्कृति की भाषा हिन्दी का महत्त्व कम रह जाता है। हमारे बच्चे भारतीय चित्रकथाओं को बड़ी ही रुचि के

साथ पढ़ते हैं, पर वे उन्हें ढूँढें कहाँ?

भारत को यह नहीं भूलना चाहिए कि मॉरिशस एकमात्र देश है, जहाँ अभी तक भारतीयता अपनी सम्पूर्णता से विराजमान है, संस्कृति और भाषा जीवित है। और मॉरिशस एकमात्र ऐसा देश है जिसके साथ राजनीतिक रिश्ते से कहीं अधिक पुराना और प्रबल रिश्ता है संस्कृति, भाषा और साहित्य का। राजनीतिक रिश्ते तो देशों में रातोंरात बनते और टूटते रहते हैं, पर सांस्कृतिक रिश्ता न तो रातोंरात बन सकता है और न टूट सकता है और संस्कृति का सबसे बड़ा वाहन है भाषा। जिस देश ने हिन्दी के प्रति इतना समर्पण दिखाया है और उसे विश्व-मंच पर ले जाने में सहयोगी रहा है, आज अपने को गुंजल्क में पाने लगा है।

जिस सप्ताह भारतीय उच्चायोग के लोग हिन्दी बोलने से झिझकते रहे, उसी सप्ताह विश्व कप फुटबाल का उद्घाटन भाषण फीफा के अध्यक्ष ने अंग्रेज़ी, फ्रेंच में न देकर अपनी मातृभाषा में दिया। यूनेस्को के महानिदेशक फेडेरीको मायोर ने मॉरिशस में अपनी कविता अपनी भाषा स्पेनिश में पढ़ी। जहाँ किसी के भाषा प्रेम पर खुशी होती है वहीं हिन्दी के लिए चिन्ता होने लगती है उसके विश्वव्यापी रूप के ख़तरे में होने से कहीं अधिक उसके अपने ही लोगों की मानसिकता पर।

मॉरिशस ने हिन्दी को विश्व हिन्दी बनाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है और अपने देश में उसे एक प्रतिष्ठित और साहित्यिक भाषा के रूप में सँवारा है। इसलिए उस भाषा को उसकी अपनी ही धरती के लोगों के बीच से बहिष्कार पाकर दु:खी होना स्वाभाविक हो जाता है। भारत में हिन्दी की स्थिति चाहे कुछ भी रही हो, पर मॉरिशस में एक ऐसी प्रतिष्ठित भाषा है कि वहाँ के फ्रेंच साहित्यिक पत्रों में भी वह नागरी लिपि में छपती है। देश के सबसे प्रतिष्ठित फ्रेंच पत्रों का सम्पादकीय तक हिन्दी में आ चुका है, वह भी प्रथम पृष्ठ पर।

समय-समय पर मॉरिशस में हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ निकलती रहती हैं—'आर्य मित्र', 'ज़माना', 'जनता', 'नवजीवन', 'अनुराग', 'आभा' आदि। पर समय के साथ-साथ ये दम भी तोड़ती रहीं। आज हमारे बीच हिन्दी में जो पत्रिकाएँ निकल रही हैं, वे हैं—'आर्योदय', 'आक्रोश', 'इन्द्रधनुष' व महात्मा गांधी संस्थान की ओर से प्रकाशित 'वसन्त' पत्रिका, जो एक साहित्यिक हिन्दी पत्रिका है और अठारह वर्षों से लगातार निकल रही है। यह विश्व के क़रीब चालीस से अधिक विश्वविद्यालयों में पहुँचती रही है। इस तरह की पत्रिका और इतनी लम्बी आयु की साहित्यिक पत्रिका मॉरिशस में न तो अंग्रेज़ी में कभी रही है और न फ्रेंच में।

'वसन्त' को इस बात का गौरव है कि उसमें भारत के साथ-साथ विदेश के हिन्दी विद्वानों और रचनाकारों की रचनाएँ भी आती रही हैं। 'वसन्त' का साथी प्रकाशन है 'रिमझिम' जो कि इसी साल से शुरू हुआ है। बच्चों की इस पत्रिका की सफलता को देखते हुए सभी निराशा के बवण्डरों के बीच भी यह आशा बँधती है कि स्कूल और कॉलेजों के हज़ारों बच्चे, जो पहले अंक से इसके स्थायी ग्राहक बने हैं, वे ही भविष्य में हिन्दी के सही पाठक और लेखक होंगे और हिन्दी के भविष्य भी। मॉरिशस में आज पाँच भारतीय भाषाएँ प्राथमिक स्तर तक पढ़ायी जाती हैं। हिन्दी जो कि सभी भारतीय भाषाओं की रीढ़ की हड्डी है, विश्वविद्यालय तक प्रवेश कर चुकी है। जिस दिन मॉरिशस में हिन्दी हताश होकर दम तोड़ देगी उसी दिन वहाँ की कोई भी भारतीय भाषा जीवित नहीं रह सकेगी।

हिन्दी, उसका विश्वरूप तथा उस को घेरे सारे घटाटोप माहौल को जानने के बाद कुछ प्रश्न

ज्वालामुखी से फूटे लावे की तरह हमारे सामने बिखर जाते हैं। आज जब मॉरिशस में प्रलोभनों की बाढ़ में हिन्दी और उससे जुड़ी सभी भारतीय भाषाएँ और सांस्कृतिक मूल्य किसी भारी धुँधलके में खोते से प्रतीत होने लगे हैं, तो क्या अब भी भारत अपनी कुंभकर्णी नींद ही लेता रहेगा?

पर इन प्रश्नों के साथ-साथ भारत से दूर हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में श्वास लेने वाले लोग तथा भारतीय संस्कृति पर गौरव करने वालों के भीतर एक और प्रश्न बड़ी ही स्वाभाविकता के साथ उठ जाता है। क्या भारतीय भाषा और भारतीय संस्कृति दिवालियेपन की कगार पर खड़ी है? जिस देश में रोज़ एक हिन्दी पत्र दम तोड़ रहा हो और आज रोज़ एक अंग्रेज़ी पत्र जन्म ले रहा हो, उसके पास अपनी कही जाने वाली कौन-सी चीज़ है जो वह औरों की झोली में डाल सकता है?

आज जब फ्रांस जैसा देश अपनी भूमि पर अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग पर पाबन्दी लगा रहा है, वहाँ भारत आम को 'मेंगो', समय को 'टाइम', बाप को 'फादर' और जन्मदिन को 'बर्थडे' कह रहा है। जहाँ रिश्तों से लेकर सुबह-शाम के अभिवादन के लिय निर्यात किये गये शब्दों का सहारा लेना पड़े, उस देश से स्वाभिमान की किसी चीज़ की उम्मीद करना खुद को नादान ही तो घोषित करना है।

(5 दिसम्बर, 1994 को नयी दिल्ली में दिया गया व्याख्यान)

(दो)

मॉरिशस में भारतीय संस्कृति और उसे घेरे चुनौतियाँ

जिन दिनों भारतीय संस्कृति अपनी पराकाष्ठा पर थी, उन दिनों विश्व के कई देशों को 'रामायण का देश' कहकर सम्बोधित किया जाता था। वे चाहे थाईलैण्ड, मलेशिया, श्रीलंका रहे हों या जावा, सुमात्रा, बाली। यही नहीं इनसे भी दूर तक फैले देशों में भारत की भाषा और 'महाभारत' तथा अन्य भारतीय ग्रन्थों की कथाएँ अपनी सांस्कृतिक छाप के साथ वहाँ के जन-जीवन से जुड़ी हुई थीं। उन दिनों फ्रांसीसी भाषा और संस्कृति बस एक दायरे तक थी।

आज फ्रांसीसियों की भाषा और सांस्कृतिक़ स्वाभिमान के कारण पूरी तस्वीर बदल गयी है। फ्रांसीसी संस्कृति और भाषा विश्व के इस छोर से उस छोर तक फैलती जा रही है, पर भारतीय संस्कृति और भाषा, दूसरे देशों की बात तो दूर रही, खुद अपनी ज़मीन से उखड़ती-सी प्रतीत हो रही है।

इतना कुछ होते हुए भी विश्व में चन्द देश आज भी ऐसे हैं, जहाँ भारतीय संस्कृति वहाँ के जन-जीवन की सबसे बड़ी धरोहर ही नहीं, बल्कि उनकी अस्मिता भी है और उन देशों में सबसे प्रमुख मॉरिशस है, जिसे क़रीब दो सौ वर्ष पहले भारत से पहुँचे मज़दूरों ने मारीच देश कहा था।

उस देश में 'रामायण' की गूँज शुरू हुई, तो लोगों के बीच मारीच को मिले आशीर्वाद की सार्थकता का अहसास होना शुरू हो गया था। भारतीय आप्रवासियों की उस पहली घड़ी से आज तक मॉरिशस राम नाम के गूँजन का द्वीप बना रहा है।

आज के आधुनिक मॉरिशस में, जिसे विकासशील देशों में प्रमुखता दी जाने लगी है,

'रामायण' के सत्संग भी उसी रफ़्तार के साथ विकसित होते रहे हैं।

जीवन के सबसे विकट क्षण में जब किसी आत्मीय जन के निधन की शोकाकुलता मन को व्यथित करती है, 'रामायण' ही परिवार के आत्मीयजनों को धीरज बँधाती है। मृत्यु के समय और उसके सात दिन बाद तक 'रामचरितमानस' की चौपाइयाँ और दोहे शोकाकुल परिवार को सान्त्वना प्रदान करते हैं और जीवन को फिर से बल देते हैं।

मॉरिशस में भारतीय संस्कृति व परम्परा पूर्णतया जीवित हैं, क्योंकि इसे सँजोया और सँवारा है वहाँ के आदमियों ने। यही कारण है कि वहाँ संस्कृति और परम्परा एक सूत्र में पिरोयी हुई-सी मिलती है।

आधुनिकता की सारी उपलब्धियों को स्वीकार करते हुए भी मॉरिशस के गाँवों और शहरों ने भारतीय परम्परा से जुड़कर 'रामायण' के प्रति अपनी आस्था को बनाये रखा है। वे सत्संग चाहे झाँझ-ढोलक के साथ हों, चाहे गीत-भजनों के साथ हों, या पाठ और विवेचन के रूप में, वे आज भी उसी श्रद्धा और अनुराग के साथ होते हैं।

अन्तर केवल इतना है कि मॉरिशस में भारतीयों के आगमन के समय वे यातना-शिविरों जैसी बस्तियों में होते थे, आज वे भव्य पंडालों, शानदार घरों और रेडियो-टेलीविजन के ज़रिये हो रहे हैं। वहाँ भारतीय विषयों पर केवल गाँवों और गलियों के नाम ही नहीं रखे गये हैं, बल्कि सिनेमा-घरों, दुकानों और बसों तथा लॉरियों के नाम भी नालन्दा, सूर्यवंशी, बनारस, सम्राट अशोक तथा अजन्ता आदि रखे गये हैं।

भारतीय सांस्कृतिक सन्दर्भों में यहाँ डाक टिकट भी समय-समय पर निकलते रहे हैं। मॉरिशस वह देश है, जहाँ प्रगति और आधुनिकता के पारम्परिक मूल्यों को नकार कर नहीं स्वीकारा गया, बल्कि उन्हें बनाये रखा गया है। भारतीय संस्कृति, भाषा और धर्म के यदि विस्तार की चर्चा करें, तो हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम उन परिस्थितियों की ओर एक बार ध्यान दें, जिनके बीच से होकर सफ़ेद सोने (शक्कर) के देश में भारतीय संस्कृति आन्तरिक शक्ति के रूप में फैली हुई है।

वहाँ प्रगति के नाम पर संस्कृति की नीलामी नहीं हुई तथा औरों के मुखौटों को अपने चेहरों पर लगाकर अति आधुनिक होने के फ़ख़ से अभी वह देश मुक्त है। सभी आधुनिक सुविधाओं और तामझाम के बीच भी आनन्द और आत्म-शान्ति की तृप्ति वहाँ अब भी तीज-त्यौहारों और सांस्कृतिक उत्सवों से ही प्राप्त की जाती है।

इतिहास के छात्र इस बात को जानते हैं कि भारत में जब अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों के बीच संघर्ष चल रहा था, तक दो प्रमुख सामरिक सेनापति थे क्लाइव और डुप्ले। मॉरिशस में उन दिनों फ्रांसीसियों का राज्य था। भारत में अपनी स्थिति को बेहतर बनाने के लिए अंग्रेज़ों की नज़र मॉरिशस पर गयी, क्योंकि वह एक ऐसे सामरिक महत्त्व का क्षेत्र था, जहाँ से हिन्द महासागर पर धाक जमायी जा सकती थी।

अंग्रेज़ों ने मॉरिशस पर आक्रमण किया और उसे फ्रांसीसियों से जीत लिया। फ्रांसीसियों ने हारकर सत्ता तो अंग्रेज़ों के हवाले कर दी, लेकिन अपनी सांस्कृतिक शक्ति अंग्रेज़ों के हवाले नहीं की। इसका परिणाम यह हुआ कि मॉरिशस अंग्रेज़ों के कब्ज़े में तो आ गया, पर फ्रांसीसियों की सांस्कृतिक पकड़ के कारण फ्रेंच भाषा वहाँ ज़ोर पकड़ती गयी और उसके साथ ही उसका साहित्य और संस्कृति विस्तार पाते गये।

विश्व के अन्य देशों में भारत जहाँ अपने सांस्कृतिक प्रभाव व लोप्रियता को गँवाने लगा है, वहीं फ्रांस धीरे-धीरे उसे बनाने लगा है। वे देश भी अब फ्रेंचभाषी देश या फ्रेंचान्मुख कहलाने लगे हैं जो कल तक राम और बुद्ध के रंगों में रंगे हुए थे। श्रीलंका, इंडोनेशिया और बर्मा जैसे देशों से भी भारतीय संस्कृति लुप्त होती जा रही है।

भारतीयों के आप्रवास के समय मॉरिशस पर अंग्रेज़ों का राज्य शुरू हो चुका था, पर ज़मीन के अधिकारी फ्रेंच थे। उन्हीं की शक्कर की कोठियों में काम करने के लिए भारतीय वहाँ गिरमिटिया मज़दूर के रूप में पहुँचे थे। वे खाली हाथ नहीं गये थे। उनके साथ थे 'रामचरितमानस', 'हनुमान चालीसा' जैसे धार्मिक ग्रन्थ और उन्होंने गंगा की आस्था और हिमालय का संकल्प लिए उस अनजान और बंजर धरती पर पाँव रखे थे।

मॉरिशस में और भी कई देशों के लोग पहुँचते रहे, पर चट्टानों की भूमि और तूफ़ानों के उस देश से लौटते रहे। वहाँ भारतीयों ने अपने आत्मविश्वास के बल पर चट्टानों की छातियों को चीर कर उनमें गन्ने उगाये। हिमालय की सहनशीलता के साथ हर तूफ़ान का सामना किया।

भारतीयों को वहाँ यह प्रलोभन देकर ले जाया गया था कि उस देश में पत्थरों को उलटने से सोना मिलता है। उन्हें पत्थर उलट कर सोना तो नहीं मिला, पर उनके माथे से वही पसीने की बूँदें खेतों में मोती के रूप में उगती रहीं। उन्हें जहाँ रोटी के लिए पसीने के साथ ख़ून भी बहाना पड़ा, वहाँ उन्होंने पथरीली और बंजर ज़मीन को हरा-भरा बनाया और संस्कृति, धर्म और भाषा के लिए दारुण-दण्ड भी झेले। फिर भी अभियान जारी रहा।

दूसरी ओर फ्रांसीसियों को जहाँ उन मज़दूरों के पसीने की बूँदों को निचोड़ कर अपनी तिजोरियाँ भरनी थीं, वहीं उन्हें उन बेबस भारतीयों पर अपनी भाषा, संस्कृति और अपना धर्म भी थोपना था, ताकि वे कुली कहलाने वाले अपनी जड़ और पहचान से कट जायें और हमेशा के लिए उनके दास बनकर रह जायें। अपने इस मंतव्य की पूर्ति के लिए फ्रांसीसी पूँजीपतियों ने ऐसा क्या कुछ नहीं किया, पर ख़ैर..........यह तो अलग विषय बन जाता है।

इतिहास वैसा भी झूठ बोलता है और मॉरिशस में तो वह गूँगा भी बना रहा! इतिहास का गूँगा होना उसके झूठ बोलने से अधिक ख़तरनाक होता है। झूठ तो बस तब बोला जाता है, जब इतिहास लिखवाये जाते हैं। उसमें अध्याय व पन्ने, आर्थिक व राजनीतिक सत्ता के बल पर लिखवाये जाते हैं। इतिहास का गूँगा होना, मॉरिशस में इतिहास की हत्या-सा लगता है।

मार्क ट्वेन जैसे लेखक को मॉरिशस यात्रा के दौरान यह कहने को विवश हो जाना पड़ा कि भगवान ने पहले मॉरिशस को बनाया होगा, फिर उसकी नकल पर स्वर्ग को बनाया होगा। लेकिन बंजर भूमि को स्वर्ग बनाने वाले उन महान भारतीय मज़दूरों को अब कौन जानता है? उनके नाम खुद इतिहास में नहीं मिलते, जिन्होंने खुद इतिहास का निर्माण किया।

ज़मींदारी ताकत के सभी प्रलोभनों, पाबन्दियों और प्रतिबन्धों के बावजूद, वे मज़दूर कोड़ों और बाँसों की बौछारों को सहकर भी चोरी-चोरी अपनी भाषा, संस्कृति और धर्म से जुडे रहे। उन्हें अपनी भाषा में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता इसलिए नहीं थी कि कहीं वे गोरे मालिकों के विरुद्ध कोई षड्यन्त्र न कर बैठें। उन्हें 'रामायण' पढ़ने या लोकगीत गाने से भी इसलिए रोका जाता था कि कहीं उनके बीच से विद्रोह जन्म न ले ले।

भारी निगरानी के बीच उन्होंने कोयले के टुकड़ों से लिखकर अपने बच्चों को अक्षरज्ञान

और शब्द-बोध कराये। आँगनों में हनुमान जी के छोटे-छोटे चौंतरे बनाकर तथा गाँवों में कालीमाई की स्थापना करके, अपने लोगों को विधर्मी होने से रोका।

लगभग दो सौ साल बाद भी आज भारतीय वंशजों के हर आँगन में हनुमान जी के चौंतरे और लाल झंडियाँ लगी हैं, जो उनके संघर्ष की याद दिलाती हैं। मॉरिशस के गाँवों और शहरों में शायद ही कोई ऐसा घर हो, जहाँ हनुमान जी के चौंतरे के सामने लाल ध्वज गन्ने के खेतों में बहे 'लाल पसीनों' की गवाही न देते हों। इतिहास की अनकही सत्य कथाओं की गवाही में मॉरिशस महिलाओं के माथे पर आज भी यह रंग उतनी ही बुलन्दी के साथ चमकता रहता है।

उन मज़दूरों का सबसे बड़ा संकल्प और साहस तब सामने आया, जब उन्होंने क़ानूनी गुलामी के समाप्त होने के बाद भी दासत्व झेलते हुए गाँव-गाँव में बैठकाओं की नींव डाली। 1901 में मॉरिशस में गाँधी जी के आगमन से उनका हौसला और भी बढ़ा। उन्हें इतनी चेतना तो अवश्य थी कि बैठकाएँ उनकी भाषा, संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिए संजीवनी बूटी का कार्य करेंगी, लेकिन तब वे यह नहीं जानते थे कि कोई डेढ़ सौ साल बाद इन्हीं बैठकाओं से नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, महात्मा गाँधी और नेहरू जी की चर्चा भी वे कर पायेंगे और अपने द्वीप की स्वतन्त्रता की प्रेरणा भी पा सकेंगे।

समस्त गाँवों और शहरों की बैठकाओं से पहली बार मॉरिशस की आज़ादी का आह्वान हुआ। पंडित विष्णुदयाल ने संस्कृति को और बुलन्दी देने के लिए जनान्दोलन शुरू किया और डॉ॰ शिवसागर रामगुलाम के नेतृत्व में मॉरिशस को ऐसी प्रतिकूल स्थिति में आज़ादी मिली, जब फ्रेंच-भाषी समाज उसके विरुद्ध था।

मॉरिशस के राष्ट्रपति डॉ॰ शिवसागर रामगुलाम ने आज़ादी के लिए उसी ऐतिहासिक तारीख़ को चुना था, जिस दिन गाँधी जी ने डांडी यात्रा शुरू की थी। देश के गोरे, अधगोरे और मलगासी नस्ल के क्रिओल आज़ादी के बाद भारतीय वंशजों के प्रतिशोध और शोषण की कल्पना मात्र से भयभीत होकर भारी संख्या में पलायन कर आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका, कनाडा आदि देशों में जा बसे थे, लेकिन आज अपनी भूल के अहसास के बाद एक-एक करके वे लौटने लगे हैं।

भारतीय आप्रवसियों में अपनी संस्कृति की प्रेरणा से क्षमा, सहनशीलता और भाईचारे की भावना रही है तभी आज सभी जाति और धर्म के लोग एक राष्ट्र और एक संस्कृति के रूप में जी रहे हैं। अब वे स्वयं यह मानने को विवश हैं कि अल्पसंख्यकों का इतना विकास शायद ही किसी दूसरी संस्कृति वालों के वर्चस्व में सम्भव होता।

लेकिन संस्कृति, भाषा और धर्म का यह अभियान आसान नहीं था। आज यहाँ पर भारतीय संस्कृति के भव्य स्वरूप को देखकर खुद भारत से पहुँचे भारतीयों को सुखद आश्चर्य होता है। साल-भर पहले जब प्रधानमंत्री नरसिंह राव जी ने मॉरिशस की यात्रा की थी, उस समय उन्होंने बड़े आत्मीय रूप से मॉरिशस के उन सात समर्पित लोगों से भेंट की थी, जो द्वीप में भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के सेनानी के रूप में सदा सक्रिय रहे हैं। बातों के दौरान उन्होंने कहा कि मॉरिशस में भारतीय संस्कृति, धर्म, जीवन-मूल्य, परम्परा, रीति-रिवाज और लोक-संस्कारों को देखते हुए लगता है कि एक दिन शायद भारत को अपने इन मूल्यों की तलाश में मॉरिशस पहुँचना पड़े। अगर यह बात सौ प्रतिशत लागू नहीं भी होती हो तो भी

निराधार नहीं। मॉरिशस में हिन्दू-मुसलमान के धार्मिक भेद के बावजूद उनमें सांस्कृतिक एकता है।

भारतीय संस्कृति केवल मॉरिशस के घरों की चारदीवारियों में ही सुरक्षित नहीं हैं, बल्कि पूरी जीवन-प्रणाली में है। चाहे गोद भराई के मौक़े की रस्म हो या बच्चे के जन्म पर गोत्र और नामकरण के साथ सोहर और ललना गाने का प्रचलन हो या नामकरण संस्कार, जनेऊ, बरछिया पद्धति हो या गृह-प्रवेश हो या अन्तिम-यात्रा का क्षण, सभी हिन्दू भारतीय संस्कारों का पालन करते हैं। विवाह चाहे कितने ही आधुनिक ढंग से क्यों न हो, पर भोज आज भी केले के पत्तों पर पूड़ियों और साग-सब्जियों के ही होते हैं। माटी कोराई, इमली घोंटाई, तिलक, हल्दी से लेकर अग्नि के भाँवर के बीच कोई बीस रस्मों का निर्वाह भारतीय सांस्कृतिक पद्धति के अनुसार ही होता है। गाँवों में बिरहा और हरपरौरी जैसे लोकगायन सुनने को मिलते हैं।

सूखा पड़ने पर ज़मींदार चाहे वे ग़ैर भारतीय ही क्यों न हो, पूरे विश्वास के साथ-साथ सारा खर्च वहन करके हरपरौरी गवाते और धान रोपन की रस्मों को पूरा करवाते हैं। युवा पीढ़ी फ्रेंच और अंग्रेज़ी गाने सुन तो लेती है, पर गुनगुनाती है हिन्दी, भोजपुरी और उर्दू गज़लें ही।

आज मॉरिशस में भारतीय भाषाओं की नाट्य प्रतियोगिता में अंग्रेज़ी और फ्रेंच से कई गुना अधिक नाटकों के मंचन होते हैं। यही बात स्थानीय टेलीविज़न की ओर से गानों की प्रतियोगिता को लेकर है। 720 वर्गमील और दस लाख की आबादी वाले छोटे से देश में 5000 से अधिक प्रतियोगी सामने आ जाते हैं। हिन्दी गाने के लिए यहाँ लोक संस्कृति का वह दूसरा रूप भी देखने को मिलता है, जैसे की होली के अवसर पर भाँग और दीवाली के मौक़े पर ताश और चौपड़ के खेल की प्रथा अभी भी बनी हुई है।

नये देश मॉरिशस में अभी भी विरासत में मिली चीज़ें उतनी पुरानी प्रतीत नहीं होतीं। या तो हम सभी आधुनिक नहीं हुए हैं कि पारिवारिक रिश्तों को पराये नाम दे पायें। हमारे यहाँ चाचा-चाची, मौसा-मौसी अभी अंकल-आंटी में परिवर्तित नहीं हुए हैं। पत्नी हमारे यहाँ न तो 'वाइफ' में बदली है और न ही पति 'हसबैंड' में। भारतीय संस्कृति की धरोहर में मिली माँ आज भी हमारे यहाँ माँ ही है, 'मम्मी' नहीं बनी है। सुबह शाम का अभिवादन भी हमारे यहाँ 'गुड मारनिंग' और 'गुड नाइट' में नहीं बदला है। वह अभी भी 'नमस्ते' और 'प्रणाम' ही है। यहाँ गाँवों के नाम कहीं लाल माटी है तो कहीं पंचवटी, कहीं कुरुमंडल, ब्रह्मस्थान, गोकुल, काशी या बनारस। कुछ सांस्कृतिक मूल्य द्वीप के शहरों में तो नहीं पहुँच पाये, पर गाँवों में आज भी बने हुए हैं, जैसे कि शादी-ब्याह के दौरान पास-पड़ोस के लोगों का सहयोग। पंडाल और विवाह मण्डप (माडो) बनाने से लेकर शादी के घर के आर्थिक बोझ को बाँटने वाली प्रथा के तहत कोई अपने ज़िम्मे सब्ज़ियों की ज़िम्मेवारी ले लेता है तो कोई चावल आटे की। कुछ लोग अपनी-अपनी औकात के बलबूते पर अलग-अलग आवश्यकताओं की पूर्ति कर जाते हैं। कोई पन्द्रह दिन पहले से ही पड़ोस की महिलाएँ घर के काम-काज में हाथ बँटाना शुरू कर देती हैं। गाँव की बैठकाओं से सदस्यों और नवजवानों की भूमिका भी माने रखती है।

भारतीय संस्कृति और रीति-रिवाज़ यहाँ पर थोड़ी-बहुत अलग पहचान भी बना चुके हैं,

जैसे कि गाँवों में मित्रों और रिश्तेदारों के बीच जाम उठाते हुए चीयर्स नहीं कहा जाता, बल्कि ग्लास हाथ में उठा कर एक-दूसरे को नमस्ते कहते हैं, फिर उसे हलक से गले के नीचे उतारते हैं। दूसरी ओर दहेज जैसी प्रथा मॉरिशस में देखने को भी नहीं मिलती। दीवाली के अवसर पर लाखों बिजली के बल्बों के बीच मिट्टी के चिराग की आलियाँ अपनी सही पहचान रखे हुए हैं।

नया साल, संक्रान्ति और व्रत-त्यौहारों में जहाँ प्राय: अन्य देशों में युवाओं का रुझान कम हो रहा है, वहीं यहाँ हर साल बढ़ता नज़र आ रहा है। कुछ हद तक कुछ लोग इसे पिछड़ापन भी कह सकते हैं। लेकिन इसके साथ ही यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि क्या आज के ख़ून-खराबे, नशाख़ोरी, दंगे-फसाद, हत्याएँ, आतंकवाद तथा अन्य मानवीय अवमूल्यनों के बीच सचमुच युवा पीढ़ी में धार्मिक चेतना पिछड़ेपन का द्योतक हो सकती है? महाशिवरात्रि के अवसर पर 'गंगा तालाब' पर पूरे देश-भर से जो यात्री पहुँचते हैं उनकी संख्या देश की आधी आबादी से अधिक होती है, जिनमें प्राय: युवा लोग सफ़ेद धोती-कुर्ता और साड़ियों में होते हैं। इस त्यौहार की तैयारी पन्द्रह दिन पहले से होती है। भव्य काँवरों के साथ तथा भजन-कीर्तन करते पदयात्रियों और देश-भर के सैंकड़ों मन्दिरों की शंख-ध्वनियों और घण्टों की आवाज़ें महाशिवरात्रि को देश का सबसे भव्य त्यौहार बना देती हैं।

मॉरिशस का यह एकमात्र त्यौहार है, जो अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले चुका है। आज दक्षिण अफ्रीका, रीयूनियन द्वीप तथा अन्य स्थानों से भक्तजन शिव पूजन के लिए इस छोटे से टापू में पहुँचते हैं। इसी तरह रक्षा-बंधन के दिन भाई-बहनों की आवाजाही के कारण भारतीय संस्कृति से जुड़े भाई-बहन के इस त्यौहार को देश का सबसे बड़ा यातायात माना जाता है। गंगा-स्नान के अवसर पर कोई सौ समुद्र-तटों पर, जिसे उस दिन देश में गंगा का स्वरूप माना जाता है, पूरा मॉरिशस उमड़ पड़ता है—गंगा मैया को पीयरी चढ़ाने के लिए।

ये तीन त्यौहार इस द्वीप के प्राण हैं। यहाँ के लोगों ने दूसरों की संस्कृति का स्वागत किया है, पर अपनी संस्कृति के मूल्यों को खंडित होने नहीं दिया है। बच्चों की सालगिरह को लोग मेज़ पर केक रख कर मना लेते हैं पर हवन-पूजा के बाद ही केक काटा जाता है। दीये-मोमबत्ती बुझाने की रस्म को स्वीकार नहीं किया जाता है, क्योंकि हमारी संस्कृति में जन्म-दिन पर दीये जलाने की प्रेरणा देती है, न कि बुझाने की सीख, जो कि मृत्यु का प्रतीक है।

मॉरिशस में त्यौहारों का सबसे अधिक महत्त्व है। इसलिए आम छुट्टी यहाँ कोई सात भारतीय मूल के तीज-त्यौहारों के लिए होती हैं। जिनमें शामिल है—शिवपुत्र कार्तिक की पूजा, कावाडी, महाशिवरात्रि, गणेश जयन्ती, वरिषापरिपू, दीवाली और उगाडी। यहाँ के ग़ैर भारतीय लेखक जो फ्रेंच में लिखते हैं, अपने उपन्यास, कविता-संग्रह या नाटक के नाम सुमित्रा, द्रौपदी, नमस्ते या सीता रखने से अपने को रोक नहीं सके हैं।

भारतीय संस्कृति की एक विशेष उपलब्धि की झलक जो मॉरिशस के गाँवों में विशेषकर देखने को मिलती है, वह यहाँ का अतिथि-सत्कार, जिसके बारे में भारतीय तक यह कह जाते हैं कि लगता है वे अपने किसी गाँव के परिजनों के बीच पहुँच गये हैं, और विदेशी पर्यटक तो यह कहते नहीं थकते कि ऐसी मेहमाननवाज़ी तो उन्होंने बहुत कम देखी है।

भारतीय संस्कृति की गवाही यहाँ के पहाड़, नदी और तालाब तक देते हैं। एक ओर देश का मौन प्रहरी, जिसका नाम मुड़िया पहाड़ है, वह परियों को दिये वचन-भंग का प्रायश्चित

करता हुआ मानव आकृति में समाधि साधे बैठै दिखता है। दूसरी ओर परी तालाब अपने गंगा की-सी निर्मलता लिए 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की अनुभूति दिलाता है। ग्री-ग्री के समुद्र-तट के प्रलयंकर ज्वारभाटे शिव के तांडव नृत्य की भंगिमा प्रस्तुत करते हैं। सुबह-शाम आसमान पर चमक आये इन्द्रधनुष अर्जुन के गांडीव की प्रत्यंचा का अहसास दिला जाते हैं।

यहाँ 'महात्मा गांधी संस्थान' के प्रांगण में भारतीय संगीत और नृत्य सीखने अफ्रीका, रीयूनियन और आसपास के द्वीपों से छात्र-छात्राएँ आते हैं और यहाँ के कलाकार इन भारतीय कलाओं के प्रदर्शन के लिए दुनिया के इस छोर से दूसरे छोर तक पहुँचते रहते हैं। कला, धर्म, संस्कृति के इस आदान-प्रदान से लगता है कि भगवान बुद्ध का भारत एक प्रतीक के रूप में आज भी यहाँ विद्यमान है।

यह भारतीय संस्कृति का ही प्रमाण है कि लघु भारत कहलाने वाले इस एक सौ साठ वर्ष के प्रवासी इतिहास में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, फ्रांसीसी, अंग्रेज़, चीनी आदि सभी भाईचारे से रहते हैं। यह भारतीय संस्कृति की महानता है कि यहाँ के भारतीय वंशजों ने इस बात की परवाह किये बिना कि दूसरे भी वैसा करते हैं या नहीं, अपनी संस्कृति के साथ दूसरों की संस्कृति का भी आदर किया और उसे अपनाया है।

दूसरी संस्कृति के लोग बुद्ध, मीरा, कालिदास, रविशंकर, सोनल मानसिंह और पन्नालाल घोष को या भारतीय भाषाओं को जाने या न जाने पर हम ईसा-मसीह, विक्टर यूगो बीथोवन व फ्रेंच, अंग्रेज़ी और उनके साहित्य को कुछ हद तक उन लोगों से बेहतर जानने का गौरव रखते हैं।

सांस्कृतिक स्वाभिमान की एक जीती-जागती तस्वीर मेरे अपने ही गाँव में अभी चन्द महीने पहले मुझे देखने को मिली। एक विधवा गाय पाल कर अपने तीन बच्चों का पालन-पोषण करती आ रही थी। उसकी दो गायों में से एक बूढ़ी हो जाने के कारण दम तोड़ गयी और उसके कुछ ही सप्ताह बाद उसे पता चला कि उसकी दूसरी गाय भैला हो चली है। न बछड़े की सम्भावना थी और न ही दूध की। उस विधवा की दयनीय दशा को देखकर गाँव के कुछ लोगों ने उससे बार-बार कहा कि उस बेकार गाय को बेचकर उस पैसे से दूसरी गाय खरीद ले। पर वह बार-बार कहती रही कि वह अपने बच्चों को भूखा रख सकती है पर गाय को कसाई के हाथ नहीं बेच सकती। पता नहीं ऋषिभूमि भारत में यह घटना कितनी दकियानूसी मानी जायेगी, पर मॉरिशस में बहुत कम लोग ऐसे मिलेंगे, जो सांस्कृतिक परम्पराओं को उखाड़ फेंकने की बात सोचते हों।

ऐसे बहुत ही कम लोग हैं, जो सोचते हैं कि संस्कृति एक कुआँ है और डरते हैं कि उसमें डुबकी लगाने का मतलब होता होगा उसमें डूब मरना, पर वहाँ जो संस्कृति का कुआँ नहीं सरोवर मानकर चलते हैं। उन्हें विश्वास है कि डुबकी लगाने का मतलब है मुट्ठी में मानव-हित के लिये नये मंत्र की सीपी लिए ऊपर आना। इसीलिए मॉरिशस में परम्परा और संस्कृति एक दूसरे के पूरक भी हैं और पर्याय भी और इस एकात्मकता को उस द्वीप में पहुँचकर ही समझा जा सकता है।

संस्कृति की नीलामी करने वाले को दयनीयता से मरते देखा जा सकता है, लेकिन संस्कृति पर मर मिटने वाले को यहाँ कभी रोटी का मुहताज होकर मरते नहीं देखा गया है। यहाँ यह ज़रूरी है कि कुछ लोग विसंस्कृतिकरण को फैशन समझ कर उसमें अपने को रंग

लेते हैं और उसे समय की धारा मानकर उसमें मरी हुई मछली की तरह बहने लगते हैं।

इसका सबसे विकराल रूप हमने पड़ोस के द्वीप रीयूनियन में देखा। पर आज कई वर्षों की गुमराही के बाद, वे बड़ी संख्या में अपनी जड़ में वापस लौटने लगे हैं। इनमें से एक जो मृदंग खरीदने के लिए हवाई जहाज़ द्वारा मॉरिशस पहुँचा था, वह मुझसे बोले बिना न रह पाया कि अब उसे पता चला कि उसने अपने घर की नींव उखाड़ कर ऊपर एक मंज़िला जोड़ने की भारी भूल की थी और अपने से दूर जाकर ही अब उसे अपनी संस्कृति का महत्त्व मालूम हुआ है।

लेकिन दु:ख की बात यह है कि जब पड़ोस का देश गुमराही का अहसास करने लगा है, मॉरिशस में हम अब गुमराह होने लगे हैं। अब तो लगता है कि हमारे सोते रहने का ढोंग बना रहा तो संस्कृति की नीलामी की बारी इस बार हमारी होगी। सांस्कृतिक आक्रमणों से ऐसा आभास होने लगा है, जैसा कभी फ्रांस फेनन ने कहा था कि ये सांस्कृतिक साम्राज्य के मसीहा हमारे अपने ही लोगों के बीच से हमारी संस्कृति और आधुनिकता की चकाचौंध के मोहजाल में अपने को पाने लगेंगे।

राजनीतिक संरक्षण में आज भारतीय संस्कृति जिस तरह अलग-अलग खेमों में जाकर खड़ी हो रही है, उससे तो ऐसा आसार लगने लगा है कि अब यह अभियान अपनी अस्मिता को बनाये रखने के वाले उस डेढ़ सौ साल पहले वाले ऐतिहासिक अभियान से भी ज़्यादा जबरदस्त होगा।

सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित करने को आतुर शक्तिशाली देश पहले भी अपना रंग यहाँ दिखाता रहा है। आज तो और भी बहुत सारे प्रलोभनों के साथ इस प्रयोजन पर ज़ोर दिया जा रहा है। इतिहास की प्रथम घड़ी से मॉरिशस पहुँचे जहाज़ी भाइयों को विभाजित करने की प्रक्रिया चल पड़ी थी, पर तब भी और अब भी अपनी संस्कृति के बल पर वे एक सूत्र में बँधे रहे, लेकिन अब जब राजनीति को भी विश्वास हो चला है कि विभाजित करके ही वह राज्य कर सकती है, सांस्कृतिक अभियान कठिन होता-सा प्रतीत होने लगा है। अब तो उर्दू से बेहतर अरबी की गूँज होने लगी है और भारतीय कला नहीं, बल्कि भारत की प्रान्तीय कला, प्रान्तीय संस्कृति और पहचान की भी चर्चा होने लगी है।

इस राजनीतिक और सांस्कृतिक खींचातानी के बीच सांस्कृतिक साम्राज्यवादी साँठगाँठ के तहत चल रहे विघटन और विभाजन ज़ोर पकड़ते जा रहे हैं। जबकि दूसरी ओर फ्रांस के आलयांस फ्रांसेज़ और ब्रिटिश कौंसिल की सक्रियता के सामने भारत सरकार की शिथिलता को देखते हुए यह पूछने पर विवश होना पड़ता है कि क्या मॉरिशस में इतने संघर्ष और आस्था के साथ सँजोयी संस्कृति अपनी अस्मिता को बनाये रख सकेगी? फ्रांस के राष्ट्रपति श्री मितरां अपने देश की शिक्षा और सांस्कृतिक मंत्री की तरह अपनी मॉरिशस यात्रा के दौरान यह बोलने में नहीं झिझके कि फ्रांस इसे अपना बड़ा दायित्व मानता है कि फ्रांसीसी भाषा और फ्रांसीसी संस्कृति मॉरिशस में और भी ज्यादा विस्तार पाये और इसके लिए फ्रांस अपने प्रयत्नों से कभी पीछे नहीं रहेगा।

काश! भारत भी यह स्वर मॉरिशस की भारतीय संस्कृति के दीवानों को सुना सकता। यहाँ भारतीय उच्चायोग में सांस्कृतिक सलाहकार का स्थान वर्षों से खाली पड़ा रह जाता है। उच्चायोग की देख-रेख में चल रहे 'इन्दिरा गाँधी सांस्कृतिक केन्द्र' संस्कृति और भारतीय

संगीत के नाम पर फिल्मी गाने गाने वाले को 75 हज़ार (लगभग 150 हजार भारतीय रुपये) का पुरस्कार देने में साझेदार हो जाता है, जबकि यहाँ के भारतीय संगीत और नृत्य के समर्पित कलाकार 100 रुपए पाने से भी वंचित रह जाते हैं।

संस्कृति और परम्परा को जीवित जलाने वाले अब आधुनिकता की लाशों के साथ जीने को विवश दिख रहे हैं। उधार के कपड़े पहने वे इतने बेढंगे और भोंदू दिखायी देने लगे हैं कि संस्कृति उधार देने वाले भी उन्हें देख हँस देते हैं और प्रतिबद्ध कहे जाने वाली अपनी ये संस्थाएँ आपस में तू-तू, मैं-मैं करने में इस क़दर उलझी हुई हैं कि उन्हें पाँवों के नीचे सरक रही ज़मीन का पता तक नहीं है।

जिस रफ़्तार से आज रोज़ एक नया देश फ्रांसीसी तहजीब और ज़ुबान को क़बूल करने लगा है, उससे तो यही लगता है कि मॉरिशस भी विसंस्कृतिकरण की कगार पर खड़ा है। लेकिन इस ख़तरे की स्थिति निहत्थेपन की न होकर आज भी प्रश्न कर जाने की रौ में है कि क्या ये ताकतवर देश हमारी दाल, रोटी, चावल और साग खाने का संस्कार भी हमसे छीन सकते हैं? हनुमान के चौतरे और लाल ध्वज को ये मॉरिशस से हटा देने की शक्ति रखते हैं? क्या ये मॉरिशस की महिलाओं की माँगों से उनके सिन्दूर और माथे से टीका नोच सकते हैं? और क्या कृष्ण और राधा की भूमिका में नृत्य कर रहे मॉरिशस के कलाकारों के पाँवों के घुँघरुओं की झँकारों को ये प्रलोभनों से खरीद सकते हैं?

अपनी सरकार से जीवन-भर नचिकेता और अर्जुन से प्राप्त सांस्कृतिक बल पर मैं प्रश्न करते रहने के ख़तरों और सज़ाओं से तो गुज़रता रहा हूँ, पर आज हिन्द महासागर के बीच पल रहे उस सांस्कृतिक तूफ़ान को देखते हुए भी नज़रें अनायास पूरब की ओर चली जाती हैं। उस गूँज और धुँध में भी उम्मीद बनी हुई है कि अगर भारत सरकार और यहाँ की सांस्कृतिक संस्थाएँ मॉरिशस के प्रति थोड़ी अधिक जागरुकता दिखायें तो मॉरिशस वहाँ के सारे प्रलोभनों के बीच भी 'रामायण' का देश बना रह सकता है तथा दृढ़ता से कहा जा सकता है कि उसकी वही नियति नहीं होगी जो उन सभी देशों की हुई है जिन्हें कभी राम और बुद्ध के देश कहा जाता था।

अगर मॉरिशस को भारत से वही महत्त्व और प्यार मिला जो उसे फ्रांस से मिलता रहा है, तो यहाँ की यह आशंका मिट कर रहेगी कि उस द्वीप में भी कभी फीज़ी की त्रासदी की पुनरावृत्ति हो सकती है। मॉरिशस और भारत का यह नागरिक कम-से-कम अपने देश के उन तमाम नागरिकों की सांस्कृतिक भूमि से इतनी कामना तो कर ही सकता है।

(6 दिसम्बर, 1994 को नयी दिल्ली में दिया गया व्याख्यान)

(तीन)
आदमी का संघर्ष

'वसन्त' का यह तीसरा अंक अपनी सार्थकता की खुशी लिये आपके हाथों में है। इसकी प्रतिध्वनि मॉरिशस से बाहर भारत और अन्य कई देशों में हुई। इससे हमारा हौसला और भी बढ़ा। 'वसन्त' के स्वर को कई देशों के पाठकों ने अपना स्वर माना जिससे यह बात स्पष्ट

हो कर सामने आती है कि दुनिया-भर में आदमी की समस्या लगभग एक ही है। व्यवस्था के दूर तक फैले हुए जाल में आदमी की अपनी क्या स्थिति और हस्ती रह जाती है? हम भी मानते हैं कि बेचारगी और उदासीनता का अहसास करता हुआ भी आदमी अपने संघर्ष को ज़ारी रखे हुए है। यह संघर्ष चाहे भूख का हो, चाहे वर्ग-संघर्ष का, चाहे अस्मिता का, चाहे सूनेपन से जूझने का। ये कड़ियाँ कहीं-न-कहीं मिलती ज़रूर हैं। और लड़ाई का एक विश्वव्यापी मुद्दा लगभग यही हो जाता है कि छिछलेपन और घिनौनेपन से आदमी को मुक्त किया जाये.........।

..........और एक वैचारिक क्रान्ति को साकार करने की चेष्टा जारी है, आदमी कब तक अंदरुनी यातना से तार-तार होकर अपने आप से भागता रहेगा। यह भागना कभी तो ख़त्म हो। कभी तो आयात किये बासी विचारों का धन्धा करने वालों को "नहीं" कहने का साहस तो किया जा सके। आदमी की मान्यताओं, विश्वासों और जीवन-मूल्यों को बाज़ार में इतने सस्ते दामों में बेचने की परम्परा को कब तक बनाये रखना है?

परिवर्तन निरन्तर विकास का प्रतीक रहा है। कल के कुछ सीले पड़ गये गंधलाते सत्य को आज भी इस युग का सत्य मानते रहना और अपने को खुद निहत्थेपन की स्थिति में ढकेल देना एक दूसरी ही विडम्बना बन कर रह जाता है। एक मोह बन कर रह जाता है और कभी पूरी ज़िन्दगी गुज़र जाती है इस मोह को झटका दे कर अलग करने में।

मुट्ठी भर लोग कब तक ऐसे देश की समृद्धि को अपनी मुट्ठी में बन्द किये रहेंगे? जिस देश की धरती को डेढ़ सौ साल से श्रमिक वर्ग अपनी श्रम-बूँदों से सींचता आ रहा हो। आदमी-और-आदमी के बीच में अन्तर को कम करने के नारे तो बहुत लगाये जाते हैं, फिर भी अन्तर दरार की तरह बढ़ता ही चला जा रहा है।

कभी मज़हब को गरीबों की अफ़ीम कहा गया था, आज प्रयोजन विशेष से दिय गये दो पैसे आम आदमी के हाथ में अफ़ीम है। अपने हाथ के दो सिक्कों की अंधोल्लास में आदमी बाँस की तरह बढ़ कर ताड़ बनते उन पूँजीपतियों की भीमकाय हस्ती को नहीं देख पा रहा है जो कल अपनी पीठ से सूरज को मज़दूरों की बस्ती से दूर रख सकने का सपना देख रही है।

जो इस धाँधलेबाज़ी को नहीं समझ पाते वे इसे नियति का खेल मानकर चुप हैं। जो समझ पाते हैं, वे अपने भीतर सीले हुए आक्रोश के ठंडेपन को पाल रहे हैं। पर कब तक?

('वसन्त', वर्ष : 1, अंक : 3)

(चार)

हिन्दी—आम आदमी की आवाज़

हिन्दी सिर्फ़ पूर्वजों की भाषा नहीं है। वह आज की भाषा है। आज के मॉरिशस के लोगों की भाषा है तभी तो आज़ादी के बाद इस भाषा में मॉरिशस के लेखकों ने 15 पुस्तकें (सन् 1999 तक इनकी संख्या सैकड़ों हैं) छपवायी हैं। इस देश में किसी भी दूसरी भाषा में आज़ादी के बाद इतनी पुस्तकें नहीं लिखी गयीं। यह प्रमाण है कि यह भाषा कितनी जीवन्त है। फिर भी हिन्दी साहित्य की चर्चा सामन्त वर्ग के बीच कभी नहीं होती जब कि मॉरिशस

के हिन्दी साहित्य ने इस देश के साहित्य को समृद्ध करने में बहुत बड़ी भूमिका निभायी है। कल अगर मॉरिशस के हिन्दी साहित्य का सही मूल्यांकन हुआ तो पता चलेगा कि इस साहित्य ने हर वक़्त आम आदमी की आवाज़ बुलन्द की है, व्यवस्था के ख़िलाफ़ और समाज के कल्याण के लिए आवाज़ उठायी है। मॉरिशस की हिन्दी कहानियाँ, कविताएँ, नाटक और उपन्यास हर वक़्त जन-जीवन के साथ जुड़े रहे हैं। इसीलिए तो पिछले वर्षों में हिन्दी के कई नाटकों को विद्रोही रचना करार कर पटरी से उतार दिया गया। इन बातों की चर्चा नहीं होती। यह एक दूसरी पूँजीवादी साज़िश है। शुरू से हिन्दी के सभी कवियों ने मज़दूरों, ग़रीबों, पददलितों और शोषितों की समस्याओं को अपनी रचनाओं में उठाया है। वे चाहे ब्रजेन्द्र भगत रहे हों, चाहे सोमदत्त बखोरी, चाहे रामदेव धुरन्धर या पूजानन्द नेमा, चाहे सिबरत रहा हो चाहे मुकेश जीबोध, इन सभी की रचनाएँ सर्वहारा वर्ग के अधिकारों की रचनाएँ रही हैं। हाँ, यह दूसरी बात है कि कुछ अवसरवादी रचनाकारों ने अपने स्वार्थ के लिए चारणों की तरह सत्ता और सत्ताधारियों की स्तुति भी की है, पर यह तो यहाँ की अन्य भाषाओं में भी हुआ है। इन एक-दो लेखकों के कारण एक पूरे साहित्य को नकारा नहीं जा सकता।

आज हिन्दी के ज़रिये मॉरिशस का साहित्य विश्व के कई देशों में पढ़ा जाता है। भारत के साथ रूस, जापान, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी तथा और भी कई देशों में मॉरिशस के हिन्दी साहित्य के ज़रिये मॉरिशसीय साहित्य को प्रतिष्ठा मिली है। मॉरिशस में हिन्दी के महत्त्व को कम करने का अर्थ होगा—150 साल के इतिहास को मिटा देना, गाँवों की अभिव्यक्ति को कुचल देना, गरीबों की भाषा को मसल देना, मॉरिशस के साहित्य को विकलांग कर जाना, इतिहास के बलिदान और त्याग को भुला देना, आज़ादी प्राप्ति में हिन्दी के सहयोग को नकार देना, संजोई हुई संस्कृति को मटियामेट कर देना देश-भर की बैठकों को बन्द कर देलना, अध्यापकों और पंडितों को पद्च्युत कर देना, संजोई हुई संस्कृति को मटियामेट कर देना, अस्मिता को मिटा देना। हमारा तो यह विश्वास है कि हिन्दी के विकास और उसके सही प्रचार-प्रसार से हम अपने इतिहास के प्रति वफ़ादार साबित होंगे और अन्य भाषाओं के साथ हिन्दी के बराबर अधिकार के ज़रिये हम एक बेहतर मॉरिशस का निर्माण कर सकेंगे।

('वसन्त चयनिका' से)

(पाँच)

भोजपुरी और हिन्दी : हमारी अस्मिता

एक बोली विशेष को हमारी भाषा का जामा पहला कर, एक संस्कृति विशेष को हमारी संस्कृति कह कर कह दिया गया यह देश की भाषा है, देश की संस्कृति है। देश-प्रेम की वेदी पर हमने भी उस भाषा और संस्कृति को अपनाया। हमारे अपने लोगों में एक वर्ग ऐसा भी है जिसने इन लादी-थोपी चीज़ों को अपना कर आत्मगौरव भी अनुभव किया। आज जब हम ऐतिहासिक यात्रा के एक पड़ाव पर नवसर्जन और नवचिन्तन की दुहाई दे रहे हैं तो एक प्रश्न अपने आप पैदा हो जाता है। और यह प्रश्न है उसी आत्म-गौरव अनुभव करने वाले वर्ग से।

क्या इस देश के संघर्ष और विकास से जुड़ी हुई एक बोली है? खेतों में पसीने की बूँदों

के साथ ख़ून के कतरे भी बोने वालों के संघर्ष और राष्ट्र-निर्माण से जुड़ी हुई कोई दूसरी संस्कृति भी थी? थी कोई ऐसी भाषा जिसमें इस देश की सबसे दारुण यन्त्रणा झेलने वालों और सब से अधिक पसीना बहाने वालों ने अपनी अभिव्यक्ति की है, जिसमें इस मॉरिशस की धरती की सौंधी गन्ध है, है कोई ऐसी भाषा?

इस प्रश्न का उत्तर नहीं में देने का साहस किसी में नहीं है। और जब इतिहास के दस्तावेज़ के रूप में इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' होता है तब तो इतना पूछने की इज़ाज़त भी तो इस स्वतन्त्र देश में हमें मिलती है कि क्या कारण है फिर, कि उस संस्कृति और उस भाषा को भी वही महत्त्व नहीं मिलता जो तथाकथित राष्ट्र-भाषा को मिल रहा है। स्वतन्त्रता के बाद यह मनोवृत्ति कहीं नवसाम्राज्यवाद की तो नहीं।

हमारा यह दावा तनिक भी नहीं कि खेतों-गाँवों और स्वतन्त्रता की विजेता बैठकों की इस संघर्ष और निर्माण की भाषा को राष्ट्र-भाषा करार लिया जाये, पर क्या इस बहुसंख्यकों की भाषा को भी वही दर्ज़ा नहीं मिल सकता जो एक बोली विशेष को मिल सकता है? हमें यह नहीं लगता कि उसके उत्तर के लिए हम बहरी और बेबस व्यवस्था का मुँह ताकें।

भाषा मात्र अभिव्यक्ति का साधन कभी नहीं रही और न ही संस्कृति-जाति के मात्र प्रतीक के रूप में रही है। ये दोनों जाति को अंदरुनी ढंग से जोड़ कर उसे शक्ति प्रदान करती हैं।

जिस तरह हमने औरों की चीज़ों को स्वीकार लिया क्योंकि उन्हें इसी मिट्टी पर पनपने का अवसर मिला है, उसी तरह हम अपनी भाषा और संस्कृति को भी आधुनिकता के नाम पर नकारें तो नहीं। इतना ही नहीं हमारी इस सम्पत्ति और इतिहास की इस धरोहर को वे भी अपनायें जो राष्ट्रीयता के नारे बुलन्द कर रहे हैं। पर वे तो सम्भवत: तभी इसे स्वीकारेंगे जब हम अपने को विसंस्कृतिकरण की चकाचौंध में अन्धा बन जाने से रोक सकें। और कितनी बड़ी विडम्बना है यह कि इस देश के कुछ बुद्धिजीवी और क्रान्तिकारी मुद्दों वाले जिस व्यक्ति को तीसरी दुनिया का मसीहा मानते हैं, उसी का यह कहना है कि राजनीतिक साम्राज्य से भी अधिक हीनता पैदा करने वाला सांस्कृतिक साम्राज्य होता है। राजनीतिक साम्राज्य तो हमारे ख़्यालों को संकुचित करके हमें गुलाम बनाता है, जबकि सांस्कृतिक साम्राज्य हमारी आत्मा तक को आतंकित, भयग्रस्त और गुलाम बना देता है।

दमनचक्र चल पड़ा है लेकिन अधिकार की रक्षा की आवाज़ भी इस चक्की में पिस नहीं जायेगी। इसके लिए ऐतिहासिक तंद्रा को झटका देकर वार्षिकोत्सव में माला पहनने वाले यह जान लें कि भोजपुरी और हिन्दी के बिना इस देश का कोई इतिहास हैं ही नहीं।

('वसन्त चयनिका' से)

(छः)

हिन्दी के मसीहा चुप क्यों हैं?

1979 बाल वर्ष है। बच्चों के अधिकारों और उनकी आकांक्षओं को मान्यता देने तथा उनको सही अर्थों में कल का नागरिक होने का अवसर देने का संकल्प। इधर कुछ दिनों से

जिस मुद्दे को लेकर उठा-पटक और रस्साकशी शुरू हुई है वह इन्हीं बच्चों से सम्बन्धित है, जिनके प्रति स्नेह का हम दावा करते हैं और जिनके हक़ की लड़ाई हम लड़ना चाहते हैं। इन दोनों बातों में हमारी ईमानदारी कहाँ तक बिन मुखौटे की है, इस पर ग़ौर करना आवश्यक हो जाता है।

छठी कक्षा की परीक्षा को लेकर भारतीय भाषाओं को नकारने वालों ने जो जेहाद छेड़ रखा है, उसे इस अस्त-व्यस्तता में समझना बड़ा कठिन हो गया है कि यह जेहाद बच्चों का अपना है या बच्चों को कवच बनाकर बड़े लोगों का अपना कोई महाभारत?

इस देश में सौ से ऊपर गाँव होंगे, जहाँ के लोग अब तक की शिक्षा-पद्धति के कारण आधुनिक और स्वस्थ कॉलेजों की शिक्षा से महरूम रहे। अच्छे और सरकारी कॉलेजों में वे ही बच्चे स्थान पाते रहे, जिनके बाप के पास हज़ारों थे खर्च करने के लिए। शिक्षा के नि:शुल्क होते ही इस अंधे औपनिवेशिक क़ानून को मिटाकर सभी छात्रों को बराबर का अवसर देने के प्रयत्न के फलस्वरूप और बाल-वर्ष को सार्थक करने के ध्येय से सरकार ने यह तय किया कि आइन्दा अवसरवादी मनोवृत्ति पैदा करने वाली छात्रवृत्ति को समाप्त कर दिया जाये। एक आज़ाद मुल्क में तालीम को न्यायपूर्ण रूप देने के लिए यह निर्णय लिया गया कि उन सभी स्थानीय भाषाओं को भी बराबर मान्यता मिलनी चाहिए, जिन्हें लाखों विद्यार्थी पढ़ते हैं, जो डेढ़ सौ साल से संघर्ष की भाषा रही है तथा जिससे इस राष्ट्र के बहुसंख्यकों की अस्मिता बनी रही है।

मुद्दत बाद व्यवस्था की कुम्भकर्णी नींद टूटी और प्राथमिक स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों को यह अवसर दिया गया कि उनकी भाषाओं के अध्ययन को भी महत्त्व मिले। यह कोई बहुत बड़ी मान्यता नहीं रही! इस थोड़ी-सी मान्यता के बावजूद उनकी भाषाओं को लॉली-पॉप ही नसीब हुआ। उन्हें आज भी वह दर्ज़ा नहीं मिला जो फ्रेंच को प्राप्त है। फ्रेंच के प्रति यह मोह क्यों? यह अंधभक्ति क्यों? एक आज़ाद मुल्क में आज भी एक भाषा दूसरी भाषा की स्वामिनी क्यों बनी हुई है?

इस देश की मिट्टी की भाषा न तो अंग्रेज़ी है और न ही फ्रेंच। ऐतिहासिक संघर्ष, आर्थिक व्यवस्था और स्वतन्त्रता-अभियान को ध्यान में रखते हुए इन भाषाओं को आँकें तो कहीं-न-कहीं हिन्दी तथा उसकी साथी भाषाएँ यहाँ के ईख के खेतों और मिट्टी से जुड़ी लगती हैं, जबकि फ्रेंच शुरू से ही शोषकों की भाषा रही है। आम आदमी की बात करने वाले, सर्वहारा वर्ग का बहिष्कार करके शोषणपूर्ण सामन्ती व्यवस्था की भाषा को ही गद्दी पर क्यों बैठाये रखना चाहते हैं? क्या हम इसे ही वैचारिक क्रान्ति मान लें? मानव-मूल्यों की रक्षा और बच्चों की अपनी सही पहचान की नयी व्याख्या इसे ही कहते हैं?

फ्रेंच की तुलना में हिन्दी तो आज भी सोझिया की गाय या अबर की जोरू ही रही। यह कैसी नीति है कि कुछ बच्चे चार ही विषयों में पास होकर परीक्षा में सफलता पा लें, और कुछ चार विषयों में पास होकर भी अगर फ्रेंच में चूक जायें तो पूरी परीक्षा में असफल माने जायें! हिन्दी में कोई छात्र 99 अंक पाकर इम्तिहान में नाकामयाब रह जायेगा, अगर वह फ्रेंच में सफलता नहीं पाता है तो! कितनी बड़ी विडम्बना है यह, किनता बड़ा धोखा! 99 अंकों से हिन्दी में सफल होने वाले छात्र की इस आज़ाद मुल्क में कोई क़दर नहीं, जबकि ऐसे छात्र को प्रतिभा का धनी मानना चाहिए और यह बाल-वर्ष है!

बच्चों के हृदय से उनकी अपनी जबान नोचकर उसकी जगह पर सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की, यानी दूसरी गुलामी की ज़बान–फ्रेंच आज़ादी के बाद भी बसायी जा रही है, जिसे राजभाषा न होने के कारण अनिवार्य भाषा होने का कोई हक़ नहीं, और ऊपर से यह फतवा कि एक भाषा प्रतिष्ठा की भाषा होती है तो दूसरी उपेक्षा और बहिष्कार की कैसे हो जाती है? भाषा और संस्कृति से सम्बद्ध हमारी सभी संस्थाएँ होंठों पर साबुत एलास्टोप्लास्ट चिपकाये क्यों बैठी हैं? हिन्दी-हिन्दी चिल्लाने वाले वे मसीहा आज भी चुप क्यों हैं?

('वसन्त', वर्ष-2, अंक : 3)

(सात)

घातक मनोवृत्ति

वह जो बीत गया–अस्तव्यस्तता का वर्ष था। सियासती रस्साकशी, उक्टापैंची और उठा-पटक के बारह लम्बे और बोझिल महीने जिनमें बाढ़ भी आयी, तूफ़ान भी आया, महँगाई भी आयी, मुनाफाख़ोरी भी चली। अलगाव, उलझाव और भटकाव के बीच सतवांस हड़तालें भी हुईं। मॉरिशसीय मुद्रा का एक टुकड़ा चूहा कुतर भी गया और इन तमाम उपलब्धियों के बावजूद कुछ लोगों के धनी होने की रफ़्तार बढ़ती रही और कुछ लोगों के ग़रीब होने की गति भी तेज होती गयी।

आम आदमी को नसीहत होती रही, अपने पेट को थोड़ा सिकोड़ लेने की। दीक्षाएँ दी जाती रहीं बरावा कर जाने की, परहेज कर जाने की। पर कौन किससे पूछे कि यह त्याग केवल सर्वहारा ही क्यों करें। जो खुद मोहताज़ हो, उसे ही बार-बार यह क्यों कहा जाये कि वह फ़िजूलखर्ची को रोके? और जो सुविधाभोगी और अवसरवादी हैं, उसे छूट है हर आयात की हुई लक्ज़री की! नये वर्ष के साथ अगर देश की दयनीय स्थिति में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से निर्णय और संकल्प करने हैं तो वह वर्ग-विशेष की क्यों करे? उसके लिए हमारी सामन्ती हस्तियाँ भी तो आगे आयें। पूरा देश ले यह संकल्प! बस यात्रा-यात्रा.........और हाथ ही पसारते-फैलाते रहने से उस बेहतर की कल्पना अपने आप को धोखा देने के अलावा और कुछ भी नहीं हो सकती! मनोवृत्ति ही अगर बदलनी है तो वह केवल अबर की जोरू ही क्यों बदले? यह तो पूरे देश को करना होगा!

लगभग सात साल होने को हैं, जब से सरकारी पाठशालाओं के लिए हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों के आधुनिकीकरण और तैयारी की बातें चल रही हैं। इस सन्दर्भ में महारथी आते-जाते भी रहते हैं। हर एक विशेषज्ञ आकर कुछ-कुछ शुरू तो ज़रूर कर जाता है, पर इतनी लम्बी अवधि के बाद आज भी ये पुस्तकें सामने नहीं आ सकीं। पैसे बहाने में न तो कोई लिहाज हुआ है और न ही बुद्धि खपाने में कोई कंजूसी की गयी है; तो फिर कारण क्या हो सकता है, इस कच्चेपन और अधूरेपन का? क्या हम सिर्फ़ इतना ही पूछने की धृष्टता कर लें कि क्या अंग्रेज़ी और फ्रेंच के साथ इसी तरह का व्यभिचार कर जाने की शक्ति है किसी में?

एक दम्पति है इस देश में, जिन्होंने सारी निष्ठा और परिश्रम के साथ अपना बचा-खुचा लगाकर इस कमी की पूर्ति करने की कोशिश की। कक्षा एक, दो और तीन के लिए लिखी हुई

इन युगल लेखकों की तीन पुस्तकें बहुत ही सुन्दर ढंग से छपकर बाज़ार में आ गयी हैं। इन पुस्तकों में एकाध खामियाँ हो भी सकती हैं, फिर भी आज की इस खलने वाली स्थिति में ये पुस्तकें एक बहुत बड़ी भूमिका का निर्वाह कर सकतीं थीं, बशर्ते घर की मुर्गी को साग बराबर न समझकर अगर इन पुस्तकों को स्कूलों तक पहुँचाया जाता तो! घर पर बच्चा भूखा मर रहा है। ओरियानी में दुधारू गाय बँधी हुई है और हम दुकान-दुकान भटक रहे हैं डिब्बे के दूध के लिए!

फिर वही मनोवृत्तिवाली बात—कब बदलेगी यह?

('वसन्त चयनिका' से)

(आठ)
आज़ादी का जश्न

आज़ादी का जश्न एक बार फिर मनाया जायेगा। इस बार देश की तंगहाली और अभिशप्त स्थिति के कारण सम्भवत: मित्र देशों से हस्तियाँ और नाचने-बजाने वाले न पहुँचें, फिर भी तमाशे से शायद हमें वंचित नहीं रखा जायेगा!

स्वतन्त्रता की उपलब्धियों की फ़ेहरिस्त तो बहुत लम्बी हुआ करती है। उन सारे विकासों, कामयाबियों और प्रगतियों के बारे में बोलते हुए लोग अघायेंगे भी नहीं! भाषणों की लीपापोती, फिर बहुत सारे वायदे और आश्वासन, और उसके बीच राष्ट्रीयगान की धुन के साथ समारोह पूरा भी हो जायेगा।

और यह भी हो सकता है कि तूफानों-बाढ़ों और आर्थिक जीर्णता के उस पीड़न का वे मदहोश लोग भी अहसास कर लें और यह सालगिरह यों ही ख़ामोशी में गुज़र जाये! ओऽम शान्ति: और यों ही पूरा हो जायेगा एक और अध्याय।

अधूरे तो बस आम आदमी के सपने रह जाते हैं! वह आम आदमी जिसने आज़ादी के अभियान में भाग लिया, वह आज भी अपनी झोंपड़ी के किसी कोने में बैठा हुआ आज़ादी की परिभाषा और उसके मूल्यों को पहचानने-समझने में लगा रहेगा, जबकि आज़ादी के विरोधी ख़ुशी में झूमते नज़र आयेंगे। इस विसंगति को अंगीकार करता हुआ समय चला आ रहा है और मस्त हाथी के चाल से चलता ही जायेगा।

एक ओर आज़ादी के ख़िलाफ़ जेहाद करनेवाले कल के वे विपक्षी अपने सबसे आत्मीय बनकर गले मिलेंगे और अपनी सफलता का अहसास करके आज़ादी की अय-जयकार करेंगे, तो दूसरी ओर महँगाई के बोझ को सिर पर लिये आज़ादी का कोई सेनानी अपने बच्चों के पेंदेहीन भविष्य पर आँसू बहाता मिलेगा। एक को अपनी गरिमा और सम्पूर्णता का बोध होगा और दूसरे को एक ऐतिहासिक साज़िश का निराशा-बोध होता रहेगा। एक ओर अवसर और सुविधाएँ, दूसरी ओर अभाव अधूरापन, अभिशाप और आत्मघाती स्थिति!

और यह आदमी जो पीठ पर समय की भारी-भरकम सलीब को ढोये चला आ रहा है, आज भी अपनी इस आशा को बरकरार रखे हुए है कि शायद इस बार उसके ये सियासती मसीहा दिमागी जकड़ से मुक्त होकर अपने सड़ाध भरे माहौल से बाहर आयें! वे आपस की पैंतरेबाज़ी को तजकर उस सही लड़ाई को लड़ सकने के काबिल अपने को बनायें, जिससे

ये खेत चुगे जाने से बच जायें। और.........

और तब शायद स्वतन्त्रता की अगली सालगिरह मातमपूर्सी-सी न प्रतीत होकर उमंगों ओर खुशहाली का समारोह प्रतीत हो!

('वसन्त चयनिका' से)

(नौ)

हिन्दी की गरदन पर ये खूनी पंजे किसके हैं?

इस आज़ाद मुल्क में आज हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के साथ जो व्यभिचार हो रहा है, उसकी वजह औपनिवेशिक हस्तियों की आर्थिक शक्ति है या हमारे नेताओं की ओर से विश्वासघात या यह हमारी अपनी ही कमजोरियों का नाजायज़ फ़ायदा है जो हमारा अहित चाहने वाले आज उठा रहे हैं?

एक सौ पचास साल से हिन्दी इस धरती की सांस्कृतिक, सामाजिक, औद्योगिक और राजनीतिक गतिविधियों तथा विकास के साथ जुड़ी रही है। उस पर कोड़े भी बरसे हैं और उसने सामन्ती तूफ़ानों को भी झेला है। बहिष्कृत हो-होकर भी हिन्दी ने इस देश के स्वतन्त्रता-अभियान में जो भूमिका निभायी, उसे भी बिसार देने की कृतघ्नता सामने आ ही गयी।

जब यहाँ के अंग्रेज़ी-फ्रेंच के ठेकेदार पूँजीपतियों ने आज़ादी के ख़िलाफ़ जेहाद शुरू किया था, उस समय गाँवों की बैठक-बैठक से, ईख के खेतों के चप्पे-चप्पे से स्वतन्त्रता का आह्वान हुआ था। आम आदमी की इस निश्छल अभिव्यक्ति और उस अदम्य शक्ति की जीत हुई थी। यह दावा भी सिर्फ़ हिन्दी का ही हो सकता है कि अगर लोग मन्त्री और महामन्त्री की कुर्सियों पर शोभित हैं तो उसी हिन्दी के वोटों से। आज उन्हीं ओहदों के भारी-भरकम बोझ के नीचे हिन्दी साँसों के लिए छटपटा रही है।

हिन्दी के साथ अन्य भारतीय भाषाओं का बहिष्कार और अपमान हुआ है, उससे भी यही प्रतीत होता है कि इस देश में सरकार नाम की कोई चीज़ अब है ही नहीं! अगर हुई भी तो नपुंसकता को पहुँची हुई; अन्यथा यह देश गिरजाघर की डाँट-डपट से आत्मसमर्पण न कर जाता। अगर यही रवैया रहा तो कल पूरी हुकूमत गिरजाघर की होगी!

पैंतीस वर्ष से जिस हिन्दी की पढ़ाई सरकारी स्कूलों में होती चली आ रही है और जिसके पीछे सरकार को एक महत्त्वपूर्ण रकम खर्च करनी पड़ती है, वह आज भी परीक्षा का विषय बनने की योग्यता अर्जित नहीं कर सकी। कितना कसैला है यह व्यंग्य! कितनी करारी है यह नीति! जो मान्यता दो औपनिवेशिक ज़ुबानों को हासिल है, वह बहुसंख्यकों की अपनी भाषा को क्यों नसीब नहीं? मौक़ापरस्ती की भी तो हद होती है।

बाज के पंजों में कबूतर की स्थिति में हिन्दी का दम घुट रहा है। वह छतनार के नीचे किसी पौध की तरह अस्तित्व और अस्मिता के लिए छटपटा रही है।

पर अगर थोड़ी-सी ईमानदारी और दिलेरी के साथ यह सवाल किया जाये कि आख़िर हिन्दी की इस वर्तमान स्थिति के लिए ज़िम्मेदार क्या सिर्फ़ पूँजीपति और शोषक की बाँहें ही

हैं, या ये पंजे हमारे अपनों के भी हैं? तो उत्तर की जगह एक दूसरा सवाल पैदा हो जाता है—चुनावों के दौरान हिन्दी और भाई-भाई की दुहाई दे-देकर वोटों की भीख माँगने वाले वे राजनयिक आज ख़ामोश क्यों हैं? क्या कहीं ये लोग भी इस साज़िश में शामिल ता नहीं? क्या यह सियासती छलावा ही हमारी नियति है?

भाषा सिर्फ़ अभिव्यक्ति का साधन नहीं हुआ करती; वह तो एक पूरी जाति, एक पूरे राष्ट्र की अपनी अस्मिता, अपनी गरिमा होती है! भाषा आदमी को अंदरूनी ढंग से जोड़ती है। उसके बिना संस्कृति विकलांग और गूँगी हो जाती है। राजनीतिक शक्ति का स्त्रोत भी भाषा होती है। क्या हम भूल गये इस साम्राज्यवाद के नारे को, कि अगर एक जाति को मिटाना है तो पहले उसकी भाषा को मिटा दो!

इस साम्राज्यवादी षड्यन्त्र से हमें मानसिक स्तर पर गुलाम बनाने की प्रक्रिया चल पड़ी है। इस सन्दर्भ में हम अपने आप से भी सवाल करने का साहस तो करें।

क्या इस स्वतन्त्र देश में हम आयात की हुई, डिब्बे की संस्कृति के प्रलोभन में अपनी संस्कृति को नीलाम कर दें?

अपने बच्चों के हाथों में बैसाखी थमा देना हमें गवारा होगा?

अगर नहीं तो फिर अपनी भाषा की गरदन पर के इन खूनी पंजों से निबटना होगा!

(इस सम्पादकीय के कारण 'वसन्त' की सभी प्रतियाँ जला दी गयी थीं।
यह सम्पादकीय आग की लपटों से बची प्रति से लिया गया है)

(दस)
अर्थ और संस्कृति

संस्कृति और अस्मिता की अपनी एक शक्ति होती है जो अदृश्य और प्रसुप्त प्रतीत होकर भी अपनी ऊर्जा को भीतर-ही-भीतर संजोये रहती है। हमारे देश में इधर की ऐतिहासिक घटना में अवाम के निर्णय ने एक बार फिर इस धारणा को सत्य प्रमाणित कर दिया। वैचारिक और आर्थिक समस्या से कभी सांस्कृतिक समस्या अधिक बुलन्दी लिये होती है। इस बार जनता ने स्पष्ट कह दिया कि वह भाषा और संस्कृति तथा अस्मिता के साथ किसी भी तरह के व्यभिचार को स्वीकार नहीं कर सकती। आदमी अगर मात्र रोटी से जीने वाला जीव होता तो शायद जनता का इतना सशक्त उत्तर देश को नहीं मिलता। भाषा-संस्कृति आदमी की अपनी अस्मिता की रोटी होती है। उससे आदमी को विमुख और मुहताज रखकर कोई भी व्यवस्था ठोस और दमदार नहीं रह सकती।

अब जब कि जनता ने अपनी एक लम्बी ख़ामोशी को तोड़ा है और बड़े ही स्पष्ट शब्दों में अपने तकाज़े को सामने रखा है तो संभावनाएँ फिर से सामने आ गयी हैं। यह सही है कि देश की सबसे बड़ी समस्या आज रोटी और रोज़ी है, लेकिन साथ-ही-साथ आदमी को आत्मिक रूप से ताकतवर बनाने वाली उसकी संस्कृति तथा भाषा भी देश की एक छोटी समस्या नहीं है। जनता के निर्णय ने तो यही घोषित किया है।

देखना है कि जनता की इस घोषणा का व्यवस्था के सामने क्या मूल्य होगा? अतीत से

सीखकर ही वर्तमान एक अर्थपूर्ण भविष्य की रूपरेखा तैयार कर सकता है, न कि अतीत की भूल को नकार कर। 'वसन्त' के इस मंच से देश के सामाजिक, आर्थिक और वैचारिक भविष्य के लिए निर्वाचित सदस्यों से यही माँग है कि वे देश के सांस्कृतिक भविष्य को नीलाम हो जाने से रोकें, क्योंकि संस्कृति के हनन से आदमी की अंदरूनी शक्ति क्षीण हो जाती है। ऐसी स्थिति में आर्थिक शक्ति, एक लाभ को नवजीवन देने के लिए इकट्ठी की हुई रक़म से अधिक महत्त्व नहीं रख पाती।

देश की सांस्कृतिक शक्ति को देश की आर्थिक शक्ति के समानांतर चलकर ही उस राष्ट्रीय भावना को उजागर कर सकते हैं जिसकी अब तक मात्र दुहाई दी जाती रही है।

('वसन्त', वर्ष : 5, अंक : 38)

(ग्यारह)

वनवास या नर्क

मॉरिशस का इतिहास एकपक्षीय और पक्षधर इतिहास रहा है। इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण घड़ियों में वह गँगा भी रहा है। कुछ अन्य देशों के इतिहास की तरह इसके अपने इतिहास में भी राजा-रानी, मन्त्री-महाराज, राज्यपाल-सिपहलसार का वर्णन इतिहास को जीने वाले बाक़ी लोगों से अधिक रहा है। मॉरिशस की अपनी तारीख़ में आम आदमी के संघर्ष और उसके इतिहास बनाने और बंजर पड़ी भूमि को स्वर्ग में परिवर्तित कर देने वालों के अभियान का नामोनिशान भी नहीं। इस देश के इतिहास में कुलियों और गुलामों के खरीददारों और मालिकों की चर्चा है। शोषक और ग़रीब मज़दूरों के पसीने की बूँदों को तिजोरियों में इकट्ठा किये जाने वालों की कहानियाँ हैं। उनकी भी कहानियाँ हमारे इतिहास में हैं जो इतिहास के पन्नों को खरीद सकने की ताकत रखते थे और जिन में दम था चारणों से अपना गुणगान करवा लेने का।

यही कारण है कि मॉरिशस में भारतीय आप्रवासियों के आगमन, उनके संघर्ष, उनकी यातनाओं, दारुण दण्डों की कहीं कोई सही चर्चा नहीं मिलती। हमारे इतिहासकारों ने पूँजीपतियों के द्वारा लिखाये गये इतिहास उनके द्वारा संग्रहित तथ्यों को ही सही इतिहास मानकर आज तक उसी ऐतिहासिक झूठ को गिंजा है।

आज 1984-85 मॉरिशस में आप्रवासी भारतीयों के आगमन और दास-प्रथा के अन्त की 150वीं वर्षगाँठ के वर्ष स्वीकारे गये हैं। इस आयोजन का श्रीगणेश इस साल के फरवरी महीने में 'गूँगा इतिहास' के मंचन से शुरू हो गया था। देश के प्रधानमन्त्री अनिरूद्ध जगन्नाथ और शिक्षा मन्त्री ने उस दिन यह घोषणा भी कर दी कि भारतीय आप्रवासियों की 150वीं वर्षगाँठ की शुरूआत 'गूँगा इतिहास' के मंचन से हो रही है क्योंकि इतिहास ने जिन बातों को छुपाने का प्रयास किया उन्हें यह नाटक सामने लाने में सफल रहा है।

मॉरिशस में भारतीय मज़दूरों की स्थिति इतनी दयनीय थी कि उनके द्वारा हस्तलिखित दस्तावेज़ों को भी पा सकना आज दुश्वार है। उनकी हर चीज़ को नष्ट-भ्रष्ट कर छोड़ना उस वक़्त का क़ानून था। 'लाल पसीना' और 'गूँगा इतिहास' लिखते समय मैं जिन वृद्ध-वृद्धाओं से बात करके उन सारी अनकही सच्चाइयों को जुटाने में लगा हुआ था, वे कहीं भी रिकार्डेड

न मिलने के कारण डंके की चोट अपनी ऐतिहासिकता को प्रमाणित नहीं कर पायेगी।

आज इतिहास क्या है? पुरानी पुस्तकों और आरकाईव के चन्द रिकार्ड जिन्हें जिसने चाहा छोड़ दिया। हमारे इतिहासकार फलाने और फलाने को उद्धृत करके अपनी इतिहास की ईमानदारी को पूरा कर जाते हैं। उन सौ और सौ साल के ऊपर के लोगों से बात करके उनके भोगे हुए सत्य को इतिहास मानने की आज किसी को गरज नहीं रही। इस देश में आज पीठ पर कोड़े खाने वाले लोग जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े हैं। व्यभिचार से लेकर हर जुल्म को सह चुके आदमी आज भी किसी-न-किसी बस्ती में अपने सिर और ज़ेहन पर इतिहास की उस कड़वाहट को लिए हुए हैं। मेरे अपने ही गाँव में एक सौ दस साल से ऊपर की एक वृद्धा है जो इतिहास की दर्दनाक घड़ियों की बातें सुनाते-सुनाते कराह उठती है। इस देश में तो उपनिवेशवादियों द्वारा इतिहास के नाम पर किताबें तो कई लिखी गयीं लेकिन समय के उन गवाहों की आवाज़, जिन्होंने पसीने की जगह खून बहाकर इस देश को समृद्ध बनाया, खेतों की चट्टानों के नीचे दब गयी। जब भी इस देश में सौ साल का एक आदमी मरा है, उसके साथ भारतीय मज़दूरों की व्यथा और उनके संघर्ष के इतिहास के एक अध्याय की मृत्यु हुई है।

आज विश्व का इतिहास है क्या? नेरो, चंगेज़ ख़ाँ, हिटलर, नागासाकी, हिरोशिमा, मुहम्मद गज़नवी, जयचन्द, हेरोड, औरंगजेब, जैसे वक़्त के वरदान? विश्व की जो बड़ी-बड़ी इमारतें और स्मारक हैं सभी तो उन्हीं के नाम से जाने जाते हैं जिन्होंने उन पर पैसे खर्च किये। ताजमहल के संगमरमर के नीचे कितने कारीगर दब मरे, उनमें से एक का भी नाम कहीं इतिहास में नहीं मिलता। मॉरिशस के हर बाग, हर रास्ते-चौराहे पर बड़े लोगों की मूर्तियाँ खड़ी हैं। वे आज हमारे इतिहास हैं। गन्नों में लदी गाड़ी खींचते-खींचते दम तोड़ देने वाले उस भारतीय मज़दूर की मूर्ति कहीं भी नहीं। इस स्वतन्त्र देश को पहुँचे जल-मार्ग के यात्रियों का स्वागत आज भी महारानी विक्टोरिया की मूर्ति करती है। हमारी गलियों के नाम बँधुवे मज़दूरों और दासों पर हुकूमत चलाने वालों के नामों पर हैं। काश! भारतीय मज़दूरों के आगमन और दास-प्रथा के समाप्त होने की इस 150वीं वर्षगाँठ के अवसर पर इन मुद्दों पर भी कोई चर्चा हो पाती!

मॉरिशस के इतिहास की एक त्रासदी तो यह भी रही कि आज भी इस स्वतन्त्र देश को इतिहास के उस सत्य को स्वीकारने में झिझक होती है जिसमें उस समय के पूँजीपतियों और शक्कर कोठियों के काले कारनामे सामने आ जाते हैं। कोई चार-पाँच वर्ष पहले जब कमलेश्वर, सत्यू और परीक्षित साहनी ने मॉरिशस के भारतीय मज़दूरों के ऐतिहासिक दस्तावेज़ पर फिल्म बनाने की योजना बनायी उस समय मॉरिशस की उस व्यवस्था ने नहीं चाहा कि पूँजीपतियों की वे सारी अमानवीयता सामने आये। उस फिल्म के सारे पेपर-वर्क हो जाने के बावजूद भी फिल्म नहीं बन पायी क्योंकि आज भी मॉरिशस में पूँजीपतियों को नाराज़ कर जाने का भय हमारे लोगों के बीच मौजूद है।

इस देश का गूँगा इतिहास जानता है कि भारत से मज़दूरों को किस तरह के प्रलोभन और छलावे के साथ यहाँ लाया गया था। जहाज़ में भेड-बकरों से भी बदत्तर स्थिति में उन्हें यात्रा करनी पड़ी थी। कोठियों में रहने के लिए उन्हें घर की जगह बाड़े दिये गये थे। खेतों में उनसे बैल से भी अधिक काम करवाया जाता था और कमर सीधा करते ही उन पर बाँसों और कोड़ों की बौछार शुरू हो जाती थी। उनकी बस्ती में न तो दवा-दारू की व्यवस्था थी और न ही पठन-पाठन की। 'रामायण' के पाठ तक करने की इजाज़त नहीं थी। मालिकों के ज़ुल्मों के

साथ-साथ सरदारों के भी अत्याचार चलते थे। तीन चवन्नियों के रुपये से मज़दूरों को चुप रह जाना पड़ता था। एक दिन की गैरहाज़िरी पर दो दिन की तनख़्वाह काट ली जाती थी। कीड़े भरे चावल और आटे से उन्हें गुजारा करना पड़ता था। एक ही धोती और फतुही वर्ष भर पहननी पड़ती थी। पत्नी और बेटी-बहुओं पर के बलात्कार को देखकर भी चुप्पी साधे रहना पड़ता था। दिन दहाड़े आत्महत्या होती रहती थी। कोई गले में रस्सी बाँध पेड़ों की डालियों से झूल जाता था तो कोई समन्दर और नदियों में अपने शरीर को फेंक देता था। मज़दूरों की सज़ाओं में एक सज़ा यह भी होती थी कि बगावत करने वाले मज़दूर को किसी पेड़ से नंगे लटका दिया जाता था। उसके बदन पर ईख का रस लेप दिया जाता था और जब तक लाल चींटी उस रस के स्वाद के साथ उस बँधे हुए व्यक्ति के शरीर के सारे माँस को चाट नहीं जाती थी तब तक उसकी लाश पर उसके परिवार का कोई अधिकार नहीं होता था। ईख की कोठियों में किसी लड़की का सुन्दर होना उसके लिए सबसे बड़ा अभिशाप था। मैंने 'लाल पसीना' लिखने की प्रक्रिया में फूलबसिया नामक जिस वृद्धा से बातचीत की थी, उसने कहा था, "………मरने के बाद अब मुझे नर्क भी मिले तो कोई डर नहीं। यहाँ तो उससे भी बदतर नर्क को भुगत कर उसकी मैं आदी हो चली हूँ।"

यह वाक्य ही इस देश का इतिहास है—गूँगा इतिहास!

भारतीय आप्रवासियों के उस युग की सबसे बड़ी त्रासदी तो यह रही कि उनके जीवन मूल्य और उनकी स्थिति का बोध कराने वाली बहुत कम चीज़ें आज प्राप्त हैं। वह तो किसी कोंसन्ट्रेशन-कैंप से कम की ज़िन्दगी नहीं थी। प्रक्रिया और प्रयास तो उन की हर विरासत एवं संस्कृति से लेकर लोक अभिव्यक्ति, भाषा और धर्म सभी को ख़त्म कर देने का था।

ये सारे आयोजन तो बहुत ही सही हैं लेकिन क्या यह सब कुछ कर लेने से इस देश में अब भी फल-फूल रही वह मानसिकता बदल कर रहेगी जिसके तहत यहाँ भारतीयों का बहुसंख्या में होते हुए भी अपनी संस्कृति और भाषा का बहिष्कार होते हुए देखते रहना पड़ता है? जो लोग फ्रांज़ फेनन के औपनिवेशिक भण्डाफोड़ और आलेक्स हैले के "रत्स" की सराहना करते कभी थकते नहीं वे भारतीय संस्कृति और जीवन-मूल्यों को क्या पहले जैसे नकारते रहेंगे? क्या भारतीय मूल का आदमी अपनी भारतीयता को कायम रखते हुए अपनी भाषा और संस्कृति से जुड़ा रहते हुए मॉरिशसीय नहीं रह सकता?

इस 150वीं वर्षगाँठ के अवसर पर काश! विसंस्कृतिकरण के मुद्दों और घृणा से भरी इस मानसिकता पर भी विचार किया जा सकता।

('वसन्त' आप्रवासी विशेषांक, वर्ष : 6, अंक : 41)

(बारह)

स्वतन्त्रता

यह न तो मात्र एक शब्द है और न ही सिर्फ़ एक सियासती छलावा! स्वतन्त्रता अगर सचमुच ही मानवीय व्यक्तित्त्व और उसकी सृजनात्मकता की सच्ची तृप्ति है तो फिर उसमें मानव जाति के बीच सही विचारों का सृजन और सम्बन्धों का विकास निहित है। स्वतन्त्रता

पाकर आदमी दिमागी जकड़न और सीलन में पड़ा रहे, अतीत और बेबसी की लीपापोती करता रहे तो फिर स्वतन्त्रता की गरिमा और उसकी सम्पूर्णता का बोध नहीं हो सकता।

आदमी के इस जन्मसिद्ध अधिकार और इतिहास की इस विराट उपलब्धि को एक सीमा मानकर बैठा नहीं जा सकता। उसे एक संघर्ष की सफलता के बाद दूसरे संघर्ष का जयघोष मानकर ही उसकी परिभाषा को समझा जा सकता है। स्वाधीनता की अन्तिम परिणति स्खलन नहीं होती, यह दायित्व को और भी बुलन्द करती है। आदमी और आदमी के बीच की खाई को पाटने तथा बराबरी और भाईचारे का संकल्प ही इस राजनीतिक और वैचारिक क्रांति की सार्थकता हो सकती है। आज़ादी किसी दल विशेष की नहीं होती, न ही किसी वर्ग या जाति विशेष की। वह तो सभी के लिए होती है, सभी के हित में सभी को अवसर देने के लिए। उससे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को बेहतर बनाने के अवसर सामने आते हैं। इस अवसर को चूक जाने का मतलब होगा—आज़ादी को न पहचान पाना, उसका सम्मान न कर पाना तथा उसके महत्त्व को न समझ पाना!

स्वतन्त्रता का अर्थ है, घुटने के बल न जीकर अपने पाँवों पर खड़े होकर जीने की चाह! हर आदमी का अपनी ज़िम्मेदारी समझना और उसके निर्वाह का निर्णय ही इस जीने की चाह को सफल बना सकता है। एक-दूसरे को कोसते रहने और उदासीनता से समय की बर्बादी हो सकती है, समस्याओं का निराकरण नहीं। आज़ादी व्यक्ति की प्रगति के लिए होती है, व्यक्तिगत प्रगति के लिए नहीं। व्यक्तिगत घुटन और संत्रास को सिर पर लेकर बैठ जाने से आज़ादी के प्रति गद्दारी हो सकती है, आज़ादी के प्रति फ़रमाबरदारी नहीं। स्वाधीनता जहाँ ईमानदारी का तकाज़ा करती है, वही अधिक-से-अधिक श्रम और बलिदान का भी! पर यह बात हास्यास्पद तब हो जाती है, जब सारी ईमानदारी, श्रम और बलिदान की उम्मीदें केवल सर्वहारा वर्ग से की जाती हैं। केवल उसी को निचोड़कर तिजोरियाँ नहीं भरी जा सकतीं।

आज़ादी मिलने के बाद आज़ादी की सार्थकता और सम्पूर्णता उसके फल को बराबर हिस्सों में बाँटने में ही निहित है। फल चाहे कड़वा हो या मीठा, उसे पूरा राष्ट्र बराबर भोग सके। यह नहीं कि उस फल के सभी रस का अधिकारी एक वर्ग बन जाये और दूसरे के भाग में फल की गुठली ही बचे! ऐसा होने पर राष्ट्र के लिए आत्मघाती स्थिति पैदा होने में अधिक देर न होगी!

राष्ट्र की सलामती के लिए हर आदमी को आगे आना पड़ता है। हर एक के लिए अपने दायित्व की पहचान अनिवार्य होती है। 'इसने यह किया, उसने वह किया' और सारी तोहमत दूसरों पर थोपकर अपनी निर्दोषिता नहीं प्रमाणित की जा सकती। यह आज़ादी आप की है, आप ही को उसे जीवन्त और सार्थक बनाये रखना है—ताकि कल का नया सूरज फ्रीज़ से निकले, बर्फ के टुकड़े की तरह नहीं, बल्कि सबको समान रूप से प्रकाशित और विकसित करने के लिए!

आदमी-और-आदमी के बीच के फ़ासले को कम करना ही होगा! धर्म-भेद, रंग-भेद और जाति-भेद जैसे अभिशापों से आज़ादी को ग्रसित होने से बचाना हर एक नागरिक का फ़र्ज़ बनता है। इस फ़र्ज़ को निभाना होगा। जात-पाँत का खूँखार दैत्य सुरसा की तरह मुँह बाये लपकता चला आ रहा है। उसका संहार अलग-अलग टोलियों में बँटकर नहीं, बल्कि एक सूत्र में बँधकर ही किया जा सकता है—अपने और कल की आनेवाली पीढ़ी के हित में—आदमीयता के हित में।

('बसन्त चयनिका' से)

(तेरह)

लेखक के दो रूप

मेरे सहयात्री, मेरे दोस्त! हम सभी लिखते हैं। क्यों लिखते हैं? कोई एक छोटा-मोटा उद्देश्य तो इसके पीछे होगा ही। ख़ैर मेरे दोस्त, कुछ लोग क्यों लिखते हैं यह तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये कुछ लोग आज भी कविता में अलंकार, उपमा और कोमल शब्दों को ही खोजने में साहित्य की परिणति मानते हैं। उपन्यासों और कहानियों में वे आसमानी बातें खोजते हैं, क्योंकि जो ज़मीन की बातें होती हैं उन्हें वे मामूली बातें लगती हैं। ये लेखक बड़े लोग जो होते हैं। योग्यताओं के प्रमाण-पत्रों से लबालब शख़्सियत होती है उनकी। कुछ लेखक और होते हैं, आम आदमियों के बीच रहकर सभी कूचों से योग्यता और अनुभव लिए हुए। उन पहले लेखकों से भिन्न ये लेखक अलंकार, उपमा और कोमल शब्दों के पीछे न दौड़कर विचारों की तलाश में होते हैं। विचारों की दुनिया में जीते हैं और विचारों से ही अपने समय के सत्य को उजागर करने में लगे रहते हैं। इन की रचनाओं से उन लोगों की रचनाओं की तरह कोमलता, अलंकारों और उपमाओं की खुशबू तो नहीं आती, पर मेरे दोस्त, इनसे स्थिति और समय का बोध अवश्य होता है।

उन लोगों की कोमलता में स्तुतियाँ होती होंगी, प्रार्थनाएँ होती होंगी पर इन लोगों की रचनाएँ सवाल लिए होती हैं। एक बदतर स्थिति को बेहतर बनाने की छटपटाहट अपने में लिए होती है।

मेरे सहयात्री, मेरे दोस्त। हम सभी लिखते हैं। कुछ लोग पुराने मूल्यों को गिंजते रहते हैं और कुछ लोग नये मूल्यों की खोज में लगे रहते हैं। कुछ लोग आज भी प्राकृतिक सुषमाओं का वर्णन अपनी कविताओं में करके अपने को महान कवि घोषित कर जाते हैं, अपने प्रेयसी द्वारा दी हुई पीड़ा का रोदन करते रह जाते हैं, जबकि कुछ लोग इससे भिन्न आवाज़ बुलन्द करते हैं। अपनी प्रेयसी के लिए ये नहीं रोते, ये रोते हैं वक़्त के लिज़लिजे़पन पर, सीले पड़े हुए आक्रोश पर, आदमियत की नीलामी पर। इन की रचनाएँ धधकती हुई आहें होतीं हैं जो अराजकता, शोषण, घुटन, टूटन और बेबसी जैसे अभिशापों को जला देने के लिए होती हैं। 'ये' जनता के लेखक होते हैं और 'वे' अपने लेखक होते हैं और अपनी कोमलता और अपने कोमल शब्दों के लेखक होते हैं। बस, अन्तर इतना ही है वरना लिखते तो ये भी हैं, वे भी हैं।

कोई कवि जहर को पीकर आत्महत्या कर जाता है और कोई कवि शोषण पर ज़हर छिड़कर जाता है। मैं इसे और उसे भी साहित्यकार मान लेने को विवश हो जाता हूँ और यही मेरे समझौते का मुद्दा है।

('वसन्त चयनिका' से)

(चौदह)

किस गुंजल्क में खोते जा रहे हैं हिन्दी के पाठक?

यह सही है कि जब एक भाषा के लिए सम्भावनाएँ कम दिखायी पड़ने लगती हैं तो उसके प्रति रूझान का कम हो जाना स्वाभाविक प्रतीत हो सकता है लेकिन उससे सम्बद्ध

लोगों की अपनी प्रतिबद्धता भी ढीली पड़ जाये, इससे दु:खद आश्चर्य होता है।

कल हिन्दी की जो भी स्थिति रही हो, उससे उसके प्रति जो रुचि और चाह थी वही उस भाषा की जीवन्तता का प्रतीक थी। तब अस्मिता का अहसास देने वाली इस भाषा का अपना एक पाठक समुदाय था। एक भाषा की पाठक संख्या की जानकारी के लिए तीन स्त्रोत विशेष होते हैं—पुस्तकालय की आवाजाही, पुस्तकों की खपत और अख़बार की शक्ति।

इस देश में कभी हिन्दी के दस तक अखबार और पत्र-पत्रिकाएँ निकलती और खपती थीं। पुस्तकों की दुकानों में भारत से पहुँची हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की जो बिक्री थी वह मात्र संतोषजनक ही नहीं, बल्कि महत्त्वपूर्ण थी। वही स्थिति आज उस दयनीयता को पहुँच गयी है कि इस भाषा के प्रति हमारा जो रिश्ता था वह अपनी बुलन्दी को खोता-सा प्रतीत होने लगा है। क्या कारण है इसका? हिन्दी से जुड़े लोगों के पास खरीदने की शक्ति का क्षीण होना। हमारी विरासत और इतिहास तो यह कहता है कि हमारे लोग अस्मिता के मूल और उसके साधन-सूत्र अपनी भाषा हिन्दी को बनाये रखने के लिए उस अवरोध से भी लड़े। अधभूखे और अधनंगे रहकर, असुविधा और शोषण के बीच भी उन लोगों ने अपनी संस्कृति से अपने को बाँधे रखा। उन्होंने 'आल्हा-खण्ड', 'रामायण', 'महाभारत' जैसे ग्रंथों के बल ही इस अभियान को बरकरार ही नहीं रखा, बल्कि देवकीनन्दन खत्री से लेकर प्रेमचंद की पुस्तकें भी खरीदीं। उन्होंने ऐसा नहीं किया होता तो विरासत में हमें अपनी पहचान, अपने अधिकार और अपनी अभिव्यक्ति के लिए मर मिटने का यह हौसला नहीं मिला होता। हमारे पूर्वजों ने जीवन के संत्रास और त्रासदी के बीच भी हमारे लिए जिस ज्योति का विस्तार किया, उसी के प्रकाश में आज हमारी अपनी कोई हैसियत बन पायी है। अब सवाल यह पैदा होता है कि क्या अपने को उस ज्योति से काटकर, अपने को अपठन की कन्दरा में बन्द करके हम अपनी सन्तानों और आने वाली पीढ़ी को सांस्कृतिक जीवन की लौ दे पायेंगे? दे पायेंगे हम उन्हें अपनी एक अस्मिता? हम तो प्रेमचंद, रवीन्द्रनाथ, शरत् बाबू और यशपाल जैसे लेखकों-विचारकों के लेखन और विचारों के पाठक रहकर उस परम्परा को बढ़ाते रहे। आज जो कुछ हिन्दी साहित्य में लिखा जा रहा है क्या उससे हम अवगत हैं? क्या आज की पत्र-पत्रिकाओं के प्रतिबद्ध स्वर को सुन पा रहे हैं? तो फिर हम किस बुनियाद पर खड़ा करेंगे अगली पीढ़ी के मन में हिन्दी और हिन्दी साहित्य के प्रति प्यार को! हमने तो 'सरस्वती', 'हंस', 'विश्व-मित्र' जैसी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाश में अपना पथ ढूँढा था। हमारी संतानें कल अपने पथ को 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'दिनमान', 'नवभारत टाइम्स' जैसी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाश में अपना पथ ढूँढ निकालते, लेकिन ऐसा तो तब ही हो पाता जब हम ख़ुद इन पत्र-पत्रिकाओं के पाठक रहे होते। हम में से कई को तो इनके अस्तित्व तक का पता नहीं। रही बात स्थानीय प्रकाशनों की—वह तो आज रेगिस्तान है। इस रेगिस्तान में कहाँ से निकाल पायेंगे एक अँजुली जल हम आने वाली नयी नस्ल के लिए? पूरी ईमानदारी के साथ अपने आपसे प्रश्न करें हम, क्या ख़ुद न पढ़कर हम औरों को पढ़ा पायेंगे? जिस मानसिकता के साथ आज हम हिन्दी वाले चिपक गये हैं, क्या वह विसंस्कृतिकरण के कोई नौसाम्राज्यवादी तन्त्र का चुम्बक नहीं?

हमारी अगर आज संस्कृति, धर्म और अस्मिता जीवित है तो केवल इसलिए कि हमारी अपनी झोली में परम्परा से प्राप्त वे मोती अभी भी बाक़ी हैं, लेकिन उस आने वाली नस्ल

के दामन में डालने के लिए हमारा अपना अर्जित क्या है?

किस गुंजल्क में खोते जा रहे हैं हिन्दी के पाठक?

('वसन्त', वर्ष : 7, अंक : 43)

(पन्द्रह)
चुनौतियाँ

इस देश में हिन्दी के प्रचार-प्रसार का एक बहुत बड़ा श्रेय धारा नगरी की 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' को मिलता है जो कि जायज भी है। इसी तरह द्वीप के मज़दूरों की इस अभिव्यक्ति और अस्मिता के वाहन, हिन्दू महासभा, विष्णुदयाल का जन-आन्दोलन, 'हिन्दी परिषद्' तथा 'आयाम' जैसी संस्थाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस अभियान में कुछ हिन्दी सेनानियों के नाम भी जुड़ते हैं। हिन्दी अगर आज मॉरिशस में जीवित है तो मात्र अमिताभ बच्चन और लता मंगेशकर के कारण नहीं, बल्कि उस संस्कृति और भाषा-प्रेम के कारणा जो यहाँ के हर भारतीय मज़दूर के हृदय में है।

इस देश के इतिहास की एक सच्चाई तो यह अवश्य है कि इन संस्थाओं और इनसे सम्बद्ध कुछ व्यक्तियों ने इस भाषा को एक लाघव भावना के परिवेश से बाहर निकाल कर उसे नया आयाम दिया। लेकिन इस द्वीप के दफ़नाये और ज़ब्त इतिहास की सबसे बड़ी सच्चाई तो यह है कि यहाँ पर हिन्दी का प्रचार-प्रसार भारतीय आप्रवासियों के आगमन के साथ ही आरम्भ हो चुका था। विशेष सभाओं और विशेष लोगों के अभाव में भी इस भाषा का पठन-पाठन शक्कर उद्योग की उन कोठियों में चोरी चुपके से होता ही रहा, जहाँ भारतीय मज़दूर गिरमिट रूप में रह रहे थे। यह भाषा तब मात्र अपनी यातनाओं को स्वर देने के लिए उपयोग में नहीं आती थी, बल्कि उस रामागति की लिखायी-पढ़ायी भी गोरों के चिलमभरवों से आँखें बचा कर ही की जाती थी। वह इसलिए क्योंकि तभी से लोगों को यह ज्ञात था कि वह भाषा ही होती है जिससे समाज की अंदरूनी ताकत बनती है और धर्म-संस्कृति तथा पहचान भी बनी रह पाती है।

बस वहीं से शुरू हुए उस भाषा अभियान को, एक नयी दिशा देने में हिन्दी प्रचारिणी सभा ने एक विशेष भूमिका निभायी। हिन्दी कल भी इस देश के आम आदमी की भाषा थी और आज भी है। जो आम आदमी है वह तो आज भी अपनी अस्मिता और संस्कृति की इस अभिव्यक्ति के साथ जुड़ा हुआ है, लेकिन जो आज हिन्दी की रोटी तोड़ते हुए औसत से थोड़ा आगे पहुँच गये हैं, वे आज इस भाषा के साथ केवल रिश्ते के कारण जुड़े हुए हैं और वह है रोटी का रिश्ता। एक बनियेपन की मानसिकता ने हिन्दी की सशक्तता और सक्रियता को एक तन्द्रा-यात्रा के रूप में परिवर्तित करके छोड़ दिया है।

1941 में इस देश के पोर्ट लुई के "सिनेमा दे फ़ामी" भवन में जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ था उसकी पुनरावृत्ति कभी न हो पायी। महायज्ञ के दौरान साठ हजार लोगों का जो जुटाव हुआ और उसमें हिन्दी में जो भाषण दिये गये थे, वे देश की आबादी के पाँच गुने बढ़ जाने के बावजूद भी फिर से नहीं हुए। औपनिवेशिक हुकूमत के भय के दौरान जो हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ

छपती थीं और जो गोष्ठियाँ और गतिविधियाँ होती थीं, वह सब अतीत की चीज़ बनकर रह गयी है। अब तो हिन्दी पढ़ानेवाले भी अपने घर के शादी-ब्याह के पत्र हिन्दी में निकालते हुए शर्माते हैं। नालंदा जैसे पुस्तकालय में जाकर कोई पता लगाये कि इस देश में जब एक भी वेतनभोगी हिन्दी अध्यापक नहीं था, तब हिन्दी की कितनी पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें बिकती थीं और आज कितनी बिकती हैं। उत्तर पाकर विश्वास नहीं होगा। इसे उपभोक्ता संस्कृति मानें या विसंस्कृति ?

वर्षों पहले वार्ड आयोग के दौरान हिन्दी के पक्ष में विष्णुदयाल बन्धुओं के नेतृत्व में रातोंरात हज़ारों हस्ताक्षर जुटाये गये थे। शिवसागर रामगुलाम की दलीलें भी भारतीय भाषाओं के पक्ष में आयी थीं। दो अलग राजनीतिक मान्यताओं के होते हुए भी दोनों नेताओं ने हिन्दी की रक्षा के लिए एक ही आवाज़ बुलन्द की थी। आज भाषा-नीति को लेकर जो मौत की-सी ख़ामोशी है उसे कौन तोड़ेगा ?

आज जब हिन्दी प्रचारिणी सभा अपनी स्वर्ण जयन्ती मना रही है तो हम उसे बधाई दिये बिना कैसे रह सकते हैं, पर साथ ही चन्द प्रश्न किये बिना भी कैसे रह जायें ?

आज विसंस्कृतिकरण के चक्रव्यूह में जितनी शक्ति अन्य प्रचारों में लगायी जा रही है, क्या संस्कृति के सबसे बड़े वाहन भाषा के लिए भी नहीं लगायी जा सकती ? आज इस देश में धर्म और संस्कृति की बात करने वाली जितनी संस्थाएँ हैं, क्या वे हिन्दी के सही विकास के लिए वैज्ञानिक तरीकों को अपना सकने में समर्थ हैं ? साहित्य भाषा की आत्मा होता है। क्या हिन्दी साहित्य के विकास के लिए जो कुछ किया जा रहा है वह संतोषजनक है ? हो पायेगा उससे मॉरिशसीय हिन्दी साहित्य का कल्याण ? संस्था की इमारतें चाहे कितनी ही आधुनिक क्यों न हो, उनकी सार्थकता बिना सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधियाँ के नहीं हो सकती । गतिविधियाँ भाषा को सशक्तता प्रदान करती हैं। कहाँ है हिन्दी की वे गतिविधियाँ ? हिन्दी से सम्बद्ध सभाओं में हिन्दी की पुस्तकों का भारी अभाव क्यों हैं ? खुद हिन्दी प्रचारिणी सभा जैसे प्रतिबद्ध सभा के पुस्तकालय में मॉरिशस के हिन्दी लेखकों की कितनी पुस्तकें सुलभ हैं ? गाँव की बैठकों में हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या क्यों घटती ही चली जा रही है ? देश की भाषा-नीति में हिन्दी के प्रति यह 'सोझिया की गाय' वाली नीति कब तक चलेगी ?

सवाल तो बेशुमार हैं। हमारा उद्देश्य तो बस इतना है कि काश ! हिन्दी प्रचारिणी सभा के इस जलसे के दौरान इस बुनियादी मुद्दों पर भी चर्चा हो पाती। क्या कुछ कड़ियाँ ऐसी सामने नहीं आ सकेंगीं जिनसे हिन्दी से सम्बद्ध सभी संस्थाओं के बीच एक सहयोग-सूत्र की स्थापना की जा सके ? चुनौतियाँ सामने हैं। उनसे कन्नी काटकर केवल विगत कार्यों की लम्बी फ़ेहरिस्त पेश करने से हिन्दी का भविष्य नहीं बन जायेगा। 'द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन' एक तमाशाई उपलब्धि से ज्यादा कुछ भी साबित नहीं हुआ। जलसों और राजनीतिक भाषणों से आगे जाकर ही भाषा का अधिकाधिक विकास किया जा सकता है। हिन्दी प्रचारिणी सभा की यह स्वर्ण-जयन्ती महज एक जलसे का रूप न लेकर कुछ ठोस निर्णय लेकर सामने आयेगी, ऐसी आशा की जा रही है।

आशा की जाती है कि इस स्वर्ण-जयंती समारोह से महात्मा गांधी संस्थान को भी अपनी भूमिका को अधिक बुलन्द करने का अवसर मिलेगा।

('वसन्त' वर्ष : 7, अंक : 45, नवम्बर, 1985)

(सोलह)

आधुनिकता का लबादा या विसंस्कृतिकरण हुआ है आमादा ?

आज हम भाषा-साहित्य और संस्कृति के सेनानी श्री सोमदत्त बखोरी पर 'वसन्त' का विशेषांक अपने पाठकों के सामने प्रस्तुत कर रहे हैं। इस के साथ चन्द प्रश्न भी अनायास ही उभर रहे हैं।

क्या अंग्रेज़ी-फ्रेंच के बल पर जीविका पाने वाले सोमदत्त जी हिन्दी, हिन्दी साहित्य और संस्कृति के प्रति इसीलिए समर्पित थे कि उस भारी अभियान के बाद वे उन मूल्यों को खंडित होते देखें ?

क्या सोमदत्त बखोरी और सांस्कृतिक अभियान से जुड़े उनके समकालीन सहयात्रियों की प्रतिबद्धता से उपलब्ध धरोहर को अगर हम सँवार कर न रख सकें तो उसे मटियामेट होने से बचाने का कर्त्तव्य क्या हमारा नहीं होता है ?

आप जब विश्व-भर में विकसित राष्ट्र तक अपनी अस्मिता और संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए इतने प्रयत्नशील हैं तो हम इतनी आसानी से अपने इन सामाजिक जीवन-मूल्यों को आधुनिकता के नाम पर चुपचाप दफ़नते क्यों देख रहे हैं ?

ये सवाल इसलिए उठ रहे हैं क्योंकि आज सांस्कृतिक और धार्मिक आयोजनों से लेकर विवाह जैसे अवसरों पर प्रवेश-द्वार पर अब हमें 'स्वागत' या 'नमस्ते' जैसे अभिवादन नहीं मिलते। उनकी जगह पर मोटे-मोटे अक्षरों की पट्टियाँ होती हैं—'वेल्कम 'या 'व्यें वेनी' की। और माड़ो तथा व्याह-वेदी पर लिखा होता है—'हैप्पी वेडिंग टू मोहन एण्ड सीता'।

यह प्रश्न भाषा का नहीं है। हर भाषा की अपनी अहमियत होती है। लेकिन यह तो उस मनोवृत्ति का प्रश्न है जहाँ हम अपनी भाषा को उस योग्य नहीं पा रहे जिससे अतिथियों का स्वागत और वर-वधू को शुभकामनाएँ अर्पित की जा सकें। क्या पूजा और शादी-ब्याह में जो गाने बजाये जाते हैं वे भी उधार की संस्कृति के ही नहीं होते ? इस तरह की और भी कई बातें हैं जिनसे हमारी सांस्कृतिक दीवालियेपन और बौनेपन का अहसास होने लगता है।

और ऐसी स्थितियों में धर्म के नाम पर चिल्लाने वाले ठेकेदार और मठाधीश अपना अलग धर्मयुद्ध छेड़े हुए हैं। ये जो एक-दूसरे को नकारने और अपने को स्थापित करने के लिए तिकड़म-पर-तिकड़म दिखाये जा रहे हैं। क्या इन्हें सचमुच सामने के विसंस्कृतिकरण और विधर्मीकरण का नंगा नृत्य दिखायी नहीं पड़ रहा ? या वे अपने ही व्यामोह में इस क़दर फँसे हुए हैं कि अपने और अपनी बिरादरी की ललक के सामने इन्हें कुछ दिखायी नहीं पड़ रहा है। शहरों की बात तो दूर रही उन गाँवों में भी, जिन्हें कल तक संस्कृति और धर्म का किला समझा जाता था, लोग अब प्रलोभनों और चमत्कारों में आकर अपनी अस्मिता और संस्कृति के साथ अपने धर्म को भी तिलांजलि देकर अपने को अपनों से अलग बताने में लगे हैं। क्या हमारे धर्म-संस्कृति के रखवार और प्रचारक कहे जाने वाले इस सांस्कृतिक एवं धार्मिक अवमूल्यन से अनभिज्ञ हैं, यह अपनी उकटापैंची में इतने खो गये हैं कि इस ओर उनका ध्यान जा ही नहीं रहा है!

सोमदत्त जी धर्म का कवच ओढ़े बिना जीवन-पर्यन्त संस्कृति और अस्मिता के लिये लड़ते रहे। क्या धर्म के मुखौटे चढ़ाये हुए इज़्ज़तदार लोग इस चुनौती को स्वीकार सकेंगे और हमारी नयी पीढ़ी तथा आने वाली पीढ़ी को, खोखली आधुनिकता से ग्रस्त जनों को विसंस्कृतीकरण से बचा पायेंगे? या इस कार्य को वे अपना नहीं औरों का दायित्व समझते हैं? इतिहास गवाह है कि जब हम घण्टियाँ बजाते रह गये थे तो हमारी पूरी अस्मिता और संस्कृति लूट ली गयी थी।

सोमदत्त जी पर हमारे इस विशेषांक का मकसद हमारी सांस्कृतिक भूमि पर ताण्डव करते सवालों पर ग़ौर करना भी है।

क्या हम संक्रमण के तूफ़ान में बह जायें या अपनी रक्षा के लिए धर्म तथा संस्कृति के तथाकथित रक्षकों की गुहार करें? सोमदत्त और उनके सहयात्रियों की साधना को नीलाम कर दें या आपसी नुक्ताचीनी, रस्साकस्सी तथा अपनी उकतापुरान को त्यागकर एक बार फिर, एक साथ जुड़कर, अपने सांस्कृतिक जीवन का विघटन करने वाले तूफ़ान का सामना करें?

('वसन्त', वर्ष : 9, अंक : 53, दिसम्बर, 1987)

(सत्रह)
उपलब्धियों के बीच

किसी देश की आज़ादी के बीस साल पूरे हो जाने पर एक सिंहावलोकन स्वाभाविक हो जाता है। इस सिंहावलोकन से निस्सन्हेद यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इस देश ने इन बीस वर्षों में आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण प्रगति की है या नहीं? और की है तो इन प्रगतियों ने जहाँ देश को समृद्धि दी है, वहीं कुछ उपलब्धियों ने कुछ प्रश्न भी तो पैदा नहीं कर दिये हैं? देश की आर्थिक प्रगति तो यों भी व्यक्ति के रहन-सहन तथा दैनिक व्यवहारों से अपने आप स्पष्ट झलकती दिखायी पड़ती है। इस तरह सामाजिक प्रगति को भी गाँव-गाँव तथा शहर-शहर में देख पाना कठिन नहीं होता।

इन बीस वर्षों में देश ने विकास, प्रगति, स्वावलम्बी तथा उपलब्धियों की पराकाष्ठा को भी छुआ है, इसमें कोई शक नहीं लेकिन इसके साथ ही यह सवाल फिर से उठता है कि क्या इन आर्थिक एवं सामाजिक विकासों की हमें कोई बहुत बड़ी क़ीमत तो चुकानी नहीं पड़ गयी। हम यहाँ पर किसी भी सियासती मुद्दे को उठाये बिना सिर्फ़ चन्द सवालों को सामने रखना चाहेंगे जो अनायास पैदा हो आये हैं। हम इसे अनायास ही कहें तो अधिक अच्छा रहेगा।

जनता ने जब आज़ादी को स्वीकारा था तो अपने जीवन के हर पहलू में एक परिवर्तन के लिए। उस परिवर्तन की कामना बेहतर के लिए की गयी थी और उस बेहतर के लिए कुछ बदतर की भी मंजूरी जैसी कोई शर्त नहीं रखी गयी थी, न ही कोई ऐसा समझौता किया गया था। आज आदमी अपने को थोड़ी-सी सम्पन्नता, थोड़ी-सी खुशहाली में पाकर भी रह-रह कर अज्ञात आशंका से काँप भी उठता है और अपने आपसे लगातार कई प्रश्न कर बैठता है।

इस खुशहाली और सम्पन्नता में हम कुछ मूल्यों को गँवाये तो नहीं जा रहे ? हमारी सांस्कृतिक धरोहर किस गुंजल्क में खोयी चली जा रही है ? हमारी भाषा इस दयनीय स्थिति को कैसे पहुँच गयी ? रिश्ते क्यों अचानक टूटने लगे ? हम अपने को अपनी ही भूमि पर अजनबी क्यों पाने लगे हैं ?

क्या खुशहाली और सम्पन्नता के लिए यह ज़रूरी था कि हम अपने चन्द जीवन-मूल्यों की नीलामी कर जायें ? आज़ादी पाकर आज देश के सबसे मूल्यवान, सबसे सुन्दर समुद्री इलाकों से हम इतनी दूर क्यों फेंकें जा रहे हैं ? क्या हमारी नियति यही है कि हम सिर्फ़ सैलानियों के जूठन पर ही अपने को टिकाये रहें ? आज़ादी को एक स्वाभिमान के लिये भी स्वीकार किया गया था। क्या अपनी भाषा, अपनी अस्मिता इन सभी को त्यागने में ही स्वतन्त्रता की सार्थकता मानी जाये ? किसी संक्रामक रोग के शिकार हो जाने का आतंक, अपने बच्चों को नशीली दवाओं के विषाक्त जंगल में खो जाने की चिंता, अपने ही आपसे दूर होते जाने का भय तथा उपभोक्ता संस्कृति को अंगीकार कर जाने ही में हम आज़ादी और आधुनिकता का तकाजा समझें ? अगर हम अपने को सही अर्थों में स्वतन्त्र मानते हैं तो फिर इन प्रश्नों पर चिन्तन करने और उनके उत्तर पाने की आज़ादी से अपने को महरूम क्यों रखे हुए हैं ?

आजादी का उद्देश्य मानवीय मूल्यों और रिश्तों को जोड़ कर सशक्तता प्राप्त करना होता है। उसके टूट-टूट कर बिखरते रहने में आज़ादी नहीं, बल्कि एक मानसिक गुलामी का अहसास होता है। कभी सारी असुविधाओं और यातनाओं के बीच हमने जीवन के शाश्वत मूल्यों के साथ अपने को जोड़े रखा। आज प्राप्त सारी सुविधाओं के बीच उन मूल्यों को बरकरार रखने में अपने को असमर्थ पाने लगे हैं।

आज आज़ादी के बीस साल बाद हमारी मुट्ठी में रोटी तो है पर वह मोती कहाँ चोरी चला गया जिसकी चमक में हमने अपनी पहचान और अपने संघर्ष को कभी मरने नहीं दिया था।

('वसन्त', वर्ष : 10, अंक : 54, मार्च, 1988)

(अठारह)
जाते-जाते

'वसन्त' अपने बीसवें वसन्त की दहलीज़ पर है। एक साहित्यिक पत्रिका की इतनी लम्बी आयु बहुत कम देखी गयी होगी। मॉरिशस में तो यहाँ की अंग्रेज़ी, फ्रेंच तथा किसी भी भाषा में शायद ही किसी एक साहित्यिक पत्रिका ने इतनी लम्बी उम्र पायी हो। आज 'महात्मा गांधी संस्थान' के प्रांगण को छोड़ते हुए और 'वसन्त' की ज़िम्मेदारी अपने मित्रों के कन्धों पर छोड़ कर जाते हुए मुझे दुःख नहीं बल्कि खुशी हो रही है। दुःख तब होता जब 'वसन्त' के भविष्य पर मुझे किसी तरह की शंका होती, पर मुझे पूरा विश्वास है कि मेरे हस्ताक्षर के बाद मेरे मित्रों के जो हस्ताक्षर 'वसन्त' पर होंगे वे उतनी ही प्रतिबद्धता और समर्पण भरे गहरे रंगों में होंगे जितने अब तक रहे हैं।

'वसन्त' का सम्पादन बिजली के तार पर चलना जैसा था। व्यवस्था के भीतर रहकर

व्यवस्था से प्रश्न करना सहज नहीं होता। 'वसन्त' कभी भी प्रशस्ति का मंच नहीं रहा, यही कारण है कि उसे नेस्तनाबूद करने की कोशिशें बार-बार हुईं, भीतर से भी और बाहर से भी। उस पर निगरानी रखने के लिए योद्धाओं का चक्रव्यूह भी बना था कभी। उस पर सेंसर की कैंची भी चली और उसके सम्पादकीय को ज़ब्त करके जलाया भी गया, पर बावजूद इसके 'वसन्त' जीवित रहा, अपने देश में भी और अपने देश के बाहर भी। उसकी रचनाओं की चर्चा भारत और विदेश के कोई पचहत्तर देशों के विश्वविद्यालयों में होती रही। युग के सभी श्रेष्ठ हिन्दी के लेखकों ने 'वसन्त' को चाहा और सराहा भी। 'वसन्त' की रचनाओं को भारतीय पत्र-पत्रिकाओं और बेशुमार संकलनों ने अपनाया और फ़क्र के साथ छापा। 'वसन्त' को जितनी फूलों की मालाएँ मिलीं, उतनी ही काँटों के दस्ते भी। पर यात्रा ज़ारी रही ·········तूफ़ानों में भी और मरुभूमि जैसे धरातल पर भी।

आज मेरे विदा होने के बाद यह ज़िम्मेदारी और भी महत्त्वपूर्ण बन जाती है, क्योंकि इस देश में हिन्दी की दशा और साहित्य की भूमि और भी दयनीय होती जा रही है। इसके लिये अब आगे से अधिक सशक्त भूमिका की आवश्यकता है। भाषा, कला और संस्कृति की समस्या का निदान राजनीति के पास नहीं है। जिस उपभोक्ता संस्कृति की दासता को हम स्वीकारने जा रहे हैं, जिस आयात की हुई संस्कृति के व्यामोह में हम फँसे हुए हैं, जिस पाश्चात्य संस्कृति की मानसिकता से हम ग्रसित हैं उनसे मुक्त होने के लिए हमें अपनी तन्द्रा-यात्रा को तोड़ना है। हमें जिस कगार पर खड़ा कर दिया गया है, वह हमारी परिणति नहीं हो सकती। अगर हम अपनी व्यापक सांस्कृतिक प्रतिबद्धता से जुड़ नहीं पाये तो इसके लिए हमारे घरों से लेकर गलियों, बाज़ारों और शिक्षण संस्थाओं तक सभी ज़िम्मेवार होंगी। अपनी सांस्कृतिक अवधारणा से न जुड़ पाने के कारण ही आज हम एक गुंजल्क, एक गुफा में रोशनी तलाशने में अपने को विवश पा रहे हैं। इस आने वाले सांस्कृतिक ख़तरे की आगाही 'वसन्त' के हर एक अंक ने दी थी तब कुछ लोगों ने 'वसन्त' के इस शंखनाद को सनक माना था। आज इस देश के प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति दोनों बार-बार सांस्कृतिक चेतना की दुहायी देते दिखायी पड़ रहे हैं।

हम अगर 'वसन्त' के साथ स्वर मिलाने वाले पाठकों के प्रति आभारी हैं और उनका नमन करते हैं तो वहीं हमारे स्वर को नकारने वाले मित्रों को हम क्षमताविहीन नहीं कहेंगे और ना ही कहेंगे कि वे सृजनात्मक शक्ति के अभाव में थे। 'वसन्त' के सभी लेखकों ने अपनी शब्द-शक्ति, वैचारिक क्रान्ति और जीवन-अर्थों के बल ही 'वसन्त' को कब्रगाह बनने से हमेशा रोका और अस्मिता को बनाये रखा। इन बीस वर्षों में 'वसन्त' इस देश के हिन्दी साहित्य को विश्व-मंच पर पहुँचाता रहा, जबकि कुछ लोग इस देश के साहित्य को बाँझ आलोचनाओं से प्रदूषित करने में ही लगे रहे। इन चन्द लोगों का भी हम आभार मानते हैं, जिन्होंने अरचनात्मक भावनाओं, मानसिक संकीर्णता, संवेदनहीनता, बौद्धिक जड़ता, रचनात्मक कंगाली और विकृत श्वासों के फनों से प्रहार किये, क्योंकि इन्होंने अपनी इस प्रक्रिया से 'वसन्त' के मशालधारियों को और भी दायित्व-बोध तथा शक्ति प्रदान की। इन निःशुल्क गुरुओं का भी हम शुक्रगुज़ार करते हैं।

प्राय: हर वर्ष रचना-संगोष्ठियों और लेखन-कार्यशालाओं के द्वारा 'वसन्त' हिन्दी जगत के द्रोहकाल और संवेदनहीनता के बीच संवाद पैदा करता रहा। इन संवादों को अधिक

मुखर बनाने के लिये हमें भारत के प्रायः सभी महान लेखकों और समीक्षकों का सहयोग मिलता रहा जिससे 'वसन्त' ने अपनी रचनाधर्मिता और सम्पादकीय दायित्व का निर्वाह किया। कुरुक्षेत्र के चक्रव्यूह में अभिमन्यु की हत्या करने वाले वीर योद्धा नहीं थे, बल्कि कायर और निर्मम हत्यारे थे। 'वसन्त' हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति का प्रतीक और प्रहरी रहा और बना रहेगा, क्योंकि महाकवि निराला की तरह 'वसन्त' मरण को वरण करके भी मरा नहीं और जिन हाथों में उसे सौंपा जा रहा है वे हाथ भी अपनी साहित्यिक आराधना और साधना से उसे मरने नहीं देंगे, यह मेरी आशा ही नहीं बल्कि पूरा विश्वास है। उस का प्रभामंडल विस्तृत होता रहे तथा नया क्षितिज, नया आयाम इसे मिलता रहे, इसके लिये मैं 'वसन्त' के तमाम पाठकों को एक बार फिर नमन कर रहा हूँ और लेखकों से यह उम्मीद रखता हूँ कि वे 'वसन्त' के साहित्यिक मानदण्ड को बनाये रखेंगे। जब 'महाभारत' के सम्वेदनाहीन महारथी कल भी थे और आज भी हैं तथा कल भी रहेंगे तो फिर क्या कारण है कि रचनाकार अपनी रचनाधर्मिता की रक्षा न कर पायेंगे। वैसे भी जयद्रथ के तूणीर में अब बाण भी बाक़ी नहीं रहे। सारी नकारात्मकता, विरोधों, आघातों और अवरोधों के बावजूद 'वसन्त' के लेखक और पाठक इस छोड़ी जा रही धरोहर को 'महाभारत' के अभिमन्यु की परिणति बनने से बचाये रखेंगे, क्योंकि 'महाभारत' के अभिमन्यु के हाथ में वह शस्त्र नहीं था जो आज के रचनाकारों के पास है—उनकी लेखनी, अनत और अनन्त।

('वसन्त', वर्ष : 20, अंक : 85, अभिमन्यु अनत के सम्पादकत्व में निकला अन्तिम अंक)



परिशिष्ट

(क)
अभिमन्यु अनत की कृतियों में प्रकाशित कमल किशोर गोयनका द्वारा लिखित भूमिकाएँ

(एक)
'आत्म-विज्ञापन' (1984) की भूमिका

अभिमन्यु अनत की कुछ चुनी हुई रचनाओं का यह संकलन 'आत्म-विज्ञापन' अब आपके हाथों में है। आप देख ही रहे हैं कि पुस्तक का शीर्षक हिन्दी के पाठकों के लिए, अर्थात् आपके लिए एकदम नया है। लेखक के 'आत्म' के साथ 'विज्ञापन' शब्द का प्रयोग कुछ रोचक, कुछ उत्तेजित तथा कुछ आकर्षित करने वाला है। यद्यपि अनत ने अन्दर के पृष्ठों में यह स्वीकार किया है कि उसने नोरमन मैलर की एक पुस्तक से इस शीर्षक को उड़ाया है, लेकिन पुस्तक से पहली बार टकराने पर पाठक लेखक की इस कल्पना से, इस शीर्षक से उत्तेजित अवश्य होता है। आज वैसे भी 'विज्ञापन' शब्द व्यापार, राजनीति, धर्म, संस्कृति आदि में इतना प्रचलित हो गया है कि साहित्य में इसके प्रवेश पर बहुत आश्चर्य नहीं होता। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जब विज्ञापन की सत्ता जड़ जमा चुकी है, तब साहित्य का क्षेत्र ही इससे कैसे बच सकता है? आज स्थिति यह है कि नेता, धर्मगुरु, व्यापारी, अभिनेता, शासक आदि दूसरों से अपना विज्ञापन करवाते हैं, लेकिन अनत ने यह सोचा कि औरों से अपना विज्ञापन करवाने से बेहतर होगा खुद अपना विज्ञापन करना। लेकिन यह 'विज्ञापन' दूसरे सभी विज्ञापनों से पूर्णत: भिन्न है। इसमें लेखक की तीव्रानुभूतियों से जन्म लेने वाली रचनाओं पर रचनाकार का 'आत्म-विज्ञापन' टिका हुआ है, दूसरों के द्वारा की गयी झूठी एवं चाटुकारिता से भरी बातों पर नहीं। लेखक का यह आत्म-विज्ञापन उसके जीवन का इतिहास है, उसकी सुख-दु:खमयी अनुभूतियों का यथार्थ चित्र है।

अनत का यह 'आत्म-विज्ञापन' संकलन दूसरे विज्ञापनों से एक अन्य दृष्टि से भी भिन्न है। राजनीति, व्यापार, धर्म, संस्कृति आदि सभी क्षेत्रों में केवल गुणों का विज्ञापन किया जाता है, लेकिन अनत ने अपने गुणों के साथ दुर्गुणों को भी, अपनी विशेषताओं के साथ अपनी दुर्बलताओं का भी विज्ञापन करने में कोई संकोच नहीं किया है। निश्चय ही लेखक की जीवन-यात्रा और सृजन-प्रक्रिया को समझने के लिए श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ, प्रिय और अप्रिय दोनों ही प्रकार की रचनाओं को निकटता से देखना परमावश्यक है। अनत का वैसे भी यह दावा नहीं है कि 'आत्म-विज्ञापन' में केवल श्रेष्ठ एवं प्रिय रचनाओं को ही संकलित किया गया है। उसे हिन्दी का पहला अक्षर 'अ' कई कारणों से प्रिय है। अभिमन्यु अनत नाम के दोनों शब्दों की बुनियाद 'अ' अक्षर ही है और साथ ही उसे 'प्रिय' के समान 'अ-प्रिय' एवं 'श्रेष्ठ' के साथ 'अ-श्रेष्ठ' समान से रूप से प्रिय हैं। यही कारण है कि इस संकलन में पाठकों को 'श्रेष्ठ' एवं 'अश्रेष्ठ' दोनों प्रकार की रचनाएँ मिलेंगी। जब जीवन असत्य, अधर्म, अप्रिय, अश्रेष्ठ आदि के बिना पूर्ण नहीं होता, तब रचनाकार कैसे हो सकता है? अत:

इस संकलन को श्रेष्ठ रचनाओं का प्रतिनिधि संकलन कहना उचित न होगा। हाँ, इसे अनत के कुल साहित्य की श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ, प्रिय-अप्रिय रचनाओं में से कुछ चुनी रचनाओं का संकलन कहा जा सकता है जिससे लेखक की छवि पाठकों के सम्मुख स्पष्ट हो सके।

अभिमन्यु अनत मॉरिशस में जन्म लेने पर भी अब भारत के ही लेखक हैं। हमारे लिए निश्चय ही यह गौरव की बात है कि उन्होंने फ्रेंच एवं अंग्रेजी के मोहजाल और आकर्षणों से स्वयं को मुक्त करके हिन्दी को अभिव्यक्ति का माध्यम चुना। इससे मॉरिशस में न केवल हिन्दी का माथा ऊँचा हुआ है, बल्कि विश्व में फैले हिन्दी भाषा-भाषियों को अपना सिर ऊँचा करने का अवरस मिला है। अभिमन्यु अनत हमारे लिए भारतीय लेखक ही हैं। वे अपनी रचनाओं में भारतीय मूल्यों एवं भारतीय अस्मिता की ही लड़ाई लड़ रहे हैं और जीवन एवं रचना दोनों में ही उसे जीते हुए उसकी विजय के लिए संघर्ष कर रहे हैं। वे वास्तव में मॉरिशस के प्रेमचंद हैं, जो एक ओर भारतीय मूल्यों से प्रतिबद्ध हैं, और दूसरी ओर दमन, शोषण एवं अमानवीय ताकतों को नंगा करने के साथ एक स्वस्थ मानवीय समाज के निर्माण का स्वप्न संजोये हुए हैं।

मुझे विश्वास है कि पाठकों को अभिमन्यु अनत की यह नवीनतम रचना पसन्द आयेगी और वे अनत की एक झाँकी इसमें पा सकेंगे। 'आत्म-विज्ञापन' का अभिधार्थ तो स्पष्ट है ही, लेकिन पाठकों ने यदि इसके व्यंग्यार्थ को ध्यान में रखकर रचनाओं को पढ़ा तो उनका आस्वादन भिन्न प्रकार का होगा। शीर्षक का व्यंग्यार्थ ही उनका मूल-मंत्र है और वही अर्थ की विभिन्न पर्तों के रहस्य को निराकरण कर सकता है। पाठक का हित भी इसी में है कि वह व्यंग्यार्थ को ही आत्मसात् करे, अन्यथा उसे वेद-वाक्य या धर्म की तरह गम्भीर मान लेने पर कई रचनाएँ 'बकवास' और अर्थहीन-सी लगेंगी। पाठकों की प्रबुद्धता एवं विवेक पर मुझे तथा अनत दोनों को पूर्ण विश्वास है।

(दो)
'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत' (1985) की भूमिका

मॉरिशस से मेरा आत्मिक सम्बन्ध काफ़ी पुराना है। जब मैं इंटरमीडिएट का छात्र था, तब बुलन्दशहर (उत्तर प्रदेश) में पिता की लाइब्रेरी में उपलब्ध 'सरस्वती', 'माधुरी', 'चाँद', 'प्रभा', आदि हिन्दी पत्रिकाओं को पढ़ता रहता था। उनमें यदा-कदा मॉरिशस के हिन्दू प्रवासियों के जीवन एवं संस्कृति के सम्बन्ध में लेख प्रकाशित होते रहते थे। इन लेखों के पढ़ने से वहाँ की प्रकृति एवं भारतीय प्रवासियों के सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती गयी और बी.ए. की परीक्षा का अध्ययन आरम्भ करते-करते मैंने मॉरिशस के दो हिन्दू छात्रों को अपना पत्र-मित्र बना लिया। इन पत्र-मित्रों से मुझे ज्ञात हुआ कि किस प्रकार मॉरिशस में भारतीयों का शोषण किया गया तथा किस प्रकार उन्हें जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित रखते हुए, बैल के समान, खेतों में जोत दिया गया। इस प्रकार का यातनामय पशुवत् जीवन जीते हुए भी इन भारतीयों ने हिन्दू धर्म एवं संस्कृति को सुरक्षित रखा। इस जानकारी से मेरे मन में मॉरिशस के प्रवासी भारतीयों के प्रति न केवल श्रद्धा उत्पन्न हुई, बल्कि भारतीयों के रक्त से बनी इस पवित्र एवं तपोभूमि के दर्शन की

कामना भी उत्पन्न हुई। मेरी यह कामना लगभग 22-23 वर्षों के उपरान्त पूरी हुई जब मॉरिशस की 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' ने 'प्रेमचंद जन्म-शताब्दी समारोह' को बड़ी भव्यता के साथ 30 अगस्त, 1980 से 3 सितंबर, 1980 तक मोंताई लोंग में आयोजित किया और भारत के विदेश मंत्रालय से सम्बद्ध 'भारतीय सांस्कृतिक संवंध परिषद्' (आई. सी. सी. आर., नयी दिल्ली) ने श्री जैनेन्द्र कुमार और मुझे इस समारोह में भारत का प्रतिनिधि बनाकर भेजा।

मैं 28 अगस्त, 80 को रात्रि के 7 बजे वायुयान से मॉरिशस पहुँचा। दूसरे दिन प्रात: जब उठा तो बाहर निकलकर देखा कि शान्त समुद्र के श्वेत रेणुका तट पर बने 'विलेज होटल' का अपना ही सौन्दर्य है। इसके बाद मॉरिशस में मैं जितने भी दिन रहा, वहाँ के इन्द्रधनुषीय सौन्दर्य, हरियाली को ओढ़े धरती, आकाश की गहरी नीलिमा को अपने अंतस् में समाये समुद्र, कल-कल कर बहते झरने, गन्ने की गन्ध से परिपूर्ण वायुमण्डल आदि ने मन को मोहित कर लिया, लेकिन धरती के इस रंग और मस्त कर देने वाले वातावरण के पीछे अत्याचार और शोषण का लम्बा इतिहास छिपा हुआ है। इस इतिहास का, मॉरिशस की भूमि में, यदि कोई सच्चा सर्जक है तो वह हिन्दी का प्रसिद्ध कथाकार एवं कवि अभिमन्यु अनत ही है, ऐसा मेरा विश्वास है। 'लाल पसीना' उपन्यास पढ़ने के पश्चात् अभिमन्यु अनत की लेखनी का मैं कायल हो गया था और अनत से मिलने की बेचैनी मन में बराबर महसूस करता रहता था।

मॉरिशस के 'महात्मा गांधी संस्थान' में जब मैं वहाँ के निमन्त्रण पर प्रेमचंद पर व्याख्यान देने गया तो अभिमन्यु अनत से मेरी पहली बार भेंट हुई। तत्पश्चात् उनके घर आतिथ्य पाने का भी सौभाग्य मिला। इस अवसर पर मैंने देखा कि अनत साहित्यकार की तरह बातचीत एवं व्यवहार ही नहीं करता है, बल्कि एक साहित्यकार की तरह जीवन भी जीता है।

मॉरिशस से लौटते समय मैंने मन में यह निश्चय किया था कि मॉरिशस के हिन्दी-साहित्य पर एक पुस्तक लिखूँगा। मॉरिशस में अनेक हिन्दी संस्थानों तथा लेखकों से जो पुस्तकें भेंट में प्राप्त हुई थीं, मैंने उन्हें जब देखा तो पाया कि वहाँ अनेक लेखकों ने समर्पित भाव से हिन्दी की सेवा की है, परन्तु अभिमन्यु अनत ही एकमात्र ऐसा हिन्दी साहित्यकार है जिसने सर्वाधिक साहित्य लिखा है। भारत से बाहर रूस, अमेरिका, जापान, जर्मनी, इंग्लैंड, पोलैंड, हंगरी, सूर्यनाम, फ़िज़ी आदि देशों में हिन्दी विद्वानों एवं लेखकों का जो समुदाय है, उसमें मॉरिशस के हिन्दी लेखक अनत मौलिक रचनाकार के रूप में किसी भी अन्य भारतीय हिन्दी लेखक के समान पाठकों से पर्याप्त प्रेम एवं सम्मान प्राप्त कर सके हैं। चूँकि अनत भारतवंशी हैं और उनके साहित्य का मूलाधार भी मॉरिशस का भारतवंशी समाज है, इस कारण भारत के हिन्दी पाठक और यहाँ के समाज से 'दो शरीर एक आत्मा' वाला सम्बन्ध स्थापित हो गया है। इस प्रकार, विशेष रूप से, अभिमन्यु अनत मॉरिशस और भारत दोनों ही देशों के लेखक हैं, तथा दोनों ही देशों के समाज एवं उनकी आत्मा से उनका गहरा सम्बन्ध है। 'लाल पसीना' के विमोचन-समारोह में डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने इसी ओर संकेत करते हुए कहा था कि अभिमन्यु अनत की रचनाएँ इस बात की जीवन्त प्रतीक हैं कि दोनों देशों के अन्तस् के तार एक हैं और उन्हें छेड़ने पर उनमें से एक ही झनकार निकलती है।

मॉरिशस में हिन्दी लेखकों की जो परम्परा रही है, उनमें पं. आत्माराम, पं. लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी, पं. हरिप्रसाद रिसाल मिश्र, पं. यदुनंदन शर्मा, पं. कन्हैयालाल, प्रो. वासुदेव

विष्णुदयाल, जयनारायण राय, ब्रजेंद्रकुमार भगत 'मधुकर', सोमदत्त बखोरी, मुनीश्वरलाल चिंतामणि, अभिमन्यु अनत, प्रह्लाद रामशरण, ठाकुरदत्त पांडेय, जनार्दन कालीचरण 'संचित', हरिनारायण सीता, इंद्रदेव भोला, मोहनलाल हरदयाल, सूर्यदेव सिबरत, नारायणपत दसोई, महेश रामजीयावन, गिरजानन रंगू, जगलाल रामा, कृष्णलाल बिहारी, लालमन बसराम, परमेश्वर बिहारी, हेमराज सुन्दर, विष्णुदत्त मधु 'चंद्र', श्रीमती भानुमती नागदान, हरिनारायण महावीर, रामदेव धुरन्धर, ईश्वर जागासिंह, दामोदर सोमोरी, दीपचन्द बिहारी, रघुनाथ दयाल, वेणीमाधव रामखेलावन, सोनालाल नेमधारी, मोहनलाल बृजमोहन, पूजानन्द नेमा, बृजलाल रामदीन, प्रेमचन्द भूली, डॉ. ईश्वरदत्त पन्नालाल, मोहनलाल मोहित, पं. रामलगन शर्मा, जयरुद्ध दोसिया, मुकेश जीबोध आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों में अभिमन्यु अनत एक ऐसा नाम है जिसने हिन्द महासागर के मोती 'मॉरिशस द्वीप' की चमक एवं आब को विश्व हिन्दी के रंगमंच पर और अधिक चमकदार तथा आबदार बना दिया है। उसकी लेखनी का लोहा हिन्दी के दिग्गज स्वीकारते हैं। इस तरह अनत की रचनाएँ हिन्दी साहित्य का चिरस्थायी अंग बन गयी हैं।

ऐसी स्थिति में मेरे लिए अभिमन्यु अनत को अपने अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु बनाना उचित था और इसके लिए आवश्यक था कि पूर्वाग्रह से मुक्त होकर अनत के सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन किया जाये और तभी निष्कर्षों तक पहुँचा जाये। अनत एवं अपने मित्रों के सहयोग से मैं उसकी अधिकांश सर्जनात्मक कृतियाँ प्राप्त करने में सफल हो गया और उन्हें एक के बाद एक पढ़ता चला गया। अनत की अधिकांश महत्त्वपूर्ण रचनाओं को पढ़ने से मेरे सामने उनके रचना-संसार की अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ उद्घाटित हुईं।

सबसे पहले, अनत मॉरिशस की धरती के लेखक हैं। वे अपने देश की जन-पीड़ा एवं जन-मुक्ति के साहित्यकार हैं, और इस अर्थ में वे 'मॉरिशस के प्रेमचंद' हैं। उनकी यह जन-पीड़ा जितनी पूर्वजें के रक्त की लालिमा लिए है, उतनी ही अपने समय के मॉरिशसीय समाज के अंधकारपूर्ण भविष्य की कालिमा को ओढ़े हुए है, अर्थात् उनका साहित्य अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों की मानवीय पीड़ा, शोषण, अत्याचार, नियति, विवशता आदि को सशक्त रूप में अभिव्यक्त करता है। अनत की यह बड़ी सफलता है कि वे मॉरिशस की जन-पीड़ा एवं नियति को सम्पूर्ण मानवता की पीड़ा एवं नियति के रूप में प्रस्तुत कर सके हैं। इससे वे अपने छोटे-से देश की लघु सीमाओं से निकलकर विश्व में फैली मानव जाति के लेखक बन गये हैं।

लेकिन यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि अनत केवल दर्द और पीड़ा, शोषण और अत्याचार के वर्णन तक ही सीमित नहीं रहे हैं, बल्कि उन्होंने प्रेमचंद के समान मानव-मुक्ति का शंखनाद भी किया है। वे अपने उपन्यासों, कहानियों, कविताओं आदि में निर्धन एवं अशिक्षित के शोषण की कथा कहते हैं, अमानवीय परिस्थितियों एवं असामाजिक चरित्रों का उद्घाटन करते हैं, लेकिन इसके साथ अपने पात्रों एवं उनके विचारों में मानसिक, सांस्कृतिक, आर्थिक दासत्व की परिस्थितियों एवं स्थितियों को छिन्न-भिन्न एवं ध्वस्त करने के लिए क्रांतिकारी बेचैनी तथा सक्रियता उत्पन्न करते हैं। उनकी यह विशेषता उन्हें जन-पीड़ा के साथ जन-मुक्ति का लेखक बना देती है। उनकी इस सर्वाधिक सशक्त विशेषता के कारण ही उनका साहित्य पढ़ते समय मुझे प्रेमचंद की याद बराबर आती रही। कुछ सीमाओं को

ध्यान में रखते हुए प्रेमचंद और अभिमन्यु अनत में अंतर करना कठिन ही होगा।

अभिमन्यु अनत के साहित्य की एक और विशेषता यह है कि वे राजनीतिक वादों एवं खेमेबाज़ी को आधार मानकर रचना नहीं करते। वे राजनीतिक दृष्टि से किसी एक विचार-दर्शन से प्रतिबद्ध नहीं हैं। उनकी प्रतिबद्धता है तो मानव-जाति से, मानवता से तथा मानव नियति से। यही कारण है कि उन्हें न तो गांधीवादी कहा जा सकता है, और न मार्क्सवादी और न समाजवादी। वे गांधी और मार्क्स दोनों की ही आवश्यकता अनुभव करते हैं और मैं यह कह सकता हूँ कि मानव-जाति के कल्याण एवं विकास के लिए वे किसी भी अन्य उपयोगी एवं आवश्यक विचार-दर्शन को सहर्ष स्वीकार कर सकते हैं। उनके साहित्य में इसी कारण अनेक रंग हैं लेकिन दृष्टि मानव-जाति पर ही लगी हुई है। वे हिन्दू संस्कृति के भक्त हैं, उसके मूल्यों एवं जीवन-पद्धति को महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा विसंस्कृतिकरण की समस्या को सर्वाधिक विकट समस्या मानते हैं, लेकिन अन्य धर्मों के प्रति उनका दृष्टिकोण सहिष्णुता एवं समभाव का है। वे हिन्दी के लेखक हैं, हिन्दी को अपना जीवन मानते हैं, लेकिन अंग्रेजी, फ्रेंच आदि भाषाओं का साहित्य पढ़ते हैं और उनसे सीखने की बराबर चेष्टा करते हैं। जीवन का इन्द्रधनुषीय रंग आपको उनके साहित्य में मिलेगा, लेकिन वे इस ओर भी पूर्णत: सचेत हैं कि जीवन कैसा होना चाहिए। अत: उन्हें केवल यथार्थवादी कहना उचित न होगा, क्योंकि उनके साहित्य में आदर्श की शक्ति एवं प्रवाह सर्वत्र देखा जा सकता है। उन्हें यहाँ प्रेमचंद के समान 'आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी' कहने में मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। अनत का आदर्शवाद यथार्थ पर चिपकाया हुआ नहीं है। वह यथार्थ का रंग है और उसी का विकसित रूप है।

अभिमन्यु अनत की साहित्यिक विशेषताओं की विस्तृत चर्चा का यहाँ अवकाश नहीं है। फिर भी कुछ प्रमुख बातों का उल्लेख आवश्यक है। वे प्रवासी भारतीयों में ही सर्वश्रेष्ठ रचनाकार नहीं हैं, बल्कि भारत से बाहर जो हिन्दी-प्रेमी विद्वान हिन्दी में लिख रहे हैं, उनमें वे ऐसे साहित्यकार हैं जो सर्जनात्मक साहित्यकार के रूप में भारत में यशस्वी हो सके हैं। उनके अभी तक 16 उपन्यास, 3 कहानी-संग्रह, 3 नाटक, 3 कविता-संग्रह तथा अन्य कुछ अनुवाद एवं संपादित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त अनेक लेख तथा यात्रा-संस्मरण भी प्रकाशित हो चुके हैं। उनके साहित्य की इस विपुलता से उनके महत्त्व एवं प्रतिष्ठा को आँकना उचित न होगा, जितना इस बात से कि भारत के कई हज़ार मील दूर एक छोट-से टापू में रहने वाला एक अनजान लेखक धीरे-धीरे भारत के हिन्दी भाषा-भाषियों का एक प्रिय एवं चर्चित लेखक बन जाता है। ऐसे साहित्याकार के अंतर्मन को समझने के लिए, उसकी सृजन-प्रक्रिया एवं विचार-दर्शन के सूत्रों को पकड़ने के लिए तथा उसके देश की परिस्थितियों के साथ उसकी कृतियों के सम्बन्धों को तलाशने के लिए उससे सीधा सम्वाद करना मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ। इस सम्वाद के लिए मुझे पत्रों का सहारा लेना पड़ा, क्योंकि प्रत्यक्ष सम्वाद के लिए मुझे या तो मॉरिशस जाना पड़ता अथवा उनके भारत आगमन की प्रतीक्षा करनी पड़ती।

इन दोनों ही सम्भावनाओं के असम्भव होने के कारण मैंने अक्तूबर, 1981 से सितम्बर, 1983 तक अनत को लगभग 30 पत्र लिखे और प्रत्येक पत्र में अपनी कुछ जिज्ञासाएँ प्रश्नों के रूप में भेजीं। उनसे मुझे अपने प्रश्नों का उत्तर बराबर मिलता रहा और इस प्रकार इस पुस्तक का स्वरूप तैयार हुआ। उनके कुछ उत्तरों से मुझे संतोष नहीं हुआ तो पुन: उनके

उत्तरों को लेकर पुन: प्रश्न किये गये और बाद में उन्हें यथासम्भव जोड़ दिया गया।

वास्तव में यह पुस्तक 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत' लेखक के व्यक्तित्व एवं उसके रचना-संसार को समझने का एक लघु प्रयास है, लेकिन यह दावा नहीं है कि उसे तथा उसके साहित्य को लेकर सभी जिज्ञासाओं का उत्तर यहाँ प्राप्त हो जायेगा। एक पाठक के रूप में मेरे मन में जो प्रश्न उत्पन्न हुए हैं तथा एक प्रवासी हिन्दी लेखक के प्रति जो जिज्ञासाएँ हो सकती हैं, मैंने उन्हें अनत के सम्मुख रखकर उनकी प्रतिक्रियाएँ चाही थीं। मैं समझता हूँ, साहित्य की दुनिया में अपने प्रकार का यह पहला ही प्रयास है जब हज़ारों मील दूर बैठे लेखक से सीधे सम्वाद किया गया हो और उसके रचना-संसार को समझने की चेष्टा की गयी हो।

अब यह पुस्तक 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत' पाठकों के हाथ में है। अपनी सीमाओं के साथ यदि यह पुस्तक अनत की रचनाधर्मिता, सर्जनात्मक क्षमता एवं उसके विविध आयामों को समझने एवं उसकी उपलब्धियों को रेखांकित करने में तनिक भी अंशदान कर सकी तो मैं अपने श्रम को सार्थक मानूँगा। मैं अनत के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ, जिसके सहयोग से ही यह पुस्तक इस रूप में प्रकाशित हो सकी है। इसके पश्चात् मेरी चेष्टा है कि अनत के साहित्य पर एक समीक्षात्मक पुस्तक तैयार की जाये। मैं समझता हूँ कि अनत के साहित्य का तटस्थ मूल्यांकन होना चाहिए और उसकी उपलब्यिों एवं सीमाओं पर हिन्दी विद्वानों को खुलकर बातचीत करनी चाहिए। डॉ. भीष्म साहनी ने बड़ी पीड़ा के साथ एक बार कहा था कि हिन्दी में एक-दूसरे के साथ बैठकर बातें करने, एक-दूसरे का अनुभव जानने, एक-दूसरे की रचनाओं को खुले दिल से पढ़ने और उन पर बात करने का माहौल चुकता जा रहा है। मैं समझता हूँ, यदि यह पुस्तक इस माहौल को तोड़ सकी और लेखक तथा आलोचक के बीच सम्वाद की स्थिति को पुन: स्थापित कर सकी तो निश्चय ही लेखकों एवं आलोचकों के रिश्तों में अदृश्य होती हुई मधुरता पुन: दृष्टिगत होने लगेगी और लेखक तथा उसकी रचनाओं को समझने-समझाने का सिलसिला पूरी ईमानदारी से शुरू हो सकेगा। अभिमन्यु अनत जैसे लेखकों के प्रति तो हमें बहुत अधिक सावधान रहना पड़ेगा, क्योंकि वे भारत से हजारों मील दूर रहकर भी हिन्दी के प्रति समर्पित भाव से साहित्य की रचना कर रहे हैं। अनत मॉरिशस का हिन्दी लेखक अवश्य है, लेकिन वह हमारा भी वैसा ही लेखक है जैसे प्रेमचंद, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता आदि। विश्व में जहाँ-तहाँ हिन्दी में साहित्य की रचना हो रही है, वह सब उस देश का हिन्दी साहित्य होने के साथ ही हमारा अपना भी साहित्य है। मेरा आशय यह है कि भारत में लिखे जाने वाले अंग्रेज़ी साहित्य को जिस प्रकार यूरोपीय आलोचकों ने अंग्रेज़ी का मौलिक साहित्य न मानते हुए उसे द्वितीय श्रेणी में रखा है, वैसी गलती हमें नहीं करनी है। इसलिए मॉरिशस-निवासी हिन्दी लेखक अभिमन्यु अनत के साहित्य और उसकी रचनाधर्मिता को, किसी भी अन्य हिन्दी लेखक के समान ही महत्त्वपूर्ण मानते हुए उसकी उपलब्धियों एवं सीमाओं पर गहरी नज़र रखनी होगी और समय-समय पर उसकी सर्जनात्मकता एवं उसकी मानसिक चिंताओं को समझने-समझाने का रास्ता खोलना होगा। यह लघु पुस्तक इस दृष्टि से पहला प्रयास है। मुझे विश्वास है कि ऐसे प्रयास भविष्य में भी होते रहेंगे।

इस पुस्तक के प्रकाशक श्री सुरेन्द्र मलिक का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक की योजना को पसन्द किया और इसे इतनी रुचि से प्रकाशित किया।

(तीन)
'एक डायरी बयान' (1985) की भूमिका

मॉरिशस के प्रसिद्ध साहित्यकार अभिमन्यु अनत की नयी कविताओं का संग्रह 'एक डायरी बयान' अब आपके सम्मुख है। जिन पाठकों की अनत की कविताओं में रुचि रही है, मुझे विश्वास है, उन्हें 'एक डायरी बयान' की कविताएँ भी पसन्द आयेंगी। कवि ने अपने भीतर खौलती अनुभूतियों एवं विचारों को डायरी के पन्नों पर उतारकर प्रस्तुत किया है, जो मेरे विचार में सर्वथा एक नया प्रयोग है। हिन्दी में डायरी विधा में उपन्यास, कहानी, रिपोर्ताज आदि लिखे गये हैं, किन्तु कविता के लिए इसका प्रयोग पहली बार अनत ने किया है। जहाँ तक विदेशी साहित्य का प्रश्न है, वहाँ भी डायरी को गद्य-विद्याओं के लिए उपयोग में लाया जाता रहा है। अत: अनत को डायरी में कविताएँ लिखने वाले प्रथम कवि का सम्मान मिले तो उपयुक्त ही होगा, यद्यपि अनत का स्वयं ऐसा कोई दावा नहीं है और न उसने इसे नया आविष्कार करने के लिए ही लिखा है। असल में 'एक डायरी बयान' उसके 'एक सहज ख़्याल की ही उपलब्धि' है।

इन कविताओं का जन्म उस राजनीतिक ऊब से हुआ है जो मॉरिशस के वातावरण में निरन्तर घनीभूत होती जा रही है। इस यंत्रणामय जीवन, उसकी परिस्थितियों, विद्रुपताओं तथा विसंगतियों में मानव-मूल्यों का जो क्षय हो रहा है, उसका स्वर ही इस डायरी की मूल आत्मा है। कवि का सम्वदेनशील मन जब मानवता एवं मानवीय मूल्यों का विध्वंस देखता है तो इन कविताओं का जन्म होता है। अभिमन्यु अनत ने 10 जून, 1985 के पत्र में मुझे लिखा भी था, "ये सारी कविताएँ उस निहत्थेपन और सिले हुए आक्रोश की प्रतिक्रिया ही तो हैं जिसमें आज मेरे देश का आदमी सियासती वायदों के हाथों अपने को गिरवी रखकर जी रहा है।" मैं समझता हूँ, हमारे देश की स्थिति भी इससे कुछ भिन्न नहीं है। अत: भारत के पाठकों के लिए भी इसकी सार्थकता असंदिग्ध हो जाती है।

(चार)
'मार्क ट्वेन का स्वर्ग' (1985) की भूमिका

अभिमन्यु अनत के दो नये लघु उपन्यासों को इस पुस्तक के माध्यम से पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने में मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है। अभिमन्यु अनत न केवल मॉरिशस के प्रथम कोटि के लेखक हैं, अपितु भारत में भी वे हिन्दी के प्रतिष्ठित एवं मान्य लेखक हैं। अनत के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मार्क ट्वेन ने जिस देश को धरती का स्वर्ग कहा था, वे उस मॉरिशस कहलाने वाले देश के स्वर्ग और नर्क, अमृत और विष, परम्परा और आधुनिकता, दासता एवं स्वतन्त्रता, बन्धन तथा मुक्ति को जीवन्त एवं मर्मस्पर्शी भाषा में अभिव्यक्त करके विश्व के हिन्दी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। साहित्यकार धरती को स्वर्ग बनाना चाहता है तथा प्रकृति द्वारा मानव-जाति के लिए प्रदत्त अपरिमित एवं असंख्य वस्तुओं पर कुछ मनुष्यों एवं छोटे-छोटे व्यक्ति-समूहों द्वारा स्थापित एकाधिकार को भंजित करके सबके लिए सुलभ कराना चाहता है। मनुष्य द्वारा मनुष्य पर किये गये अत्याचार,

दमन एवं शोषण के गूँगे इतिहास को नंगा करके वह शोषित तथा पीड़ित मनुष्यों एवं मानव-जाति को जाग्रत करना चाहता है। कुछ ऐसा ही काम अभिमन्यु अनत अपनी अन्य रचनाओं के माध्यम से भी करते रहे हैं। उन्होंने 'लाल पसीना', गांधी जी बोले थे' तथा 'गूँगा इतिहास' लिखकर यह सिद्ध कर दिया है कि वे मॉरिशस की धरती के लेखक हैं। मॉरिशस की मिट्टी में जो भारतीयों के ख़ून एवं पसीने की गन्ध है तथा उनके संस्कारों में जो भारतीयता की शक्ति है, वह दासता, दमन एवं अंकुश के बाद भी अपना रंग लाती है। मॉरिशस के भारतवंशियों एवं उनकी भारतीयता पर हुए आक्रमण तथा उसे समूल नष्ट कर देने के षड्यन्त्रों को, उन्होंने अपने साहित्य में, प्रेमचंद के समान, नंगा कर दिया है तथा अपने पात्रों में वह ऊर्जा उत्पन्न कर सकने में सफल हुए हैं, जो उन्हें अपने मूल भारतीय संस्कारों, मूल्यों तथा जीवन-दर्शन के साथ, अस्तित्व पर आये सभी संकटों के बीच, जीवित रहने की अदम्य शक्ति प्रदान करती है।

'मार्क ट्वेन का स्वर्ग' उपन्यास भी इसी संघर्ष एवं मानसिकता की कड़ी है। कथ्य की दृष्टि से इस उपन्यास में भी धरती का स्वर्ग कहलाने वाले मॉरिशस में विद्यमान नर्क का चित्रण है, घनी एवं निर्धन की असमानताओं का चित्रण है तथा पर्यटकों के लिए उपलब्ध भौतिक वस्तुओं एवं निर्धन निवासियों के रोटी एवं रोजी के संकट, जीवित रहने के लिए लड़कियों का देह-व्यापार, नौकरी में शोषण एवं बेरोजगारी, सत्ता का तस्करी एवं धनार्जन में उपयोग आदि समस्याओं को बड़े यथार्थपूर्ण ढंग से कथा के साथ बुना गया है; किन्तु इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से यह लेखक का एक नया प्रयोग है। इस उपन्यास में पहली बार मॉरिशस के स्वर्ग में स्थित नर्क को किसी मॉरिशसीय पात्र के द्वारा न देखकर कनाडा में रहने वाली एक रेड इंडियन लड़की सील्वी की नज़रों से प्रस्तुत किया गया है। बीमार सील्वी अपने पत्रकार भाई तथा उसके मित्र के साथ मॉरिशस की यात्रा पर आती है, जिससे वहाँ का समुद्र तथा धूप उसके शरीर तथा मस्तिष्क को स्वस्थ कर सके। यह उपन्यास सील्वी की इस यात्रा पर ही आधारित है तथा वह इस यात्रा के दौरान, होटल में रहते हुए, मॉरिशस को जिस रूप में देखती है, मॉरिशस की प्रकृति एवं पात्र जो उसके सम्पर्क में आते हैं, वे ही मार्क ट्वेन के इस स्वर्ग की कथा कहते हैं। सील्वी पहले से मॉरिशस द्वीप को नहीं जानती, लेकिन जब उसका वायुयान प्लेजाँस हवाई अड्डे पर मौसम की खराबी के कारण उत्तर नहीं पाता, तब से वह इस द्वीप से परिचित होने लगती है। वह दो-तीन सप्ताह तक इस द्वीप में रहती है; किन्तु यहाँ की भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक, व्यापारिक, धार्मिक आदि विभिन्न परिस्थितियों से वह परिचित हो जाती है। वह मॉरिशस के ग्रामांचलों में जाती है, वहाँ के जनजीवन को देखती है तथा अन्याय के विरुद्ध प्रेम जैसे पात्रों की मदद करने का भी प्रयत्न करती है, लेकिन जाते समय वह क्यूबेक में मिले मॉरिशस के लेखक से न मिल पाने के दर्द को साथ ले जाती है। यह वह क्षण है, जब पाठक सील्वी की व्यथा में सहभागी हो जाता है और व्याकुलता से प्रतीक्षा करता है कि कब वह लेखक आये और मॉरिशस से विदा होती सील्वी के स्नेह को स्वीकार करे; किन्तु वह हवाई अड्डे पहुँच नहीं पाता और सील्वी व्यथित मन से कनाडा के लिए उड़ जाती है।

अभिमन्यु अनत की कलात्मकता इसमें है कि वह किसी पात्र का रूप धारण करके नहीं आता, किन्तु वह उपन्यास में सर्वत्र विद्यमान रहता है। वह अदृश्य होकर भी उपन्यास की प्रकृति, वातावरण तथा पात्रों की आत्मा में अपनी चेतना का स्पर्श करके उन्हें स्पन्दित कर देता है और

मॉरिशस के स्वर्ग को नर्क में बदलने वाली शक्तियों के नकाब को एक के बाद एक उतारने लगता है। अफ़सोस यही है कि लेखक यह बताने की स्थिति में नहीं है कि इन शक्तियों का अन्त कब तक होगा और मॉरिशस की स्वर्गिक आभा एवं समृद्धि कब जन-जन के लिए समान रूप से उपलब्ध हो सकेगी! जिस दिन यह क्षण आयेगा, मॉरिशस उसी समय वास्तविक स्वर्ग होगा।

'फैसला आपका' भी शिल्प की दृष्टि से एक नया प्रयोग है, यद्यपि सम्वेदना एवं लेखकीय चिन्ता वही है, जो देश को प्रेम करने वाले किसी भी राष्ट्रीय लेखक की हो सकती है। उपन्यास की नायिका प्रिया प्लेजाँस हवाई अड्डे पर पन्द्रह लाख के सोने के जेवरों तथा पाँच किलो अफीम के साथ पकड़े जाने पर जेल में बन्द कर दी जाती है। वह जेल की कोठरी में रहते हुए सामाजिक सुरक्षा-मंत्री हेमराज राजमन से अपने प्रेम-सम्बन्धों, विवाह और पति के व्यवहार, मुकदमा और अदालत में होने वाली वकीलों की जिरहों, विभिन्न व्यक्तियों की गवाहियों, पूर्व-प्रेमी के सद्‌भाव और उसके छुड़ाने के प्रयासों, प्रेम-प्रसंगों आदि की कल्पना करती है और घटित तथा अघटित का ऐसा काल्पनिक भवन बनाती है कि सब कुछ यथार्थ लगने लगता है। पाठक बीच-बीच में यह जानता है कि प्रिया मात्र सोच रही है, लेकिन उसका सोचना, उसका कल्पना से प्रसंगों एवं घटनाओं की सृष्टि करना, कुछ ऐसा यथार्थपूर्ण एवं कौतूहल से भरा है कि पाठक की उत्सुकता बराबर बनी रहती है। कथ्य की दृष्टि से उपन्यास में राजनेताओं द्वारा तस्करी तथा अवैध धनार्जन के षड्यन्त्रों एवं राष्ट्र-विरोधी प्रयासों का पर्दाफ़ाश किया गया है और लेखक चाहता है कि प्रिया पर तस्करी करने के मुकदमे के फ़ैसले से पहले पाठक इस मुकदमे का फ़ैसला करें और बतायें कि इसके लिए सामाजिक सुरक्षा-मंत्री दोषी है या उनकी प्रेमिका प्रिया। लेखक की इस उपन्यास में खूबी यह है कि अदातल के मुकदमे के फ़ैसले से पहले ही उपन्यास ख़त्म हो जाता है, परन्तु पाठक की जन-अदालत अपना फ़ैसला दे देती है कि राजनीतिक शक्तियाँ और राजनेता ही तस्करी के लिए ज़िम्मेदार हैं। प्रिया मात्र शतरंज का मोहरा है। उसका संचालक सामाजिक सुरक्षा-मंत्री श्री हेमराज राजमन ही है और वही तस्करी तथा अवैध व्यापार के लिए उत्तरदायी है।

अभिमन्यु अनत के ये दोनों उपन्यास मॉरिशस के राष्ट्रीय कथाकार की चिन्ता के द्योतक हैं तथा इस तथ्य के प्रतीक हैं कि वह देश को नर्क तथा उसे पंगु बनाने वाली शक्तियों को निरावृत्त करके ही दम लेगा। यह एक ऐसा कार्य है जिसके मार्ग में अनेक संकट और बाधाएँ आती है, किन्तु अनत ने जिस साहस तथा दृढ़ता के साथ यह कार्य किया है, उससे वह सम्पूर्ण मॉरिशस का नहीं, बल्कि भारत जैसे देशों के पाठकों का भी प्रिय कथाकार बन जाता है। अपने देश को नारकीय परिस्थितियों से मुक्त कराने की अनत की छटपटाहट उसे उस जैसी परिस्थितियों वाले देशों के पाठकों का आत्मीय लेखक न बनायेगी तो फिर क्या बनायेगी?

अभिमन्यु अनत के ये नये प्रयोग, मुझे विश्वास है, पाठकों को पसन्द आयेंगे तथा पाठक अपनी प्रतिक्रियाओं से लेखक को परिचित करायेंगे।

(पाँच)
'मुड़िया पहाड़ बोल उठा' (1987) की भूमिका

अभिमन्यु अनत मॉरिशस के ऐसे यशस्वी कथाकार हैं जिनकी कृतियों में न केवल भारत

के पाठकों को भाव-विह्वल किया है, बल्कि एक नये मानवीस समाज के निर्माण की चेतना को भी सबल बनाया है। वहाँ वे अपनी रचनाओं से वह महत् कार्य कर रहे हैं जो प्रेमचंद ने भारत में किया था।

उनका नया उपन्यास 'मुड़िया पहाड़ बोला उठा' मॉरिशस के समकालीन जीवन की वास्तविकताओं का जीवन्त दस्तावेज़ है। इसकी नायिका नेहा, अपने परिवार एवं प्रेमी के सब प्रकार के दबावों से स्वयं को मुक्त रखते हुए, श्रमिक बनना स्वीकार करती है और गरिमामय सरकारी नौकरी का मोह त्यागकर श्रमिक महिलाओं के आन्दोलन का नेतृत्व करती है। उपन्यासकार ने नेहा के माध्यम से देश के पूँजीपतियों द्वारा होने वाले शोषण, उनकी श्रमिक विरोधी नीतियों तथा सत्ताधारियों से उनके अन्तरंग सम्बन्धों को निरावृत्त कर दिया है। कथनी व करनी में अन्तर को उद्घाटित करने के साथ ही यह राजनीतिक दलों के भ्रष्टाचार और अनाचार का भी पर्दाफ़ाश करता है। संगठित महिला श्रमिकों का आन्दोलन अन्त में सफल होता है—सरकार कारख़ाने का राष्ट्रीयकरण करती है और श्रमिकों को भी स्वामित्व में हिस्सेदारी देती है।

इस प्रकार यह उपन्यास एक नये आर्थिक जीवन की शुरूआत करता है जिसमें सरकार और श्रमिक दोनों ही कारख़ाने के स्वामी होते हैं। जिस प्रकार मॉरिशस का मुड़िया पहाड़ बोला उठता है, क्या उसी प्रकार हमारा हिमालय भी कभी ऐसा ही आह्वान न करेगा और श्रमिकों को उनके अधिकार न दिलायेगा ? अब हमें भारत के मुड़िया पहाड़ के बोल उठने की प्रबल प्रतीक्षा है।

(छः)
'एक थाली समन्दर' (1987) की भूमिका

अभिमन्यु अनत एक बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न लेखक हैं जिन्होंने कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक, संस्मरण, रिपोर्ताज़ आदि अनेक विधाओं में लिखा है। उनकी कहानियों ने उन्हें यशस्वी बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इससे पूर्व अनत के तीन कहानी-संग्रह 'ख़ामोशी के चीत्कार' (1973), 'इन्सान और मशीन' (1973), तथा 'वह बीच का आदमी' (1981) छप चुके हैं और अब चौबीस कहानियों का यह संग्रह प्रकाशित हो रहा है।

ये कहानियाँ मॉरिशस के जन-जीवन की ऐसी कलात्मक झाँकियाँ हैं जो हमारे मन-मस्तिष्क को गहराई तक उद्वेलित करती हैं—कहीं भाव-विभोर और कहीं विचारोत्तेजित करके सोचने-समझने को विवश करती हैं। अनत इन कहानियों में जीवन को बड़ी बारीकी से पकड़ते हैं और अपनी सृजन-क्षमता से इसे एक कलात्मक इकाई में बदल देते हैं। विस्तार और व्यापकता में जाने वाले उपन्यासकार के लिए ऐसी रचना-प्रक्रिया से गुज़रना कितना कठिन और दुसाध्य है, यह सरलता से समझा जा सकता है। कहानी जीवन की एकोन्मुखी कलात्मक अभिव्यक्ति है। अनत की कहानियाँ निश्चय ही इस कोटि में आती हैं। वह अपनी कहानियों में मानव-जीवन के प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, स्वाभिमान, दम्भ, क्रोध, दमन, शोषण, मैत्री आदि भावों को साकार एवं जीवन्त बनाने में पूर्णत: सफल हुए हैं।

(सात)
'अचित्रित' (1991) की भूमिका

मॉरिशस के प्रसिद्ध हिन्दी लेखक श्री अभिमन्यु अनत अपने देश के ही गौरव नहीं हैं, बल्कि मेरे देश के पाठकों के लिए भी वे अब गौरव का कारण हैं। हिन्दी भारत के बहुसंख्यक समाज की मातृभाषा है तथा उसे राष्ट्र-भाषा, राज-भाषा एवं सम्पर्क-भाषा होने का सम्मान मिला है, किन्तु हम देख रहे हैं कि देश में किस प्रकार अंग्रेजी-भाषियों के सम्मुख हिन्दी-भाषी द्वितीय कोटि के नागरिक बनते जा रहे हैं। यह दु:खद एवं भयावह स्थिति है, लेकिन हिन्दी-भाषी समाज अपनी सहिष्णुता के कारण इसे भी सहन करता आ रहा है। मॉरिशस में स्थिति इससे कुछ भिन्न नहीं है। वहाँ फ्रेंच, अंग्रेजी एवं क्रियोली का प्रभुत्व ऐसा बनता जा रहा है कि हिन्दी कहीं पूर्वजों की भाषा बनकर न रह जाये, लेकिन ऐसे वातावरण में अभिमन्यु अनत जैसे लेखक हिन्दी की मशाल को जगाये हुए हैं और उसे अपनी आत्मा एवं लेखनी की लौ से प्रज्वलित किए हुए हैं। यह आशा एवं विश्वास का एक बड़ा बिन्दु है। जिस देश के लेखक अपनी मातृ-भाषा एवं सर्जन-भाषा को गले लगाये हुए हैं, और श्रेष्ठ एवं कालजयी रचनाएँ दे रहे हैं, उस भाषा को इतिहास के पृष्ठों में कौन दफ़न कर सकता है?

अपनी दूसरी मॉरिशस-यात्रा (अप्रैल, 1989) के दौरान मुझे अभिमन्यु अनत के घर पर ही रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री ओम ठाकुर भी मेरे साथ गये थे। श्री विजय मधु (सलाहकार, वित्त मंत्रालय, मॉरिशस सरकार) ने निजी तौर पर हमें आमन्त्रित किया था। इससे जो एक बात स्पष्ट हुई कि मॉरिशस में कुछ व्यक्ति तथा सामाजिक संस्थाएँ हिन्दी को जीवित रखने के लिए प्रतिबद्ध हैं तथा ये शक्तियाँ चाहती हैं कि भारत एवं मॉरिशस के बीच हिन्दी लेखकों का आदान-प्रदान होता रहे। यह कार्य भारत सरकार को उसी रूप से करना चाहिए, जिस प्रकार वह भारत-सोवियत मैत्री-संधि के अन्तर्गत लेखकों-कलाकारों को एक-दूसरे के देशों में भेजने के लिए वर्षों से कर रही हैं। इस संधि के अन्तर्गत रूस भारतीय हिन्दी लेखकों को भी प्रतिवर्ष पुरस्कृत करता है तथा रूस-यात्रा के लिए आमन्त्रित करता है। मॉरिशस और भारत के बीच इसी प्रकार की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संधि होने की आवश्यकता इतनी अधिक है कि उसे राजनेताओं को समझना चाहिए। भारत सरकार ने मॉरिशस में 'इन्दिरा गांधी भारतीय सांस्कृतिक केन्द्र' खोला है और डॉ. ए. परसनिस (दिल्ली विश्वविद्यालय में फ्रेंच विभाग के अध्यक्ष) इन दिनों उसके डॉयरेक्टर हैं, परन्तु कार्य की गति धीमी है। इसका एक बड़ा कारण है—फैसले लेने में देरी तथा उन्हें कार्यान्वित करने में उत्साह की कमी। मॉरिशस में हिन्दी अधिकारी डॉ. राजेन्द्र कुशवाहा ने मुझे बताया था कि बम्बई हवाई अड्डे पर पाँच टन हिन्दी पुस्तकें मॉरिशस आने के लिए काफ़ी समय से पड़ी हुई हैं। अत:यह विचारणीय है कि निर्णयों को मूर्त रूप देने में इतना विलम्ब क्यों होता है? मॉरिशस में यदि हम हिन्दी का विकास चाहते हैं, वहाँ भारतीय संस्कृति एवं धर्म को जीवित रखना चाहते हैं, तो हमें वहाँ हिन्दी को सशक्त एवं विकासशील भाषा बनाने के लिए उसी प्रकार योजनाबद्ध तरीके से कार्य करना होगा जैसा फ्रांसीसी सरकार वहाँ कर रही है। मॉरिशस के हिन्दी प्रेमियों के लिए मॉरिशस के प्रत्येक नगर-गाँव में हिन्दी पुस्तकालय

खोलने होंगे, भारत के हिन्दी लेखकों को नियमित भेजना होगा तथा ऐसे लेखकों-कलाकारों को भेजना होगा जो मॉरिशस में भारतीय धर्म, संस्कृति, भाषा एवं साहित्य के विकास के लिए प्रतिबद्ध हों। 'साहित्य अकादमी' अथवा 'भारत सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्' (आई.सी.सी. आर.) द्वारा मॉरिशस के हिन्दी लेखकों को पुरस्कृत करने के साथ वहाँ के युवा लेखकों की कृतियों के प्रकाशन की व्यवस्था करनी होगी, मॉरिशस के छात्रों को भारत से हिन्दी में एम. ए. तथा पीएच.डी. कराने की सुविधा उपलब्ध करानी होगी तथा वहाँ के हिन्दी लेखकों को भारत-यात्रा के लिए नियमित आमन्त्रित करना होगा। ये सभी कार्य 'इन्दिरा गांधी भारतीय सांस्कृतिक केन्द्र' को करने हैं, यह शुभ स्थिति है, पर उनके कार्यान्वयन में भारत सरकार को तेजी लानी चाहिए। मॉरिशस में हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ दुगुनी क़ीमत में मिलती हैं। क्या यह व्यवस्था नहीं हो सकती कि भारत सरकार उन्हें मुद्रित मूल्य पर उपलब्ध कराये? क्या यह नहीं हो सकता कि मॉरिशस के छात्रों को कम-से-कम सौ स्कॉलरशिप हिन्दी के पढ़ने के लिए दी जायें? क्या भारत की कोई हिन्दी प्रेमी संस्था मॉरिशस की प्रमुख संस्थाओं—'महात्मा गांधी संस्थान', 'हिन्दी प्रचारिणी सभा', 'मॉरिशस हिन्दी इंस्टिट्यूट' आदि को हिन्दी-भाषा और साहित्य के विकास के लिए आर्थिक सहयोग नहीं दे सकती? भारत में ऐसी कई संस्थाएँ हैं, जिनके पास साधन हैं और जो हिन्दी के विकास के लिए प्रतिबद्ध हैं। उन्हें सामने आना चाहिए और मॉरिशस में हिन्दी-भाषा एवं साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए योजनाबद्ध तरीके से सहयोग देना चाहिए।

मॉरिशस की जनता स्वयं जागृत है और वह चाहती है कि भारत की जनता एवं सरकार उन्हें सहयोग दे। वहाँ अपनी इस यात्रा के दौरान मैंने पाया कि जनता हिन्दी से प्रेम करती है और वह बेचैन है कि फ्रेंच-अंग्रेजी के आधिपत्य से हिन्दी को कैसे बचाकर रखा जाये। 'महात्मा गांधी संस्थान' में मैं जिस दिन भाषण देने गया उस दिन हॉल पूरा भरा था और लगभग 400 हिन्दी प्रेमी उपस्थित थे। आर्यसभा के केन्द्रीय सभागार में भाषण दिया तो वहाँ भी हॉल भरा था। मैंने हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए जो बातें रखीं, उनका स्वागत हुआ। यहाँ तक कि 'वसन्त' के नये अंक में स्वयं अभिमन्यु अनत ने हिन्दी नामपट्ट लगाने के मेरे प्रस्ताव का स्वागत किया। समाचार यह है कि लगभग एक हज़ार लोग अपने घरों के नाम तथा अपने नाम के नामपट्ट हिन्दी में लगा रहे हैं। यह उत्साह एवं सक्रियता स्वागत योग्य है।

अभिमन्यु अनत मॉरिशस के सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं चर्चित लेखक हैं। उनकी कृतियाँ जब भारत में छपती हैं तो मॉरिशस एवं भारत दोनों देशों में उन पर गम्भीरतापूर्वक चर्चाएँ होती हैं। अब वे हिन्दी पाठकों के बड़े प्रिय लेखक हैं। उनका यह नया उपन्यास 'अचित्रित', एक नयी कथावस्तु को लेकर सामने आता है। इसका विषय वेश्या-व्यवसाय, उसकी नैतिकता-अनैतिकता, आदि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों से सम्बद्ध है, परन्तु लेखक की विशेषता यह है कि उसने प्रेम, रोमांस, राजनीति, महत्त्वाकांक्षा, देश की स्वतन्त्रता, नीति-अनीति आदि जीवन-प्रसंगों को इस प्रकार अनुस्यूत किया है कि वे कथा-नायिका के जीवन-प्रसंगों एवं घटनाओं से जन्म लेते हैं और इस प्रकार मुख्य कथा को विकसित करते हैं। विश्व प्रसिद्ध कथाकार शरत् एवं प्रेमचंद की नायिकाओं के समान अभिमन्यु की नायिकाएँ भी बड़ी सशक्त होती हैं, गिरी होने पर भी स्वयं उठती हैं और दूसरों को भी उठाती हैं, उन्हें उदात्त बनाती हैं। इस उपन्यास की नायिका वेश्या है, वेश्यावृत्ति को उचित मानती है, लेकिन [illegible] के राजनीतिक छल-प्रपंच

का हिस्सा वह भी नहीं बनना चाहती, अर्थात् वेश्या की भी अपनी नैतिकता है, वह प्रेम विक्रम से अवश्य करती है, पर देश की स्वतन्त्रता के लिए प्रतिबद्ध रामनाथ नौरतन को चरित्र-भ्रष्ट करने की सहमति देकर भी वह अन्त में उस सुराख को छिपा देती है, जिससे उसके प्रेमी विक्रम का फोटोग्राफर उसके साथ नौरतन के नंगे चित्र लेना चाहता था। वेश्या वानी, उपन्यास के अन्त में, नौरतन से बड़ा चरित्र बन जाती है, क्योंकि वह उससे भी अधिक पवित्र बन जाती है, गिरती हुई ऊँची उठ जाती है, अपने षड्यन्त्र के द्वार को स्वयं ही ढक देती है और मनुष्य के रूप में, देश के नागरिक के रूप में वह अदृश्य में बनी देश की सेवा कर रही होती है। नौरतन मंत्री है, देश-भक्त है, पर वेश्यागामी है और एक रात के लिए वह वानी को अपने यहाँ बुलाता है, परन्तु वानी तो वेश्या है, अपने प्रेमी राजनेता विक्रम के षड्यन्त्र के अन्तर्गत नौरतन के पास पहुँचती है, परन्तु वह उसके देशप्रेम, मॉरिशस की आज़ादी के लिए उसकी प्रतिबद्धता तथा देश की स्वतन्त्रता के लिए उसकी भागीदारी के निमन्त्रण से एकदम बदल जाती है और देश को आज़ाद करने में लगे एक राजनेता के चरित्र की हत्या के षड्यन्त्र से स्वयं को बचा लेती है। उसका यह देश-प्रेम, उसकी यह मनुष्यता न केवल उसका चारित्रिक उत्कर्ष करते हैं बल्कि 'अचित्रित' उपन्यास को उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण बना देते हैं।

(आठ)
'घर लौट चलो वैशाली' (1995) की भूमिका

अभिमन्यु अनत ने अपने इस नये उपन्यास में एकदम नई भाव-भूमि को लिया है। इसकी नायिका वैशाली है और वह एक मुस्लिम युवक अख़्तर हसन अली से प्रेम कर बैठती है और परिवार के विरोध के बावजूद विवाह कर लेती है। वैशाली के मित्र भी अंतर्जातीय तथा अंतर्धर्मीय विवाह के विरुद्ध चेतावनी देते हुए कहते हैं कि धर्मनिरपेक्ष रहकर ही विवाह सफल हो सकता है, लेकिन उसका पति अख़्तर मजहबी लोगों के प्रभाव में आ ही जाता है और वह बेटी 'सोनी' को 'सलमा' बनाते हुए वैशाली पर भी प्रतिबन्ध लगाता है। वैशाली पति की गुलाम बनने को तैयार नहीं है, क्योंकि उसने एक आदमी से शादी की थी, मजहबी से नहीं। अख़्तर मार्क्सवादी है और मजहब को पाखंड मानता है, पर वह अब पूरा मजहबी हो गया है। वैशाली की मानसिकता इस छलावे से आहत होती है। वह पागल जैसी हो जाती है, किन्तु मित्रों से उसे बल मिलता है और नौकरी भी। परन्तु अख़्तर उसे छोड़कर माँ के पास चला जाता है और तलाक की कार्यवाही शुरू करने के साथ बेटी सोनी को उसकी माँ से मिलने नहीं देता। वैशाली अपने माँ-बाप के पास आकर रहती है और रंगमंच पर समर्पित भाव से अभिनय करती है और इसी से उसकी एक नई दुनिया खुलती है और वह 'सीपियों के मोती' संस्थान के बच्चे-बच्चियों में अपनी बेटी सोनी को देखने लगती है।

इस प्रकार यह उपन्यास मॉरिशस के जन-जीवन में अंतर्धर्मीय एव अंतर्जातीय विवाह के दुष्परिणामों का जीवंत दस्तावेज़ है। यह एक अत्यन्त खतरनाक विषय है और इस पर छद्म धर्मनिरपेक्षतावादी नाक-भौं सिकोड़ सकते हैं, परन्तु अभिमन्यु अनत ने बड़ी कलात्मकता के साथ अपने देश का यथार्थ प्रस्तुत किया है। 'वैशाली घर लौट चलो' में वैशाली की पराजय नहीं

है, बल्कि वैशाली मॉरिशस में अपनी जातीय अस्मिता, पहचान, प्रेम एवं मानवीयता के प्रति निष्ठा तथा पति-पत्नी सम्बन्धों में धार्मिक उन्माद एवं कट्टरता के विरुद्ध खड़ी शक्ति का प्रतीक बन गयी है। उसका लौटना अपनी अस्मिता तथा मानवीय जीवन की ओर लौटना ही है।

(नौ)
'चलती रहो अनुपमा' (1998) की भूमिका

मॉरिशस के विख्यात साहित्यकार अभिमन्यु अनत का यह नवीनतम उपन्यास है। अपनी षष्ठिपूर्ति पर लेखक सर्वथा नये पुष्प से सरस्वती की आराधना करता है और पाठकों को एक नये संसार का साक्षात्कार कराता है। इस उपन्यास का नायक अभिजीत मॉरिशस के 'महात्मा गांधी संस्थान' में अफ्रीकन एवं एशियन स्टडीज़ का अध्यक्ष है, कवि है, नाटककार है, उपन्यासकार है, निर्देशक है, फोटोग्राफर है और उसे बचपन से ब्रोंकाइटस की बीमारी है, बाद में साइटिका के दर्द से पीड़ित होता है। शारदा उसकी पत्नी है, दो बेटे हैं और एक लड़की अजन्मी रह जाती है। उसकी एक मुस्लिम प्रेमिका है, उपन्यास में उसका नाम है सफ़ीना और बनाई हुई बेटी अनुपमा, जिसके जीवन पर उपन्यास आधारित है।

मॉरिशस और भारत में जो व्यक्ति अभिमन्यु अनत के जीवन को जानते हैं, वे निश्चय ही कथा-नायक अभिजीत में अभिमन्यु की उपस्थिति को देख लेंगे और इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यह 'आत्कथात्मक उपन्यास' है। मेरा भी यही मत है। 'चलती रहो अनुपमा' अभिमन्यु अनत का 'आत्मकथात्मक उपन्यास' है। अनुपमा इसे 'जीवनी' तथा सफ़ीना इसे अभिजीत का 'ज़िन्दगीनामा' कहती है और स्वयं अभिजीत इसे 'आत्मकथा और उपन्यास' का सम्मिश्रण कहता है, लेकिन इसकी विशेषता यह है कि उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु अनुपमा है, जिसके नाम पर इसका नामकरण हुआ है। अनुपमा यद्यपि अभिजीत के नाटक 'यातना' में अभिनय करने से उससे जुड़ती है और अभिजीत उसे बेटी भी बना लेता है और उसके सुख-दुःख में उसका पूरा साथ भी देता है, किन्तु अनुपमा एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखती है। वह पिता की हत्या के बाद परिवार के लिए नौकरी करती है, सतीत्व की रक्षा के लिए मोह-जाल में नहीं फँसती और अपने प्रेमी तथा मँगेतर गीतेश के दुर्घटना से अपाहिज होने पर अपने सर्वस्व से उसकी सेवा करती है और सुहागरात के अयोग्य हो जाने पर भी वह उससे विवाह करने के संकल्प पर अडिग रहती है। 'यातना' नाटक की यातना और व्यथा उसके जीवन का अंग बन जाती है, लेकिन वह गांधारी के समान पति का सहारा बनकर जीने पर दृढ़ है। इस प्रकार अनुपमा ऐसी नारी है जो अपराजेय है, जिसका लक्ष्य और संकल्प अडिग है, जो नारी शक्ति और करुणा का प्रतिरूप है, जिसमें भारतीय नारी की कर्मशीलता, ऊर्जा, समर्पण, सेवा, त्याग, दृढ़ता आदि अनेक गुण साकार हो गये हैं। उसमें पलायन और हताशा नहीं है। वह जीवन-यात्रा में विश्वास और आस्था से परिपूर्ण है, और राजा रोहित को ब्राह्मण द्वारा दिये गये मंत्र 'चरैवेति चरैवेति' की प्रतिरूप है। जीवन में चलते रहना सतयुग है और रुकना मृत्यु का प्रतीक। अनुपमा का यही जीवन-सत्य है और उपन्यास के नायक लेखक अभिजीत का भी।

उपन्यास की विशेषता यह भी है कि इसमें अभिजीत के जीवन के विविध रंग हैं, लेखक

का जीवन है, आत्मस्वीकृतियाँ हैं और प्रेम की भटकन और तलाश है। इसमें मॉरिशस का समाज तथा रिश्तों की गुत्थियाँ भी सजीव और जीवन्त हैं। अभिमन्यु अनत की उपन्यास-यात्रा में यह उपन्यास तथा उसके नारी-पात्रों में अनुपमा एक उपलब्धि है। 'चरैवेति चरैवेति' के जीवन-दर्शन ने इसे और भी महत्त्वपूर्ण बना दिया है। उपन्यासकार के रूप में अभिमन्यु अनत की प्रतिष्ठा में इस उपन्यास से अवश्य वृद्धि होगी।

(ख)
अभिमन्यु अनत का समग्र साहित्य

उपन्यास

(1) और नदी बहती रही, 1970, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2) आन्दोलन, 1971, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (3) एक बीघा प्यार, 1972, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (4) जम गया सूरज, 1973, सूर्य प्रकाशन, नई दिल्ली (5) तीसरे किनारे पर, 1976, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (6) चौथा प्राणी, 1977, ज्ञान प्रकाशन, नई दिल्ली (7) लाल पसीना, 1977, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (8) तपती दोपहरी, 1977, सरस्वती विहार, दिल्ली (9) कुहासे का दायरा, 1978, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली (10) शेफाली, 1979, सरस्वती विहार, दिल्ली (11) हड़ताल कब होगी, 1979, सरस्वती विहार, दिल्ली (12) चुन चुन चुनाव, 1981, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली (13) अपनी ही तलाश, 1981, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली (14) पर पगडंडी नहीं मरती, 1983, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (15) अपनी अपनी सीमा, 1983, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली (16) गाँधी जी बोले थे, 1984, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (17) मार्क ट्वेन का स्वर्ग, 1985, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली (18) जय गाँव का बहादुर (बाल उपन्यास), 1986, सरस्वती विहार, दिल्ली (19) फैसला आपका, 1986 (20) मुड़िया पहाड़ बोल उठा, 1987, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली (21) शब्द-भंग, 1989, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली (22), अचित्रित, 1991, किताब घर, नई दिल्ली (23) और पसीना बहता रहा, 1983, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (24) लहरों की बेटी, 1995, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली (25) चलती रहो अनुपमा 1998, किताब घर, नई दिल्ली।

कहानी-संग्रह

(26) ख़ामोशी के चीत्कार, 1976, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (27) इन्सान और मशीन, 1977, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली (28) वह बीच का आदमी, 1981, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (29) एक थाली समन्दर, 1987, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।

नाटक

(30) विरोध, 1977, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (31) तीन दृश्य, 1981, रचनाकार प्रकाशन, दिल्ली-32 (32) गूँगा इतिहास, 1985, नवीनतम प्रकाशन, दिल्ली-32 (33) रोक दो कान्हा, 1986, किताब घर, दिल्ली-31 (34) देख कबीरा हाँसी, 1995, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

कविता-संग्रह

(35) नागफनी में उलझी साँसें, 1977, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (36) कैक्टस के दाँत, 1982, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (37) एक डायरी बयान, 1985, अभियान प्रकाशन, दिल्ली-3 (38) गुलमोहर खौल उठा, 1995, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।

जीवनी

(39) जन आन्दोलन के प्रेरणा, 1986, महात्मा गाँधी संस्थान, मॉरिशस (40) मज़दूर नेता रामनारायण, 1988, नटराज प्रकाशन, दिल्ली-52 (41) From Came-field to Parliament (Biography of Pt. Ram Narain), 1989, Natraj Prakashan, Delhi-52.

अनुवाद

(42) मॉरिशस में भारतीय प्रवासियों का इतिहास, 1978, मैकमिलन, नई दिल्ली

सह-लेखन

(43) Mauritius—Its People and Culture, 1987, Co-writer with S.Selvon & Dr. I. Asgarally (44) History of the Port, 1987, Co-writer with S. Selvon.

सम्पादन

(45) मॉरिशस की हिन्दी कहानी, 1976, महात्मा गाँधी संस्थान, मॉरिशस (46) मॉरिशसीय हिन्दी कहानियाँ, 1987, महात्मा गाँधी संस्थान, मॉरिशस (47) मॉरिशस के नौ हिन्दी कवि, 1988, महात्मा गाँधी संस्थान, मॉरिशस (48) मॉरिशस के हिन्दी एकांकी, 1990, महात्मा गाँधी संस्थान, मॉरिशस।

प्रतिनिधि संकलन / समग्र संकलन

(49) आत्म-विज्ञान, 1984, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली (50) Les Nuit (Translation in French by Aslekha Callyram-Proag), 1984, (51) अभिमन्यु अनत : समग्र कविताएँ, 1998, इरावदी प्रकाशन, नई दिल्ली-18.

(ग)

अभिमन्यु अनत एवं मॉरिशस के हिन्दी साहित्य पर कमल किशोर गोयनका की प्रकाशित पुस्तकें

(1) अभिमन्यु अनत : एक बातचीत, 1985, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली-110002, (2) अभिमन्यु अनत : समग्र कविताएँ, 1998, इरावती प्रकाशन नयी दिल्ली (3) अभिमन्यु अनत : प्रतिनिधि रचनाएँ, 1999, नटराज प्रकाशन, दिल्ली-110052 (4) मॉरिशस की हिन्दी कहानियाँ, 1999, साहित्य एकेडमी, नई दिल्ली-110001.


R081,GOY-A
103929

कमल किशोर गोयनका

दिल्ली विश्वविद्यालय के ज़ॉकिर हुसैन पोस्ट–ग्रेजूएट (ई.) कॉलेज में 1962 से हिन्दी के शिक्षक हैं। उन्होंने प्रेमचंद पर अपने मौलिक शोध–कार्य से 'प्रेमचंद विशेषज्ञ' तथा मॉरिशस के हिन्दी साहित्य पर अपने कार्यों से 'मॉरिशस–बन्धु' के रूप में अपनी पहचान बनायी है। प्रेमचंद पर उनकी 16 तथा अन्य हिन्दी साहित्यकारों पर 15 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। मॉरिशस के हिन्दी साहित्य एवं अभिमन्यु अनत पर उनकी यह चौथी पुस्तक है।

अभिमन्यु अनत

हिन्द महासागर में मोती माने जाने वाले द्वीप मॉरिशस में 9 अगस्त, 1937 को जन्मे अभिमन्यु अनत भारत में ही नहीं विश्व हिन्दी–समाज में भी चिर–परिचित हस्ताक्षर हैं। वे लगभग दो वर्ष पूर्व 'महात्मा गांधी संस्थान' के सर्जनात्मक लेखन एवं प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्य करते हुए सेवा–मुक्त हुए हैं। वे 'महात्मा गांधी संस्थान' की पत्रिका 'वसन्त' एवं बाल–पत्रिका 'रिमझिम' के भी सम्पादक रहे।

अभिमन्यु अनत बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार हैं। वे कथाकार, कवि, नाटककार, जीवनीकार, आत्म–कथाकार, संस्मरणकार, लघु कथाकार, सम्पादक, निर्देशक, अभिनेता, चित्रकार, छायाकार आदि अनेक रूपों में विगत चार दशकों से हिन्दी भाषा, साहित्य एवं कला की सेवा कर रहे हैं। उनकी देश–विदेश की लगभग 80 पत्र–पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं तथा उनकी 55 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। वे अनेक बार भारत–यात्रा पर आये हैं, और उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, हिन्दी अकादमी, दिल्ली, राजीव गांधी स्मृति परिषद्, नई दिल्ली, के. के. बिड़ला फाउंडेशन, नई दिल्ली के साथ अनेक विश्व-विद्यालयों के द्वारा सम्मानित तथा पुरस्कृत हो चुके हैं। अभी उन्हें शीघ्र ही भारत के राष्ट्रपति के द्वारा केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा का हिन्दी–सेवा के लिए 'डॉ. जार्ज ग्रियर्सन पुरस्कार' से सम्मानित किया जाना है।

अभिमन्यु अनत मॉरिशस के सर्वप्रमुख राष्ट्र–साहित्यकार हैं। वे विगत 30–35 वर्षों से अपने देश के हिन्दी साहित्य के केन्द्र में हैं। उन्होंने अपने देश के हिन्दी साहित्य को प्रतिष्ठा दी है तथा विश्व में उसकी विशिष्ट पहचान बनायी है। मॉरिशस के हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनका योगदान अप्रतिम है और वह 'अभिमन्यु अनत युग' के रूप में सम्मानित एवं स्वीकृत होगा। मॉरिशस और भारत के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों को स्थायी बनाने में भी उनका अनुपम योगदान है। वे सेवा–निवृत्ति के बाद भी अपने निवास–सम्वादिता, त्रिओले, मॉरिशस में पूर्ववत् साहित्य–साधना में संलग्न हैं।



नटराज प्रकाशन
दिल्ली–110052
IBBN 81-85979-20-0